

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj.)

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER'S No.	DUE DATE	SIGNATURE

लोक वित्त

श्री C. C. TEXT BOOKS

RAM NATH

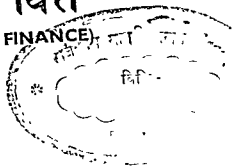
NAGAR;

MA Pte,

Economics,

लोक वित्त

(PUBLIC FINANCE)



लेखक
डा. के. के. शर्मा
एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट्
भूतपूर्व प्रिंसिपल,
मेरठ कालेज, मेरठ

U. G. C. TEXT BOOKS



साहित्य भवन : आगरा-३

130281

मूल्य : पन्द्रह रुपया



प्रस्तावना

लोक वित्त का देश की आर्थिक स्थिति में विशेष महत्त्व होता है। राज्य आय प्राप्त करता है तथा देश के आर्थिक विकास के हित में उसका व्यय करता है। लोक वित्त अथवा राजस्व शास्त्र के अन्तर्गत राजकीय आय, व्यय तथा राजकीय ऋण सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन होता है। मन्दी काल में तथा द्वितीय महा-समर के पश्चात् इस शास्त्र के अध्ययन में नवीन प्रगतियाँ हुई हैं। रोजगार की वृद्धि के लिए राजकोषीय नीति का प्रयोग किया गया है। प्रो. केन्स ने मन्दी काल में रोजगार बढ़ाने के लिए विनियोग गुणक (Investment Multiplier) पर विशेष बल दिया।

विश्व बैंक, अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा इनमें सम्बन्धित संस्थाओं की स्थापना के पश्चात् अल्प विकसित देशों की वित्त समस्याओं के अध्ययन पर विशेष बल दिया गया है। विकासशील वित्त (Development Finance), कार्यात्मक वित्त तथा पूरक वित्त सम्बन्धी समस्याओं के अध्ययन को हाल के लेखकों ने विशेष महत्त्व दिया है। नई रचनाओं में घाटे के वित्त पर भी विशेष प्रकाश डाला जा रहा है। किन् परिस्थितियों में घाटे के वित्त का राज्य की आय की वृद्धि के लिए प्रयोग हो सकता है, इससे होने वाले हानिकारक आर्थिक प्रभावों पर क्या प्रतिबन्ध लगने चाहिएँ जिससे देश की आर्थिक स्थिति की उन्नति में बाधा न पहुँचे। इन पहलुओं पर राजस्व शास्त्र में विशेष प्रकाश डाला जाता है। अल्प विकसित देशों की वित्तीय समस्याएँ विकसित देशों की वित्तीय समस्याओं से भिन्न हैं। राजस्व शास्त्र में इनका विशेष अध्ययन किया जाता है।

इस रचना में ४८ अध्याय हैं तथा एक परिशिष्ट है। पुस्तक के पहले अध्यायों में लोक वित्त के मुख्य अंगों तथा सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला गया है तथा बाद के अध्यायों में भारतीय राजस्व सम्बन्धी समस्याओं का विवेचन किया गया है। पुस्तक में विश्वविद्यालयों के लोक वित्त सम्बन्धी पाठ्यक्रमों को दृष्टिकोण में रखकर समस्याओं का विवेचन किया गया है। भारतीय योजनागत वित्त पर भी प्रकाश डाला गया है।

पुस्तक के अन्त में दी गई प्रश्नावली डा. भार्गव के भीतम, प्रवक्ता, अर्थशास्त्र विभाग, श्रीगम कालिज ऑफ कामर्स, दिल्ली तथा प्रो. महेशचन्द्र, सीनियर प्रवक्ता, वाणिज्य विभाग, मेरठ कालिज, मेरठ ने तैयार की है। इसके लिए मैं इनके प्रति अत्यन्त आभारी हूँ।

मुझे आशा है कि पुस्तक विश्वविद्यालय स्तर के विद्यार्थियों के लिए तथा साधारण पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी। इसमें सुधार के लिए सुझावों का आगामी संस्करण में स्वागत किया जायेगा।

विषय-सूची

अध्याय

पृष्ठ

७१ विषय प्रवेश

१-७

(Introduction)

ऐतिहासिक दृष्टि; लोक वित्त का विषय, लोक वित्त के अध्ययन की विषय सामग्री; कार्यात्मक वित्त, राज्य का लक्ष्य ।

२. विकास वित्त

८-२१

(Development Finance)

विकास वित्त का अर्थ, विकास नीति, विकासशील देशों का विदेशी ऋण, लोक व्यय योजना में चयन, चयन में लागत । लाभ सम्बन्धी विशेषण की आवश्यकता, विकासशील देशों के लिए वित्त प्राप्ति का साधन, अनुदान के उद्देश्य; प्रत्यक्ष विदेशी विनियोग, घाटे के बजट द्वारा वित्त ।

३. लोक वित्त का अर्थ-व्यवस्था में योग

२२-३४

(The Role of Public Finance in National Economy)

बजट नीति के तीन मुख्य उद्देश्य, राजकोषीय विभाग की शाखाएँ, साधनों के बटवारे में समझन, बटवारे की नीति की समस्याएँ, साधनों के बटवारे में व्यय तथा करो का कार्य, याणिज्यिक कार्य, शासन प्रक्रिया द्वारा अधिक कुशलता, आय तथा सम्पत्ति का बटवारा; उत्पादन, रोजगार तथा कीमतों का निर्धारण, विकास के लिए साधनों का संचय तथा उनकी गतिशीलता; अल्प विकसित शब्द का अर्थ ।

४. शासकीय प्रक्रियाओं के अनुकूलतम स्तर

३५-४५

(Optimum Levels of Government Activities)

शासन के सम्बन्ध में सीमान्त नियम की प्रयुक्ति, शासन द्वारा कीमत प्रणाली का उपयोग, समाज के लाभों की माप, लाभ का अनुमान, लागत का अनुमान, आय प्रणाली के धर्मशास्त्र प्रभाव, लाभ तथा लागत की तुलना, अनुकूलतम व्यय के स्तरों के निर्धारण में बाधाएँ, अनुकूलतम स्तरों पर लाने के उपाय, पुनर्वितरण प्रक्रियाओं के श्रेष्ठतम स्तर ।

५. राष्ट्रीय आर्थिक लक्ष्य (National Economic Goals)

४६-५४

बेरोजगारी के कारण, राजकोपीय नीति तथा बेरोजगारी, स्वतः
चालित स्थायित्व सम्बन्धी घटक, विवेकाधीन राजकोपीय उपाय ।

६. विकासशील देशों की राजकोपीय समस्याएँ (Fiscal Problems of Developing Countries)

५५-६७

आय सम्बन्धी समस्या, बजट प्रणाली का महत्त्व, विशेषज्ञों की
आवश्यकता, अल्प विकसित देशों की कराधान समस्याएँ तथा नीतियाँ,
प्रत्यक्ष करो की आय का अनुपात, विदेशी व्यापार सम्बन्धी करों पर
निर्भरता, प्रत्यक्ष कर, निवेश को प्रोत्साहन, पूँजी-लाभ कर, अप्रत्यक्ष कर;
उत्पादन कर, निर्यात-आयात कर, सरकारी उद्योगों की कीमत सम्बन्धी
नीति ।

७. सार्वजनिक वित्त का अर्थ-व्यवस्था में महत्त्व (Importance of Public Finance in an Economy)

६८-७३

लोक वित्त तथा मावनों का बटवारा, राज्य द्वारा ऋण उधार
लेना, राज्य की व्यय नीति, राजकोपीय नीति तथा रोजगार, आय तथा
धन का वितरण, सामान्य सम्पत्ति-कर की दरों में वृद्धि, उत्पादन तथा
कीमतों के सम्बन्ध में राजस्व का योग, विकास के लिए धन की
प्राप्ति, ऋणों की उधार नीति, कीमतों का स्थायित्व (Stability of
Prices) ।

८. करों के प्रकार (Kinds of Taxes)

७४-८३

कर की परिभाषा, करों के प्रकार, प्रत्यक्ष करों के गुण तथा
दोष, अप्रत्यक्ष करों के लाभ, क्रमबद्ध कराधान, वर्धमान कर प्रणाली के
प्रति आपत्तियाँ, प्रतिनामी कर प्रणाली (Regressive Tax System) ।

९. कर सिद्धान्त (Tax Principles)

८४-८६

साम्य अथवा समता, निश्चितता, भुगतान के समय की भुविधा,
मितव्ययता, उत्पादकता, लोच, सरलता, कराधान का वित्तीय मिद्धान्त;
कराधान का सामाजिक मिद्धान्त, भुद्रा स्पर्धा को रोकना, कराधान द्वारा
उपभोग का नियमन ।

१०. लोक अथवा सार्वजनिक व्यय ✓ (Public Expenditure)

राजकीय व्यय सम्बन्धी वर्गीकरण, निकल्सन द्वारा वर्गीकरण; प्रोफेसर प्लेहन द्वारा वर्गीकरण, उत्पादक तथा अनुत्पादक व्यय, डा० डाल्टन द्वारा वर्गीकरण; अनुदान तथा क्रय कीमते, लोक व्यय के प्रभाव; लोक व्यय नीति; व्यय की वृद्धि के मुख्य कारण; सार्वजनिक व्यय के माप-दण्ड ।

११. सार्वजनिक आय ✓ १०७-१११ (Public Revenue)

एडम स्मिथ द्वारा वर्गीकरण, बैस्टेव्ल द्वारा वर्गीकरण; एडम्म द्वारा वर्गीकरण; सैलिग्मैन द्वारा वर्गीकरण, डा० डाल्टन द्वारा वर्गीकरण; उपयुक्त वर्गीकरण ।

१२. कराधान का सम्पात ✓ ११२-१२२ (Incidence of Taxation)

सम्पात की परिभाषा, सघात, सम्पात तथा प्रभाव में अन्तर; सम्पात का महत्त्व, कर सम्पात के दो मुख्य सिद्धान्त, सम्पात निर्धारण के घटक; प्रदाय की तोष, एकाधिकारी स्पर्धा में कर का सम्पात, करो का पूंजीकरण, पूंजीकरण की गतें, करका स्थानान्तरण, भवनों पर कर का सम्पात, वस्तुओं पर कर, एक पुराने कर का सम्पात, आयान-करो का सम्पात, देश में वस्तुओं के उत्पादन की सम्भावना, कीमतों में परिवर्तन ।

१३. कराधान का अन्तरण तथा सम्पात ✓ १२३-१३२ (Shifting and Incidence of Taxation)

आय कर का सम्पात, नैयक्तिक आय कर; किराये अथवा लगान पर कर, मजदूरी तथा वेतन पर कर, व्याज पर कर, लाभ पर कर; प्रतियोगी तथा एकाधिकारी लाभ पर आय कर का सम्पात ।

१४. कर के प्रभाव ✓ १३३-१४१ (Effects of Taxation)

उत्पादन पर प्रभाव, कार्य तथा वचत की क्षमता पर करो का प्रभाव, कर दाताओं की कार्य करने तथा वचत करने की इच्छा पर प्रभाव; कराधान के सूचनागत प्रभाव, करो के प्रकार के प्रभाव, रिम्नेनों की उत्तराधिकार कर योजना, करो के सावन हटाने के सम्बन्ध में प्रभाव, हानि-कारक प्रभाव,

अध्याय

पृष्ठ

तथा निवेशी आय पर कर, सरक्षण सूची के वितरणात्मक प्रभाव, करो के अन्य प्रभाव—रोजगार पर प्रभाव, कराधान तथा श्रम की मार्ग ।

१५. कर योग्य सामर्थ्य ✓

१४२-१४६

(Taxable Capacity)

कर योग्य सामर्थ्य की परिभाषा, निपेक्ष कराधान सामर्थ्य, आदर्श कर योग्य सामर्थ्य; कर योग्य सामर्थ्य के अनुमान का उद्देश्य, कर देय सामर्थ्य की परिभाषा तथा घटक, कर प्रणाली का स्वभाव, लोक व्यय का रूप, कर दाताओं का सहयोग, आय का स्थायित्व, प्रशासनिक निपुणता, जन सहायता तथा उत्पादन के परिमाण का सम्बन्ध, कर योग्य क्षमता की नाप ।

१६. दुहरा कराधान

१५०-१५६

(Double Taxation)

दुहरे कराधान का अर्थ, फेडरेशन में दुहरा कराधान, अन्तरदेशीय दुहरे कराधान से बचने के उपाय ।

१७. कराधान में न्याय ✓

१५७-१६७

(Justice in Taxation)

सेवा लागत सिद्धान्त, सेवा के लाभ का सिद्धान्त, समता सिद्धान्त, मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता, न्यूनतम त्याग का सिद्धान्त, वर्तमान तथा भावी इच्छाएँ, वितरण पर प्रभाव, उत्पादन पर प्रभाव, पूँजी निर्माण पर प्रभाव, आनुपातिक त्याग, प्रगामी कराधान तथा न्याय, कराधान का वित्तीय सिद्धान्त, कराधान का सामाजिक सिद्धान्त, उपभोग नियमन हेतु कराधान, न्यूनतम छूट सीमा ।

१८. सार्वजनिक ऋण ✓

१६८-१८२

(Public Debt)

सार्वजनिक तथा निजी ऋण, लोक ऋणों का उद्गम, इटली में बैंको का ऋणों के लिए प्रयोग, आधुनिक लोक ऋणों की वृद्धि के घटक, बढ़ती हुई राजकीय लागत का प्रभाव, राज्य की साख का प्रभाव, सार्वजनिक ऋण पर पहले लेखकों के विचार, इन विचारों की आलोचना, ऋण का असाधारण व्यय के लिए उपयोग, उत्पादन सम्बन्धी लागत की पूर्ति के लिए ऋण, ऋण तथा कर, अनुत्पादक ऋणों का प्रभाव; सार्वजनिक ऋण के आर्थिक स्थिति पर प्रभाव, विकासात्मक वित्त में करो तथा ऋणों का कर्तव्य, मन्दी काल में ऋण; सार्वजनिक ऋणों के प्रभाव, उपभोग पर प्रभाव, उत्पादन पर प्रभाव; निजी क्षेत्र पर प्रभाव, लोक व्यय तथा उत्पा-

अध्याय

दन लागत; मजदूरी पर प्रभाव, लोक ऋण का भार; विदेशी ऋण का अप्रत्यक्ष भार, सावर्जनिक ऋण के भार के अनुमान की विधि ।

१८३-१८८

१६. ऋण के रूप तथा ऋण शोधन (Forms and Repayment of Debt)

अनिवार्य तथा एच्छिक ऋण, मोच्य तथा अमोच्य ऋण; निधि-वद्ध तथा अनिधिबद्ध ऋण, उत्पादक तथा अनुत्पादक ऋण, देशी तथा विदेशी ऋण, स्थायी तथा अस्थायी ऋण, लोक ऋण का विमोचन—भुगतान, अस्वीकृति, हफान्तरण, पूंजी उगाही; पूंजी उगाही के पक्ष में तर्क, वसूली की ऊँची लागत ।

१८९-१९३

२०. मूल्य वृद्धि कर (Value Added Tax)

अर्थ, ऐतिहासिक सिद्धान्तों, इसके लाभ, इसके पक्ष में तर्क; आलोचना, मूल्य वृद्धि कर तथा अल्प विकसित देश ।

१९४-२०७

२१. आय, रोजगार तथा राजकोषीय नीति (Income, Employment and Fiscal Policy)

आय तथा रोजगार के सम्बन्ध में प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के विचार; प्रो० पीगू के विचार; जे० बी० से के बाजार सम्बन्धी नियम का आशय; प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन, प्रतिष्ठित मार्ग; कीन्स का विचार; कीन्स के सिद्धान्त का सारांश, उपभोग तथा बचत; उपभोग तथा उपभोग व्यय का अर्थ; समाज की कुल आय; समाज की पिछली बचत, व्याज दर; उपभोग करने की औसत तथा सीमान्त प्रवृत्ति, उपभोग का मनोवैज्ञानिक नियम, उपभोग तथा बचत के कारक—प्रति व्यक्ति आय का स्तर, राष्ट्रीय आय का वितरण, आय की प्रवृत्ति; वस्तुओं की उपलब्धता, कराधान नीति; निवेश, निवेश के कारक, बचत तथा निवेश, बचत तथा निवेश की समानता पर विवेचन, बचत का निवेश से अधिक होना; विनियोग बचत से अधिक, कीन्स के आय तथा रोजगार के सिद्धान्त में निवेश का महत्त्व ।

२०८-२२३

२२. कार्यात्मक वित्त (Functional Finance)

आधुनिक लोक व्यय के उद्देश्य, अल्प रोजगार के कारण; कीन्स

का तर्क, माँग की कमी का कारण, आय के वितरण का अमीरो के पक्ष में झुकना, अल्प रोजगार सहित सन्तुलन; कम उत्पादन व्यय से रोजगार में बाधकता, बजट गुणांक, गुणांक का मूल्यांकन, घाटे के बजट का गुणांक, सन्तुलित बजट का गुणांक, पूँजी की कमी, धन की असमानता तथा कार्यात्मक वित्त ।

२३ सामाजिक लेखा विधि

२२४-२३४

(Social Accounting)

दोहरी प्रविष्टि लेखा प्रणाली, सामाजिक लेखा विधि तथा निवेश-उत्पादन साँचा, कुछ समस्याएँ, राष्ट्रीय आय अथवा व्यय; सकल राष्ट्रीय व्यय, सामाजिक लेखा विधि का अर्थशास्त्र में अनुप्रयोग, परिस्तीमाएँ ।

२४. वित्तीय प्रशासन

२३५-२४८

(Financial Administration)

साराश तथा महत्त्व, आयगत तथा पूँजीगत बजट, बजट की विशेषताएँ, बजट का उद्देश्य तथा महत्त्व, भारत में बजट की प्रक्रिया, बजट की तैयारी, बजट का प्रस्तुतीकरण, सामान्य बहम, माँगों पर मतदान, वोट आन एकाउण्ट (लेखानुदान), विनियोग बिल, बजट का कार्यान्वयन (Execution of Budget), समाहित कोष, समाहित कोष के लाभ, पूरक माँग, माकेतिक अनुदान, अतिरिक्त अनुदान, वित्त बिल, मौद्रिक बिल, मनी तथा वित्त बिल में अन्तर ।

२५. वित्तीय नियन्त्रण

२४९-२५४

(Financial Control)

एस्टीमेट्स समिति, स्थायी वित्त समिति, लोक लेखा समिति; सरकार का नियन्त्रण, विधीय मन्त्रालय, ऑडिट विभाग ।

२६. भारत में सघीय वित्त का विकास

२५५-२६७

(Evolution of Finance in India)

प्रणाली के दोष, आवंटन द्वारा बजट, ममायोजन द्वारा आवंटन की बजट प्रणाली 1872-82, प्रणाली के मुख्य दोष 1919 के गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया एक्ट के अनुसार वित्त, प्रान्तीय अशदान, उद्भव का सिद्धान्त, आवश्यकता के अनुसार वितरण, जन सहाय का आधार, संयुक्त पार्लेमेण्टरी समिति की सन्तुति, टरमिनल तथा अन्य कर, भूमि सीमा शुल्क, समुद्री सीमा शुल्क, ऋण लेने के अधिकार, लेटन तथा संयुक्त चयन समिति की निवारिशों की आलोचना 1935 के वानून के अन्तर्गत आय

के माधन—संघीय सूची; प्रान्तीय सूची, सर आटो नीमेयर की सिफारिशों, आयकर आय का बटवारा, प्रान्तों को आर्थिक सहायता, आयकर विभाजन का आधार, नीमेयर की सिफारिशों का आलोचनात्मक पुनरीक्षण ।

- ✓ २७. नीमेयर निर्णय के पश्चात् भारतीय वित्त का विकास २६८-२७८
(Developments in Indian Finance After the Neimeyer Award)

देशमुख निर्णय, पटसन निर्णय कर, पहले वित्त आयोग की सिफारिशें, केन्द्रीय उत्पादन कर, अनुदान, राज्यों को अनुदान तथा ऋण; दूसरा वित्तीय आयोग, रिपोर्ट पर सरकार द्वारा कार्य ।

- ✓ २८. तीसरे तथा चौथे वित्त आयोगों की सिफारिशें २७९-२९०
(Recommendations of the Third and the Fourth Finance Commissions)

आय-कर, केन्द्रीय उत्पादन कर; अतिरिक्त उत्पादन कर; अनुदान, कमीशन के सामान्य विचार, चौथा वित्तीय आयोग, 1965, आय कर; केन्द्रीय उत्पादन कर, बिक्री करों के स्थान पर अतिरिक्त उत्पादन कर; मृत्यु कर, अनुदान, साधारण अवलोचन, श्री मोहन लाल गौतम की विरोधात्मक टिप्पणी ।

- ✓ २९. पांचवें वित्त आयोग की रिपोर्ट २९१-३००
(Report of the Fifth Finance Commission)

विवेचनीय विषय; अन्तिम रिपोर्ट, अवैध ओवरड्राफ्ट, निवाध अथवा मुद्द उधार, विशेष उधार धन; अवैध ओवरड्राफ्टों की हटाने की प्रक्रिया ।

३०. भारत में सार्वजनिक ऋण ३०१-३१५
(Indian Public Debt)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, मुद्र से पहले ऋण भुगतान के तरीके सर बैसिल बैल्केट की योजना, 1924-1939 के पश्चात् सार्वजनिक ऋण की स्थिति, द्वितीय विश्वयुद्ध का प्रभाव; स्टॉलिन ऋण की समाप्ति; ऋण लौटाने की योजना की आलोचना; स्टॉलिन ऋण लौटाने के प्रभाव, यो ना काल में भारत सरकार का ऋण, देशी ऋण के रूप, सरकारी हुण्डियाँ, अल्प बचत, डाक घरों में बचत खाते; संघीय सामयिक जमा; सार्वजनिक भविष्य निधि, बचत प्रमाण पत्र ।

३१. आय तथा व्यय कर ३१६-३२३
(Income and Expenditure Taxes)

देनदारी का आधार; कृषि आय; पूर्व वर्ष; करो के गठन में

अध्याय

परिवर्तन, अशासन (graduation), छूट की सीमा, अति लाभ कर, व्यापारिक लाभ कर, कारपोरेशन कर; पूंजी लाभ कर, व्यय कर।

- ३२ सम्पत्ति तथा सौदों पर कर ३२४-३३०
(Tax on Wealth and Capital Transactions)

भू-शुल्क, नेट सम्पत्ति कर, अतिगिनत सम्पत्ति कर; उपहार कर।

- ३३ वस्तुओं पर कर ३३१-३३८
(Commodity Taxes)

केन्द्रीय उत्पादन कर, केन्द्रीय उत्पादन करों की आय को प्रभावित करने वाले घटक।

- ३४ केन्द्रीय सरकार की करों से अलग आय के साधन ३३९-३४६
(Non-Tax Revenue)

भारत में मार्बजनिनक उद्योगों के उद्देश्य तथा क्षेत्र, 1924 का पृथक्करण कानून, 1949 का समझौता, मार्च 1954 का द्वितीय समझौता, 1965 में समझौते में परिवर्तन, डाक तथा सार, करेन्सी तथा टकमाल, अ-कर आयों में सम्बन्धित समस्याएँ तथा नीति विषयक विचार, कराधान जाँच आयोग का मत, डाक प्रणाली, लोक उद्योगों का प्रसार।

- ३५ लोक उद्योगों की व्यवस्था के प्रतिरूप ३५७-३६३
(Forms of Organising Public Enterprises)

विभागीय उद्यम, शासकीय कम्पनी, सार्वजनिक कारपोरेशन, औद्योगिक तथा निर्माण उद्योग, लोक उपयोगिताएँ तथा सेवाएँ, प्रवर्तक तथा विक्रमशील उद्यम, वाणिज्यिक तथा व्यापारिक उद्यम, वित्तीय संस्थाएँ, लोक उद्योगों की पार्लामेण्ट समिति।

- ३६ भारत सरकार का व्यय ३६४-३६८
(Expenditure of the Indian Government)

पूँजीगत खाता।

- ३७ राज्यों की वित्त व्यवस्था ३६९-३८१
(Financial Conditions of States)

राज्यों के लिए आर्थिक सहायता, राज्यों की आय की प्रवृत्तियाँ; हाल के वर्षों में राज्यों की आय में लोच, राज्य सरकारों की वित्तीय स्थिति।

- ३८ सम्मिलित करों की आय ३८२-३८४
(Revenue From Shared Taxes)

केन्द्रीय उत्पादन कर।

- ३९ राज्यों की आवकारी द्वारा आय ३८५-३९०
(Excise Revenue of States)

आवकारी नीति।

अध्याय

४०. केन्द्र तथा राज्यों में वित्तीय सम्बन्ध

३६१-३६८

(Central-State Financial Relations)

राज्यों के ऋण; केन्द्र तथा राज्यों में वित्तीय अधिकारों का बंटवारा; राज्यों की आय के लिए अनुदान; प्रशासनिक सुधार आयोग की संतुष्टि ।

४१. विक्री कर

३६९-४०८

(Sales-Tax)

विक्री कर तथा क्रय कर; सामान्य विक्री कर तथा चयनात्मक विक्री कर; एकल बिन्दु तथा बहुल बिन्दु विक्री कर; व्यापारियों की रजिस्ट्री, विक्री कर प्रणामन, निर्धारण वर्ष, सम्पात; गुण तथा दोष; भारत में विक्री कर का प्रसार, वैधानिक स्थिति; कराधान जाँच आयोग की सिफारिशें, एक ही राज्य का व्यापार, अन्तर्देशीय व्यापार; विदेशी व्यापार ।

४२. भू-राजस्व

४०९-४१४

(Land Revenue)

कराधान जाँच आयोग की सिफारिशें, भू-राजस्व की समाप्ति की चेष्टा ।

४३. अन्य कर

४१५-४२२

(Other Taxes)

कृषि आयकर; स्टाम्प तथा रजिस्ट्रेशन से आय, विद्युत शुल्क, विद्युत शुल्क के पक्ष में तर्क, आलोचना ।

४४. राज्यों को केन्द्र से आर्थिक सहायता

४२३-४२६

(Central Assistance of the States)

४५. स्थानीय संस्थाओं का वित्त

४२७-४३६

(Finances of the Local Bodies)

आर्थिक सहायता; नगरपालिकाएँ; महानगरपालिकाएँ, कार्य तथा अधिकार, संस्थाओं की आयगत आय; स्थानीय संस्थाओं का उधार धन; भुगतान, भुगतानों के प्रतिहप ।

४६. स्थानीय संस्थाओं के कर

४४०-४५१

(Taxes of the Local Bodies)

सम्पत्ति कर; भूमि तथा भवनों पर कर, इन करों का आधार, करों की दर, सेवा कर, सम्पत्ति कर निर्धारण तथा उसकी वसूली; उन्नति

कर, चुंगी तथा टरमिनल कर, चुंगी तथा टरमिनल कर में अन्तर; चुंगी तथा टरमिनल करों के गुण तथा दोष, यात्रियों पर टरमिनल कर, व्यवसायो, व्यापार रोजगार तथा सम्पत्ति तथा परिस्थिति पर कर; वाहनों, पशुओं तथा नौकाओं पर कर, मोटरकारों पर कर, थियेटर कर, महसूल ।

४७ योजनागत वित्त

४५२-४६७

(Plan Finances)

आर्थिक नियोजन की परिभाषा, नियोजित तथा अनियोजित अर्थ-व्यवस्था में अन्तर, पूँजी निर्माण, मिली-जुली अर्थ-व्यवस्था, आर्थिक नियोजन की प्रगति, साधनों का सङ्ग्रह, वित्तीय साधन, भुगतान सतुलन स्थिति, लोक क्षेत्र में लागत के वित्त के साधन, कर प्रयास लोक ऋण, छोटी वचत, विदेशी सहायता, दूसरी योजना के लिए वित्त ।

४८ चौथी योजना के लिए वित्त

४६८-४७५

(Finances of the Fourth Plan)

चालू आय से वचत, ऋण, विदेशी सहायता, घाटे का वित्त, अतिरिक्त साधनों को प्राप्त करना, निजी निवेश के लिए साधन, विदेशी साधन, वचत तथा निवेश ।

४९ परिशिष्ट—१९७१-७२ का केन्द्रीय बजट

४७५-४८३

(Appendix —Central Budget for 1971-72)

आयगत बजट तथा पूँजीगत बजट के अंक, घाटे का वित्त; अप्रत्यक्ष तथा प्रत्यक्ष करों में परिवर्तन, व्यक्तियों पर सम्पत्ति की तालिका, टिप्पणी ।

प्रथम अध्याय
विषय प्रवेश
(INTRODUCTION)

ऐतिहासिक दृष्टि—अर्थशास्त्रियों की रचनाओं में लोक वित्त अथवा राजस्व शास्त्र के वित्तीय तथा विभिन्न पहलुओं पर विवेचन का एक सम्बन्ध इतिहास है। एडम स्मिथ ने अपनी 'वेल्थ आफ नेशनस' नामक प्रतिष्ठित रचना में एक सम्पूर्ण भाग में 'सावरन' अथवा कामनवेल्थ की आय का विवेचन किया है। उन्होंने पहले राज्य के व्यय का विवेचन किया है जिसमें व्यय के प्रकार तथा उनकी पूर्ति के उपयुक्त साधनों का विवेचन है। तत्पश्चात् आय के साधनों तथा करो का वर्णन है और अंत में लोक ऋण के उद्गम तथा उसे घटाने के साधनों का स्पष्टीकरण है।

रिकाडों ने अपनी 'प्रिन्सिपल्स' नामक पुस्तक में करो की समस्याओं तथा उनके प्रभावों का विस्तृत विवेचन किया है। उन्होंने 'ऐसेज आन दी फंडिंग सिस्टम' नामक पुस्तक में लोक ऋण का विवेचन किया है। जे० एस० मिल ने अपनी 'प्रिन्सिपल्स आफ् पोलिटिकल इकानामी' नामक रचना में लोक वित्त के विभिन्न पहलुओं पर विस्तारपूर्वक लिखा है। उसमें कराधान के सिद्धान्तों, करों का प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करों में वर्गीकरण, विभिन्न करों के तुलनात्मक प्रभावों तथा राष्ट्रीय ऋण की विभिन्न समस्याओं पर प्रकाश डाला है।

इस प्रकार इन प्रतिष्ठित लेखकों ने लोक वित्त के आय, व्यय तथा ऋण सम्बन्धी पहलुओं को मान्यता दी है। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में मार्शल-एजवर्थ काल में लोक वित्त पर व्यवस्थित रूप में कम विवेचन किया गया। मार्शल ने तो अपनी 'प्रिन्सिपल्स आफ् इकानामिक्स' नामक चिरप्रतिष्ठित पुस्तक में, लोक वित्त के अन्य पहलुओं को तो छोड़िये, कराधान की समस्याओं पर भी कोई मवद्ध विवेचन नहीं किया, किन्तु उन्होंने पुस्तक के विभिन्न खण्डों में कराधान के सिद्धान्तों के विभिन्न पहलुओं को उभारने में बहुत समय तथा प्रयास लगाया है। एजवर्थ ने तो स्पष्ट लिखा है कि—

“कराधान के शास्त्र में दो मुख्य विषयों का समाविष्ट है जिन्हें शुद्ध सिद्धान्त की श्रेणी में शामिल किया जा सकता है : आयात के नियम तथा समान त्याग का सिद्धान्त।”¹

वैन्स्टेबल ने 1892 में पब्लिक फाइनेन्स में तथा डाल्टन ने 1922 में पब्लिक फाइनेन्स में लोक वित्त की विषय सामग्री की स्पष्ट परिभाषा दी है। डाल्टन के अनुसार लोक वित्त का सम्बन्ध लोक अधिकारियों की आय तथा व्यय से तथा एक दूसरे के समंजन से है। लोक आय के खण्ड में इन्होंने सामान्य सिद्धान्तों के तथा विशिष्ट करों के प्रभावों के विवेचन में रिकार्डों तथा मिल का अनुकरण किया है। पुस्तक के शेष भाग में एडम स्मिथ की परम्परा या विचारधारा के अनुसार लोक व्यय पर विचार किया गया है। इनके पश्चात् लोक व्यय के व्यय तथा आय सम्बन्धी पहलुओं पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।

1920 के पश्चात् प्रकाशित पुस्तकों में लोक वित्त के विषय पर विचारों में परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। उदाहरण के लिए प्रो० पीगू की ‘पब्लिक फाइनेन्स’ नामक पुस्तक के 1928 तथा 1947 के संस्करणों में मूल परिवर्तन है। दोनों ही में कराधान के सिद्धान्तों तथा विशिष्ट करों पर विचार किया गया है, लेकिन पहले संस्करण में युद्ध सम्बन्धी वित्त की समस्याओं पर इसलिए विशेष विवेचन किया गया है कि शांति काल में केवल ऐसे पूंजीगत कार्यों के लिए ही सोच ऋण लिया जाता है, जिनसे शेष आय (net income) प्राप्त होती है। लेकिन 1947 के संस्करण में समस्त वित्त के दबाव ‘लोक वित्त तथा रोजगार’ शीर्षक में उन माधनों पर पूर्णरूप में विवेचन किया गया है जिनके द्वारा प्राधिकारी राजकोषीय साधनों की सहायता से सकल आय को प्रभावित कर सकते हैं। 1930 के दशक के मंदी काल में तथा युद्ध काल के मुद्रा स्फीति काल में प्रो० कीन्स की ‘जनरल थ्योरी’ के प्रकाशन के पश्चात् इस तथ्य को मान्यता मिली है कि विशिष्ट करों के प्रभावों तथा राजकीय व्यय के विशिष्ट प्रकारों का विवेचन लोक वित्त के विषय का केवल एक भाग है और इसके क्षेत्र के अन्तर्गत राजकोषीय कार्यवाइयों का राष्ट्र की सम्पूर्ण क्रिया तथा रोजगार के स्तर पर पूरा विवेचन सम्मिलित होना चाहिए।

हाल के वर्षों में सरकारी कार्यक्रम को सामयिक आवश्यकता के अनुसार ढालने की प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रतिक्रिया दृष्टिगोचर होती है। देश की अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा स्फीति अथवा अस्फीति को राजकोषीय प्रक्रियाओं द्वारा रोकने के प्रयास किये जाते हैं। इस सम्बन्ध में लोक वित्तीय यन्त्रों का उपयोग सोच समझ कर किया जाना चाहिए। सनर, प्रेस्ट तथा मस्ट्रेव आदि लेखकों ने राजस्व शास्त्र पर विशेष प्रकाश डाला है।

इस संक्षिप्त ऐतिहासिक सर्वेक्षण के निम्न परिणाम कहे जा सकते हैं :

लोक वित्त के अन्तर्गत विशिष्ट करों अथवा व्ययों के गुण तथा दोनों का विवेचन होना आवश्यक है। यह भी स्पष्ट है कि लोक वित्त के बृहत् आर्थिक पहलुओं पर भी विचार आवश्यक है। उदाहरण के लिए राष्ट्रीय आय के स्तर पर राजकोपीय नीति के प्रभावों का अध्ययन लोक वित्त के अन्तर्गत होना आवश्यक है। किन्तु राष्ट्रीय ऋण की समस्याओं पर लोक वित्त के अन्तर्गत विवेचन होना नहीं इस सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों का दृष्टिकोण उभयभावी अथवा द्वैधवस्तिक है। इस पक्ष में यह कहा जा सकता है कि सरकारी ऋण आम का एक रूप है और जब कर तथा शुल्क का विवेचन लोक वित्त में होता है तब (सरकारी ऋण) पर विवेचन को शामिल न करना तर्क युक्त नहीं होगा। दूसरी ओर यह कहा जा सकता है कि ऋण प्रबन्ध के अन्तर्गत व्याज दरों से सम्बन्धित तथा इसी प्रकार की ऐसी बातें आती हैं जिनका सम्बन्ध मुद्रा मिष्ठान्त अथवा प्रबन्ध से राजकोपीय नीति की अपेक्षा अधिक निश्चित है। इसका हल यह है कि ऋण प्रबन्ध तथा नीति पर सरकारी आय तथा व्यय के दृष्टिकोण से ही विवेचन होना चाहिए और इनके मुद्रा नीति अथवा पूँजी तथा मुद्रा मण्डी से सम्बन्धित पहलुओं पर विचार लोक वित्त में नहीं होना चाहिए।

ठीक ऐसी ही समस्या विभिन्न लोक व्यापारिक उद्यमों के सम्बन्ध में उठती है। भारत में इनमें लगभग 5,000 करोड़ रुपयों के मूल्य की राशि लगी हुई है। इस सम्बन्ध में इन उद्यमों की वस्तुओं की कीमत तथा उत्पादन नीति से सम्बन्धित समस्याओं का विवेचन लोक वित्त में नहीं होना चाहिए, किन्तु जिन बातों में उनका सम्पर्क सरकारी क्रिया के राजकोपीय पहलुओं से है उनका विवेचन लोक वित्त में होना चाहिए।² इसी प्रकार सरकारी क्रिया प्रणाली के सम्बन्ध में ऐसे ही निर्णय का विवेचन लोक वित्त में होना चाहिए जिनका सम्बन्ध सरकारी आय तथा व्यय से है। इस सम्बन्ध में सब आर्थिक निर्णयों का समावेश होना आवश्यक नहीं है।

लोक वित्त का विषय—अब हम लोक वित्त के विषय के सम्बन्ध में चर्चा करेंगे। उपर्युक्त ऐतिहासिक वर्णन से लोक वित्त के अन्तर्गत आने वाली समस्याओं का परिचय मिलता है। लेखकों ने लोक वित्त की अलग-अलग परिभाषाएँ दी हैं। जे० एम० ब्रुकानन ने 'दी पब्लिक फाइनेन्स' नामक पुस्तक में लिखा है, सरकार पर इकाई के रूप में विचार करना ही लोक वित्त के अध्ययन का विषय कहा जा सकता है।³ दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि राजस्व शास्त्र में एक इकाई के रूप में सरकार की आर्थिक स्थिति का अध्ययन किया जाता है। इसमें सरकार को व्यक्ति के समान एक इकाई माना जाता है। इस सम्बन्ध में इन बातों का विवेचन होता है :

2 A. R. Prest : 'Public Finance', pp 15-16

3 The Government, considered as a unit, may be defined as the subject of the study of public finance, p. 9, 1967 edition.

(1) लोक वित्त के सम्बन्ध में तथ्य एकत्र करना आवश्यक है। सरकार किस प्रकार आय जुटाती है और कैसे उसे व्यय करती है, इस सम्बन्ध में सरकारी बजट के दोनों ओर के पहलुओं का अर्थात् आय तथा व्यय के शीर्षकों का विवेचन आवश्यक है।

(2) यह भी जानना आवश्यक है कि सरकार उपयुक्त निर्णय अथवा विवक्षित कैसे लेती है। उदाहरण के लिए, इस सम्बन्ध में बहुत प्रश्न उठते हैं। केन्द्रीय सरकार भारत में अपनी आय का अधिक भाग आय कर से न लेकर उत्पादन करों से क्यों लेती है? रक्षा सेवाओं पर लगभग 1000 करोड़ रुपये की धन राशि क्यों व्यय करती है? इस व्यय का इतना स्तर क्यों है? इस सम्बन्ध में जो निर्णय लिए जाते हैं वे राजनीतिक प्रक्रियाओं द्वारा बहुत से व्यक्तियों की सहायता से लिए जाते हैं। इसलिए जब इस प्रश्न पर विचार होता है कि ये निर्णय अथवा विवक्षित कैसे लिए जाते हैं तब इसमें राजनीतिक प्रक्रियाओं पर भी विचार किया जाता है।

(3) सरकारी निर्णयों के सम्बन्ध में यह भी बात आती है कि सरकारी विवक्षितों का देश की आर्थिक स्थिति पर, व्यक्तियों पर, तथा व्यवसायों पर क्या प्रभाव पड़ता है। उन परिस्थितियों को बदलने से जिनमें व्यक्ति कार्य करते हैं, अर्थात् श्रम करते हैं, वस्तुओं का उपभोग करते हैं, धन का विनियोग करते हैं, सरकार राष्ट्रीय आय के परिमाण, रोजगार के स्तर तथा मुद्रा की क्रय-शक्ति पर प्रभाव डालती है। उदाहरण के लिए राष्ट्र के निरन्वीकरण के निर्णय से राष्ट्रीय आय तथा रोजगार पर प्रभाव पड़ेगा। इसके अतिरिक्त सरकारी क्रियाओं का व्यक्तियों तथा व्यवसायियों के निर्णयों पर प्रभाव पड़ता है। आय कर में कमी अथवा वृद्धि से व्यक्तियों की कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा तथा शक्ति पर प्रभाव पड़ता है। इस सम्बन्ध में सरकारी निर्णयों को तथ्य मान कर अर्थ-व्यवस्था के अलग-अलग अंगों पर होने वाले प्रभावों का अध्ययन होता है।

लोक वित्त के अध्ययन की विषय सामग्री

संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि लोक वित्त अथवा सरकारी अर्थ-व्यवस्था के अध्ययन में तीन चरण हैं। पहले हमें तथ्यों का पता लगाना है, दूसरे निर्णय करने की कार्य विधि का परीक्षण करना है तथा लोक निर्णयों का परिस्थिति पर तथा निजी अर्थ-व्यवस्था में फर्मों तथा व्यक्तियों के व्यवहारों पर होने वाले प्रभावों का अध्ययन करना है।

बैस्टेबल के अनुसार लोक वित्त में राजकीय साधनों की प्राप्ति तथा प्रयोग का अध्ययन किया जाता है। जिस प्रकार राज्य की आय प्राप्त होती है और कैसे उसका उपयोग किया जाता है, इन बातों का अध्ययन राजस्व शास्त्र में किया जाता है।

थोमस उर्सुला हिव्स के अनुसार राजस्व शास्त्र में उन साधनों का अध्ययन किया जाता है जिनके द्वारा लोक सत्ताएं इच्छाओं की सामूहिक आपूर्ति के लिए

व्यवस्था करती हैं तथा अपने उद्देश्यों को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक धन प्राप्त करती हैं ।

डॉ० डाल्टन के अनुसार लोक वित्त के अध्ययन की विषय सामग्री का सम्बन्ध लोक सत्ताओं की आय तथा व्यय से है तथा एक का दूसरे से कैसे सम्बन्ध होता है इसका भी अध्ययन लोक वित्त में होता है । इस प्रकार लोक वित्त में लोक सत्ताओं की आय-व्यय तथा एक का दूसरे से सम्बन्ध सम्बन्धी बातों का अध्ययन होता है । डा० डाल्टन ने लोक सत्ताओं का उपयोग किया है राज सत्ताओं का नहीं । इनके वार्षिक, त्रिमासिक, जल सन्ध्या, आय-व्यय आदि के अलग अलग स्तर हैं, किन्तु विषय के विस्तृत सर्वेक्षण में ये अन्तर बहुत महत्व नहीं रखते । महत्व की बात यह है कि उनकी आय तथा व्यय मुद्रा के रूप में होते हैं ।

प्रो० शिराज के अनुसार लोक वित्त में लोक सत्ताओं के व्यय तथा आय सम्बन्धी मिथ्यान्तों का विवेचन किया जाता है । इन्होंने व्यय पर बल दिया है, जिनके द्वारा आय का नियमन होता है । वास्तव में राष्ट्र के सामने ऐसे अवसर आते हैं जब उपभोग, विनियोग तथा रोजगार की वृद्धि के लिए लोक व्यय को विशेष महत्व देना होता है । 1930 के आर्थिक संकट काल में यूरोप तथा अमेरिका में मंदी के कारण जनता की मांग की वृद्धि द्वारा रोजगार की वृद्धि के लिए राष्ट्रों ने व्यय बढ़ाने की नीति का अनुसरण किया था । अल्प विकसित देशों में आर्थिक नियोजन का उद्देश्य लोक क्षेत्र में बड़े बड़े उद्योगों को चलाने के लिए धन व्यय किया जाता है । हमारे देश में तेल साफ करने के तथा लोहे तथा फोलाद का सामान बनाने के बड़े बड़े उद्योगों के निर्माण में 1960 तक लगभग राज्य द्वारा 4,000 करोड़ की धन राशि का विनियोग किया गया है ।

कार्यात्मक वित्त (Functional Finance)— 19वीं शताब्दी में प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने राज्य के कार्यों में व्यवसाय अथवा उद्योगों को स्थान नहीं दिया था । आंतरिक सुरक्षा, बाह्य आक्रमण से सुरक्षा, शिक्षा तथा ऐसे उद्योगों का निर्माण तथा संचालन जिनके लिए निजी उद्यमी धन नहीं जुटा सकते राज्य के दायरे के कार्य निश्चित किये गये थे । बीसवीं शताब्दी में राज्य के कार्यों का दायरा बराबर बढ़ता जा रहा है । श्रम सुरक्षा, समाज सुरक्षा, वृद्धों की देख-रेख के भत्ते का प्रविधान, श्रम वातन का निर्माण, रोजगार के लिए प्रविधान, आदि कार्य धीरे धीरे राज्य ने करने आरम्भ कर दिये । उन्नीसवीं शताब्दी में केवल सुरक्षा सम्बन्धी कार्यों तक ही राज्य का दायरा था । इसलिए राज्य को पुलिस राज्य कहा जाता था । लेकिन बीसवीं शताब्दी में जन कल्याण सम्बन्धी कार्य राज्य के कार्यों में शामिल हो गये हैं । प्रत्येक राष्ट्र समाज कल्याण सम्बन्धी कार्य करता है । इसलिए राज्य को जन कल्याण राज्य कहते हैं । उद्योगों का निर्माण, रोजगार, समाज सुरक्षा, पिछड़े उद्योगों को प्रोत्साहन देना, आदि कार्य राज्य के कर्तव्यों में शामिल हैं ।

राज्य का लक्ष्य—जन कल्याणकारी होने के कारण कार्यात्मक वित्त का महत्व

बढ़ गया है। अब राज्य के कर्तव्यों में सुरक्षा कोष, जन कल्याण सुविधाएँ तथा पूर्ण रोजगार की नीति आदि कार्यों को बल दिया जाता है। सभी राष्ट्रों ने आर्थिक नियोजन की नीति अपनाई है, जिसमें वित्तीय साधनों का जुटाना, उत्पादन बढ़ाना, रोजगार के साधनों की व्यवस्था करना, आय तथा धन के वितरण की विषमता में कमी करना, आदि बातों पर बल दिया जाता है। अल्प विकसित देशों में पूर्ण रोजगार की नीति को अभी नहीं अपनाया गया है, क्योंकि उसके लिए उनमें पर्याप्त साधन नहीं हैं।

भारत में पंचवर्षीय योजनाओं में योजना काल के प्रारम्भ में बेरोजगार व्यक्तियों की संख्या का अनुमान दिया जाता रहा है, योजना काल में श्रमजीवियों की संख्या की वृद्धि के आँकड़े प्रस्तुत किये जाते रहे हैं, जो केवल अनुमान ही हैं। पूर्ण रोजगार अभी लक्ष्य नहीं बन पाया है। चौथी पंचवर्षीय योजना ड्राफ्ट प्लान के अनुसार रोजगार की सुविधाओं को बढ़ाने का मुख्य साधन देश भर में अर्थ-व्यवस्था की उत्पादक क्षमता को अधिकतम बढ़ाने का है।”⁴

आर्थिक नियोजन के आने से इस पहलु पर विशेष बल दिया गया है। नियोजन द्वारा प्राथमिकताओं का तय किया जाना, उनके लिए मानवी तथा भौतिक साधनों का इकट्ठा करना, उत्पादन बढ़ाना तथा आय के बंटवारे में सुधार करना, आदि बातें निश्चित की जाती हैं, जिनसे जन साधारण के जीवन स्तरों की उन्नति हो सके।

लोक वित्त के अध्ययन का महत्त्व बढ़ रहा है। राज्य आर्थिक नीति को व्यवहार में लाने के लिए राजकोपीय नीति का अनुसरण करता है। सामान्य आर्थिक नीति का उद्देश्य स्थायित्व सहित वृद्धि करना तथा वितर्णात्मक सुधारों द्वारा जन कल्याण की वृद्धि करना है। आर्थिक दृष्टि से उन्नत देशों में राजकोपीय नीति द्वारा सामाजिक व्यय की वृद्धि तथा कुछ आवश्यक उद्योगों को पिछड़े हुए क्षेत्रों की उन्नति के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। सामाजिक व्यय तथा सामाजिक कर्तव्यों में संतुलन लाने का प्रयास किया जाता है।

करो द्वारा आय तथा सम्पत्ति के वितरण में परिवर्तन किये जाते हैं। सम्पत्ति कर, उपहार कर तथा मृत्यु कर द्वारा आय का पुनर्वितरण किया जाता है। व्यय कर अधिक आय वाले व्यक्तियों पर लगता है। वर्तमान आय कर तथा विलासिता की वस्तुओं पर परोक्ष करों का भी यही उद्देश्य होता है। इन साधनों द्वारा अमीर व्यक्तियों की आय पर नियन्त्रण किया जाता है। पूँजीगत सम्पत्ति पर भी पुनर्वितरण किया जाता है जिसके द्वारा व्यय करने की समता आ सकती है। कर सम्बन्धी प्रोत्साहन द्वारा उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है।

लोक वित्त एक विकासशील विज्ञान है। एक सुयोग्य प्रशासनिक कार्य प्रणाली के लिए उपयुक्त वित्त आवश्यक है। इससे जन साधारण के कल्याण में वृद्धि होती है। पूँजी निर्माण उपयुक्त कराधान तथा राजकोषीय नीति पर भी निर्भर होता है। आय तथा कर सम्बन्धी उपयुक्त नीति द्वारा उत्पादन की वृद्धि होती है। इससे वितरण प्रणाली भी सुधरती है, विनियोग की तथा श्रमिकों के लिए रोजगार के साधनों की वृद्धि होती है।

उपयुक्त राजकोषीय तथा वित्तीय नीति से पूर्ण रोजगार के लक्ष्य की प्राप्ति भी हो सकती है। रोजगार की वृद्धि के लिए एक उपयुक्त लोक व्यय नीति का निर्माण आवश्यक है। राज्य का कार्य क्षेत्र बढ रहा है। विवासशील देशों में निजी क्षेत्र के प्रसार के साथ साथ राजकीय क्षेत्र का प्रसार भी बढ रहा है। भारत में राजकीय क्षेत्र के उद्योगों में बहुत वृद्धि हो रही है। हाल ही में जुलाई 1969 में 14 बड़े बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया, जिसके फलस्वरूप लगभग 85 प्रतिशत जमा धन राज्य के अधिकार क्षेत्र में आगया, जिससे छोटे उद्योगपतियों को ऋण उधार देकर रोजगार तथा उद्यम की वृद्धि की जा सकती है।

लोकतंत्र प्रणाली में वजट की नीति द्वारा राज्य की आय-व्यय सम्बन्धी नीति से जन कल्याण कार्यों को प्रोत्साहन मिल सकता है। उपयुक्त विनियोग नीति, व्यय नीति तथा राज्य के लिए नीति सम्बन्धी यन्त्रों द्वारा अर्थात कर तथा व्यय, ऋण तथा उधार तथा ऋण-विषय के ऐसे राज्य के लिए साधन उपलब्ध हैं जिनके द्वारा उत्पादन के लिए विनियोग में सहायता मिलती है तथा रोजगार की वृद्धि होती है। अतः उपयुक्त लोक वित्त नीति का देश की आर्थिक स्थिति में विशेष महत्त्व है।

हमारे देश में पंचवर्षीय योजनाओं की राष्ट्रीय तथा व्यक्तिगत आय की तथा रोजगार के साधनों की उपलब्धि, वित्तीय साधनों की उपलब्धि तथा उनके उपयुक्त रूप में प्रयोग होने पर निर्भर है। प्रशासन सुधार आयोग ने अपनी रिपोर्टों में इस सम्बन्ध में बहुत से सुझाव दिये हैं।

दूसरा अध्याय विकास वित्त (DEVELOPMENT FINANCE)

विकास वित्त से यह अभिप्राय है कि विकसित तथा विवासशील देशों में आर्थिक वृद्धि तथा उन्नति के लिए साधन प्राप्त करने में क्या समस्याएँ उत्पन्न होती हैं तथा उनके क्या प्रभाव पड़ते हैं। देश के आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त मात्रा में साधन उपलब्ध होने चाहिए। विभिन्न साधनों के विभिन्न प्रभाव होते हैं। धन प्राप्त करने के साधनों तथा उनके फलस्वरूप प्रभावों का अध्ययन विकास वित्त का अध्ययन क्षेत्र है। विकासशील देशों की विशेषताएँ विकसित देशों की विशेषताओं से भिन्न हैं। इनके व्यय के रूप भी अलग-अलग हैं। इनकी अपनी आवश्यकताओं तथा योजनाओं के अनुसार साधन प्राप्त करने होते हैं।

अल्प विकसित देशों में राष्ट्रीय तथा प्रति व्यक्ति आय विकसित देशों की अपेक्षा बहुत कम है। अल्प विकसित देशों में जनता में बहुत बेरोजगारी है। इनमें भारी उद्योग धन्ये विकसित नहीं रहते। यातायात तथा संचार व्यवस्था भी पिछड़ी रहती है। वचन तथा विनियोग का परिमाण भी कम होता है, बैंक सुविधाएँ भी सुव्यवस्थित नहीं रहती। धन तथा आय के वितरण की असमता भी बहुत होती है, जन जीवन स्तर भी पिछड़े हुए रहते हैं। अवस्थापना (infrastructure) की भी कमी रहती है।

लोक वित्त तथा विकास प्रणाली दोनों एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। इन में राजकीय तथा निजी क्षेत्रों में व्यय का रूप विकास कार्यक्रम पर निर्भर होता है। राजकीय क्षेत्र का आकार तथा निजी क्षेत्र में कौन से मामले रहेने, यह बातें विकास कार्यक्रम से ही तय होती है। कितना धन करो से तथा कितना ऋणों से प्राप्त किया जायेगा, कौन-कौन से ऋण लेंगे, विदेशी धन का क्या परिमाण होगा ये सब बातें विकास सम्बन्धी कार्यक्रम की क्षमता पर ही निर्भर होगी।

इन सब बातों को तय करने के लिए वित्तीय योजना होनी चाहिए। वित्तीय योजना देश की आर्थिक स्थिति तथा उसकी प्रगति की उन्नति पर निर्भर होगी। उदाहरण के लिए यदि हम खनिज उद्योगों की उन्नति की योजना बनाते हैं तो उसके लिए लोहे तथा कोलाइ के, तेल शोध के कारखाने खोलने होंगे जिनके लिए बहुत

परिमाण में धन चाहिए। इनके साथ-साथ यातायात तथा संचार व्यवस्था का भी विकास करना होगा। सभी विकसित देशों की कुछ एकसी विशेषताएँ हैं। इनसे उनमें साधन प्राप्त करने की सीमा तय होती है। ये विशेषताएँ निम्न हैं :

(1) अल्प विकसित देशों की जनता गरीब है तथा उनके जीवन स्तर कम है। इनमें गरीबी की अलग अलग श्रेणियाँ हैं। उदाहरण के लिए भारत, पाकिस्तान तथा दक्षिण पूर्व एशियायी तथा अफ्रीका के देश बहुत गरीब हैं, किन्तु मलाया, ब्रिटेन-इण्डोनेशिया तथा लैटिन अमेरिका के कुछ देश अधिक समृद्धिवादी हैं। सीलोन तथा घाना की आर्थिक स्थिति और भी अच्छी है, लेकिन अल्प विकसित देशों की अपेक्षा औद्योगिक दृष्टि से विकसित पाश्चात्य देश बहुत अधिक समृद्धिवादी हैं।

(2) अल्प विकसित देशों में संख्या का बहुत बड़ा भाग जीवन निर्वाह के लिए ही उत्पादन करता है और जितना वह उत्पादन करता है उसका प्रत्यक्ष उपभोग भी करता है। उसका मुद्रा की अर्थ-व्यवस्था में कुछ भी सम्पर्क नहीं रहता, क्योंकि उदात्त माल को उसे बाजार में बेचने का अवसर ही प्राप्त नहीं होता। उनके पास शेष उत्पादन होता ही नहीं। इन देशों में धन तथा आय के वितरण की असमानता बहुत है। इसका विकास के लिए धन के प्रवाह पर विशेष प्रभाव पड़ता है। 'धनी वर्ग' उपभोग पर बहुत व्यय करता है, जिसके फलस्वरूप उन की आय सरलता से विकास कार्यों के लिए स्वतः अथवा करों द्वारा उपलब्ध नहीं हो पाती।

(3) इन देशों में जनसंख्या का घनत्व बहुत है। इनके विभिन्न प्रदेशों में प्राकृतिक साधनों की विशेष असमता है। बहुत काल तक पिछड़े हुए प्रदेशों में 'विकास प्रक्रिया' रुद्धिवादी सामाजिक आर्थिक दृढ़ता तथा गतिहीनता की हटाने में असफल होती है। इससे संचार व्यवस्था की उन्नति आवश्यक है। ये देश गरीबी के कारण पिछड़े हुए हैं।

(4) इन देशों में कृषि मुख्य उद्योग है। जन साधारण के जीवन स्तर की उन्नति के लिए कृषि की उन्नति आवश्यक है।

(5) इन देशों को दूसरे विश्व युद्ध के पश्चात् स्वाधीनता मिली है, जिससे इन में स्वतंत्रता का स्तर बहुत बढ़ा है। उनकी सरकारों की अंतरराष्ट्रीय समुदायों तथा संस्थाओं में प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ है तथा इन्हें प्रतिरक्षा सेवाओं पर खर्च बहुत करना पड़ा है।

(6) इनमें राजकीय क्षेत्र बहुत ही सीमित हैं जिसके फलस्वरूप आर्थिक वृद्धि के साधन उपलब्ध नहीं हैं। इनमें वार आय कुल राष्ट्रीय आय का 12 प्रतिशत भाग है जबकि विकसित देशों में यह अनुपात 30 प्रतिशत है। विकसित देशों में राज्य कर तथा व्यय नीति द्वारा आर्थिक प्रक्रिया के स्तर का नियन्त्रण करता है और राजकोषीय नीति (fiscal policy) को मुद्रा नीति से सहायता प्राप्त हो सकती है। अल्प विकसित देशों में वित्तीय संस्थाओं के विकास की कमियों के कारण यह सम्भिसन संभव नहीं होता। इनमें बैंक प्रणाली विकसित नहीं है। इसलिए साख नीति प्रभावशाली नहीं हो पाती।

भारत भी एक अल्प विकसित देश है। यहाँ 1951 में कर आय राष्ट्रीय आय का केवल 5 प्रतिशत थी, किन्तु 1969 में यह अनुपात 12 प्रतिशत था। 1968-69 में भारत सरकार की आय लगभग 2961 करोड़ रुपये अनुमानित की गई है। पूँजीगत बजट की आय का अनुमान 2,347 करोड़ रुपये है। दोनों मिलकर लगभग 5,300 करोड़ रुपये हैं।¹ राज्यों की चातु आय 1968-69 में लगभग 2,605 करोड़ रुपये रही तथा पूँजीगत बजट की आय 1284 करोड़ रुपये थी। दोनों मिलकर 3,889 रुपये हुई।² केन्द्र तथा राज्यों की कुल आय का परिमाण लगभग 9189 करोड़ रुपये है। 1966-67 में शेष राष्ट्रीय आय 1960-61 की कीमतों के आधार पर 15,706 करोड़ रुपये थी।³ इस प्रकार राज्य हमारे देश में शेष राष्ट्रीय आय का लगभग 58 प्रतिशत भाग नियन्त्रित करता है। अतः राजकोपीय नीति द्वारा राज्य की राष्ट्रीय आय पर नियन्त्रण शक्ति बहुत बढ गई है। ग्रामीण क्षेत्रों में बैंक सम्बन्धी सुविधाओं के अभाव के कारण मुद्रा तथा साख नीति का राजकोपीय नीति के लिए पर्याप्त समर्थन नहीं मिल सकता।

विकास नीति—जब कोई देश विकास नीति का एक संगठित कार्यक्रम करता है तो उसे शिक्षा, लोक आरोग्यता तथा यातायात जैसी आधारभूत सेवाओं पर पर्याप्त परिमाण में धन व्यय करना होता है। विकास नीति में निम्न चरण होते हैं :—

(1) सरकारी क्षेत्र में प्रोजेक्टों की प्राथमिकता के क्रम पर विशेष ध्यान देना चाहिए। साधन सीमित होने के कारण यह देखना होता है कि कौन से प्रोजेक्ट को पहले लेना लाभदायक होगा।

(2) सभी प्रोजेक्टों का एक दूसरे से सम्बन्ध रहता है। इसलिए लोक व्यय पर विचार करते समय एक प्रोजेक्ट समूह से होने वाले लाभों को देखना चाहिए। इससे व्यय के नियोजन की आवश्यकता है।

(3) आर्थिक नियोजन में पूर्ण अर्थ-व्यवस्था पर विचार करना आवश्यक है। योजना की इकाइयों के लिए पर्याप्त परिमाण में वित्त का प्रविधान करना आवश्यक है। यह भी देखना चाहिए कि भौतिक साधनों की उपलब्धि की कमी से बठिनाई न आने पाये, किन्तु सामग्री तथा प्रशिक्षित श्रम की कमी आयात द्वारा पूरी की जा सकती है इसके लिए विदेशी साधनों की आवश्यकता होगी।

(4) वित्तीय साधनों का भी पर्याप्त अनुमान होना चाहिए। कुल कितना

1 Reserve Bank of India Bulletin, April 1969, p. 459.

2 Reserve Bank of India Bulletin, May 1968, pp. 594, 612.

3 Annual Report of the Reserve Bank of India on Currency and Finance 1968, p. 76

धन चाहिए। करों, ऋणों, पाटे के यजदों तथा विदेशों से आर्थिक सहायता के रूप में कुल मिलाकर एक निश्चित समय में कितना धन प्राप्त होगा। इन सब साधनों का एक तर्क संगत अनुमान होना आवश्यक है। विदेशी सहायता के कई रूप होते हैं। निजी पूँजी, ऋण, अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं से तथा विदेशी सरकारों से दीर्घकालीन ऋण तथा सीधे अनुदान भी प्राप्त हो सकते हैं। इन सबके प्रभावों का अनुमान करना भी आवश्यक होता है। कुछ समय तक प्रशिक्षण तथा प्रबन्धकीय तथा उद्यम मन्वी कुशलता का आयात आवश्यक होगा। कुछ समय पश्चात् इनकी उपलब्धि देश में ही सम्भव हो सकती है। इनकी प्राप्ति की तकनीकियों पर भी विशेष ध्यान देना चाहिए, किन्तु यह तकनीकियाँ समय के साथ बदलती रहती हैं।

योजना काल में समय पाकर वित्त स्थिति तनावपूर्ण हो जाती है, जिसका परिणाम व्यापार सन्तुलन पर अच्छा नहीं पड़ता। भारत में 1958 के मध्य में राजकीय क्षेत्र में विदेशी मुद्रा के अभाव के कारण योजना में कमी करनी पड़ी। विशेष महत्वपूर्ण प्रोजेक्टों को ही लिया गया। अवस्थापना (infrastructure) कार्य तथा मेबाएँ दीर्घकाल में ही राष्ट्रीय आय के लिए अशदान देती है।

विदेशी ऋण के सम्बन्ध में व्याज तथा मूल धन की अदायगी का प्रश्न आ जाता है। इस कठिनाई का सामना समुक्त राष्ट्र अमेरिका, कनाडा तथा आस्ट्रेलिया को भी करना पड़ा था तथा आज लगभग सभी विकासशील देशों को करना पड़ रहा है। यदि ऋण सेवाएँ विदेशी मुद्रा में चुकानी पड़ती हैं, तो देश के व्यापार सन्तुलन पर भारी तनाव पड़ता है। भारत की चौथी योजना में बाह्य सहायता के परिमाण का अनुमान 3730 करोड़ रुपये है, जिसमें 1216 करोड़ रुपये ऋण भुगतान के लिए हैं जो निर्यात का 20 प्रतिशत है। तीसरी पंचवर्षीय योजना में यह अनुपात लगभग 14 प्रतिशत था।

विकासशील देशों का विदेशी ऋण

1966 में 95 विकासशील देशों के विदेशी ऋण के भुगतान का परिमाण 396 करोड़ डालर था, जिसमें 280 करोड़ डालर मूल धन का भुगतान तथा 120 करोड़ डालर व्याज का भुगतान था। 1962 तथा 1966 के बीच ऋण तथा व्याज के भुगतान के परिमाण में 10 प्रतिशत प्रति वर्ष वृद्धि हुई जो इन देशों की निर्यात की वृद्धि से कहीं अधिक थी। हाल के वर्षों में दक्षिण एशिया, पूर्व एशिया तथा अफ्रीका के विकासशील देशों में विदेशी ऋण सेवाओं के भुगतान में विशेष वृद्धि हुई है। 1962 तथा 1966 के बीच पूर्वी एशिया के देशों में ये भुगतान परिमाण दुगुने से अधिक हो गये तथा दक्षिण एशिया के देशों में (मुख्यतया भारत तथा पाकिस्तान में) इनमें 90 प्रतिशत वृद्धि हुई तथा अफ्रीका में 75 प्रतिशत वृद्धि हुई। निर्यात मूल्य के अनुपात के रूप में 1962 तथा 1967 के बीच भारत के ऋण सेवा भुगतानों की वृद्धि 1961 में 15 प्रतिशत से बढ़कर 1967 में 28 प्रतिशत हो

गयी। इस बीच में ऋण सेवाओं की वृद्धि 24 प्रतिशत हुई, निर्यात की वृद्धि 2.8% प्रतिशत प्रति वर्ष हुई।⁴

इसलिए यह आवश्यक है कि वास्तविक तथा वित्तीय माधन इन भुगतानों के लिए पर्याप्त होने चाहिए। इसके साथ-साथ राष्ट्रीय बजट में साधनों का वार्षिक सर्वेक्षण होना चाहिए। साधन इतने पर्याप्त होने चाहिए कि प्रोजेक्टों का प्रबन्ध उनमें बिना परिवर्तन किये किया जाये, अन्यथा अर्थ-व्यवस्था के बिगड़ने का भय रहेगा।

विकासशील देशों में धन्य के रूपों का सावधानी से चयन करना चाहिए। प्रोजेक्टों का विशेषज्ञों द्वारा सावधानी से निरीक्षण होना चाहिए। देशी तथा विदेशी साधनों की उपलब्धता का भी सावधानी से अनुमान होना चाहिए। जन शक्ति का प्रशिक्षण होना चाहिए तथा पूँजी निर्माण को प्रोत्साहन देना चाहिए। अर्थ-व्यवस्था के विकास के साथ उत्पादन की वृद्धि होती है, वितरण में सुधार होते हैं तथा व्यक्तियों को श्रम तथा बचत करने का प्रोत्साहन मिलता है।

इस बात को देखना चाहिए कि धन्य साधनों के स्तर से अधिक न जाय, अन्यथा अर्थ-व्यवस्था में तनाव पैदा हो जायेगा। विकासशील देशों में विकास के साथ मुद्रा मफीति का भय रहता है, जिससे वस्तुओं की कीमतें बढ़ती हैं। इन्हें नियन्त्रण में रखना चाहिए, अन्यथा वित्तीय साधनों के लक्ष्य पूरे नहीं हो सकेंगे तथा फलस्वरूप विभिन्न क्षेत्रों में कमियाँ हो जायेगी।

विकास सम्बन्धी योजनाओं तथा नीतियों का सावधानी से नियन्त्रण होना चाहिए। उन्हें कार्यान्वित करना भी आवश्यक है। सामग्री, कच्चा माल, तकनीकी जन शक्ति, प्रबन्ध कुशलता तथा उद्यमी योग्यता आदि में कमी नहीं आने देना चाहिए। इस सम्बन्ध में बराबर देख रेख होती रहनी चाहिए। तकनीकियों में परिस्थिति के साथ-साथ परिवर्तन होते रहने चाहिए। उपयुक्त मुद्रा, राजकोपीय तथा साख नीतियों का अनुसरण होना चाहिए। लोक उद्योगों में वस्तुओं की कीमतें अतन्त ऐसी होनी चाहिए कि उत्पादन लक्ष्य प्राप्त हो जाय तथा उनके प्रसार के साधन उपलब्ध हो सकें।

लोक धन्य योजना में चयन

विकासशील देशों में आर्थिक उन्नति के लिए एक सामयिक योजना विशेष आवश्यक है। इसमें लोक क्षेत्र का विस्तार अवश्य होना चाहिए। इस योजना में वाछनीय प्रसारों का तथा प्रत्याशित साधनों का अनुमान होना चाहिए। विकास के प्रारम्भिक काल में वृद्धि के बहुत से मदों की देखभाल केन्द्रीय सरकार द्वारा ही होनी चाहिए। इन पर आर्थिक स्थिति के मन्दर्भ में ही विचार होना आवश्यक है। लोक धन्य में मूलभूत प्रशामनिक सेवाओं तथा प्रतिरक्षा को प्राथमिकता मिलनी चाहिए। इसके पश्चात् रेल, सड़कें, घन्दरगाह तथा हवाई अड्डों पर बल देना होगा। लोक

⁴ World Bank and IDA Annual Report, 1965-66, pp 30-31, also Annual Report 1968, p. 36

उपयोगिताएँ तथा लोक उद्योगों के अन्य रूप कृषि तथा उद्योगों की उन्नति के लिए आवश्यक है। शिक्षा, लोक चिकित्सा आदि सामाजिक सेवाओं पर भी ध्यान देना चाहिए।

अवस्थापना (infrastructure) की सेवाओं को सामाजिक, आर्थिक तथा अतिरचना (superstructure) की श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। यह विभाजन कार्यक्रम में सतुलन लाने के लिए आवश्यक है, किन्तु इसमें लोच होनी चाहिए। यह अपरिवर्तनीय नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए शिक्षा पर व्यय केवल आर्थिक अथवा सामाजिक ही नहीं है, बल्कि इसके और भी पहलू हैं। जल तथा बिजली का प्रयोग केवल उत्पादन के ही लिए नहीं होता बल्कि गृह कार्यों में उपयोग के लिए भी होता है।

इसी प्रकार विकासात्मक कार्यक्रम का भी वर्गीकरण होना चाहिए। प्रतिरक्षा तथा प्रसाधन का विस्तार होता रहता है। प्रशासनिक व्यय में बराबर वृद्धि होती रहती है। उसका कारण यह है कि राज्य का कार्य क्षेत्र बढ़ता जाता है। राज्य नये नये कार्य करता जाता है। इसके साथ सेवाओं की लागत भी बढ़ती है। राज्य कर्मचारियों की संख्या तथा सुविधाओं की मांग बढ़ती जाती है।

व्यय सम्बन्धी कार्यक्रम को तैयार करने का अर्थ है कि आर्थिक साधनों का प्राथमिकता के आधार पर बंटवारा होना चाहिए। इन प्राथमिकताओं में चयन का प्रश्न आ जाता है। पहले तो राजकीय क्षेत्र के आकार का चयन आवश्यक है। उसके बाद राजकीय क्षेत्र के अनेक विभागों में साधनों का विनिधान (allocation) होना चाहिए। उस के पश्चात् उसी विभाग में सम्बन्धित खर्चों को बताने होते हैं। उदाहरण के लिए शिक्षा के अन्तर्गत तकनीकी, सामान्य आदि पहलुओं के लिए साधनों का विनिधान होना आवश्यक है। अन्ततः सेवाओं की विभिन्न तकनीकियों में चयन का प्रश्न आता है।

मूलभूत समस्या राजकीय तथा निजी क्षेत्रों में साधनों के बंटवारे की है। कितना धन राजकीय क्षेत्र को जाना चाहिए, कितना निजी क्षेत्र को, यह समस्या महत्वपूर्ण है।

भारत में चौथी, तीसरी तथा 1966-69 की योजनाओं में राजकीय क्षेत्र के धनो का बंटवारा निम्न तालिका में दिया है :⁵

(करोड़ रुपये में)

विकास शीर्षक	तीसरी योजना	1966-69	चौथी योजना
1. कृषि तथा सम्बन्धित क्षेत्र	1088.9	1166.6	2728.2
2. मिर्चाई तथा बाढ़ नियन्त्रण	664.7	457.1	1086.6

3. शक्ति	1252.3	1182.2	2447.5
4. ग्रामीण तथा लघु उद्योग	236.0	144.1	293.1
5. उद्योग तथा खनन	1726.3	1515.0	3337.7
6. यातायात तथा संचार	2111.7	1239.1	3237.3
7. शिक्षा	558.7	322.4	822.7
8. वैज्ञानिक अनुसंधान	71.6	51.1	140.3
9. आरोग्यता	225.9	140.1	435.0
10. परिवार नियोजन	24.9	75.2	315.0
11. जल प्रदाय तथा मफाई	105.7	100.6	405.8
12. ग्रह, नागरिक तथा क्षेत्रीय विकास	127.6	63.4	237.0
13. पिछड़े वर्गों का कल्याण	100.4	68.5	142.4
14. सामाजिक कल्याण	19.4	12.1	41.4
15. श्रम कल्याण तथा शिल्पी प्रशिक्षण	55.8	35.5	39.9
16. अन्य कार्यक्रम	173.1	123.5	192.3
योग	8573.0	6756.5	15902.2

इस विनिधान का सम्बन्ध कुल राष्ट्रीय उत्पादन से हो सकता है। पाश्चात् देशों में राजकीय क्षेत्र कुल राष्ट्रीय उत्पादन का 40 प्रतिशत तक है, किन्तु विकासशील देशों में 20 प्रतिशत भी पर्याप्त रहेगा।

चयन के अन्तर कार्यात्मक स्तर पर कुल राष्ट्रीय उत्पादन की वृद्धि के लिए महत्वपूर्ण निर्णय लेने आवश्यक हैं। अवस्थापना (infrastructure) प्रोजेक्टों तथा शिक्षा जैसी सामाजिक सेवाएँ अथवा परिवार नियोजन जैसी सेवाएँ 20 वर्ष में ही प्रभाव दिना सकती हैं, किन्तु अधिरचनात्मक (quick yielding) प्रोजेक्टों से उत्पादन शीघ्र ही हो सकता है, जिन पर आय खर्च की जा सकती है। अवस्थापना की जिम्मेदारी राज्य की होनी चाहिए। मिलीजुली अर्थ-व्यवस्था में अधिरचना से सम्बन्धित प्रोजेक्टों में राष्ट्रीय सरकार का हित इस बात में होगा कि वह राजकोपीय प्रोत्साहन तथा औद्योगिक विकास कारपोरेशनों द्वारा उत्पादन की वृद्धि में सहायक हो, किन्तु अपने ऊपर अधिरचना सम्बन्धी प्रोजेक्टों के चलाने की जिम्मेदारी न ले।

राज्य को प्रोजेक्टों के चयन के सम्बन्ध में भी निर्णय लेने पड़ते हैं। प्रोजेक्ट ऐसे भी होते हैं जिन का निर्माण थोड़े समय में होता है तथा ऐसे भी होते हैं जिनका निर्माण लम्बे समय में ही हो सकता है। कुछ प्रोजेक्ट जल्दी फल देते हैं, कुछ बहुत समय बाद फल देते हैं। बिजली के बड़े बाँधों के पूरा होने पर लाभ तभी हो सकता है जब उनकी उपयोगिता के लिए अधिम योजनाएँ बनायी जायें। विद्यालयों से लाभ

धीरे-धीरे होते हैं। इन सब प्रोजेक्टों के सम्बन्ध में निर्णय राष्ट्र की आवश्यकता तथा धन की उपलब्धि पर निर्भर होते हैं। उदाहरण के लिए किसानों को कुएं बनाने के लिए सीमेंट, ईंट आदि सरकार द्वारा ऋण देकर उपलब्ध कर दी जायें। इन का फल यह होगा कि कृषि उत्पादन जल्दी बढ़ेगा, लेकिन बिजली के बड़े बाँधों से कृषि उत्पादन बढ़ने में एक दशक लगेगा। बाँधों में धन भी बहुत चाहिए। अतः यदि उत्पादन जल्दी बढ़ाना है तो किसानों को कुओं के निर्माण के लिए धन उधार देने की व्यवस्था कीजिए। बड़े बाँधों के लिए सब जिम्मेदारी राज्य की ही होगी। निर्णय लेते समय इन सब बातों को देखना होता है कि वस्तुओं की कीमतों पर तथा उनकी उपलब्धता पर इन प्रोजेक्टों का क्या प्रभाव होगा।

चयन में लागत/लाभ सम्बन्धी विश्लेषण की आवश्यकता

प्रोजेक्टों के चयन में उनके निर्माण की लागत को तथा उनके संचालन के प्रत्येक विकल्प को देखना होता है। किम समय लागत लगानी होगी यह भी देखना होगा। लागत उपकरण के जीवन पर फैलानी होगी। इसी प्रकार उपकरणों से प्राप्त लाभ भी लम्बे काल की दृष्टि से देखने होंगे। जो प्रोजेक्ट व्यावसायिक हैं उनसे तो प्रत्यक्ष मुद्रा मूल्य का हिसाब लगाया जा सकता है जैसे लोक उद्योग, किन्तु चिकित्सा, विद्यालय आदि के लाभ उनके परोक्ष प्रभावों से ही मालूम किये जा सकते हैं। इनकी लागत तथा लाभ की तुलना के लिए किसी संतुलित (moderate) कीमत प्रणाली का सहारा लेना होगा। तभी उनकी वर्तमान लागत तथा लाभ का अनुमान लगाया जा सकता है। जिस विकल्प से लाभ अधिक हो उसका ही चयन होना चाहिए। भावी लाभ वर्तमान लाभ के बराबर आकर्षक नहीं होते। एक में ही मूल्य के वर्तमान लाभ अधिक पसन्द किये जाते हैं। कुछ काल परचात्र की लागत तुरन्त होने वाली लागत की अपेक्षा अधिक पसन्द की जायेगी।

इस सम्बन्ध में मुख्य निर्णय बट्टे की दर से सम्बन्ध रखता है। बट्टे की ऊँची दर पर शीघ्र लाभ देने वाली प्रोजेक्ट अधिक आकर्षक होगी, किन्तु बट्टे की नीची दर पर दीर्घकालीन लाभ वाली प्रोजेक्ट अधिक आकर्षक होगी।

व्यय की रचना की योजना आर्थिक समष्टिभाव तथा आर्थिक व्यष्टिभाव दोनों ही दृष्टिकोणों से होनी चाहिए। बृहत उद्देश्यों को दृष्टिकोण में रखकर व्यय का विभाजन लोक तथा निजी क्षेत्रों में बाँट देना चाहिए। इसी प्रकार लोक व्यय को विभिन्न श्रेणियों में विभाजित करना चाहिए। व्यष्टिभाव को दृष्टि में रखकर प्रोजेक्टों की शेष लाभ की दृष्टि से सूची बनायी जा सकती है। जिन में शेष लाभ अधिक है, उन्हें ऊँची प्राथमिकता दी जा सकती है। नये निर्माण की लागत प्रति वर्ष बदलती रहेगी। यह आवश्यकता पर तथा थम तथा सामग्री की उपलब्धता पर निर्भर होगी, किन्तु संकट तथा सहूलियत के समय का अनुमान हो सकता है। अविकास व्यय की एक दृढ़ वृत्ति होनी चाहिए तथा यह सरलता से चलना चाहिए।

तनाव के अवसर आने पर अर्थ-व्यवस्था में सतुलन रखने के लिए मरम्मत सम्बन्धी व्यय स्थगित किया जा सकता है।

सारांश यह है कि योजना अच्छी होनी चाहिए। वित्त के साधन उपयुक्त होने पर परिणाम अच्छे होंगे, किन्तु गलत विन साधनो द्वारा अच्छी योजना भी असफल हो जायेगी। इसलिए विकासशील देशों में तीन तत्त्व होने चाहिए। (1) वर्तमान सेवाओं के लिए प्रविधान पर्याप्त होना चाहिए। (2) विकास व्यय के सभी पहलुओं के लिए प्रविधान आवश्यक है। इस में स्थिर पूँजी का निर्माण, श्रम तथा त्रिया-शील पूँजी आदि के लिए प्रविधान होना चाहिए। (3) एक उपयुक्त वित्तीय अवस्थापना का होना आवश्यक है, अर्थात्, बैंक तथा साख प्रणाली अच्छी होनी चाहिए। इसके साथ मुद्रा प्रणाली तथा एक सुदृढ़ पूँजीगत मण्डी का होना भी आवश्यक है। तभी योजना की सफलता के लिए पर्याप्त परिमाण में वित्तीय साधनो का प्रबन्ध हो सकता है।

विकासशील देशों के लिए वित्त प्राप्ति के साधन

विकासशील देशों की आर्थिक उन्नति के लिए पर्याप्त परिमाण में धन उपलब्ध होना चाहिए। इस की प्राप्ति के साधन देश के अन्दर कर, ऋण तथा घाटे के खजाने की नीति द्वारा प्राप्त हो सकते हैं, किन्तु राष्ट्रीय आय कम होने से यह पर्याप्त नहीं होते। इसके अनिर्वृत इन देशों में पूँजीगत सामग्री, प्रशिक्षित श्रम तथा भौतिक उपकरणों तथा तकनीकी कुशलता की कमी रहती है। ये सब उन्हें दूसरे देशों से मँगाने होते हैं।

बाह्य वित्त उपहारो, अशदानो, ऋणो तथा निजी पूँजी द्वारा प्राप्त हो सकता है। देशी वित्त के लिए उपयुक्त राजकोपीय नीति का अनुसरण करना आवश्यक है। बाह्य वित्त की प्राप्ति के लिए उपयुक्त आर्थिक नीति आवश्यक है। विदेशी धन किन शर्तों पर मिलता है तथा कैसे उसका प्रयोग होता है इन्हीं तथ्यों पर विदेशी धन के उपयोग के परिणाम निर्भर होते हैं।

विदेशी धन प्राप्त करने के कई रूप होते हैं। यह विकासशील कार्यों के लिए पूरी व्याज दर दिये बिना अशदान के रूप में प्राप्त हो सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी में विदेशी सहायता की व्यवस्था विदेशी बैंको तथा वित्तीय गृहों द्वारा ऊँची व्याज दरों पर होती थी। लन्दन की स्टॉक मण्डी में वित्तीय संस्थाओं द्वारा धन उपलब्ध होता था जिम पर चालू व्याज दर देनी होती थी।

विदेशी धन उपहारो तथा मुद्रा अशदानो के रूप में भी मिल सकता है। इसका भुगतान नहीं करना होता। इसलिए भविष्य में इस का कोई खर्च नहीं रहता। अशदान की एक शर्त होती है। यह उसी देश में माल तथा उपकरण तथा तकनीकी कुशलता पर व्यय करना होता है जहाँ से सहायता मिलती है।

कभी-कभी कम व्याज दर पर ऋण मिलते हैं जिन्हे मुलायम ऋण (soft loans) कहते हैं। इन का धन भी उसी देश में व्यय करना होता है जहाँ से ये ऋण

प्राप्त होते हैं। ऐसी दशा में नीची व्याज दर देखने मात्र ही नीची होती है। वस्तुएँ ऊँची कीमतों पर खरीदी जाती हैं तो इसलिए ऐसे ऋणों का आयात अधिक होता है, जिनके फलस्वरूप इन वस्तुओं का मूल्य 20 प्रतिशत घट जाता है, क्योंकि उम देश में वस्तुएँ अन्य देशों की अपेक्षा अधिक कीमती होती हैं।

उत्तर युद्ध काल में वित्त सहायता देने वाले देशों की नीति बहुत बदलती रही है। प्रारम्भ में यह देश अशदान के पक्ष में थे, क्योंकि 1930 के दशक में ऋण बनूल नहीं हुए। 1950 के लगभग अंतरराष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं की स्थापना से विदेशी सहायता का परिमाण बढ़ गया। इसमें ऋणों का परिमाण बढ़ा है। ये संस्थाएँ उचित व्याज दर पर विभिन्न देशों में ऋण प्राप्त करती हैं। विकासशील देश भी जो उपहारों तथा अशदानों के उद्देश्यों में शका करते हैं ऋणों को ही अधिक पसन्द करते हैं। अनुदान के उद्देश्य

अनुदान तीन मुख्य उद्देश्यों को लेकर दिये जाते हैं। साम्राज्यवादी देश अपने उपनिवेशों के प्रति दायित्व महसूस करते हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् वे इन उपनिवेशों की जनता के जीवन स्तरों की उन्नति के लिए उनके बजटों में सतुलन की स्थिति साने का प्रयास करते हैं। इससे सहायता प्राप्त करने वाले देशों में उपकरणों तथा तकनीकी श्रम के लिए पर्याप्त धन उपलब्ध हो जाता है।

अनुदान सरकारी स्तर पर विकास के लिए भी दिए जाते हैं। कोसम्बो योजना के अंतर्गत सहायता इसी श्रेणी में आती है।

उपहार तथा अनुदान का दाता देश में बेरोजगारी दूर करने का भी उद्देश्य होता है। हितार्थकारी (beneficiary) देश माल दाता देश से वस्तुएँ खरीदता है, जिससे दाता देश में उद्योगों के माल की बिक्री होती है तथा श्रमिकों को रोजगार मिलता है। अमेरिका ने विकासशील देशों को अन्न देकर उनकी सहायता की, किन्तु इस सहायता का मुख्य उद्देश्य अमेरिकी किसानों की सहायता करना था।

इस प्रकार की सहायता में परोपकार की भावना की उपस्थिति को मान्यता अर्जित देनी चाहिए। फिर भी विकासशील देशों को इन अनुदानों में निहित भावनाओं पर विचार करना चाहिए। यदि ये अनुदान उनकी आवश्यकताओं के अनुकूल न हों तो उन्हें अस्वीकार कर देना चाहिए, क्योंकि इन से इन देशों की वित्तीय स्थिति पर विशेष भार पड़ता है।

यही तर्क द्विपक्षीय नरम ऋणों के सम्बन्ध में लागू होता है। इनका उद्देश्य ऋण दाता देश की निर्यात की वृद्धि हो सकता है। ऋण की शर्तों के अनुसार ऋणों देश के लिए ऋण दाता देश में सामग्रियों तथा अन्य माल खरीदना आवश्यक हो सकता है। इसके पश्चात् पुरजे तथा तकनीकी सहायता भी वही से लेना अनिवार्य हो सकता है।

अब विश्व बैंक तथा अंतरराष्ट्रीय विकास योजना अंतरराष्ट्रीय स्तर पर ऋण देने की मुख्य एजेंसीज हैं। प्रारम्भ में बैंक के ऋण प्रोजेक्टों के लिए दिये जाते थे, किन्तु अब वे अवस्थापनात्मक विकास के तथा प्रोजेक्टों के लिए दिये जाते हैं। 1959 में विश्व बैंक ने 70 करोड़ 30 लाख डालर मूल्य के ऋण उधार दिये थे, जिनका परिमाण 1968 में बढ़ कर 84 करोड़ 70 लाख डालर हो गया। भुगतान के परिमाण को घटा कर बैंक द्वारा दिये गये ऋणों का परिमाण 1968 में 1124 करोड़ 70 लाख डालर हो गया। अंतरराष्ट्रीय विकास समुदाय ने पहले ऋण 1961 में दिये थे जिनका परिमाण लगभग 10 करोड़ डालर था। यह घन बढ़कर 1968 में लगभग 179 करोड़ डालर हो गया। ये दोनों मिलकर 1968 में लगभग 1300 करोड़ डालर हो गये।⁶

अंतरराष्ट्रीय एजेंसीज द्वारा दिये गये ऋणों के व्यक्तिगत श्रोतों की अपेक्षा विकासशील देशों को अधिक लाभ होते हैं। एक लाभ तो यह है कि इन्हे योजना के सम्बन्ध में विशेष सलाह मिलती है। दूसरे, इनमें पूरक लागत का भी ध्यान रखा जाता है। तीसरे इन ऋणों में, किसी एक देश में सामग्री खरीदने की शर्त नहीं होती। खरीदे जाने वाली सामग्री का रूप अवश्य दिया रहता है। चौथा लाभ यह होता है कि आई० डी० ए० (International Development Association) ऋणों पर व्याज नहीं होता, केवल सेवा खर्च ही लिया जाता है।

यह बात अवश्य है कि आई० डी० ए० ऋणों की गति धीमी होती है। इसका मुख्य कारण यह है कि प्रोजेक्ट के प्रत्येक चरण पर फिर से जाँच होती है। द्विपक्षीय ऋण जल्दी मिल जाते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि आई० डी० ए० ऋणों के सम्बन्ध में जाँच जल्दी से जल्दी हो जाय जिससे ऋण जल्दी मिल जायें।

विश्व बैंक विवरण के अनुसार वर्तमान सहायता प्रणाली का मुख्य दोष यह है कि ऋण लेने वाले देशों के लिए दीर्घकालीन विकास नीति का निर्माण आवश्यक है, किन्तु ऋण देने वाले देश एक वर्ष से अधिक के लिए सहायता का आश्वासन नहीं देते। यदि विकासशील देशों को योजना काल के लिए सहायता का परिमाण तय कर दिया जाये तो ये देश योजना भी अच्छी बना सकेंगे तथा उसे पूरी करने की उनकी योग्यता भी बढ़ेगी। हाल के वर्ष में अंतरराष्ट्रीय वित्त प्रदान प्रणाली में एक नया विकास हुआ है, जिसके अनुसार कुछ देश सम्मिलित रूप में भारी मूल्य की प्रोजेक्टों के लिये घन उधार देने हैं जो एक देश की क्षमता से बाहर हैं। इस प्रकार का पहला समुदाय विश्व बैंक के नेतृत्व में 1958 में भारत की दूसरी पंचवर्षीय योजना के लिए विन्नीय सहायता देने के लिए बना। विश्व बैंक ने 1968 तक 13 समन्वित वर्गों (co-ordinating groups) के निर्माण में नेतृत्व लिया है। पिछले वर्ष भारत

के कोसोशियम ने भारत की ऋण सेवा समस्या पर मुख्य ध्यान दिया है। अंतरराष्ट्रीय बैंक ने सहायता के परिमाण में वृद्धि की, उसकी शर्तों में नरमी की, निर्यात बढ़ाने के उपायों की सिफारिश की। मई 1968 में कोसोशियम के सदस्य देशों में एक करार पर हस्ताक्षर हुए, जिसके अनुसार 1 अप्रैल 1968 से प्रत्येक बजट वर्ष में ऋण सेवाओं के भार में सदस्य देश 10 करोड़ डालर मूल्य की कमी करेंगे। इससे 3 बजट वर्षों में ऋण सेवाओं के भार में 25 प्रतिशत प्रति वर्ष कमी होगी। भविष्य में और अधिक ऋण के भार में नमी की आवश्यकता होगी। भारत की दीर्घकालीन ऋण समस्या का हल आर्थिक नीतियों की कुशलता पर, जिनमें निर्यात वृद्धि शामिल है, निर्भर होगा।

आर्थिक सहयोग तथा विकास संगठन देशों से अल्प विकसित देशों के लिए 1950 से 1963 तक धन की प्रगति का विवरण निम्न तालिका में दिया हुआ है।⁷

(अमेरिका के दस खरब डालरों में)				
	द्विपक्षीय अंशदान	ऋण वहमुखी एजेंसियों के लिए सरकारी अंशदान	योग	
1950-55 (वार्षिक औसत)	1.8	—	0.1	1.9
1956	2.6	0.5	0.2	3.3
1957	3.0	0.4	0.4	3.9
1958	3.2	0.8	0.4	4.4
1959	3.1	0.9	0.3	4.3
1960	3.6	0.6	0.7	4.9
1961	3.9	1.3	0.8	6.1
1962	4.0	1.4	0.6	6.0
1963	4.0	1.7	0.4	6.0

अल्प विकसित देश दो उपायों द्वारा ऋण सेवाओं के भुगतान के लिए धन जुटा सकते हैं। प्रथम, आवश्यक आयातों के लिए उन्हें निर्यात बढ़ाने चाहिए तथा, दूसरे, देश में उत्पादन का परिमाण इतना बढ़ना चाहिए कि वरों द्वारा पर्याप्त आय प्राप्त हो सके। इन दोनों ताबनों की वृद्धि के लिए अल्प विकसित देशों में निर्धारित प्रयास होने चाहिए।

प्रत्यक्ष विदेशी निविर्षोग

अल्प विकसित देशों में विदेशी नागरिक कारवाणे खोलने के लिए धन भेज सकते हैं। उनका प्रयत्न वे स्वयं अथवा वहाँ के नागरिकों के सहयोग से कर सकते

⁷ The Flow of Financial Resources to Less Developed Countries 1956-1963, Paris, 1964, p. 18.

हैं। पहले विदेशी फर्म लोक उपयोगिताओं, खनन चाय तथा बहवे के बागों में घन लगाते थे, किन्तु अब उनका कार्य क्षेत्र विस्तृत हो गया है। वे अपने साथ पूँजी, यन्त्र, सामग्री तथा तकनीकी कुशलता भी लाते हैं। वे उपभोगी माल के उत्पादन की वृद्धि द्वारा मुद्रा स्फीति के नियन्त्रण में सहायक होते हैं। ये कर देकर घन एकत्रित करने में सहायक होते हैं।

विकासशील देशों को इन विदेशियों पर दो शर्तें लगानी चाहिए (1) एक स्थानीय कम्पनी की रजिस्ट्री अनिवार्य होनी चाहिए, जिसका हिसाब विदेशी नियन्त्रक कम्पनी से विन्कुल अलग हो। (2) दूसरी जरूरी बात यह है कि जो कम्पनी प्रारम्भिक उत्पादन के लिए स्थापित हो, उसे विकसित देशों में उत्पादन सम्बन्धी अधिकतम प्रक्रिया करनी चाहिए, जिससे उत्पादन में अधिकतम वृद्धि हो सके।

घाटे के बजट द्वारा वित्त

विकास के लिए घन घाटे के बजट द्वारा भी प्राप्त हो सकता है इस प्रक्रिया के अन्तर्गत सरकार आय से अधिक व्यय करती है। अंतर की पूति केन्द्रीय बैंक से घन उधार लेकर की जाती है। इससे वस्तुओं की कीमतों की वृद्धि का भय रहता है, जिसमें स्थिर आय के व्यक्तियों को हानि होती है। इस प्रक्रिया की सफलता तभी होती है जबकि उपकरण तथा कुशल श्रम जो बेकार हों उनका उपयोग किया जाये, किन्तु अल्प विकसित देशों में कुशल श्रम तथा पूँजीगत सामग्री की कमी रहती है।

विकास प्रक्रिया के तीन चरण होते हैं। पहली अवस्था में स्थिर पूँजी लगानी होती है। उसमें कीमतों पर तनाव उत्पन्न होता है, क्योंकि मुद्रा श्रमिकों तथा अन्य वर्गों के व्यक्तियों के पास आय के रूप में आती है, किन्तु कुछ समय तक उत्पादन नहीं हो पाता। अतः वस्तुओं की कीमतों पर दबाव पड़ता है। दूसरी अवस्था में आय का पुनर्वितरण होता है, जिससे वृद्धि हो सकती है और कीमतें ऊँची जाने से रोकी जा सकती हैं। तीसरी अवस्था में उपभोग की सामग्री का उत्पादन होना है, जिससे वस्तुओं की कीमतें बढ़ने में मदद होती है।

योजना वर्तकों को कई बातें देखनी चाहिए। उन्हें उत्पादन जल्दी बढ़ाने का प्रयास करना चाहिए। निर्माण के सम्बन्ध में प्रोजेक्टों की जाँच पर विशेष ध्यान देना चाहिए। उनकी लागत का तथा उनके लिए आवश्यक सामग्री का उचित समय पर प्रबन्ध होना चाहिए। उनकी व्यावहारिक कुशलता भी अच्छी होनी चाहिए। सब योजना ऐसी नहीं होनी चाहिए जिनका फल एक दीर्घकाल पश्चात् उपलब्ध हो।

दूसरी बात यह देखनी चाहिए कि आगे की अवस्था में आय किस वर्ग के व्यक्तियों के पास अधिक आती है। व्यापारी तथा सौदागरों को लाभ अधिक हो सकते हैं। व्यापार समुलन स्थिति पर दबाव आ सकता है। माँग की मुद्रा स्फीति से माँग की वृद्धि से वस्तुओं की कीमतें बढ़ सकती हैं, जिसके फलस्वरूप लागत बढ़ने से मुद्रा स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। कीमतों तथा आयों पर नियन्त्रण

आवश्यक होता है। परिस्थिति को देखकर करो की वृद्धि द्वारा व्यय पर नियन्त्रण आवश्यक हो जाता है।

भारत में कीमतों पर नियन्त्रण के साथ-साथ सीमित स्तर पर राशनिंग भी किया गया। इसके लिए जटिल कार्य प्रणाली की आवश्यकता होती है। भारत में दूसरी पंचवर्षीय योजना में व्यापार सन्तुलन पर तनाव शुरू हो गया। अतः योजना का आकार घटाना पड़ा। तीसरी योजना में कठोर आघात नियन्त्रण किया गया, किन्तु निर्यात को आघात पहुँचा। तीसरी योजना में घाटे के बजट द्वारा केवल 550 करोड़ रुपये का अनुमान किया गया था, किन्तु वास्तव में अन्त में 1133 करोड़ रुपये का घाटा रहा। चौथी पंचवर्षीय योजना में 1969-74 तक 850 करोड़ रुपये के घाटे के बजट का अनुमान किया गया है। किन्तु घाटा बढ़ गया है।⁸

विक्रम वित्त में उपयुक्त वित्तीय नीति द्वारा वचत की वृद्धि आवश्यक है तथा कीमतों पर तनाव में कमी करना भी आवश्यक हो जाता है। सभी विकासशील देशों में अतिरिक्त वचत की बहुत आवश्यकता होती है। विनियोग के लिए धन जुटाने के लिए करो की अपेक्षा एच्छिक वचत अधिक महत्वपूर्ण है तथा निजी विनियोग के लिए अतिरिक्त वचत अनिवार्य है। विक्रमशील देशों में विनियोग के लिए अतिरिक्त वचत प्राप्त करने के लिए ऐसे उपाय होने चाहिए जिनसे मुद्रा स्फीति न होने पाये। एक प्रगतिशील अर्थ-व्यवस्था के लिए वचत के जो उपाय अच्छे होते हैं उनसे विक्रमशील देशों में मुद्रा स्फीति की आशंका हो सकती है।

अतः यह आवश्यक है कि विक्रमशील देशों में वचत की वृद्धि के लिए वित्तीय अवस्थापना, एक दृढ़ केन्द्रीय बैंक तथा पिछड़े हुए क्षेत्रों में बढ़ती हुई आय के भाग को वचत में परिणित करने के लिए बैंकों की स्थापना आवश्यक है। इसके साथ-साथ मुद्रा मण्डी तथा पूँजीगत बाजार में समाकलन (integration) होना आवश्यक है, जिनसे मुद्रा स्फीति तथा वस्तुओं की कीमतों तथा अर्थ-व्यवस्था में तनाव की स्थिति पैदा न हो जाय, किन्तु अधिक वृद्धि के लिए उपयुक्त परिमाण में धन प्राप्त हो सके तथा वचत सम्भव हो सके, प्रयास इन्हीं की ओर होने चाहिए।

8 See Table 1, p. 73 and Table 3, p. 77, Fourth Five Year Plan, 1969-74.

तीसरा अध्याय

लोक वित्त का अर्थ-व्यवस्था में योग (ROLE OF PUBLIC FINANCE IN AN ECONOMY)

शासकीय धन अथवा आय व्यय सम्बन्धी समस्याओं को परम्परा के अनुसार सार्वजनिक अथवा लोक वित्त कह कर संबोधित किया गया है। लोक अथवा सार्वजनिक वित्त के अन्तर्गत आय तथा व्यय के मुद्रा प्रवाह निहित हैं। किन्तु लोक वित्त की मूल समस्याएँ वित्त के विचारणीय घटक नहीं हैं। इनका सम्बन्ध मुद्रा, तरलता तथा पूँजीगत मण्डियों से नहीं है, बल्कि ये साधनों के बटवारे, आय के वितरण, पूर्ण रोजगार तथा मूल्य स्तरों के स्थायित्व तथा आर्थिक वृद्धि से सम्बन्धित समस्याएँ हैं। इसलिए सार्वजनिक वित्त का मुख्य अध्ययन क्षेत्र अर्थ नीति के उन पहलुओं से सम्बन्धित है जिनका उद्गम लोक वजट की प्रक्रियाओं से होता है। अतः लोक वित्त का मुख्य कार्य लोक अर्थ-व्यवस्था के सिद्धान्तों की जाँच से अथवा आर्थिक नीति के उन पहलुओं के विवेचन से है जिनका सम्बन्ध लोक वित्त की प्रक्रियाओं से है।

लोक क्षेत्र की समस्याओं के अध्ययन के दो उपागम हैं। पहले उपागम के अन्तर्गत उन नियमों तथा सिद्धान्तों का विवेचन किया जाता है जिनके द्वारा लोक अर्थ-व्यवस्था का मुचार रूप से संचालन किया जाता है। यह लोक वित्त के अध्ययन का आदर्श पहलू है। इस के अन्तर्गत आदर्श लोक आय कैसी होनी चाहिए, आदर्श करो के क्या रूप होने चाहिए इन बातों का विवेचन होता है। दूसरे उपागम को यथार्थ लोक वित्त कहते हैं। इसके अन्तर्गत विभिन्न करो तथा व्यय के मार्गों का आर्थिक स्थिति पर होने वाले प्रभावों का अध्ययन किया जाता है।

वजट नीति के तीन मुख्य उद्देश्य

लोक अर्थ-व्यवस्था के व्यवहार के कोई सरल सिद्धान्त अथवा नियम नहीं हैं। वजट नीति के तीन मुख्य उद्देश्य हैं - (1) साधनों के बटवारे में समंजन स्थापित करना, (2) आय तथा धन के वितरण में समंजन स्थापित करना, तथा (3)

आर्थिक स्थायित्व स्थापित करना। इन तीनों उद्देश्यों की पूर्ति राजकोषीय नीति के उपकरणों द्वारा होनी चाहिए।

राजकोषीय विभाग की शाखाएँ

प्रो० मस्त्रेव ने अपनी पुस्तक 'लोक वित्त के सिद्धान्त' में काल्पनिक राजकोषीय विभाग की तीन शाखाओं का उल्लेख किया है। इनको क्रमशः बटवारे, वितरण तथा स्थायित्व की शाखाएँ कहा है। बटवारे की शाखा का उद्देश्य साधनों के बटवारे में समझन निर्धारण करना है। इस में यह तथ्य होना चाहिए कि लोक अर्थ-व्यवस्था का सुचारु रूप से संचालन करने के लिए साधनों के बटवारे में क्या समझन आवश्यक है। तागत कौन बरदाश्त करेगा। बाछनीय उद्देश्यों की सफलता के लिए आय तथा व्यय सम्बन्धी क्या नीतियाँ होनी चाहिए। वितरण शाखा में बाछनीय अथवा उपयुक्त वितरण नीति के लिए क्या कदम उठाने चाहिए जिसमें लोक अर्थ-व्यवस्था में आय तथा व्यय का वितरण उपयुक्त होना चाहिए। स्थायित्व शाखा में यह निर्णय आवश्यक है कि मूल्य स्तर के स्थायित्व तथा पूर्ण रोजगार के लिए क्या प्रयत्न होने चाहिए।¹

बजट नीति के ये तीन मुख्य उद्देश्य औद्योगिक दृष्टि से विकसित देशों में तथा विकासशील देशों में भी महत्त्वपूर्ण हैं। यदि अर्थ-व्यवस्था में विभिन्न कार्यों के लिए साधनों का बटवारा उचित है तो उसका प्रभाव देश की अर्थ-व्यवस्था पर अच्छा पड़ेगा। यदि देश में आय तथा घन का बटवारा सुव्यवस्थित है तो राज्य की आय अधिकतम होगी तथा देश में उत्पादन का परिमाण बढ़ेगा। आर्थिक कल्याण की वृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि अर्थ-व्यवस्था सुदृढ़ हो, उत्पादन बढ़े, वस्तुओं के मूल्यों में विशेष घट-बढ़ न हो जिससे अतिक्रम तेजी तथा मंदी न हो तथा श्रमिकों को उनकी क्षमता के अनुसार रोजगार मिले और देश में बेरोजगारी न हो। तभी अर्थ-व्यवस्था सुदृढ़ होगी, जन साधारण के जीवन स्तरों में उन्नति होगी तथा आर्थिक कल्याण की वृद्धि होगी।

राजकोषीय विभाग की प्रत्येक शाखा का कार्य सुचारु रूप से होना चाहिए। तभी अर्थ-व्यवस्था उन्नतिशील तथा विकासशील हो सकेगी तथा सार्वजनिक कल्याण की वृद्धि संभव हो सकेगी।

साधनों के बटवारे में समझन

(Adjustment in the allocation of resources)

आवश्यक शर्तें उचित रहने पर, बाजार की मूल्य प्रक्रिया द्वारा साधनों का विभिन्न उद्देश्यों तथा व्यवसायों के लिए आदर्श बटवारा हो जाता है। सामान्यतया ये शर्तें अर्थ-व्यवस्था के निरस्त क्षेत्रों में भली भाँति उपस्थित रहती हैं। इसलिए अधिकांश माया में बटवारे का कार्य बाजार की शक्तियों के ऊपर छोड़ दिया जाना

चाहिए। फिर भी ऐसे अवसर आते हैं जब बाजार की शक्तियों द्वारा आदर्श स्थिति नहीं हो पाती।² ऐसी दशा में हमें यह देखना है कि लोक नीति द्वारा साधनों के बटवारे में क्या और किस प्रकार सुधार अथवा समजन होना चाहिए। कुछ परिस्थितियों में आवश्यक समजन बजट नीति द्वारा होता है। किन्तु कुछ ऐसी परिस्थितियाँ होती हैं जिनमें भिन्न तकनीकियों की आवश्यकता होती है। अब हम उन मुख्य परिस्थितियों पर विचार करें जहाँ बटवारे की नीति की समस्याएँ उपस्थित होती हैं।

बटवारे की नीति की समस्याएँ

निम्न मुख्य परिस्थितियों में बजट नीति द्वारा तथा बाजार की मूल्य प्रक्रिया द्वारा साधनों का बटवारा आदर्श रूप में नहीं हो पाता।

(1) एकाधिकार परिस्थिति— औद्योगिक संगठन के कारण उद्योगों में स्वतन्त्र प्रवेश नहीं हो पाता। ऐसी दशा में समजन स्पर्धा की अवस्था के अनुरूप नहीं होता। एकाधिकार नियन्त्रण परिस्थिति इसका मुख्य उदाहरण है। यह कठिनाई बजट नीति द्वारा दूर हो सकती है, किन्तु स्पर्धा का नियमन मुख्यतया बजट नीति द्वारा नहीं हो पाता। औद्योगिक संगठन के नियन्त्रण के लिए अथवा व्यावसायिक संस्थाओं की मूल्य तथा उत्पादन नीति के नियन्त्रण के लिए कानूनी प्रविधान आवश्यक है।

(2) उत्पादक साधनों तथा उत्पादक प्रक्रियाओं में असमंजन (Lumpiness)—जिन उद्योगों में घटती लागत का अथवा उत्पत्ति का वृद्धि नियम लागू होता है, वहाँ एकाधिकारी से स्पर्धा की स्थिति के अनुसार चलने की आशा नहीं की जा सकती। आदर्श उत्पादन स्थिति के लिए औसत लाभ सीमान्त लागत के बराबर होना चाहिए। घटती लागत की परिस्थिति में फर्म से इस नीति की आशा नहीं की जा सकती, क्योंकि उसे ऐसा करने से हानि होगी। ऐसी स्थिति में कर अनुदान प्रक्रिया आवश्यक हो जाती है।

इस प्रक्रिया के अनुसार बड़े उद्योगों पर कर लगा कर आय प्राप्त हो सकती है। इससे एक ही स्थान में उद्योग धन्यो का एकीकरण होने में प्रोत्साहन नहीं मिलेगा छोटे छोटे उद्योग धन्यो के प्रसार के लिए अनुदान भी दिये जा सकते हैं, जिससे उनका अन्य स्थानों में प्रसार संभव हो सके। इसके अतिरिक्त छोटे उद्योगों को जल सुविधाएँ, बच्चा माल, विद्युत शक्ति भी प्रदान की जा सकती है। इस प्रकार राज कोषीय नीति द्वारा एकाधिकार प्रवृत्ति को रोका जा सकता है।

(3) इसके अतिरिक्त विशेष व्यक्तियों अथवा फर्मों द्वारा बाह्य मितव्ययताएँ अथवा हानियाँ भी हो सकती हैं। उदाहरण के लिए, एक नये प्रदेश में रेल या सड़क निकल जाने से आर्थिक वृद्धि होगी, किन्तु रेलवे कम्पनी को उससे इतना लाभ नहीं होगा जितना जनता को रेल निकलने से होगा। कम्पनी तो माल ले जाने का भाड़ा ही लेगी, किन्तु जनता का बहुत लाभ होगा। इससे सामाजिक अवस्थापना को

प्रोत्साहन मिलेगा। हो सकता है कुछ समय तक रेल कम्पनी को घाटा रहे, किन्तु जनता को लाभ होगा। इसी प्रकार निजी क्रियाओं की सामाजिक लागत अथवा हानि होती है, जिसका निजी लागत में हिसाब नहीं आता। उदाहरण के लिए, नये स्थान में कारखाना खुलने से धुएँ आदि की समस्या खड़ी हो जायेगी। निजी फर्म को तो इसमें मुनाफा होगा, किन्तु सामाजिक दृष्टि से हानि होगी। वायु में स्वच्छता तथा शुद्धता नहीं रहेगी। इसलिए जो क्रिया निजी फर्म के लिए लाभदायक है वह सामाजिक दृष्टि से अलाभदायक हो सकती है।

इसलिए साधनों के बंटवारे में बाजार प्रक्रिया को स्वन्त्र रूप में छोड़ देने से विभिन्न प्रकार की अकुशलता हो सकती है। ये हानियाँ निजी आवश्यकताओं की पूर्ति के कारण हो सकती हैं। फिर भी ऐसी आवश्यकताओं की पूर्ति को बाजार सम्बन्धी व्यवस्था पर ही छोड़ना होता है। सामाजिक हानियों को कम करने के कुछ उपाय किये जा सकते हैं, किन्तु जो भी इस सम्बन्ध में कार्य किया जायेगा वह बहुत ही कम होगा।

इसके अतिरिक्त ऐसी परिस्थितियाँ भी होती हैं जहाँ सामाजिक तथा निजी लाभ (product) में बहुत भिन्नता हो सकती है। यह बात उपर्युक्त सामाजिक आवश्यकताओं के सम्बन्ध में लागू होती है। सामाजिक आवश्यकताएँ वे आवश्यकताएँ हैं जिनकी पूर्ति ऐसी सेवाओं द्वारा होती है जो सबके लिए आवश्यक है। जो व्यक्ति उन सेवाओं के लिये कीमत नहीं दे सकते, उन्हें उनमें वंचित नहीं रखा जा सकता, किन्तु यह सम्भव नहीं है कि जिन व्यक्तियों को उन सेवाओं के लाभ से वंचित नहीं किया जा सकता वे अपनी इच्छा से उनके लिए उचित भुगतान करें। इसलिए बाजार प्रक्रिया द्वारा इन इच्छाओं की पूर्ति होना सम्भव ही नहीं है। उनकी सन्तुष्टि के लिए बजट में प्रविधान आवश्यक है। दो बातों से आवश्यक बाजार योजना में कठिनाई आती है। ये दोनों बातें इसीलिए उठती हैं, क्योंकि इन सेवाओं का उपयोग सब एक ही परिमाण में करते हैं।

पहली कठिनाई यह है कि विभिन्न उपभोक्ताओं की वास्तविक पसन्द का क्रम मासूम नहीं हो सकता, क्योंकि इनसे किसी को वंचित नहीं किया जा सकता, इसलिए उपभोक्ता अपनी वास्तविक अभिरुचि अथवा पसन्द नहीं बतायेगे। शासन के लिए तो यह आवश्यक हो जाता है कि इन अभिरुचियों का पता लगाये, अन्यथा उनकी कुशलता से पूर्ति नहीं हो सकेगी। किसी न किसी प्रकार लोगों को अपनी अभिरुचि बताने के लिए प्रोत्साहित करना ही होगा।

व्यक्तियों की वास्तविक अभिरुचि मासूम होने पर भी दूसरी कठिनाई उपस्थित होती है। ऐसा कोई उपाय नहीं है जिससे सामाजिक आवश्यकताओं की तुष्टि अधिकतम कुशलता से हो सके अथवा जिन सेवाओं के उपभोग की सभी को एक सी आवश्यकता है उनका संभरण कुशलता से हो सके। कठिनाई तब उपस्थित होती है जब हम कुशलता की वही नसोर्टा से जिसे बाजार के मूल्य के निर्धारण

मे लेते हैं। अतः इसके आदर्श रूप में हल करने के लिए कोई अन्य विशेष कल्याणकारी कार्य करना होगा। इन्हीं दो बातों का हल साधनों के बटवारे के सम्बन्ध में आवश्यक है।

निजी तथा सामाजिक आवश्यकताओं द्वारा तय किया गया भेद निपेक्ष प्रकार का नहीं है। बाजार प्रक्रिया द्वारा भी व्यक्तियों की इच्छाओं अथवा आवश्यकताओं की पूर्ति में अकुशलताएँ रहती हैं और जहाँ कहाँ ऐसा हो, वहाँ सामाजिक इच्छा का तत्त्व आ जाता है। अन्तर केवल आर्थिक अथवा मात्रा का है। ऐसा ही उपभोग तथा पूँजी निर्माण के सम्बन्ध में तथा अर्थशास्त्र से सम्बन्धित सभी स्थितियों के विषय में कहा जा सकता है। अतः अन्तर मूल महत्त्व का है। निजी आवश्यकताओं के सम्बन्ध में निजी तथा सामाजिक उत्पत्ति में भेद किसी हद तक न्यूनतम अथवा सीमान्त है, किन्तु सामाजिक आवश्यकताओं के सम्बन्ध में यह महत्त्वपूर्ण होता है। निजी आवश्यकताओं की पूर्ति बाजार द्वारा पर्याप्त होती है, किन्तु सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दृष्टि आवश्यक है। अतः लोक नीति के सम्बन्ध में अन्तर मात्रा का होने पर भी सात्वान् अथवा ठोस होता है।

बटवारे के कार्यों का उद्देश्य साधनों के पुनर्बंटवारे का है। बाजार की अर्थ-व्यवस्था द्वारा बटवारे का वाछनीय रूप नहीं हो पाता। इसके कई पहलू हैं।

(1) सामाजिक आवश्यकताएँ—परम्परागत शासकीय कार्य इसलिए किये जाते हैं क्योंकि इन से समाज को लाभ होते हैं। ये सभी के लिए किये जाते हैं, यद्यपि इन के लाभ से व्यक्तियों को वंचित नहीं किया जा सकता। इन कार्यों को इकाइयों में विभाजित कर के व्यक्तियों को ऐसे नहीं बेचा जा सकता जैसे गेहूँ, कपड़ा आदि बेचे जा सकते हैं। इसलिए ये कार्य शासन द्वारा अथवा राजनीतिक संगठन द्वारा ही सम्भव हो सकते हैं। तकनीकी शब्दों में हम कह सकते हैं कि इन कार्यों में सीमान्त सामाजिक लाभ सीमान्त निजी लाभ से अधिक होता है।

कुछ कार्य तो ऐसे हैं जिनसे सामाजिक लाभ ही होता है। उनका इकाइयों में विभाजन नहीं हो सकता। इसलिए इन से व्यक्तियों के लिए अलग-अलग लाभ का अनुमान ही नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए राष्ट्रीय प्रतिरक्षा, जीवन तथा सम्पत्ति की सुरक्षा, अनुबन्ध पत्रों का पूरा कराना आदि ऐसी सेवाएँ हैं जिनका लाभ सकल समाज को होता है। इनके न होने से अराजकता फैल जायेगी तथा सामाजिक जीवन तथा आधुनिक आर्थिक प्रणाली सम्भव ही नहीं हो सकेगी। विदोष महत्त्वपूर्ण होते हुए इन सेवाओं की व्यवस्था निजी उद्यम से नहीं हो सकती। इनके टुकड़े कर के व्यक्तियों को इनका विक्रय ऐसे नहीं किया जा सकता जैसे बाजार में फल, अन्न आदि का होता है। निजी उद्यम केवल उन वस्तुओं से मुनाफा उठा सकता है जो प्रत्यक्ष रूप में व्यक्तियों को बेची जा सकती हैं। इन्हीं वस्तुओं का वय इनसे प्राप्त लाभों पर निर्भर होता है। इसलिए सबके लाभ की वस्तुओं की व्यवस्था राज्य द्वारा ही सम्भव है।

(2) योग्यता की आवश्यकताएँ—त्रियाओं का एक अन्य वर्ग भी है जिसका

लाभ कम से कम आंशिक रूप में व्यक्तियों को जाता है। इन क्रियाओं का संभरण भी शासन द्वारा हो सकता है। शासन इनकी व्यवस्था का दायित्व इनका संभरण बढ़ाने के लिए उठाता है। समाज की आवश्यकतानुसार ये ऐसी वस्तुएँ हैं जिनका निजी उद्यम द्वारा इनका प्रविधान योग्यता से नहीं हो सकता। इनसे सामाजिक तथा निजी दोनों प्रकार के लाभ होते हैं। शिक्षा, लोक आरोग्यता इन क्रियाओं के मुख्य उदाहरण हैं। नगरपालिका का यातायात भी एक ऐसा ही उदाहरण है। अग्नि-यातायात से दुर्घटनाएँ कम होती हैं। इनसे जनता अधिक गन्दी बस्तियों में रहने से बच सकती है, लेकिन इसकी आय में खर्च पूरा नहीं हो सकता।

(3) अतिरिक्त सामाजिक लागत—कुछ आर्थिक क्रियाओं के उत्पादन से समाज को हानियाँ (diseconomies) होती हैं। व्यक्तियों के हाथों में होने से उनका अत्यधिक अथवा आवश्यकता से अधिक उत्पादन हो सकता है जिससे व्यक्तियों तथा समाज दोनों ही को हानि होगी। इससे समाज में जुर्म की मात्रा बढ़ेगी। सरकार का उद्देश्य इनके उपभोग में कमी करना है इनके उपभोग का या तो नियमन किया जाता है या इनके उत्पादन पर भारी कर लगाये जाते हैं या शासन द्वारा ही इनके उत्पादन तथा विपणन की व्यवस्था की जाती है। इनकी कीमत सीमान्त लागत से ऊँची रखी जाती है।

(4) बाह्य बचत—इसके विपरीत ऐसी स्थिति होती है जहाँ व्यावसायिक फर्म की लागत समाज की अपेक्षा अधिक होती है। सामान्य उदाहरण ऐसे उद्योग से ले सकते हैं जिनमें घटती लागत अथवा उत्पत्ति का क्रमागत वृद्धि नियम लागू होता है। इसमें जैसे-जैसे फर्म का उत्पादन बढ़ता है फलस्वरूप सभी फर्मों की लागत घटती है। इस प्रकार समाज के लिए वास्तविक लागत एक वैयक्तिक फर्म की लागत की अपेक्षा कम होती है। निजी मुनाफे के सिद्धान्त के आधार पर उत्पादन बहुत कम होता है।

पूर्ण प्रतियोगिता द्वारा हस्तक्षेप का विलोपन (elimination of interferences with perfect competition) स्पर्धा में अपूर्णताओं के कारण साधनों के आदर्श वितरण में विचलन (departure) होता है। फलस्वरूप आय के वितरण के रूप में परिवर्तन होते हैं जो सुनीति संगत नहीं होते। उदाहरण के लिए पर्याप्त ज्ञान के अभाव में उपभोक्ता आय का आदर्श रूप में उपभोग नहीं कर पाते। इससे गुणवत्ता उत्पादन के समझ में बाधा होती है। उपभोक्ताओं को अपनी आय का आदर्श रूप में उपयोग करने के लिए शासन कुछ हद तक मिथ्या निरूपण (misrepresentation) पर बाधा लगाकर तथा मानक स्तर की स्थापना द्वारा सहायक होता है। बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार सूचनात्मक तथा निर्देशक सेवाओं द्वारा शासन बेतरी की उपज में समझन लाने का प्रयत्न करता है। इसीलिए कभी-कभी उत्पादन का प्रत्यक्ष तथा परोक्ष नियमन भी किया जाता है। कभी-कभी पूर्ण स्पर्धा की स्थिति में भी गत्यात्मक परिवर्तनों के अनुसार स्वतन्त्र बाजार व्यवस्था द्वारा भी उत्पादन का आदर्श समझन सम्भव नहीं हो पाता। इसलिए व्यवसायी वर्ग को

उत्पादन तथा विनियोग सम्बन्धी नीतियों के निर्धारण में निर्णय लेने के लिए शासन द्वारा राष्ट्रीय आय की गति तथा उत्पादन सम्बन्धी आकड़ों की व्यवस्था की गई है। रोजगार सम्बन्धी बेरोजगार व्यक्तियों तथा उपलब्ध रिक्त स्थानों में समन्वय न कराने का प्रयास करती हैं।

एकाधिकार परिस्थिति में शासन उत्पादन तथा कीमत को प्रतियोगी स्तरों तक लाने का प्रयास करता है। कहीं-कहीं यह कार्य एकाधिकार विरुद्ध कानूनों द्वारा सफल किया जाता है। इस उपागम में शासन को एक कठिनाई का सामना करना पड़ता है। कुछ उद्योगों में आदर्श कुशलता की आवश्यकताओं के कारण फर्मों की संख्या बहुत अधिक नहीं हो सकती। जिस उद्योग में व्यवसायियों की संख्या बहुत कम है उसमें उन्हें प्रभावी प्रतियोगिता के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। फल-स्वरूप अमेरिका में ट्रस्ट विरोधी कानून बहुत सफल नहीं हुए हैं। लोक उपमोचिताओं में प्रभावी प्रतियोगिता अमम्भव है। इसलिए या तो इनमें कीमतों का नियमन किया गया है या इन सेवाओं की व्यवस्था शासन द्वारा की गई है।

साधनों के वित्तारे में व्यय तथा करों का कार्य

(The function of expenditures and taxes in the allocation of resources)

जब लोक आवश्यकताओं की तुष्टि का तथा तत्सम्बन्धी व्यय को कुछ व्यक्तियों पर डालने का निर्णय ले लिया जाता है तब इस योजना को व्यवहार में लाने का प्रयास होना आवश्यक है। साधनों का बाह्यनीय हस्तान्तरण साधनों अथवा वस्तुओं को प्रत्यक्ष रूप में प्राप्त करने से होता है। प्रविरक्षा व्यय के लिए राज्य द्वारा प्रविधान किया जाता है। इसी प्रकार युद्धपोत के लिए लोहा, फौलाद तथा श्रम अन्य उत्पादक कार्यों से हटाकर युद्धपोत निर्माण के लिए इस्तेमाल किये जाते हैं। ऐसा करने से कुल भार स्टील के उत्पादकों पर होगा। ऐसा करना मुनीनि मगत नहीं होगा। इसलिए करो द्वारा निजी माग में कमी कर के साधन प्राप्त किये जाते हैं। इस धन के व्यय में साधन निजी प्रयोगों में हटाकर लोक हितों के लिए इस्तेमाल होते हैं। दोनों स्थितियों में साधनों का बाह्यनीय हस्तान्तर होता है, किन्तु इससे लागत का वितरण साधनों के हस्तान्तरण में अलग हो जाता है। लागत का वितरण बाह्यनीय ढंग से होता है।

वाणिज्यिक कार्य : शासन प्रक्रिया द्वारा अधिक कुशलता

सामान्यतया यह समझा जाता है कि लाभ के प्रोत्साहन से निजी उद्योग शासन की अपेक्षा अधिक कुशलता से उत्पादन करता है। फिर भी कुछ ऐसी स्थितियाँ होती हैं जब शासकीय उत्पादन अधिक कुशल होता है। शासन द्वारा सेवाओं के उत्पादन द्वारा उपभोक्ताओं की मुक्ति देकर समाज कुछ वास्तविक लागत में बच सकता है। वस्तु का मुख्य कारण यह है कि उपभोक्ताओं से कर वसूल करने में र्चर्च नहीं करना पड़ता। उन प्रक्रियाओं पर प्रशासकीय व्यय बहुत कम होता है उदाहरण के लिए सड़कों के किनारे पर पगदण्डी निजी उद्योग द्वारा बनवा कर वसूल

करने का मंच सम्पत्ति करों के धन के परिमाण से जिसके द्वारा शासन पगदण्डी बनाता है कहीं अधिक होगा।

इसके अतिरिक्त विशाल विद्युत शक्ति योजनाओं के लिए बहुत धन की आवश्यकता होती है जो निजी उद्यम की शक्ति के बाहर है या इनसे लाभ बहुत लम्बे समय बाद होगा जिसके लिए निजी उद्यम प्रतीक्षा नहीं करेगा। यही कारण है कि नगरपालिकाएँ पीने के लिए जल की तथा विद्युत शक्ति की व्यवस्था स्वयं करती है।

आय तथा सम्पत्ति का बटवारा—विभिन्न देशों में हाल के दशकों में या भारत में पञ्चवर्षीय योजनाओं में शासकीय प्रक्रिया का सारवान (substantial) भाग देश के कम आय के वर्गों के सापेक्षिक आर्थिक बर्तमान की वृद्धि के लिए परिचायित किया गया है। आधुनिक समाज के विचार में आय के वितरण के वास्तविक अथवा प्रचलित रूप में तथा सुनीति सगत तथा वाछनीय रूप में विक्षेप अंतर है। समाज में बहुत से वर्गों की इतनी भी आय नहीं है कि वे न्यूनतम जीवन स्तर पर निर्वाह कर सकें। इसीलिए बड़े व्यक्तियों के लिए पेशन, गरीब व्यक्तियों के बच्चों के लिए निगुल्क शिक्षा, तथा औद्योगिक श्रमिकों तथा उनके परिवारों के लिये निकित्सा आदि की व्यवस्था की गई है। और इन सेवाओं में धन का प्रविधान किया गया है।

विभिन्न प्रकार के करों द्वारा, जैसे उपहार कर, सम्पत्ति कर, मृत्यु कर, वृद्धिमान कर प्रणाली आदि से आय तथा सम्पत्ति के वितरण की असमता में कमी करने का प्रयास किया गया है। भारत में आय तथा सम्पत्ति की अधिकतम सीमा निश्चित करने पर भी विचार किया जा रहा है।³ लोक शिक्षा द्वारा कम आय के व्यक्तियों को विशेष लाभ होता है। इस प्रकार आसन द्वारा कर तथा व्यय नीति के धन तथा आय के वितरण पर प्रभाव पड़ते हैं।

उत्पादन, रोजगार तथा कीमतों का निर्धारण

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् विभिन्न देशों में आर्थिक स्थायित्व तथा आर्थिक वृद्धि की गति को बढ़ाने के लिए विशेष प्रयास किये गये हैं। भारत में तीन पञ्चवर्षीय योजनाएँ समाप्त हो चुकी हैं तथा चौथी योजना की 1969-74 काल के लिए अंतिम रूपरेखा बन गई है। इन योजनाओं में राष्ट्रीय आय के, प्रति व्यक्ति आय के, रोजगार की वृद्धि के, वस्तुओं की कीमतों की तीव्र गति से बढ़ने की रोकने के लक्ष्यों को प्राप्त करने के प्रयास किये जा रहे हैं। वास्तव में वर्तमान समय में भारत में रोजगार बढ़ाने तथा बढ़ती कीमतों को रोकने के लिए उत्पादन बढ़ाने के उपाय बहुत आवश्यक हैं।

पश्चात् देशों में भी बाजार अर्थ-व्यवस्था द्वारा साधनों का पूर्ण उपयोग करने में असफलता रही है। कभी वस्तुओं की कीमतें तीव्र गति से घटी है। जैसाकि 1930

3 The Taxation Enquiry Commission, 1954 had recommended a ceiling on personal incomes, but this recommendation was not accepted by Government.

के दशक में हुआ था तथा कभी तीव्र गति से बढ़ी है जैसा कि कोरिया के युद्ध के पश्चात् हुआ था तथा ब्राजील, भारत आदि देशों में अब भी हो रहा है। जब बेरोजगारी बढ़ती है तब आर्थिक स्थायित्व के तथा रोजगार बढ़ाने के लिए शासन को ही कदम उठाने पड़ते हैं। केवल निजी उद्योग द्वारा इस लक्ष्य में सफलता नहीं मिलती। इसीलिए राज्य की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए बहुत प्रयास करने होते हैं। माख पर नियन्त्रण करना होता है, लोक कार्य करने होते हैं, मूला ग्रन्थ क्षेत्रों में रोजगार तथा आर्थिक सहायता की व्यवस्था करनी होती है।

वस्तुओं की कीमतों के तीव्र गति से बढ़ने से उपभोक्ताओं को हानि होती है, स्थायी आय के मध्यम वर्ग के व्यक्तियों को जीवन निर्वाह करना कठिन हो जाता है, तथा उत्पादन लागत बढ़ती है। फल यह होता है कि सटोरिये वस्तुओं का संचय करने लगते हैं। उपभोक्ताओं में भी वस्तुओं की आवश्यकता से अधिक खरीदने की भावना आती है। फलस्वरूप माँग बढ़ती है, जिससे वस्तुओं की कीमतें बढ़ती हैं। इन सबका चञ्चीय प्रभाव होता है। इन माधनों का विभिन्न क्रियाओं में मुनोति मगत बटवारा नहीं हो पाता। इससे आर्थिक स्थिति बिगड़ती है। इसीलिए शासन को वस्तुओं की कीमतों में विशेष उतार चढ़ावों को रोकने के उपाय करने होते हैं। माप तथा मुद्रा के चलन पर नियन्त्रण करना होता है। आवश्यक वस्तुओं की बढ़ती हुई कीमतों को रोकने के उपाय करने होते हैं। राशन की उचित कीमतों पर व्यवस्था करनी होती है तथा उत्पादन बढ़ाने के उपाय करने होते हैं।

भारत में आर्थिक स्थायित्व के लिए भोक्तन्त्रीय सिद्धान्त के आधार पर समाजवाद की व्यवस्था की गयी है। जुलाई 1969 में कांग्रेस के बैंगलोर अधिवेशन में दश सूत्री कार्यक्रम का लक्ष्य तय किया गया था। उसी के अन्तर्गत 14 बड़े बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया जिससे छोटे छोटे उद्योगों के लिए बैंकिंग सिद्धान्तों के आधार पर माख प्रदान की जाये तथा तकनीकी प्रबन्ध की कुशलता को प्रोत्साहन मिल सके। इसलिए आयात तथा निर्यात पर तथा विदेशी मुद्रा पर नियन्त्रण की व्यवस्था की गयी है।

अल्प विकसित देशों में आर्थिक वृद्धि पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। इनमें शासकीय व्यय के गठन में आर्थिक वृद्धि की दर बढ़ाने पर बल दिया जा रहा है।

अन्तरराष्ट्रीय बैंक, अन्तराष्ट्रीय वित्त निगम तथा अन्तरराष्ट्रीय विकास मण्डल की स्थापना द्वारा विकासशील देशों के आर्थिक स्थायित्व के लिए विदेशी धन की सहायता दी जाती है। इसी उद्देश्य से अन्तर यूरोपियन बैंक तथा एशियन विकास बैंक की स्थापना हुई है। राष्ट्रीय साधनों की कमी की पूर्ति विदेशी आर्थिक सहायता द्वारा करने की व्यवस्था है, जिससे अल्प विकसित देशों में उत्पादन बड़े रोजगार की सुविधाएँ बढे, तथा सम्पत्ति के वितरण की असमता में कमी हो।

विकास के लिए साधनों का संचय तथा गतिशीलता

आर्थिक विकास के लिए साधनों का संचय आवश्यक है। आर्थिक विकास राष्ट्रीय तथा प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि द्वारा तथा धन, तथा आय के वितरण की असमता के घटने से होता है। राष्ट्रीय विकास का अर्थ है कि जन माधारण के जीवन स्तरों की उन्नति करना जो राष्ट्रीय आय की वृद्धि से हो सकती है। गरीबी को उत्पादन बढ़ा कर दूर करने के प्रयास को आर्थिक वृद्धि कह सकते हैं।

अल्प विकसित शब्द का अर्थ

अन्तरराष्ट्रीय संगठन के महासचिव के विशेषज्ञों के अनुसार वे देश अल्प विकसित हैं जहाँ प्रति व्यक्ति वास्तविक वापिक आय अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा पश्चिमी यूरोप के देशों की प्रति व्यक्ति वापिक आय की तुलना में कम है। इस अर्थ में अल्प विकसित देशों का पर्यायवाची शब्द 'गरीब देश' होगा।

सामान्यतया अल्प विकसित वे देश हैं जिनमें प्रति व्यक्ति वापिक आय संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की प्रति व्यक्ति वापिक आय की 1/4 है या जो कहें कि 500 डालर प्रति वर्ष से कम है। 'अल्प विकसित' वह देश भी बहने जा सकते हैं जहाँ शासन विकास को ऐसी समस्या मानता है जिसके लिए किसी निश्चयात्मक नीति की आवश्यकता है।

बेन्जामिन हिगिन्स के अनुसार 'अल्प विकसित' शब्द कुछ उपयुक्त नहीं है। इस विधि को व्यक्त करने के लिए 'पूर्व औद्योगी' तथा 'विकासशील' आदि शब्दों के प्रयोग का सुझाव दिया गया है। 'विकासशील' शब्द कुछ उचित नहीं है, क्योंकि इन देशों की मुख्य समस्या यह है कि इन में कुछ का विकास हो ही नहीं रहा है। लेकिन अल्प विकसित शब्द को अब तकनीकी शब्दावली में मान्यता मिल गयी है। इसलिए इस से अभिप्राय उन्हीं देशों से है जहाँ प्रति व्यक्ति वापिक आय यू० एस० ए० की प्रति व्यक्ति वापिक आय के 1/4 से कम है।⁴ अल्प विकसित शब्द का सम्यता, संस्कृति तथा अध्यात्मिक मूल्यों के अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि इन सम्बन्धों में पाश्चात्य देश एशिया के आर्थिक दृष्टि से अल्प विकसित देशों से बहुत कुछ सीख सकते हैं।

अल्प विकसित देशों की प्रति व्यक्ति आय कम होने के अतिरिक्त निम्न अन्य विशेषताएँ भी हैं :

(1) आर्थिक

(क) सामान्य

(i) लगभग 70 से 90 प्रतिशत व्यक्ति कृषि में लगे हुए हैं। इस प्रकार कृषि में जनसंख्या बहुत लगी है। इसमें कमी होने पर भी उतना ही उत्पादन बना रहेगा।

(ii) कृषि से अलग रोजगार के अवकाश बहुत कम हैं। अतः छद्मव्यवस्था (disguised) बेरोजगारी बहुत है।

⁴ For definition of underdeveloped, read Benjamin Higgins : 'Economic Development', Chapter 1.

(iii) प्रति व्यक्ति पूँजी बहुत कम है।

(iv) प्रति व्यक्ति आय इतनी कम है कि न्यूनतम जीवन निर्वाह के लिए ही पर्याप्त है।

(v) जन साधारण के लिए वचत की गुंजायश नहीं है। यह अधिकतर जमींदारों द्वारा ही होती है जिसका प्रयोग उद्योग तथा वाणिज्य के लिए नहीं होता।

(vi) व्यय का बड़ा भाग खाद्य तथा आवश्यक वस्तुओं पर व्यय होता है।

(ख) कृषि की मूल विशेषताएँ

(i) कृषि में पूँजी बहुत कम लगी है तथा खेतों का आकार बहुत छोटा है।

(ii) कृषि सम्बन्धी तकनीकी ज्ञान सूख के बराबर है तथा यन्त्र आदि सीमित तथा पुराने ढंग के हैं।

(iii) यदि बड़े जमींदार भी हैं जैसे भारत के कुछ भागों में तो यातायात व्यवस्था अच्छी न होने से भी आधुनिक कृषि उत्पादन के लिए स्थानीय मण्डियों में माग की कमी के कारण गुंजायश कम है। कुछ देशों में आधुनिक खेती की उपज विदेशों में निर्यात के लिए ही होती है।

(iv) छोटे किसान अल्प काल में भी सकट का सामना करने में असमर्थ है।

(v) सम्पत्ति तथा आय के देखते हुए ऋण का परिमाण बहुत है। उत्पादन के ढंग पुराने हैं तथा खेतों का जनसंख्या की वृद्धि के कारण बराबर विभाजन होता रहता है।

(2) जनसंख्या सम्बन्धी

जन्म तथा मृत्यु दरें ऊँची हैं। भोजन में पोषक पदार्थों की कमी है। लोक आरोग्यता तथा सफाई की कमी है। गावों में घरों में स्थान कम है।

(3) सांस्कृतिक तथा राजनीतिक

निरक्षरता फैली है। मध्य वर्ग अव्यवस्थित अथवा दुर्बल है। स्त्रियों को कम अधिकार हैं।

(4) तकनीकी तथा अन्य बातें

प्रति एकड़ उपज कम है। तकनीकी प्रशिक्षण की सुविधाओं की कमी है। यातायात तथा संचार व्यवस्था पिछड़ी हुई है तथा तकनीकी ज्ञान का स्तर भी पिछड़ा हुआ है।

आवश्यकता इस बात की है कि आर्थिक वृद्धि हो, जिसके लिए पर्याप्त परिमाण में देशी तथा विदेशी धन चाहिए। इसलिए अल्प विकसित देशों में आर्थिक योजनाएँ चल रही हैं। भारत में योजना आयोग द्वारा पंचवर्षीय आर्थिक योजनाएँ तैयार की जाती हैं, जिनमें वित्तीय साधनों की प्राप्ति तथा भौतिक उपज के लक्ष्य निश्चित किये जाते हैं।

भारत में 1951 से अब तक तीन पंचवर्षीय योजनाएँ तथा तीन वार्षिक योजनाएँ

कराधान में जैसे (Progressive taxation) कहते हैं।⁵ वर्धमान कराधान में जैसे आय बढ़ती है उसका अनुपात कर के रूप में लिया जाता है। उदाहरण के लिए भारत में 1970 अप्रैल से 5,000 रुपये की एक व्यक्ति की वार्षिक आय पर 5% कर लगता है तथा 10 हजार से 15,000 वार्षिक आय पर 10 प्रतिशत कर लगता है तथा इसी प्रकार 2½ लाख वार्षिक आय पर अतिरिक्त कर मिलाकर कर की दर 93.5 प्रतिशत हो जाती है। इसे वर्धमान कराधान कहते हैं। वर्धमान कराधान प्रणाली में एक निश्चित सीमा तक न्यूनतम आय कर से मुक्त होती है। इस सीमा के ऊपर ही आय पर कर लगता है।

इस कर प्रणाली के दो रूप होते हैं : (1) पद प्रणाली (The Step System), (2) पट्टी प्रणाली (The Slab System)। पहली प्रणाली भारत में 1939 तक रही। इसके अनुसार जैसे आय एक सीमा से ऊपर हो जाती है वही हुई दर कुल आय पर लागू होती है। इसलिए इस प्रणाली में कर धन एकदम बहुत बढ़ जाता है और इसमें धीरे-धीरे वृद्धि नहीं होती। एक निश्चित सीमा से ऊपर आय पर उससे कुछ कम सीमा की आय पर अपेक्षाकृत बहुत अधिक कर देना होता है। पट्टी प्रणाली में आय के टुकड़े या सीमाएँ निश्चित हो जाती हैं। अलग अलग सीमाओं पर अलग दर होती है। ऊँची आय पर दर ज्यादा होती है। अलग अलग सीमाओं पर निश्चित दर के अनुसार कर निकाल लिया जाता है तथा इन सबका कुल योग कर के रूप में देना होता है। दोनों प्रणालियों में एक न्यूनतम आय पर कोई कर नहीं लगता।

वर्धमान कर प्रणाली का मुख्य लाभ यह है कि इसमें त्याग की समता आ जाती है तथा इससे कर सम्बन्धी न्याय हो सकता है। यह कर प्रणाली कर भुगतान क्षमता के अनुसार होती है।

इस प्रणाली का समर्थन मुख्यतया त्याग की समता के आधार पर किया जाता है। यदि एक व्यक्ति की 100 रुपये की आय से 10 रुपये कर के रूप में ले लिए जाते हैं और दूसरे व्यक्ति की 100,000 रुपये की आय से 10,000 रुपये कर के रूप में लिए जाते हैं तो इन दोनों स्थितियों में पहले व्यक्ति पर भार बहुत अधिक पड़ेगा। पहले व्यक्ति की आय इतनी कम है कि कर देने से उसे कुछ बहुत ही आवश्यक वस्तुओं के उपभोग से वंचित होना पड़ेगा, किन्तु हो सकता है कि दूसरे व्यक्ति को कोई सामाजिक योजना छोड़नी पड़े। इसलिए यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वर्धमान कर प्रणाली से सदा ही सामाजिक न्याय होता है।

5 prof Nicholas Kaldor recommended an expenditure tax for India on a per capita basis on personal expenditure in excess of Rs. 10,000 per year on a progressive scale. It was on the slab system rising from 25 per cent for expenditure between Rs. 10,000 and Rs. 12,000 to 300 per cent on expenditure above Rs. 50,000 per annum per adult

वर्धमान कर प्रणाली के प्रति आपत्तियाँ

(1) यह कर प्रणाली पूर्णतया निरंकुश अथवा स्वेच्छ है। अनुक्रम (progressive) के अनन्त माप क्रम हो सकते हैं और एक को दूसरे के मुकाबले में चुनने का सरल तथा बोधगम्य कारण नहीं हो सकता।

(2) ऊँचे करो के भुगतान से बचने के प्रयास किये जाते हैं। आय तथा सम्पत्ति के मूल्य के विषय में कर दाता भूठे विवरण भर देते हैं। करो को वसूल करने के प्रभावी उपाय सदा सम्भव नहीं हो पाते।

(3) सम्पत्ति संचय पर इस प्रणाली के प्रतिकूल प्रभाव पड़ते हैं। इससे पूँजी की वृद्धि में रुकावट होती है। बंस्टेवूल के अनुसार पूँजी संचय में दो तरह से रुकावट पहुँचती है। प्रथम, धनी व्यक्ति ऐसे स्थानों से जहाँ विशेष दण्ड लगते हैं दूसरे स्थानों को चले जाते हैं वे अपने साथ पूँजी भी ले जाते हैं। दूसरे जिन देशों में उद्योग बड़े हुए होते हैं, बचत कम हो जाती है जिससे वाषििक वृद्धि कम हो कर फिर रुक जाती है।⁶ बचत कम होने से पूँजी निर्माण की क्षति पहुँचती है। इससे उद्योग की वृद्धि रुकती है। मिल के अनुसार ऊँची आय पर कम आय की अपेक्षा अधिक दर लगाने से कर उद्योग तथा अर्थ-व्यवस्था पर लगाना है। लेकिन यदि दर इतनी ऊँची न हो कि पूँजी निर्माण तथा उद्योग की उन्नति पर बाधा पहुँचे, तब इस दर का कोई आधार नहीं होता।

उपर्युक्त तर्कों के विरुद्ध यह कहा जाता है कि वर्धमान कराधान से बचत की इच्छा कम नहीं होती। जिनके पास धन होता है उनमें बचत की आदत निहित होती है। धनी व्यक्तियों पर भारी कर लगने से गरीब व्यक्ति कर से बच सकते हैं जो कुछ धन बचा सकते हैं। इस प्रकार यदि कर की वृद्धि धीमी है तो पूँजी की हानि कम होगी। कुछ हानि अवश्य होगी, लेकिन वितरण प्रणाली में सुधार से कमी पूरी हो सकती है।

कर की दर में बहुत वृद्धि होने से कर आय बहुत नहीं बढ़ती। इसके दो कारण हैं। प्रथम, लोग करो से बचने का प्रयास करते हैं, जिससे राज्य को पूरी आय प्राप्त नहीं होती। दूसरे, ऊँची आय राष्ट्रीय आय का बहुत बड़ा भाग भी नहीं होती।

प्रतिगामी कर प्रणाली—जब अधिक ऊँची आय पर कर दर कम होती है या कर प्रणाली पश्चगामी अथवा प्रतिगामी (regressive) कहलाती है। अलग अलग कर तथा कर प्रणाली दोनों ही प्रतिगामी हो सकते हैं। जब कर प्रणाली ऐसी होती है कि करों का अधिकांश भार कम आय के व्यक्तियों पर पड़ता है तब कर प्रणाली प्रतिगामी होती है। आवश्यक वस्तुओं पर कर अधिक होने पर कर प्रणाली प्रतिगामी होती है। वास्तव में केन्द्र में भारतीय कर प्रणाली प्रतिगामी है, क्योंकि

भारत में कर आय का अधिकांश भाग अप्रत्यक्ष करों से आता है जो आवश्यकताओं की वस्तुओं पर लगते हैं ।

इन करों से प्रत्यक्ष रूप में बचत कम नहीं होती । ये उन व्यक्तियों पर लगते हैं जिनकी आय तथा व्यय का अन्तर कम होता है । इनके द्वारा गरीब व्यक्तियों पर कर लग सकते हैं । इनसे एक प्रकार से कर न्याय की स्थिति रहती है, क्योंकि राज्य के व्यय के लिए सभी पर दायित्व होता है । परन्तु इनसे आय की विषमता बढ़ सकती है ।

कर प्रणाली ऐसी होनी चाहिए जिसमें प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों ही प्रकार के कर हों । आधुनिक राष्ट्रों का व्यय बढ़ता जा रहा है । आज पुलिस राज्य के स्थान पर कल्याणकारी राज्य का महत्त्व है जो जन कल्याण पर अधिक ध्यान देता है । इसके लिए बहुत आय की आवश्यकता होती है । अतः प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार के करों की आवश्यकता होती है । करों की आय के सभी साधनों का सहारा लेना आवश्यक हो जाता है । साथ साथ यह भी आवश्यक है कि करों द्वारा प्राप्त आय का व्यय उचित रूप में हो जिससे समाज को अधिकतम लाभ पहुँचे ।

नवां अध्याय
कर सिद्धान्त
(TEX PRINCIPLE)

राज्य के कार्यों के लगातार प्रसार के कारण शासकीय आय की आवश्यकताएँ बढ़ रही हैं। राज्य का उद्देश्य सामाजिक जीवन को आन्तरिक अव्यवस्था तथा बाह्य आक्रमण से सुरक्षित रखने तक ही सीमित नहीं है, बल्कि यह उद्देश्य उस जीवन को अच्छा बनाना है। सामाजिक जीवन को बाह्य आक्रमण तथा आन्तरिक अव्यवस्था से सुरक्षित रखना राज्य का आधारभूत अथवा मूल कर्तव्य है। अतः इस कार्य को कुशलता से सम्पन्न करने के लिए राज्य को अधिकाधिक धन की आवश्यकता होती है। प्रशासनिक कार्यों तथा प्रतिरक्षा पर व्यय की आवश्यकता बराबर बढ़ रही है। प्रतिरक्षा व्यय की वृद्धि से सुरक्षा नहीं बढ़ती, किन्तु फिर भी प्रत्येक देश में प्रतिरक्षा सम्बन्धी व्यय बराबर बढ़ रहा है।

राज्य को सामाजिक जीवन के स्तरों में उन्नति भी करनी है। इसके लिए शिक्षा, चिकित्सा तथा औषधि, मनोरंजन सम्बन्धी कार्यों, तथा समाज सुरक्षा आदि पर व्यय के लिए अविकाधिक धन की आवश्यकता बढ़ रही है। राज्य की संकल्पना पुलिस राज्य के स्थान पर कल्याणकारी राज्य की स्थापना हो गयी है। राज्य के लिए अधिक प्रतिस्पर्धा का नियमन करना आवश्यक है तथा ऐसी सेवाएँ अथवा वस्तुएँ निःशुल्क अथवा लागत से कम कीमत पर जनता के हित में व्यवस्थित करनी होती हैं जिनसे जन समृद्धि भी वृद्धि हो सके। इसके लिए राजकीय क्षेत्र का प्रसार आवश्यक है। अतः राज्य की आय की आवश्यकता बढ़ रही है।

राज्य को ऐसी वित्तीय तथा कराधान सम्बन्धी नीति का अनुमरण करना चाहिए, जिससे उत्पादन में वृद्धि हो तथा धन तथा आय के वितरण में सुधार हों तथा जन-जीवनो की उन्नति हो। प्रत्येक देश में आर्थिक नियोजन द्वारा मानवीय तथा प्राकृतिक साधनों को सुचारु रूप में उपयोग करने की व्यवस्था चल रही है। इसका उद्देश्य राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय को बढ़ाना है और धन तथा आय की असमानता को घटाना है, जिससे आर्थिक समृद्धि की वृद्धि हो।

इसी उद्देश्य से भारत में 1951 से आर्थिक नियोजन कार्य चल रहा है, जिसमें सहस्रो करोड़ रुपया लग चुका है। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आय के नए साधनों की खोज हो रही है, जिसमें राज्य की आय बढ़े। राज्य की कर अथवा आय की रचना अथवा व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जिसमें राज्य की आय अधिकतम हो, किन्तु साथ साथ राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था की उन्नति हो। एडम स्मिथ ने कर प्रणाली अथवा अच्छी आय प्रणाली के निम्न सिद्धान्त अथवा लक्षण बताये थे :

साम्या अथवा समता (Equity or Equality)—स्मिथ के अनुसार प्रत्येक राज्य के नागरिकों को सरकार के कार्यों के संचालन के लिए अपनी सापेक्षिक योग्यताओं के अनुसार राज्य के संरक्षण में उचित ऋणानुसार आय के अनुसार अंशदान करना चाहिए। इसका अर्थ है कि नागरिकों को अपनी क्षमता के अनुसार राज्य के लिए आय देनी चाहिए। धनी व्यक्तियों को राज्य की आय के लिए केवल अपनी आय के अनुपात में ही धन नहीं देना चाहिए, किन्तु इस अनुपात में कुछ अधिक धन देना चाहिए।¹

समता अथवा समानता का अर्थ इसी संदर्भ में समझना चाहिए। प्रो० गिराज के अनुसार, समानता का अर्थ वित्तीय सिद्धान्त के इतिहास में समय समय पर बदलता रहा है, किन्तु आज इसकी मान्यता प्राप्त कसौटी देने की क्षमता है। समानता का अर्थ वर्धमान कराधान होगा। समान कर देने से व्यक्तियों पर समान भार नहीं होगा। योग्यता कर दाता के त्याग से मापी जा सकती है। कर दाता की आय का आकार उसकी कर देने की क्षमता की परख है। इसका अर्थ यह है कि जिसकी जितनी अधिक आय है उसकी उतनी ही अधिक क्षमता कर प्रदान करने की है।

वित्तीय लेखकों ने उचित अथवा न्याय संगत कराधान को निरपेक्ष वैज्ञानिक अथवा निपुण सिद्धान्तों के संदर्भ में समझने का प्रयास किया है। पहले लेखकों के विचार में कराधान की उचित प्रणाली वह थी जिसके अनुसार करों का वितरण राज्य से प्राप्त लाभों के अनुसार होता था, अर्थात् जितना किसी व्यक्ति अथवा नागरिक को लाभ राज्य में रहने से होता हो, उसी अनुपात में करों का वितरण होता चाहिए। राज्य में रहने के लाभ की कसौटी आय ही होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि जिनकी अधिक आय है उतने ही अधिक कर उन्हें देने चाहिए। मिल के अनुसार, पहला नियम अर्थात् समता कराधान का सामान्य नियम है, अर्थात् कराधान साधनों के अनुपात में होना चाहिए।²

आधुनिक अर्थशास्त्री समता के स्थान पर जिसे मिल ने कराधान का पहला सिद्धान्त कहा साम्या का प्रयोग करते हैं। साम्या का अभिप्रायः ऐसे कराधान से है जो साधनों के अनुसार वर्धमान है। इस सिद्धान्त का समर्थन अर्थशास्त्रियों ने मिल के

1 *The Wealth of Nations*, Book V, Ed. Cannan, Vol II, p. 427.

2 Quoted in F. Shurlej *Public Finance in Peace and War*, p. 12.

समय से ही किया है। यह सिद्धान्त न्यूनतम कुल त्याग अथवा सम-आनुपातिक त्याग के सिद्धान्त पर आधारित है जो घटती सीमान्त उपयोगिता के सिद्धान्त से उत्पन्न हुआ है। व्यक्तियों की आवश्यकताएँ महत्व के अनुसार क्रमबद्ध की जा सकती हैं। कुछ बहुत आवश्यक होती हैं तथा कुछ कम आवश्यक होती हैं। जो व्यक्ति अधिक धन होने के कारण कम आवश्यक इच्छाओं की पूर्ति कर सकते हैं उनकी कर देने की क्षमता उन व्यक्तियों से अधिक होती है जिन के पास अधिक आवश्यक इच्छाओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त धन नहीं है। इसका यह अर्थ है कि दो व्यक्तियों में जिनमें एक की वार्षिक आय, 15,000 रुपये है तथा दूसरे की 10,000 रुपये है, ऐसी दशा में कर भार समान तभी होगा जब 15,000 रुपये की वार्षिक आय का व्यक्ति दूसरे की अपेक्षा अनुपात से अधिक कर देगा।

यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि प्रो० निकोलस कैलंडोर वर्धमान कराधान को साधनों के सदर्थ में साम्या के अर्थ में नहीं लेते। साधनों से उनका अभिप्राय किसी व्यक्ति की आय से न होकर उसकी व्यय शक्ति से है। दो व्यक्तियों की समान आय हो सकती है, किन्तु एक के कुटुम्ब का आकार दूसरे के कुटुम्ब से बड़ा है। राज्य यदि दोनों से आय के आधार पर कर लेता है, तब यह साम्या के सिद्धान्त के अनुसार नहीं होगा। इसके अतिरिक्त, एक व्यक्ति की आय श्रम द्वारा होती है तथा दूसरे की सम्पत्ति से। प्रो० कैलंडोर के अनुसार व्यय शक्ति ही कराधान का उचित आधार है आय नहीं।

सक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कराधान का आधार आय हो अथवा व्यय शक्ति हो दोनों ही स्थितियों में वर्धमान कराधान द्वारा ही कर प्रणाली में साम्या आ सकती है।

निश्चितता (Certainty)—जो भी कर प्रत्येक व्यक्ति को देना है उसकी मात्रा निश्चित होनी चाहिए। यह किसी के इच्छाधीन नहीं होना चाहिए। भुगतान का समय तथा ढंग अथवा रूप, धन का परिमाण प्रत्येक कर देने वाले को स्पष्ट होने चाहिए। इस बात की निश्चितता कि किसी व्यक्ति को कितना कर देना है कराधान में इतनी महत्वपूर्ण है कि इस में असमानता में इतनी बुराई नहीं है जितनी कर की मात्रा की अनिश्चितता में।

किसी व्यक्ति को कितना कर देना है यह बात उसे निश्चितता से ज्ञात होनी चाहिए, जिससे वह उसकी व्यवस्था कर सके तथा अपने सब व्यय की एक व्यवस्थित रूप में योजना बना सके। राज्य को भी कर आय का अनुमान होना चाहिए। निश्चितता का अर्थ है कि कर लगाना विधायक अथवा राज्य की इच्छा पर ही निर्भर न होकर कुछ ऐसे नियमों पर आधारित हो जिन से कर देने वाले को कर के रूप में धन देने का अनुमान तथा राज्य को भी कर आय का अनुमान निश्चित रूप में होना चाहिए।

भुगतान के समय की सुविधा (Convenience)—प्रत्येक कर ऐसे समय अथवा ऐसे ढंग से लगना चाहिए, जो कर दाता को सुविधाजनक हो। भूमि कर ऐसे समय पर देना होता है जब किसान की फसल बिकती है। विलासिता की वस्तुओं पर कर उपभोक्तों को देने होते हैं तथा उनकी सुविधानुसार वे वस्तुओं की कीमतों के साथ वसूल कर लिए जाते हैं। उपभोक्ता कर वस्तु की खरीदते समय देते हैं। यदि वस्तु खरीदते समय श्रेता को कर देने में असुविधा होती है तो इसमें दोष उसी का है। हाँ, आवश्यकता की वस्तुओं पर यदि कर बहुत हो तब वे असुविधाजनक हो सकते हैं। इसीलिए आवश्यकता की वस्तुओं पर कर की दर कम होती है, जिससे कर दाता को असुविधा न हो। इसीलिए भारत में केन्द्रीय बजट में अप्रैल १९७० में उसी चीनी पर कर बढ़ाया गया जो खुले बाजार में बिकती है। सुविधा का सिद्धान्त इसलिए दृष्टि में रखा जाता है जिससे कर वसूल करने में राज्य की तथा कर देने में कर दाता को सुविधा हो तथा समय तथा साधनों का उचित उपयोग हो। अप्रत्यक्ष कर सुविधाजनक होते हैं, क्योंकि वे वस्तुओं की कीमत के साथ वसूल कर लिए जाते हैं। वेतन पाने वाले व्यक्तियों से वेतन देते समय कर वसूल कर लिया जाता है, जिससे कर दाता को सुविधा रहे।

मितव्ययता (Economy)—प्रत्येक कर ऐसे ढंग में लगना चाहिए कि वसूल करने का खर्च न्यूनतम हो। जितना धन कर दाताओं से वसूल किया जाये उमका अधिकतम भाग राज्यकोष में जमा हो जाना चाहिए। निम्न स्थितियों में कर वसूल करने का व्यय अधिक कहा जायेगा। प्रथम, कर वसूल करने के लिए बहुत कर्मचारियों की आवश्यकता हो, जिससे कर की आय का बहुत बड़ा भाग उनके वेतन तथा भत्तों में चप जाये। दूसरे, उद्योगों में बाधा पहुँचे तथा लोगों को व्यवसाय की कुछ शाखाओं में, जिन में व्यक्तियों को रोजगार मिल सकता है, धन लगाने में प्रोत्साहन न हो। तीसरे, व्यक्तियों को बहुत अनावश्यक तथा जटिल विवरण भरने पड़ें, जिससे उन्हें विशेष असुविधा पहुँचे। अतः यह आवश्यक है कि कर ऐसे होने चाहिए कि उनके प्रशासन तथा वसूल करने के व्यय न्यूनतम हो तथा कर दाताओं पर न्यूनतम भार रहे।

उपर्युक्त चार नियमों अथवा सिद्धान्तों के अतिरिक्त अन्य लेखकों ने कुछ और सिद्धान्त बताये हैं।

उत्पादकता (Productivity)—बैस्टेब्ल ने उत्पादकता के सिद्धान्त पर बल दिया। कराधान से राज्य का अधिकतम आय होनी चाहिए। एक कर जिससे अधिक आय होती है ऐसे छोटे-छोटे करों की तुलना में पसन्द किया जाना चाहिए जिनसे आम कम तथा जिन पर व्यय बहुत होता हो। वास्तव में उत्पादकता का भाव एडम स्मिथ के मितव्ययता के सिद्धान्त अथवा नियम में निहित है। मितव्ययता का अर्थ है कर वसूल करने में न्यूनतम व्यय हो तथा राज्य को अधिकतम आय हो। उत्पादकता का भी यही अर्थ है।

लोच (Elasticity)—कर प्रणाली में लोच होनी चाहिए। इसका यह अर्थ है कि राज्य की धन के लिए माँग बढ़ने पर आय में प्रशासनिक व्यय की वृद्धि के बिना ही वृद्धि हो सके। धन तथा जनसंख्या के बढ़ने से स्वतः ही कर आय में वृद्धि हो सके। तभी कर प्रणाली लोचदार कही जायेगी। भारत में अप्रत्यक्ष करों से आय में विशेष वृद्धि हो रही है। भारत में प्रदेशों में हाल के वर्षों में वृद्धि कर, बिजली कर, कृषि आय कर आदि द्वारा कर आय में बहुत वृद्धि हुई है।

सरलता (Simplicity)—कर प्रणाली सादी होनी चाहिए, जिससे कर दाताओं को कर का अनुमान लगाने में कठिनाई न हो। इसका आधार विस्तृत होना चाहिए। बहुत छोड़े कर होने पर आय पर्याप्त न हो, किन्तु करों की संख्या अधिक होने पर आय अधिक होगी, क्योंकि उनका भार विस्तृत रूप में जनता में बटेगा। कर ऐसे भी न हो कि व्यवसाय अथवा उद्योगों के लिए प्रेरणा ही न रहे। कर विभिन्न प्रकार के होने चाहिए जिससे प्रत्येक कर योग्य आय वाला व्यक्ति कर देता रहे। इससे कर प्रणाली में लोच तथा नम्यता आयेगी तथा कर भार अधिकतम व्यक्तियों पर होगा।

कभी कभी इन सिद्धान्तों में परस्पर विरोध हो सकता है। ऐसी दशा में जो सिद्धान्त अथवा नियम अधिक महत्वपूर्ण हो उसका चयन होना चाहिए। एक सफल राज्य प्रशासन का मुख्य उद्देश्य अर्थ-व्यवस्था का प्रसार करना है, जिससे अधिकतम श्रमिकों को रोजगार मिल सके। इस लिए प्रणाली ऐसी होनी चाहिए कि आय अधिकतम हो तथा साथ साथ यह प्रणाली साम्यता के अनुरूप भी हो। ऐसा तभी होगा जब कि कर प्रणाली का आधार विस्तृत हो।

कराधान का वित्तीय सिद्धान्त

FINANCIAL PRINCIPLE OF TAXATION

इस सिद्धान्त के अनुसार करों का मुख्य उद्देश्य राज्य के लिए आय प्राप्त करना है जिससे राज्य के कार्यों के लिए पर्याप्त धन प्राप्त हो जाये। इसीलिए विभिन्न कर लगाए जाते हैं, जिससे आय अधिकतम प्राप्त हो, किन्तु उत्पादन के लिए धन की कमी नही हो। यदि अधिक कर लगाते हैं तो उत्पादन व्यय बढ़ता है। इससे वस्तुओं की कीमतें बढ़ती हैं। इसका प्रभाव मुद्रा स्फीति हो सकती है। इसलिए कर इस सीमा तक ही लगाये जायें जहाँ तक मुद्रा स्फीति न हो, किन्तु राज्य के लिए पर्याप्त धन प्राप्त हो जाये, इसीलिए बहुत प्रकार के कर लगाए जाते हैं।

कराधान का सामाजिक सिद्धान्त

(Social Principle of Taxation)

करों का उद्देश्य आय तथा धन के वितरण की विषमता कम करना भी है। प्रत्यक्ष कर जिन में सम्पत्ति कर, सम्पदा कर, उपहार कर, आय कर, व्यय कर आदि इसी उद्देश्य से लगाये जाते हैं। इसी उद्देश्य से वर्धमान कराधान का उपयोग

किया जाता है। ऊँची आय पर अधिक दर द्वारा आय का भाग राज्य को प्राप्त हो जाता है। कम आय पर दर कम होती है। इससे आय की असमानता कम होती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि ऊँची आय पर अधिक कर लगा कर तथा सम्पत्ति कर लगाकर अधिक धन राज्य के कोष में आ जाता है। यह सामाजिक कार्यों के लिए इस्तेमाल हो सकता है जिससे समाज सुरक्षा की व्यवस्था हो सकती है। विलासिता की वस्तुओं पर अधिक कर लगाये जाते हैं और यह धन गरीबों के कल्याण की वृद्धि के लिए व्यय हो सकता है। अतः करों द्वारा आय तथा धन के वितरण की असमानता कम की जा सकती है। इसे कराधान का सामाजिक मिद्धान्त कहते हैं।

मुद्रा स्फीति रोकना

(Prevention of Inflation)

करों का उद्देश्य मुद्रा स्फीति को रोकने का भी होता है। यही उद्देश्य राज-कोषीय नीति का भी होता है। मुद्रा स्फीति काल में वस्तुओं की माँग बढ़ जाती है, किन्तु उत्पादन उतना नहीं बढ़ता। मुद्रा की मात्रा प्रचलन में बढ़ जाती है, जिससे माँग बढ़ती है। इस माँग पर रोक धाम करों द्वारा की जाती है। प्रत्यक्ष करों से आय उपभोक्ताओं से राज्य के पास आती है। अतः माँग में कमी होती है। जिससे वस्तुओं की कीमतें बढ़ने में रुकती हैं। यही प्रभाव सरकारी ऋणों का भी होता है। अतः राज्य प्रत्यक्ष कर लगाकर तथा ऋण लेकर माँग में कमी कर सकता है। इससे शेष ऋण बकित में कमी आती है जिससे मुद्रा स्फीति कम होती है। इस सम्बन्ध में प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष करों के प्रभाव में अन्तर होता है। अप्रत्यक्ष करों से वस्तुओं की कीमतें बढ़ती हैं।

उत्पादक अथवा विक्रेता ऐसे करों की कीमत बढ़ा कर उपभोक्ताओं से वसूल कर लेते हैं। किन्तु यदि कर ऐसी वस्तुओं पर लगते हैं जिनकी माँग लोचदार होती है तो ऐसे करों का भार उत्पादकों पर ही पड़ता है। वे वस्तुओं की कीमत इसलिए नहीं बढ़ा सकते, क्योंकि उनकी माँग लोचदार होती है। अतः अप्रत्यक्ष करों द्वारा भी मुद्रा स्फीति को रोक-धाम की जा सकती है।

कराधान द्वारा उपभोग का नियमन

(Regulation of Consumption)

कराधान उपभोग के नियमन के लिए भी प्रयोग किया जाता है। मादक वस्तुओं का उपभोग कम करने के लिए उन पर कर लगाये जाते हैं। इनके उपभोग से आरोग्यता को हानि पहुँचती है तथा उपभोक्ताओं की क्षमता अथवा कुशलता घटती है। इन करों से आय भी प्राप्त होती है। इनका उद्देश्य नैतिक भी होता है। भारत में नशाबन्दी का भी यही उद्देश्य है, यद्यपि इससे राज्यों को आय की हानि भी होती है।

लोक अथवा सार्वजनिक व्यय (PUBLIC EXPENDITURE)

राज्य की व्यय नीति का राष्ट्रीय आय पर गहरा प्रभाव पड़ता है। उत्पादन की वृद्धि के लिए इस नीति का उपयोग जनता को प्रोत्साहित करने के लिए किया जा सकता है, कुछ बातों पर राजकीय व्यय की वृद्धि से विभिन्न क्षेत्रों में उत्पादन की वृद्धि हो सकती है। सार्वजनिक व्यय द्वारा जन-तथा-आय के वितरण में उन्नति हो सकती है, जिसके फलस्वरूप उत्पादन की कुशलता बढ़ सकती है तथा श्रमिकों की कार्य करने की क्षमता में उन्नति हो सकती है जिससे राष्ट्रीय आय बढ़ती है।

राजकीय व्यय द्वारा वर्गीकरण

राज्य की व्यय नीति का अध्ययन करने के लिए सार्वजनिक व्यय का एक वैज्ञानिक वर्गीकरण करना उपयुक्त तथा आवश्यक है। सार्वजनिक व्यय के बहुत उद्देश्य होते हैं। वे सब आर्थिक नहीं होते, किन्तु उन सबके आर्थिक प्रभाव होते हैं तथा उनकी आर्थिक लागत होनी है। लोक व्यय का वर्गीकरण बहुत कुछ हद तक इस बात पर निर्भर है कि वह किन उद्देश्यों को दृष्टि में रखकर किया जाता है। इस दृष्टि में लोक व्यय के निम्न वर्गीकरण किये जा सकते हैं।

(1) वह व्यय जो सामाजिक जीवन को एक भीषण प्रकार के आन्तरिक अथवा बाह्य आक्रमण से सुरक्षित रखने के लिए किया जाता है, उदाहरण के लिए पुलिस तथा प्रतिरक्षा सम्बन्धी व्यय।

(2) ऐसा व्यय जो सामाजिक जीवन की उन्नति के लिए किया जाता है। इस श्रेणी में शिक्षा, चिकित्सा, यातायात आदि बातों पर किया हुआ व्यय आयेगा।

व्यय का वर्गीकरण प्राथमिक तथा गौण श्रेणियों में भी किया जाता है। पहली श्रेणी में वह सब खर्च आयेगा, जिसे राज्य देश में शान्ति रखने के लिए अपने प्राथमिक कार्यों के लिए करता है। देश में शान्ति स्थापित करने के लिए तथा बाह्य आक्रमण से बचने के लिए राज्य पुलिस तथा सेना पर व्यय करता है। सामाजिक सेवाओं पर तथा विकासशील कार्यों पर होने वाला व्यय गौण अथवा द्वितीय श्रेणी में आता है।

समाज सुरक्षा सम्बन्धी व्यय, चिकित्सा, शिक्षा, बीमारी तथा बेरोजगारी का बीमा, पेन्शन तथा ऐसी ही जन-कल्याण सम्बन्धी बातों पर किया जाता है। संसार के विभिन्न देशों में मन्दी काल के पश्चात् इस व्यय में बहुत वृद्धि हुई है। इसके कारण राज्य के विभिन्न अंगों में वित्तीय समस्याएँ पैदा हो गई हैं। इस व्यय के लिए वित्त अथवा धन ऊँची श्रेणी की लोक सेवाओं से नीची श्रेणी की लोक सत्ताओं को अनुदान के रूप में दिया जाता है। उदाहरण के लिए प्रदेशीय सरकार नगर पालिकाओं तथा जिला परिषदों को शिक्षा आदि के लिए आर्थिक सहायता देती हैं।

वितरण के दृष्टिकोण से समाज सुरक्षा पर व्यय बहुत महत्वपूर्ण है। इससे औद्योगिक तथा उत्पादक क्षमता की वृद्धि होती है तथा सामाजिक न्याय प्राप्त होता है। भारत में अभी तक अनैच्छिक (involuntary) बेरोजगारी के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करने के लिए बेरोजगारी बीमा की व्यवस्था नहीं है। 1948 में भारत में औद्योगिक श्रमिकों के लिए स्वास्थ्य बीमा का श्री गणेश हुआ था जिसका बराबर प्रसार हो रहा है। सरकारी कर्मचारियों को छोड़कर अन्य बड़े व्यक्तियों के लिए पेन्शन की भी व्यवस्था नहीं है तथा सभी पिछड़े हुए वर्गों के बच्चों के लिए नि:शुल्क भूष प्रदान करने की भी व्यवस्था नहीं है। प्रारम्भिक शिक्षा भी सब जगह अनिवार्य नहीं हो सही है।

विकाशशील व्यय के अन्तर्गत ऐसा व्यय आता है जो देश की आर्थिक वृद्धि करता है। इस श्रेणी में यातायात, सिंचाई तथा अन्य लोक कार्यों पर, डाक तार पर, कृषि तथा उद्योगों के लिए अनुमोदन सम्बन्धी व्यय आता है।

निकल्मन द्वारा वर्गीकरण

निकल्मन के अनुसार सामाजिक व्यय का चार वर्गों में विभाजन किया गया है। इन वर्गीकरण का आधार व्यय के फलस्वरूप लोक सत्ता को प्राप्त होने वाली आय है। इस लेखक के अनुसार पहली श्रेणी में वह खर्च आता है जिससे लोक सत्ता को कोई प्रत्यक्ष आय नहीं मिलती, जैसे गरीब व्यक्तियों के लिए दी गई आर्थिक सहायता। सामाजिक व्यय भी इस श्रेणी में आता है जिसके फलस्वरूप अप्रत्यक्ष हानि भी होती है।

दूसरी श्रेणी में वह खर्च आता है जिससे प्रत्यक्ष रूप में कोई आय तो प्राप्त नहीं होती, किन्तु अप्रत्यक्ष रूप में आय प्राप्त होती है, जैसे शिक्षा पर व्यय। इस व्यय से श्रम की कुशलता बढ़ती है जिससे उत्पादन में वृद्धि होती है तथा फलस्वरूप आय की वृद्धि होती है।

तीसरी श्रेणी में वह व्यय आता है जिससे आर्थिक रूप में प्रत्यक्ष आय होती है। उदाहरण के लिए ऐसी शिक्षा जो पूर्णतया नि:शुल्क नहीं है तथा जिससे शुल्क प्राप्त होता है, उस शुल्क से शिक्षा के कुल व्यय की पूर्ति नहीं हो पाती। उद्योगों को राज्य द्वारा दी गयी आर्थिक सहायता पर व्यय भी इसी श्रेणी में आता है।

चौथी श्रेणी में वह व्यय आता है जिसके फलस्वरूप पूरी आय प्राप्त होती

है अथवा जिससे लाभ भी होता है। राज्य द्वारा संचालित उद्योग इसी श्रेणी में आते हैं। भारत में राजकीय उद्योगों पर बहुत व्यय किया जा रहा है। बड़े-बड़े छोटे और फैलाद के तथा विद्युत शक्ति के निर्माण के कारखाने इसी श्रेणी में आते हैं किन्तु इनसे जितना लाभ होना चाहिए उतना अभी हो नहीं रहा है।

प्रोफेसर प्लेहन द्वारा वर्गीकरण

इस लेखक के अनुसार लोक व्यय की कसौटी अथवा आधार उससे होने वाला जनता का लाभ अथवा हित है।

पहली श्रेणी में वह व्यय आता है जिससे सबका हित होता है, जैसे सेना, आन्तरिक सुरक्षा तथा सड़को आदि पर व्यय।

दूसरी श्रेणी में वह व्यय आता है जिसके फलस्वरूप कुछ ही वर्गों को विशेष लाभ होता है, उदाहरण के लिए गरीबों को दी गयी आर्थिक सहायता।

तीसरी श्रेणी में वह व्यय आता है जिससे कुछ वर्गों को विशेष लाभ होता है तथा समाज को सामान्य लाभ होता है, उदाहरण के लिए न्याय प्रशासन पर व्यय।

चौथी श्रेणी में वह व्यय आता है जिससे उन्हीं व्यक्तियों को विशेष लाभ प्राप्त होता है जो उससे उत्पादित वस्तु का उपयोग करते हैं। इसका अभिप्राय राज्य द्वारा संचालित उद्योगों से है।

उत्पादक तथा अनुत्पादक व्यय

उत्पादक व्यय वह है जिससे लोक सत्ता को इतनी आय प्राप्त होती है जिसके फलस्वरूप लगी हुई पूँजी पर व्याज तथा पूँजी की किस्तों का भुगतान हो सके। इसके अतिरिक्त कारखानों के प्रसार के लिए कुछ लाभ भी होना चाहिए, जिससे राजकीय उद्योगों की उन्नति हो सके। यदि व्याज तथा पूँजी की किस्तों के भुगतान के लिए पर्याप्त आय प्राप्त नहीं होती अथवा दीर्घ काल में उद्योगों में हानि होती है ऐसी दशा में व्यय अनुत्पादक कहा जायेगा। किन्तु कुछ ऐसे राजकीय व्यवसाय हैं जिनका समाज के प्रति महत्त्व उनसे होने वाले लाभ को कगौटी नहीं मानना चाहिए, उदाहरण के लिए पीने के पानी की व्यवस्था। नागरिकों के पीने के लिए स्वच्छ पानी की व्यवस्था आवश्यक है। हो सकता है इससे प्राप्त होने वाली आय, इस पर होने वाले व्यय की पूर्ति न कर सके। ऐसी दशा में घाटे की पूर्ति के लिए राज्य से आर्थिक सहायता प्राप्त होनी चाहिए।

डा० डाल्टन द्वारा वर्गीकरण

डा० डाल्टन ने लोक व्यय का वर्गीकरण कई वैकल्पिक सिद्धान्तों के आधार पर किया है तथा इन्होंने व्यय की निम्न श्रेणियाँ दी हैं।

(1) वह व्यय जो सामाजिक जीवन को उद्योगों का तय बनावे रखने के लिए आवश्यक है तथा वह व्यय जो सामाजिक जीवन को अच्छा बनाता है, उदाहरण के लिए पुलिस, सेना तथा शिक्षा आदि पर खर्च।

(2) कार्यात्मक वर्गीकरण—यह वर्गीकरण लोक सत्ताओं के कार्यों अथवा

कर्तव्यों पर आधारित है। उदाहरण के लिए राज्य को देश में शान्ति स्थापित करने के लिए तथा बाह्य आक्रमण से बचने के लिए पुलिस तथा सेना की व्यवस्था करना आवश्यक है।

(3) विभागीय वर्गीकरण—यह प्रशासनिक विभागों के व्यय पर आधारित है इसके अनुसार सरकार के विभिन्न स्तरों पर प्रशासन के दृष्टिकोण से विभागों का विभाजन होता है जिसमें समय समय पर परिवर्तन होते रहते हैं। भारत में प्रशासनिक सुधार आयोग ने इस सम्बन्ध में बहुत सिफारिशें की हैं।

यह बात निश्चित है कि कर्तव्यों का वितरण निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार नहीं हो सकता तथा इसमें समय समय पर परिवर्तन होते रहते हैं। एक विभाग के संचालन का व्यय निकालना बहुत कठिन है। व्यय के बहुत से मद कई विभागों के लिए होते हैं। इसलिए किसी विशेष विभाग के व्यय का पता दूसरे विभागों के कुछ मदों को लेकर ही लग सकता है, उदाहरण के लिए, सरकारी पाठशालाओं के भवन निर्माण का व्यय लोक कार्य विभाग के अन्तर्गत आता है, किन्तु यह प्रशासनिक व्ययों का मामला है, जिसमें जाने की आवश्यकता नहीं है।

(4) वैकल्पिक तथा अनिवार्य व्यय (Optional and Compulsory Expenditure)—वैकल्पिक व्यय वह है जो लोक सत्ता की इच्छा के अनुसार घटाया बढ़ाया जा सकता है। किन्तु अनिवार्य व्यय में इस प्रकार से परिवर्तन नहीं हो सकते। किन्तु यह अन्तर केवल एक दिग्गो का अन्तर है तथा अनिवार्य व्यय सम्बन्धी कानूनों में भी परिवर्तन हो सकते हैं।

(5) वास्तविक अथवा सर्वांगीण (Exhaustive) व्यय तथा अन्तरण (Transfer) व्यय—वास्तविक व्यय के अन्तर्गत वस्तुओं तथा सेवाओं का उपयोग होता है जिनका उपयोग अन्य उद्देश्यों के लिए हो सकता था, उदाहरण के लिए अस्त्र-शस्त्रों तथा शिक्षा पर व्यय। अन्तरण (transfer) व्यय के अन्तर्गत वस्तुओं तथा सेवाओं का अन्तरण एक व्यक्ति से दूसरे को होता है। पेन्शन तथा लोक ऋण पर तथा व्याज के भुगतान के व्यय भी इस श्रेणी में आते हैं। इसके लिए धन एक वर्ग के व्यक्तियों से करो के रूप में प्राप्त होता है तथा यह धन राज्य के ऋण दाताओं तथा पेन्शन पाने वालों को दे दिया जाता है। इसके अनुसार क्रय शक्ति का अन्तरण एक वर्ग से दूसरे को होता है। यदि व्याज का भुगतान विदेशियों को होता है, तो यह व्यय कर देने वाले समाज की दृष्टि से वास्तविक अथवा सर्वांगीण (exhaustive) व्यय है, क्योंकि इसके अन्तर्गत कर देने वाले समाज के वे साधन समाप्त हो जाते हैं जो भुगतान उस ही देश में होने पर वहाँ के नागरिकों के लिए उपलब्ध हो सकते थे।

अनुदान तथा प्रय कीमतें (Grants and Purchase Prices)—राज्य द्वारा ऐसा खर्च भी किया जाता है जिसके बदले में जिन व्यक्तियों अथवा वर्गों के लिए यह खर्च किया जाता है उनसे कोई सेवा अथवा वस्तु न मिले। राज्य बड़े व्यक्तियों को पेन्शन देता है तथा बीमारी तथा बेकारी के बीमा के खर्च की पूर्ति के लिए

आय से अनुदान देता है। इन भुगतानों के लिए राज्य को कोई प्रत्यक्ष प्रतिफल नहीं मिलता। इस व्यय को अनुदान की श्रेणी में लाया गया है। अनुदान का रूप चिकित्सा अथवा शिक्षा सम्बन्धी सेवाएँ हो सकती है अथवा यह नकद धन के रूप में भी दिया जा सकता है।

इसके विपरीत राज्य को भुगतान अथवा सेवा के बदले में प्रत्यक्ष रूप में कोई वस्तु अथवा धन प्राप्त हो सकता है। लोक सत्ता अपने कर्मचारियों को वेतन देती है। इस व्यय को क्रय कीमत कहते हैं। अनुदान की व्यवस्था में खर्च निम्न आता है। राज्य निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था करता है तथा शिक्षकों को वेतन देता है। शिक्षक सेवाएँ प्रदान करते हैं जो इस भुगतान का प्रत्यक्ष प्रतिफल है। ये अनुदान सम्बन्धी क्रय कीमतों के उदाहरण हैं।

लोक अथवा सार्वजनिक ऋण पर व्याज भी क्रय कीमत की श्रेणी में आता है, क्योंकि इसका भुगतान सार्वजनिक ऋण पत्रों में विनियोग के प्रतिफल के रूप में दिया जाता है। व्यक्ति अथवा संस्थाएँ राज्य को ऋण उधार देती हैं जिसके बदले में उन्हें व्याज मिलता है। यह व्याज वर्तमान काल के दृष्टिकोण से अनुदान कहा जा सकता है, क्योंकि व्याज के भागियों को वर्तमान में लोक सत्ता अथवा राज्य को इसके बदले में कोई प्रतिफल नहीं मिलता। इसके विपरीत, शोधन निधि (sinking fund) का इस्तेमाल भुगतानों को लोक ऋण पत्र खरीद कर उन्हें समाप्त करने के लिए किया जाता है।

इस प्रकार लोक व्यय का वर्गीकरण कई प्रकार से किया गया है। प्रो० निकलसन का आधार व्यय से लोक सत्ता को प्राप्त होने वाली आय है; किन्तु प्लेहन के अनुसार इस वर्गीकरण का उद्देश्य व्यय से राज्य को होने वाला लाभ है। डा० डाल्टन ने कई कसोटियों का आधार के रूप में सुझाव दिया है। इस वर्गीकरण में कोई कड़ाई (rigidity) नहीं है। लोक व्यय का औचित्य अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त की दृष्टि से ही आँका जा सकता है। व्यय उचित है अथवा नहीं उसकी कसोटी व्यय से होने वाला अधिकतम सार्वजनिक लाभ अथवा हित ही हो सकता है।

लोक व्यय के प्रभाव

लोक अथवा सार्वजनिक व्यय का आर्थिक समृद्धि पर प्रभाव पड़ता है। इसके उत्पादन, वितरण, स्थायित्व तथा रोजगार पर प्रभाव होते हैं, जिनका प्रभाव आर्थिक समृद्धि पर पड़ता है। लोक व्यय के औचित्य की कमीटी उससे होने वाले आर्थिक कल्याण पर प्रभाव ही है। वित्तीय तथा बजट नीति का निर्देशन रोजगार के अवसर बढ़ाने के लिए किया जाता है। इसलिए यह नीति आर्थिक स्थायित्व प्रदान करने का एक शक्तिशाली साधन है।

व्यय बढ़ने से आर्थिक समृद्धि बढ़ती है या नहीं और यदि बढ़ती है तो किस हद तक यह व्यय की वृद्धि के स्वरूप तथा दिशा पर निर्भर है। सेना तथा आन्तरिक सुरक्षा पर व्यय की वृद्धि से आर्थिक कल्याण की वृद्धि होना अनिवार्य नहीं है। सेना

पर व्यय की वृद्धि से आर्थिक समृद्धि घट भी सकती है, क्योंकि जो साधन सेना पर व्यय में इस्तेमाल होते हैं वे उत्पादन बढ़ाने में इस्तेमाल हो सकते थे, जिसके फल-स्वरूप राष्ट्रीय आय की वृद्धि होती। इसके अतिरिक्त सेना पर होने वाले व्यय से वार्षिक विध्वंस भी हो सकता है जैसाकि पिछले संसार व्यापी समर में हुआ था। समर के कारण मानवीय शक्ति का उपयोग उत्पादन के वजाय अनुत्पादक दिशाओं में होता है। यह भी सच है कि बाह्य आक्रमण को रोकने के लिए प्रतिरक्षा सम्बन्धी व्यय आवश्यक है। सामाजिक जीवन का सुव्यवस्थित संचालन भी इसी से हो सकता है। यदि किसी देश की प्रतिरक्षा व्यवस्था पर्याप्त नहीं है तो पड़ोसी देश उस पर आक्रमण द्वारा उसकी अर्थ-व्यवस्था को नष्ट कर सकता है, जिसके फलस्वरूप उत्पादन को हानि होगी तथा आर्थिक कल्याण को भी क्षति पहुँचगी।

संसार के देशों में प्रतिरक्षा व्यय में बहुत वृद्धि हो रही है। सुरक्षा सापेक्षिक है। इसलिए यदि सभी देश प्रतिरक्षा व्यय में 40 प्रतिशत वृद्धि कर देते हैं तो ऐसी दशा में सुरक्षा में वृद्धि नहीं होगी। इनके विपरीत युद्ध की सम्भावना बढ़ती है, क्योंकि विशाल सेनाओं के होने से तनातनी बढ़ती है। दूसरे, यदि अस्त्र-शस्त्रों में आनुपातिक रूप में कमी होती है, तो युद्ध की सम्भावना कम हो जाती है।

लोक व्यय तथा उत्पादन—लोक व्यय का उत्पादन पर, श्रमिकों की कार्य क्षमता तथा जनता की वचत की क्षमता के द्वारा प्रभाव होता है। जिस व्यय से जनता की कुशलता बढ़ती है उससे उत्पादन बढ़ता है। शिक्षा, चिकित्सा, बेरोजगारी तथा बीमारी सम्बन्धी बीमा पर व्यय से हिताधिकारियों की कुशलता बढ़ती है। इससे उन्हें कार्य करने का प्रोत्साहन मिलता है, जिसके फल-स्वरूप उत्पादन में वृद्धि होती है।

इस व्यय से हिताधिकारियों की धन बचाने की क्षमता भी बढ़ती है, जिससे पूँजी का निर्माण होता है : पूँजी निर्माण से विनियोग की वृद्धि होती है, जिससे उत्पादन, राष्ट्रीय आय तथा रोजगार की वृद्धि होती है।

लोक व्यय का व्यक्तियों की कार्य करने की तथा धन बचाने की इच्छा पर भी प्रभाव पड़ता है। कुछ ऐसा व्यय भी होता है जिससे कार्य करने तथा वचत करने की इच्छा नहीं बढ़ती। इस श्रेणी में युद्ध सम्बन्धी पेंशन तथा युद्ध कालीन ऋण पर व्याज आते हैं। इसके विपरीत ऐसे व्यय से कार्य करने तथा वचत करने की इच्छा कम हो सकती है। ऐसा तब होता है जब प्रयास के रूप में आय की माँग बेजोच होती है। जब व्यक्तियों का जीवन स्तर बहुत कम होता है, तब यह स्थिति आती है। थोड़ी स्थिर आय से ही ऐसे व्यक्ति संतुष्ट हो जाते हैं तथा वे कार्य करने को तैयार नहीं होते। भारत में कुछ श्रेणियों के व्यक्ति अब भी ऐसे हैं जिनका जीवन स्तर बहुत कम है तथा वे श्रम करने को प्रोत्साहित नहीं होते। मजदूरी बढ़ने से वे छुट्टियाँ अधिक लेते हैं तथा काम पर अनुपस्थित रहते हैं। किन्तु अब श्रमिकों में परिवर्तन आ रहा है, क्योंकि उनके जीवन स्तर धीरे-धीरे बढ़ रहे

हैं तथा शिक्षा तथा मनोरंजन सम्बन्धी सुविधाओं का उन पर प्रभाव दृष्टि में आता है।

भविष्य में बिना शर्त निश्चित अनुदान की प्रत्याशा का भी प्रभाव होता है, किन्तु अनुदान विरले ही शर्त रहित होते हैं बीमारी तथा बेरोजगारी के भत्ते तभी देय होते हैं जब व्यक्ति बीमार हो अथवा अनैच्छिक रूप में बेरोजगार हो। भत्ते मिलने की कुछ शर्तें होती हैं तथा ये भत्ते एक सीमित काल के लिए ही मिलते हैं। इन अनुदानों के मिलने से कार्य करने की इच्छा नहीं घटेगी। ऐसे भी अनुदानों की व्यवस्था हो सकती है जो पाने वाले के भावी प्रयासों के साथ बढ़ते रहें। इसका उदाहरण आय अर्जन पर आर्थिक सहायता देना है। इनसे कार्य करने तथा धन बचाने की इच्छा में वृद्धि होगी जब तक कि आय की मांग बहुत ही बेलोच न हो, किन्तु ये भुगतान बहुत व्यावहारिक नहीं होते।

सार्वजनिक व्यय के द्वारा साधनों का एक कारोबार अथवा एक स्थान से दूसरे को अपवर्तन (Transfer) होता है। उदाहरण के लिए युद्ध सामग्री पर व्यय में वृद्धि होने से साधन उत्पादक कार्यों से हटाये जाते हैं, जिससे उत्पादन तथा आर्थिक कल्याण को क्षति पहुँचती है। फलस्वरूप श्रम तथा पूँजी का आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन से अपवर्तन होता है।

कुछ उद्योगों को राज्य आर्थिक सहायता देता है, अथवा लोक उद्योगों को नुकसान पर चलाया जा सकता है, जिसकी पूर्ति कराधान द्वारा की जा सकती है। साधनों के इस प्रकार के अपवर्तन से लाभ होता है। इससे ऐसे उद्योग पनपते हैं जिनका देश की आर्थिक उन्नति पर बहुत प्रभाव पड़ता है। यह अपवर्तन भविष्य के लिए लाभदायक होता है। राज्य ही विकासशील योजनाओं पर व्यय करने के लिए धन जुटा सकता है। सड़को, विद्युत शक्ति तथा सिंचाई की योजनाओं पर बहुत धन व्यय होता है, जिस पर बहुत समय तक लाभ नहीं हो पाता। अतः ऐसी योजनाओं के लिए राज्य ही धन का संचय कर सकता है। निजी उद्योग द्वारा यह संभव नहीं होता।

राज्य द्वारा बहुत सी सेवाओं की निःशुल्क अथवा लागत से कम कीमत पर व्यवस्था हो सकती है। ऐसी दशा में इन सेवाओं की मांग बढ़ती है। तब राज्य को इनका राशन करना होगा या उनका उत्पादन बढ़ाना होगा। उत्पादन बढ़ाने के लिए साधनों का अन्य रोजगारों से इनके लिए अपवर्तन करना होगा, जो सरलता से सम्भव नहीं हो सकता। इसलिए ऐसी वस्तुओं की ही लागत से कम कीमत पर देने की व्यवस्था हो सकती है जिनकी मांग बेलोच हो, जो कीमत कम होने से बहुत नहीं बढ़ती। विकल्प में मांग पर ऐसा नियन्त्रण करना होगा जिससे वह आपूर्ति से अधिक न हो जाये।

राज्य साधनों के अपवर्तन से भौतिक पूँजी तथा मानवीय पूँजी में संतुलन कर सकता है। शिक्षा तथा मनोरंजन कार्यों पर राज्य ही पर्याप्त मात्रा में धन व्यय

कभी-कभी समाज में मौसम के अनुसार जीवस की संख्या बदलती है। कुछ बेरोजगार व्यक्तियों को अन्य उद्योगों में रोजगार मिल जाता है, किन्तु सदा ऐसा नहीं होता। इसे मौसमी बेरोजगारी कहते हैं। भारत में कृषि में किसानों को वर्ष में 4,6 महीने रोजगार नहीं मिलता। इसे छिपी बेरोजगारी (disguised employment) कहते हैं।

व्यावहारिक रूप में अपर्याप्त मांग के तथा संरचना-मूलक, घर्षणात्मक (frictional) तथा मौसमी बेरोजगारी में अन्तर स्पष्ट नहीं होता। श्रम की कुल मांग बढ़ने पर संरचनामूलक, घर्षणात्मक तथा मौसमी बेरोजगारी भी मांग की कमी की बेरोजगारी के साथ-साथ घटती है। संरचनामूलक बेरोजगारी प्रक्रिया के प्रसार के कारण घटेगी। श्रमिक नये कामों में चले जायेंगे। घर्षणात्मक बेरोजगारी इसलिए घटेगी क्योंकि बेरोजगार व्यक्तियों को उनकी योग्यतानुसार सरलता से रोजगार मिल जायेंगे। मौसमी बेरोजगारी इसलिए घटेगी क्योंकि बेरोजगार व्यक्तियों को अन्य काम में लगाने के सरलता से अवसर मिल जायेंगे।

बेरोजगार व्यक्तियों की विशेषता के अंक ऐसे विश्वसनीय नहीं हैं कि यह पता लग सके कि किस कारण से कितने व्यक्ति बेरोजगार हैं। किन्तु इन श्रेणियों के अन्तर का ज्ञान नीति के चयन के लिए आवश्यक है। संरचनामूलक असमजन, मौसमी तबदीली तथा घर्षणात्मक बेरोजगारी जितनी अधिक होगी, उतने ही अधिक रिक्त स्थान बेरोजगारी को कम करने के लिए आवश्यक होंगे।

दो तथ्यों का बेरोजगारी के सम्बन्ध में विशेष महत्त्व है, पहला, श्रम वर्ग की वृद्धि की दर तथा दूसरा, तकनीकी परिवर्तनों की प्रगति। भारत में गत वर्षों में श्रम वर्ग की वृद्धि की गति के अंकों का अनुमान किया जाता था, जिसके आधार पर बेरोजगारी के अंक पंचवर्षीय योजनाओं में प्रस्तुत किये जाते थे। चौथी पंचवर्षीय योजना में ये अंक प्रस्तुत नहीं किये गये, क्योंकि योजना आयोग की उपसमिति की, जिसकी स्थापना अगस्त 1968 में हुई थी, रिपोर्ट अभी नहीं आयी। दूसरे, पहली योजनाओं के बेरोजगारी से सम्बन्धित अंक अनुमान (guess) के रूप में ही थे, उनका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं था।² एम्प्लायमेंट एक्स्पेन्सिज की सूचना के आधार पर रोजगार की वृद्धि 1961 में लगभग 1 करोड़ 20 लाख से 1968 में 1 करोड़ 63 लाख हुई। तकनीकी परिवर्तनों से तत्काल ही बेरोजगारी बढ़ेगी या घटेगी यह कहना बहुत मुश्किल है, किन्तु अन्त में बेरोजगारी घटनी चाहिए। इसके साथ-साथ यह भी समझना चाहिए कि तकनीकी परिवर्तन सदा होते ही रहते हैं।

भारत में रोजगार की समस्या बड़ी जटिल है। इसका सम्बन्ध जनसंख्या की वृद्धि की गति से भी बहुत कुछ है जिस पर रोकथाम बहुत जरूरी है। चौथी

पंचवर्षीय योजना में जन सरया की वृद्धि की गति लगभग 2.5 प्रतिशत प्रति वर्ष रहेगी। यह दर 1980-81 तक घटकर 1.7 प्रतिशत तक रह जायेगी। इस अनुमान का आधार यह है कि जन्म दर 1968 में 39 प्रति हजार से घटकर 1980-81 में 26 प्रति हजार तक आ जायेगी तथा मृत्यु दर इस काल में 14 प्रति हजार से घटकर 9 प्रति हजार तक आ जायेगी। परिवार नियोजन कार्यक्रमों के आधार पर जन्म दर इससे भी अधिक तीव्र गति से घटने की आशा की जा सकती है, जिसका सुदूर भविष्य में बहुत अधिक महत्त्व होगा।

बेरोजगारी कम करने के अन्य उपाय भी हैं। मुद्रा, साख तथा राजकोषीय नीतियों द्वारा मांग के पर्याप्त स्तर तथा आर्थिक वृद्धि आवश्यक है। इसके लिए ऐसे प्रोग्राम भी आवश्यक हैं जिनके द्वारा सरचनामूलक बेरोजगारी के उपाय निरिदष्ट हैं। राजकोषीय नीति तथा बेरोजगारी

सामान्य अर्थ में राजकोषीय नीति शासकीय आय तथा व्यय में परिवर्तनों के तथा घाटे तथा बचत के बजट के आर्थिक प्रक्रिया पर होने वाले प्रभावों के अध्ययन से सम्बन्धित है। व्योरेवार राजकोषीय नीति के विश्लेषण में आय तथा व्ययों के गठन में परिवर्तनों से आर्थिक प्रक्रिया के स्तरों पर होने वाले प्रभावों तथा शासन के विभिन्न स्तरों की राजकोषीय नीति के आर्थिक प्रभावों का समावेश निहित है। देश की बजट नीति का आर्थिक स्थिति पर गहरा प्रभाव पड़ता है। राष्ट्रीय आय में घट-वृद्ध होने से करो की आय तथा अंतरण सम्बन्धी भुगतानों में स्वतः परिवर्तन होते हैं। राजकोषीय नीति का आर्थिक स्थायित्व में विशेष योग है। इस सम्बन्ध में 1930 के दशक के मन्दी काल की अपेक्षा उत्तर युद्ध काल में ज्ञान की अधिक वृद्धि हुई है। प्रमुख मुद्रा स्थितियों तथा मन्दी काल में राजकोषीय समंजसों द्वारा कीमतों की उत्पादन तथा रोजगार की घट-वृद्ध में तथा आर्थिक वृद्धि की उन्नति में प्रयासों द्वारा सफलता की आशा हो सकती है।

सर्घीय बजट का देश की आर्थिक स्थिति पर प्रभाव पड़ता है। राष्ट्रीय तथा प्रति व्यक्ति आय के घटने-वृद्धि से करो की आय में तथा अंतरण सम्बन्धी भुगतानों में परिवर्तन होते हैं। करो तथा व्यय के कार्यक्रमों में जानबूझ कर किये गये परिवर्तनों का भी आर्थिक स्थिति पर प्रभाव पड़ता है। बजट सम्बन्धी स्वचालित तथा विवेकशील (discretionary) तथ्यों के कारण समृद्धि काल में बचत हुई है तथा मन्दी काल में घाटे रहे हैं। बचत द्वारा मुद्रा स्थिति पर रूकावट हुई है, तथा घाटे के बजट से मन्दी में कमी आई है तथा आर्थिक स्थिति के सुधरने में सहायता मिली है।

स्वतः चालित स्थायित्व सम्बन्धी घटक (AUTOMATIC STABILIZERS)

कर तथा व्यय की सरचना ज्यों की त्यों रहने पर कुल उत्पादन तथा आय के परिवर्तनों से करो से आय तथा कुछ व्ययों में स्वचालित परिवर्तन होते हैं। करो

की आय उत्पादन तथा मांग में वृद्धि होने से बढ़ती है तथा इनमें कमी आने से घटती है, किन्तु कुछ व्यय ऐसे है जो उत्पादन तथा मांग के परिवर्तनों के विपरीत दशा में चलते हैं, अर्थात् उत्पादन की वृद्धि होने से वे कम होते हैं तथा उसमें कमी होने से वे बढ़ते हैं। उदाहरण के लिए व्यक्तियों की आय के घटने पर करों की आय घटती है, किन्तु बेरोजगारी सम्बन्धी भुगतान बढ़ते हैं, क्योंकि बेरोजगार व्यक्तियों के लिए मुआवजा देना होता है। इसलिए जितनी कमी राष्ट्रीय आय में आती है उतनी उम आय में नहीं आती, जो व्यक्तियों के खर्च के लिए उपलब्ध होती है। व्यक्तियों की आय के बढ़ने से करो की आय बढ़ती है, किन्तु बेरोजगारी के भुगतान घटते हैं। इस प्रकार अर्थ-व्यवस्था के निजी क्षेत्र में आय के घट-बढ़ के पूरक प्रभाव करों अथवा व्यय सम्बन्धी प्रोग्रामों में प्रशासनिक अथवा वैधानिक परिवर्तनों के बिना ही होते रहते हैं। इन्हें स्वचालित स्थायित्व घटक कहते हैं।

करो की दर जितनी अधिक होती है, दर रचना जितनी अधिक वृद्धिमान होती है, चक्र के घुमावों के अनुरूप कर आधार उतना ही प्रतिक्रियाशील होता है। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय आय के परिवर्तन बदलती हुई करों की आय के कारण अपना प्रभाव अर्थ-व्यवस्था पर विशेष रूप में नहीं डाल सकेंगे। दूसरे शब्दों में, ऐसी दशा में आर्थिक स्थिति राष्ट्रीय आय के परिवर्तनों को सहन करने में अधिक शक्तिशाली होगी। बेरोजगारी के भुगतान मजदूरी के जितने निकट होंगे, बेरोजगारी का उतना ही कम प्रभाव उस आय पर होगा जिसे व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं के लिए व्यय करेंगे। लेकिन मार्जिन पर करो की दर आय से बहुत कम होती है तथा बेरोजगारी के भुगतान मजदूरी से बहुत कम होते हैं, राष्ट्रीय आय के परिवर्तनों का प्रभाव करों तथा अंतरण सम्बन्धी भुगतानों द्वारा आंशिक रूप में ही समाप्त हो पाता है। फिर भी स्वचालित राजकोपीय स्थायित्व घटक आय की कमी के प्रभाव को कम कर देते हैं। वे अर्थ-व्यवस्था के सुधरने में सहायक होते हैं। इनकी अनुपस्थिति में आर्थिक स्थिति अधिक विगड़ सकती थी। जब अर्थ-व्यवस्था सिबुड़ती है तब इन स्थायित्व के घटकों की उपयोगिता बहुत होती है, लेकिन जब अर्थ-व्यवस्था में मन्दी के पश्चात् प्रसार होने लगता है तब संघीय कर प्रणाली से स्वतः ही निजी क्षेत्र में व्यय के लिए उपलब्ध आय की वृद्धि में कमी हो जाती है, क्योंकि अर्थ-व्यवस्था के पुनरोत्थान से राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय बढ़ती है, लेकिन प्रति व्यक्ति आय के बढ़ने के साथ-साथ कर अधिक देने होते हैं। अतः व्यक्तियों की व्यय क्षमता बहुत नहीं बढ़ती। इसलिए अर्थ-व्यवस्था में प्रसार धीरे-धीरे हो पाता है।³ अर्थ-व्यवस्था के पुनरोत्थान काल में ये घटक मुद्रा स्फीति के दबाव में बाध्यता बाधा प्रस्तुत करते हैं।

प्रत्येक देश में प्रशासकीय व्यय तथा करो की आय में हाल के वर्षों में कुल

3 For a fuller discussion of automatic stabilizers read pp 122-125, Report of the Commission on Money and Credit, 1963 Ed. (U S A)

राष्ट्रीय उत्पादन की अपेक्षा 1930 से पहले की तुलना में बहुत वृद्धि हुई है। करों की दरों के बढ़ने से राष्ट्रीय आय का बहुत बड़ा भाग सरकार के पास आता है। सरकारी व्यय तथा करों की आय की वृद्धि के कुछ भी अन्य गुण दोष हों, किन्तु यह बात स्पष्ट है कि यह आर्थिक प्रक्रिया के कुल स्तर के अनुपात में जितने अधिक होंगे उतना ही इन स्वतः चालित घटकों का प्रभाव अधिक होगा। उदाहरण के लिए मान लिया जाय कि कर कुल राष्ट्रीय आय का 30% भाग है, इससे यह स्पष्ट है कि कुल राष्ट्रीय आय के उत्पादन में एक निश्चित दर की कमी होने से कर आय की कमी उसकी अपेक्षा कहीं अधिक होगी जबकि कर राष्ट्रीय आय का केवल 10% भाग हो। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय आय के कम होने से व्यक्तियों के व्यय के लिए उपलब्ध आय की कमी कम तीव्र होगी। कुल व्यय में सरकारी व्यय का सापेक्ष स्तर यदि कम है, तो ऐसी स्थिति में विस्तृत उतार चढ़ाव के खिलाफ स्वचालित घटकों द्वारा प्राप्त प्रतिरक्षा कमजोर होगी। उसका कारण यह है कि प्रशासकीय व्यय निजी व्ययों की अपेक्षा अधिक स्थायी होते हैं और चक्र के घुमाव में निजी व्ययों से विपरीत दशा में होते हैं। निजी व्यय मन्दी काल में घटते हैं, किन्तु प्रशासकीय व्यय मन्दी काल में बढ़ते हैं, क्योंकि सरकार को समाज सुरक्षा सम्बन्धी बातों पर ऐसे काल में अधिक खर्च करना होता है।

स्वचालित स्थायित्व सम्बन्धी घटकों की प्रभावशीलता सापेक्ष सरकारी व्यय तथा करों की दरों के स्तर पर ही निर्भर नहीं होती। यह इस बात पर भी निर्भर होती है कि राष्ट्रीय आय के परिवर्तनों के साथ बराधान में किस हद तक परिवर्तन होते हैं। मोटे तौर पर कारपोरेशन आय करों पर राष्ट्रीय आय के परिवर्तनों का बहुत प्रभाव होता है। उसका कारण यह है कि करों से पहले कारपोरेट लाभ राष्ट्रीय आय के परिवर्तनों के लिए विशेष रूप में प्रति संवेदी होते हैं। संवेदनशीलता के क्रम के अनुसार अन्य करों को इस प्रकार रखा जा सकता है : व्यक्तिगत आय कर, बिक्री तथा उत्पादन कर, सम्पत्ति कर।

केन्द्रीय कर, आय का बड़ा भाग भारत में अप्रत्यक्ष करों से प्राप्त होता है, जिनमें केन्द्रीय उत्पादन करों का प्रमुख स्थान है। 1970-71 के बजट के अनुसार भारत सरकार की कुल आयगत आय 3,988 करोड़ रुपये अनुमानित की गई थी, जिसमें संधीय उत्पादन करों से शेष आय राज्यों का भाग घटाकर 2392 करोड़ रुपये थे। अन्य करों की आय का क्रम इस प्रकार है :¹ (करोड़ रुपये में)

सीमा शुल्क	465 00
कारपोरेशन कर	342.00
अन्य आय कर राज्यों का भाग मिलाकर	438 00
राज्यों का भाग	339.17
शेष आय कर	83.83

1 Prepared from Statement 8, p 760, R B I, Bulletin, May 1970.

राज्य सरकारों की आय के अन्य साधन हैं, जिनमें प्रमुख साधन बिक्री कर है। राष्ट्रीय आय के परिवर्तनों के साथ इनकी आय भी बदलती है, किन्तु संघीय करो की आय की अपेक्षा इनमें इतनी संवेदनशीलता नहीं है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि स्वतः चालित स्थायित्व के घटकों का बल रखने के लिए कार्य संघीय स्तर पर होना चाहिए। जब तक कुल सरकारी व्यय का अधिक भाग संघीय सरकार के पास है, स्वतः चालित घटक सापेक्ष रूप में सफल रहेंगे। उसका कारण यह है कि प्रतिरक्षा सम्बन्धी व्यय पर सबसे अधिक खर्च होता है, जिसका दायित्व केन्द्रीय सरकार पर है।

विवेकाधीन राजकोपीय उपाय

(DISCRETIONARY FISCAL MEASURES)

देश की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने में विवेकाधीन राजकोपीय उपायों का भी प्रयोग हो सकता है। इन उपायों में राज्य द्वारा व्यय तथा आय में उपयुक्त परिवर्तन करना है। यह आर्थिक स्थिति को दृष्टि में रखकर ही होना चाहिए। इसमें मुद्रा नीति भी आती है। इन उपायों के गुण तथा दोषों को समझना चाहिए। इन उपायों के विरुद्ध दो आपत्तियाँ हैं। पहली आपत्ति यह है कि आर्थिक पूर्वानुमान इतने परिशुद्ध नहीं होते कि उनके आधार पर कार्य करने से आर्थिक स्थिति को लाभ ही पहुँचे। इनसे हानि भी हो सकती है। किन्तु यह आपत्ति सभी विवेकाधीन उपायों से सम्बन्धित नीतियों के विरुद्ध उठाई जा सकती है। इन नीतियों का सम्बन्ध मौलिक अथवा राजकोपीय बातों से हो, किन्तु राजकोपीय नीति को मिला कर विवेकाधीन उपायों का प्रयोग आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए आवश्यक होता है।

दूसरी आपत्ति यह है कि इन उपायों के निर्माण तथा परिपालन में इतना अधिक समय लगता है कि उन की आवश्यकता ही नहीं रहती। उदाहरण के लिए मन्दी के प्रभाव को दूर करने के लिए कर प्रणाली के बदलने में इतना अधिक समय लग जायेगा कि आर्थिक स्थिति स्वयं सुधरने लगेगी। लेकिन बैधानिक प्रक्रिया में तीव्रता लाकर जल्दी भी परिवर्तन किये जा सकते हैं। इसमें अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन चक्रीय परिवर्तनों तथा दीर्घकालीन संरचनात्मक परिवर्तनों में सीमांकन करना आवश्यक है।

करो तथा सरकारी व्यय में भी परिवर्तन हो सकते हैं जिनसे अर्ध-व्यवस्था में स्थायित्व लया जा सके। राज्यों तथा स्थानीय प्रशासनों के व्यय में परिवर्तन करना अधिक प्रभावशाली हो सकता है। व्यय के सम्बन्ध में एक बात ध्यान में रखनी चाहिए। यदि कोई प्रोजेक्ट शुरू की जाती है तो उसको पूरा करना जरूरी है। यह नीति दीर्घकाल के लिए तो उपयुक्त हो सकती है, किन्तु अल्पकालीन स्थायित्व के लिए उपयुक्त नहीं होगी। व्यय के प्रोग्राम मन्दी काल में शुरू होकर समृद्धि काल में बन्द नहीं किये जा सकते जब तक कि प्रोजेक्ट पूरे न हो जायें। लेकिन इस

सम्बन्ध में सामाजिक प्राथमिकता तथा समय को देखकर भी प्रोग्राम बनाये जा सकते हैं। सामाजिक प्राथमिकता की कमीटी का अर्थ यह है कि अधिकतम उपयोगी व्यय ही पहले लिए जायें। सामाजिक प्राथमिकता के लक्ष्य की शर्त के साथ सर्वाधिक बाछनीय व्यय मन्दी को दूर करने के लिए वे हैं जहाँ थोड़े समय में व्यय का बहुत अधिक अनुपात हो। तभी अर्थ-व्यवस्था के चक्रीय उतार-चढ़ावों पर रोकथाम हो सकती है। योजना तथा बजट सम्बन्धी तकनीकियों में परिवर्तनों द्वारा व्यय नीति को लचीली बनाया जा सकता है।

प्रति चक्रीय उद्देश्यों के लिए व्यय-नीति सम्बन्धी निम्न बातों पर ध्यान देना चाहिए।

(1) जिन योजनाओं को स्थगित किया जा सकता है उनका निर्माण देर भाल कर होना चाहिए। व्यय सम्बन्धी कार्यक्रम कुछ वर्षों के लिए बनने चाहिए, जिससे कार्यकारिणी को समय के सम्बन्ध में विवेक मिल सके।

(2) प्रति चक्रीय व्ययों के लिए प्रोजेक्ट तथा कार्यक्रम तभी होना चाहिए जबकि वे आवश्यक तथा उपयोगी हों। इनका सामयिक प्रतिरूप (time pattern), भी उपयुक्त होना चाहिए। मन्दी को दूर करने के प्रोजेक्टों में प्रारम्भिक काल में व्यय का अनुपात बाद के वर्षों की अपेक्षा अधिक होना चाहिए।

(3) नियोजन तथा बजट की तकनीकियों में परिवर्तन द्वारा व्यय नीति अधिक लचीली होने में सहायता मिलेगी। लोक-कार्यों के लिए अग्रिम धन की सम्भावना पर विचार होना चाहिए।

(4) राज्य तथा स्थानीय शासनो को अपने व्यय सम्बन्धी प्रोग्रामों को प्रति चक्रीय दिशा में सुधार करने के प्रोत्साहन मिलने चाहिए।

वास्तव में कर तथा व्यय नीति द्वारा उत्पादन तथा रोजगार के स्तर तथा कीमतों के उचित स्थायित्व सम्बन्धी स्तर तथा आर्थिक वृद्धि के लक्ष्यों की प्राप्ति में सहायता मिल सकती है। राजकोषीय नीति में कर तथा व्यय सम्बन्धी नीति का विवेचन होता है। इस नीति में शासन के आय व्यय के स्तरों में परिवर्तन तथा बजट में बचत तथा घाटे के परिवर्तनों में आर्थिक प्रक्रिया पर प्रभावों के विवेचन का अध्ययन आता है। राजकोषीय नीति द्वारा अर्थ-व्यवस्था के लक्ष्यों की प्राप्ति में सहायता मिल सकती है।

विकासशील देशों की राजकोषीय समस्याएँ (FISCAL PROBLEMS OF DEVELOPING COUNTRIES)

विकासशील देशों की सबसे कठिन समस्या बजट को संतुलित रखने की है, जिसका मुख्य कारण विकास की लागत की वृद्धि है। इन देशों में सरकार की आय धीरे-धीरे बढ़ती है तथा व्यय के नियन्त्रण में टेक्निकल कठिनाइयाँ हैं। इस सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष इन देशों की समस्याओं का अध्ययन कर रहा है तथा इन्हें उचित सलाह तथा सुझाव भी देता है।

प्रत्येक अलग विकसित देश के निजी ऐतिहासिक पूर्ववृत्त (antecedents) हैं। इनकी अलग-अलग मस्थानिक तथा सामाजिक संरचना है। फिर भी इनकी ऐसी समान समस्याएँ हैं जिनके कारण इनके विकास की गति में बाधा पड़ती है। इनके सामने मुद्रा स्थिति तथा भुगतान के संतुलन में घाटे की दो मुख्य समस्याएँ लगातार बनी रहती हैं। केन्द्रीय सरकार के बजट में अक्सर घाटा रहता है तथा पूरे सांकेतिक क्षेत्र में भी समय-समय पर घाटा रहता है। इससे मुद्रा स्थिति होती है तथा भुगतान के संतुलन में घाटा आता है। इनमें से कुछ देशों ने अपनी कर तथा बजट प्रणालियों को सुधारने के लिए विवेक प्रयास किये हैं। इस सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने उधार नीति तथा स्टैंडबाई व्यवस्था द्वारा ऐसे देशों को अर्थ-व्यवस्था के स्थायित्व के प्रोग्रामों के लिए सहायता दी है जिन्हें सहायता देने के समय भीषण राजकोषीय कठिनाइयाँ हो रही थीं।

कोष ने सदस्य देशों से सम्पर्क स्थापित किए हैं। प्रति वर्ष उनके साथ विचार विमर्श होते हैं, उनकी विशेषतया वित्तीय क्षेत्र की नीतियों तथा समस्याओं की समीक्षा होती है। इस प्रकार कोष को इनकी वित्तीय कठिनाइयों का ज्ञान हो गया है।

ये देश आर्थिक वृद्धि के लिए लोक क्षेत्र के आकार को बढ़ाने के प्रयास करते हैं। केन्द्रीय, प्रादेशिक तथा स्थानीय स्तरों पर राजकोषीय क्षेत्र का प्रसार किया जाता है, किन्तु यह प्रसार कुल राष्ट्रीय उत्पादन के देखते हुए अधिक होता है। तबतः

विकास न होने के कारण लोक अधिकारी पहल करने का प्रयास करते हैं। विकसित देशों में राजकीय क्षेत्र में कुल राष्ट्रीय उत्पादन का 20 प्रतिशत से भी अधिक भाग होता है, किन्तु अधिकांश अल्प विकसित देशों में यह 20 प्रतिशत से बहुत कम रहता है, बल्कि बहुतों में 10 प्रतिशत से भी कम है। लोक क्षेत्र के आकार में दो कारणों से वृद्धि होती है। अवस्थापना निवेश में राजकीय क्षेत्र को ही दायित्व लेना पड़ता है। सिंचाई, विजली, यातायात आदि पर सरकार को ही धन खर्च करना पड़ता है, क्योंकि निजी उद्यमी को इससे लाभ नहीं होता तथा उसके पास इतना धन ही नहीं होता कि ये कार्यक्रम उचित परिमाण में सम्पन्न हो सकें। इनके अतिरिक्त शिक्षा, लोक आरोग्यता तथा मानव-साधनों के विकास के अन्य कार्यक्रमों पर भी धन व्यय किया जाता है।

कुछ सीमा तक ये व्यय धन उधार लेकर भी किये जा सकते हैं तथा विकास साधनों में बाह्य वित्त का भी स्थान है, किन्तु बहुत परिमाण में बाह्य वित्त का उपयोग करना उचित नहीं है, क्योंकि उससे भविष्य में व्यापार अथवा भुगतान सन्तुलन सम्बन्धी कठिनाइयाँ उपस्थित हो सकती हैं। इसके साथ-साथ देश की पूँजी मण्डियों में सीमित परिमाण में ही धन उधार मिल सकता है बढ़ते हुए सार्वजनिक क्षेत्र के व्यय के लिए अधिकतम धन आय प्रणाली द्वारा देश में ही निमित्त होना चाहिए। विकास प्रयास के लिए साधनों के पुनर्बंटवारे की यही मुख्य क्रिया विधि है।

आय सम्बन्धी समस्याएँ—अल्प विकसित देशों में आर्थिक वृद्धि को त्वरान्वित करने के लिए आवश्यक साधनों की व्यवस्था के लिए आय प्रणाली की संरचना बहुत उपयुक्त नहीं है। इनकी आय अर्थ-व्यवस्था के साथ-साथ नहीं बढ़ती। इन देशों में आय प्राप्त करने के लिए सीमा शुल्क पर विदेश रूप में निर्भरता रहती है। भारत में केन्द्रीय आय बजट में उत्पादन करो से सबसे अधिक आय होती है। आयात बढ़ाने के लिए पूँजीगत माल पर कर कम करने होते हैं। कभी-कभी कच्चे माल तथा पूँजीगत माल को आयात करो से मुक्त करना होता है। इसके अतिरिक्त अप्रत्यक्ष करो तथा भूमि करो की रचना पुराने ढंग की ही रहती है, जिससे आय की वृद्धि में बाधा आती है। कीमतों के बढ़ने के साथ-साथ आय नहीं बढ़ पाती। मुद्रा स्फीति काल में सरकार की वित्तीय स्थिति बिगड़ जाती है।

इसके साथ-साथ राजकीय उद्योग अपनी सेवाओं अथवा वस्तुओं की कीमत कम रखते हैं। वे हानि पर चलते हैं तथा उनके व्यय की पूर्ति के लिए केन्द्र से सहायता मिलती है। अब इन देशों में राजकीय उद्योगों की वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमतों की नीतियों में सुधार हो रहे हैं जिससे वे संस्थाओं के निवेश सम्बन्धी प्रोग्रामों के लिए जो देशी सामग्री चाहिए उसके लिए पर्याप्त धन जुटा सकें तथा चालू व्यय की भी पूर्ति कर सकें। लोक उद्योग अपने निवेश सम्बन्धी कार्यक्रमों के लिए आवश्यक विदेशी मुद्रा की व्यवस्था विदेशों से धन उधार लेकर कर सकते हैं।

उदाहरण के लिए बहुत से कार्यों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय वित्त कारपोरेशन तथा अन्तरराष्ट्रीय विकास समुदाय द्वारा विदेशी वित्त प्राप्त हो जाता है। विश्व बैंक भी विदेशी धन उधार देता है।

आय प्रणाली में लोच की कमी अन्य समस्याएँ भी उपस्थित होती हैं। अधिक आय प्राप्त करने के लिए बहुत से अल्प विकसित देशों की सरकारों ने तदर्थ उपायों को अपनाया है, जिससे आय प्रणाली जटिल हो गयी है। इन तदर्थ उपायों (ad hoc measures) में उत्पादन तथा निवेश पर होने वाले प्रतिकूल प्रभावों की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। जटिल कर प्रणाली से निवेश तथा उत्पादन में कमी आती है। ऐसी आय प्रणाली से कुशल उत्पादन की हानि होती है तथा सट्टे के लिए तथा अनुत्पादक निवेश को प्रोत्साहन मिलता है। हमसे कर प्रणाली के प्रशासन की समस्याएँ भी पैदा होनी हैं। कुछ छोटे से अल्प विकसित देशों में अनुभवों तथा कुशल कर प्रशासक हैं, किन्तु जटिल कर प्रणाली के लिए वर्तमान योग्य कर्मचारी उपलब्ध नहीं हैं। इसका फल यह होता है कि बहुत मात्रा में कर अपवंचन (tax evasion) होता है तथा कर प्रणाली का परिपालन साम्याहीन (unequitable) हो जाता है। जनता को जब यह मायूम होना है कि कर अपवंचन हो रहा है तो नियमों को मानने की इच्छा कम हो जाती है। फलस्वरूप कर प्रणाली का प्रशासन कठिन हो जाता है। इस से आय के बढ़ने में कठिनाई होती है।

बजट-प्रणाली का महत्त्व

व्यय के सम्बन्ध में भी अधिकांश अल्प विकसित देशों में राजकोपीय प्रणाली कुशल नहीं है। बजट का वास्तविक उद्देश्य साधनों को सुव्यवस्थित प्राथमिकताओं के अनुसार बांटने का होना चाहिए। लोक व्यय की वृद्धि पर भी नियन्त्रण होना चाहिए। इन व्ययों को ऐसी सीमाओं के अन्दर रखना चाहिए कि उनकी पूर्ति उपलब्ध आय तथा गुद्रा स्फीति रहित ऋणों से हो जानी चाहिए। अल्प विकसित देशों में अक्सर व्यय को अलग-अलग विभागों की दृष्टि से देखा जाता है। निवेश बजट माधारण आय के बजट से प्रथक रखा जाता है। बहुधा ऐसा होता है कि विभिन्न मन्त्रियों अथवा विभागों की प्रार्थनाओं को एकत्र कर दिया जाता है। कभी-कभी विशेष आय विशिष्ट व्यय के लिए तय हो जाती है। कुल बजट व्यय का एक निश्चित प्रतिशत विशेष कार्यक्रमों तथा सस्थाओं के लिए तय हो जाता है। यह सब भी चलता रहता है जब इसकी आवश्यकता भी न रहे।

अल्प विकसित देशों में निश्चित पूँजीगत सम्पत्ति के कुछ वर्षों के लिए लोक व्यय की योजना बनाने के प्रयास किये जा रहे हैं। कभी-कभी इन योजनाओं में उपलब्ध साधनों को देखते हुए कुल लोक व्यय के उचित वितरण की योजना नहीं तैयार होती। इससे व्यय द्वारा उचित उपयोगिता नहीं मिलती तथा अर्थ-व्यवस्था की हानि पहुँचती है।

यह ध्यान रहे कि अल्प विकसित देशों को सभी राजकोपीय कठिनाइयाँ दुर्बल राजकोपीय प्रणाली के कारण नहीं होती। बहुत से अल्प विकसित देशों की आय किसी एक वस्तु के निर्यात पर निर्भर होती है। संसार के देशों में इन मूल वस्तुओं की मांग में बहुत उतार-चढ़ाव होते रहते हैं। उदाहरण के लिए भारत की आय चीनी, चाय तथा जूट की निर्यात पर विशेष रूप से निर्भर है। पश्चिम एशिया के कई देशों की आय का मुख्य साधन तेल की निर्यात है। इन वस्तुओं की कीमतों में विदेशों में कमी होने से आय कम हो जाती है। उससे सीमा शुल्क तथा देरी करों की आय भी कम हो जाती है। इन देशों की आर्थिक स्थिति पर सूफ़ान, भूचाल तथा लगातार सूखा पड़ने से हानि होने से विनीय समस्याएँ जटिल हो जाती हैं। इन राजकोपीय समस्याओं के आदर्श हल सदा मरलता से उपलब्ध नहीं होते। जिन देशों में भारी मुद्रा स्फीति हो जाती है तथा भुगतान मतुलन को नियन्त्रित करना होता है उन्हें ऐसे आपातक राजकोपीय उपाय करने पड़ते हैं जो अल्पकाल में सहायक होने पर भी दीर्घकाल में अवाछनीय होते हैं। उदाहरण के लिए पूँजी व्यय को स्थगित करना, आयात पर कर लगाना तथा विदेशी भुगतानों को रोकना आदि राजकोपीय उपाय बहुत काल तक नहीं चलने चाहिए। दुर्बल राजकोपीय प्रणाली से देश की समस्याएँ अधिक कठिन हो जाती हैं।

मुद्रा स्फीति के विकास की प्रक्रिया पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ते हैं। इसलिए आर्थिक वृद्धि के हित में मुद्रा तथा वित्तीय स्थायित्व अत्यावश्यक है। अल्प विकसित देशों को इस सम्बन्ध में अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (I. M. F.) से सहायता मिल रही है।

विशेषज्ञों की आवश्यकता

कराधान तथा शासकीय व्यय जटिल विषय हैं। राजनीतिक दृष्टि से ये संवेदनशील हैं। आय तथा धन के वितरण पर इनके जाने मान प्रभाव होने हैं। विधान सभाएँ करो तथा शासकीय व्ययों पर मुद्रा नीति, विनियम नियन्त्रण तथा विनियम दरो की अपेक्षा अधिक नियन्त्रण करती हैं। राजकोपीय क्षेत्र में करो की तथा व्यय सम्बन्धी कार्यक्रमों की जटिलता के कारण अल्प विकसित देशों की सरकारों को विशेषज्ञों की सलाह की आवश्यकता है, जो इस सम्बन्ध में टैकनिकल बातों पर ध्यान दे सकते हैं।

इस सम्बन्ध में अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष में मई 1964 में एक राजकोपीय मामलों के विभाग (Fiscal Affairs Department) की स्थापना हुई जो लोक वित्त में अनुसंधान द्वारा सदस्यों को तकनीकी सहायता देगा।¹

अल्प विकसित देशों की कराधान समस्याएँ तथा नीतियाँ

अल्प विकसित देशों में शासकीय क्षेत्र अन्य क्षेत्रों से अधिक महत्वपूर्ण हैं।

1 For details, read 'The Fiscal Problems of the Less Developed Countries' Finance and Development, Vol II, No 4, December 1965, pp 230-235.

ऐसा केवल उन देशों में ही नहीं है जहाँ शासन ने उत्पादन क्षमता बढ़ाने का कार्य अपने ऊपर ले लिया है बल्कि उन देशों में भी है जहाँ आर्थिक वृद्धि के लिए निजी क्षेत्र पर दायित्व है अब सभी अल्प विकसित देशों में विकास कार्यक्रम चल रहा है। निवेश के कुल स्तर के निर्धारण के लिए राजकोपीय नीति का मुख्य स्थान है। राजकोपीय नीति में व्यय नीतियाँ महत्वपूर्ण हैं, किन्तु करो की आय के पर्याप्त न होने पर शासन घाटे के बजट के बिना प्रत्यक्ष रूप में निवेश नहीं कर सकते और न वे निजी क्षेत्र को ऋण दे सकते हैं।

इन देशों की आर्थिक समस्याएँ विवसित देशों जैसी हैं, अन्तर केवल यह है कि किस पर अधिक बल तथा महत्व दिया जाये। कराधान नीतियों के सम्बन्ध में भी यही बात है। इनके उद्देश्य कुछ भिन्न हो सकते हैं तथा इनका महत्व अल्प विकसित देशों में अपेक्षाकृत अधिक है। सामान्यतया विवसित देशों में कराधान नीतियों तथा आय का प्रयोग सामाजिक दृष्टि से वाछनीय व्यय की पूर्ति के लिए किया जाता है। सरकारी व्ययों का निर्धारण आय की राशि से नहीं होता। इसके विपरीत अल्प विकसित देशों के लिए कराधान का स्तर बढ़ाना तथा आय प्राप्त करना कठिन है। अतः इन देशों में आर्थिक वृद्धि के प्रवर्तन (Promotion) के लिए तथा विनीय स्वायत्त बर्नाये रखने के लिए शासन को बहुत आवश्यक विकास व्ययों को भी सीमित रखने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

व्यवसाय चक्र के सम्बन्ध में कर आय का कार्य विकसित तथा अल्प विकसित देशों में भिन्न है। दोनों प्रकार की अर्थ-व्यवस्थाओं में कर आय व्यवसाय की क्रिया पर निर्भर है तथा व्यवसाय चक्र के अनुसार उसमें घट-बढ़ होती है। किन्तु विकसित देशों में ही व्यवसायिक उतार-चढ़ावों की गति पर कर आय के समान आन्तरिक स्थिरकों (built in stabilizers) द्वारा ही नियन्त्रण होता है। विकसित देश मूल्य ह्रास भत्तों, कर अवकाश जैसे कर उपायों का व्यवसाय चक्र को प्रभावित करने के लिए भी उपयोग करते हैं। किन्तु अल्प विकसित देशों में यह सम्भव नहीं है क्योंकि अन्तिम माग में परिवर्तन घरेलू साधनों से न होकर औद्योगिक देशों से आरम्भ होते हैं।

अल्प विकसित देशों में कर प्रणाली की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इससे शासन को बहुत आय नहीं प्राप्त होती। यह बात दोनों तरह से सच है। इन देशों में करों से धन राशि भी कम प्राप्त होती है तथा कर आय राष्ट्रीय आय का विकसित देशों की अपेक्षा कम भाग होता है। निम्न तालिका में ऊँची, मध्य तथा कम आय के देश समूहों की आय विश्व में केन्द्रीय शासन की आय राष्ट्रीय आय के प्रतिशत के रूप में दी गई है.²

उच्च आय के देश (प्रति व्यक्ति वार्षिक आय 500 डालर से अधिक)		मध्य आय के देश (जिनमें प्रति व्यक्ति वार्षिक आय 200-500 डालर है)		कम आय के देश (जिनकी प्रति व्यक्ति वार्षिक आय 200 डालर से कम है)	
आस्ट्रिया	32.9	आयरलैण्ड	26.1	स० अ० गणतन्त्र	23.7
न्यूजीलैण्ड	31.4	इटली	22.7	सीलोन	22.4
यूनाइटेड किंगडम	30.8	चिली	21.9	बर्मा	20.6
फिनलैण्ड	29.6	ग्रीस	20.9	इराक	19.8
बेनीजुयेला	27.1	दक्षिण अफ्रीका	18.8	पेरू	19.3
इजराइल	26.6	मलाया	18.7	कोरिया	16.7
नेदरलैण्ड्स	25.8	कोस्टारिका	16.2	मीरिया अ० ग०	16.1
फ्रान्स	25.4	पुर्तगाल	15.7	ग्वाटेमाला	15.9
नार्वे	25.0	पनामा	14.8	घाना	13.9
आस्ट्रेलिया	24.0	लेबनान	14.7	इक्वेडोर	13.7
जर्मनी	23.2	स्पेन	13.2	घाईलैण्ड	12.9
स्वीडन	22.9	जापान	12.9	पाकिस्तान	11.6
डेनमार्क	20.6	अर्जेन्टाइना	11.1	फिलिपिन्स	10.5
बेल्जियम	17.7	ब्राजील	10.1	इण्डोनेशिया	10.4
कनाडा	17.6	कोलम्बिया	8.3	सुर्की	9.9
स्विटजरलैण्ड	17.1	मेक्सिको	8.1	भारत	7.7
औसत	25.0	औसत	15.2	औसत	13.7

केन्द्रीय शासन की आय में राष्ट्रीय आय के प्रतिशत के रूप में एकभी श्रेणी की आय के देशों में भी बहुत भिन्नता है। इसमें स्थानीय शासन की आय के अंक शामिल नहीं हैं। इनके शामिल होने से अंक बदल जायेंगे। फिर भी एक बात स्पष्ट है कि अलग प्रतिशत अधिकतम आय के देशों का 25 है, मध्यम आय के देशों का 15.2 है तथा कम आय के देशों का 13.7 है। इससे राष्ट्रीय आय के स्तरों तथा कर आय में सम्बन्ध का बोध होना है। जहाँ प्रति व्यक्ति आय कम है वहाँ शासन जन साधारण पर कर नहीं लगाते। इससे आय कर से थोड़ी आय को मुक्त कर दिया जाता है।

अल्प विकसित देशों में कर आय की कमी का एक यह भी कारण है कि देशों में मुद्रा मण्डी का क्षेत्र विकसित देशों की अपेक्षा बहुत कम है। जहाँ मुद्रा मण्डियों में मोदे बहुत होते हैं उन अर्थ-व्यवस्थाओं में कर लगाना सरल है, जहाँ वस्तुओं की प्रत्यक्ष अदल-बदल की प्रथा बहुत है यहाँ वास्तविक आय के मातृम करने में बहुत कठिनाइयाँ होती हैं। अल्प विकसित देशों में किसान अपनी उपज का बहुत भाग स्वयं उपभोग में लाते हैं या वस्तुओं का प्रत्यक्ष आदान-प्रदान कर लेते हैं।

निरक्षरता, हिसाब न रखने की प्रथा, अकुशल कर प्रशासन प्रणाली, गलत रिटर्न भरने की आदत जिससे आय छिपाई जा सके, करो की आय के कम होने के कारण है।

शासन की आय तथा राष्ट्रीय आय में सम्बन्ध देश की अर्थ-व्यवस्था पर भी निर्भर है। उदाहरण के लिए मेक्सिको में बर्मा तथा सीलोन की अपेक्षा प्रति व्यक्ति आय अधिक है, किन्तु कर आम राष्ट्रीय आय कर 8.1 प्रतिशत है, जबकि बर्मा में 20.6 प्रतिशत है तथा सीलोन में 22.4 प्रतिशत है। कारण यह है कि मेक्सिको में आयिक वृद्धि तथा निवेश के लिए निजी क्षेत्र पर दायित्व है। मेक्सिको में मूलतया मुक्त अथवा स्वतन्त्र उद्यम की अर्थ-व्यवस्था है। निजी उद्यम की अर्थ-व्यवस्था में शासन राजकोषीय नाति द्वारा आयिक विकास के लिए आय प्राप्त कर सकता है चाहे वह सामाजिक अर्थ-व्यवस्था के समान अधिक नही हो। बचत का बजट अल्प विकसित देश के लिए अधिक आवश्यक है क्योंकि ऐसे देश में बचत तथा निवेश विकसित अर्थ-व्यवस्था की अपेक्षा बहुत कम है।

प्रत्यक्ष करों से आय का अनुपात

अल्प विकसित देशों में कर प्रणाली की दूसरी यह विशेषता है कि यहाँ प्रत्यक्ष करों की आय कुल आय का बहुत कम अनुपात होती है। यह निम्न तालिका से स्पष्ट है ³

1959 में प्रत्यक्ष करों की आय केन्द्रीय शासन की आय का अनुपात

500 डालर से अधिक प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष आय के देश	200-500 डालर प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष आय के देश	200 डालर से कम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष आय के देश
संयुक्त राष्ट्र अमेरिका	80 दक्षिण अफ्रीका	50 सीरिया गणराज्य 33
वैनीजुएला	63 जापान	47 तुर्की 27
नेदरलैंड्स	61 नोल्ड्विया	42 बर्मा 25
आस्ट्रेलिया	59 स्पेन	40 पाकिस्तान 24
कनाडा	56 मेक्सिको	35 थाईलैंड 21
युनाइटेड किंगडम	51 ब्राजील	34 सीलोन 20
न्यूजीलैंड	51 चिली	32 संयुक्त अरब गणराज्य 20
स्वीडन	49 पुर्तगाल	31 इण्डोनेशिया 18
डेनमार्क	43 आयरलैंड	26 भारत 17
बेल्जियम	40 अर्जेंटीना	23 ईराक 10
इजराइल	35 इटली	22

आस्ट्रिया	33	ग्रीस	20
फ्रान्स	29	मलाया	15
स्विटजरलैण्ड	27		
नार्वे	27		
फिनलैण्ड	23		
जर्मनी	20		
औसत	43	औसत	29
		औसत	20

अल्प विकसित देशों में प्रत्यक्ष करों की अपेक्षा अप्रत्यक्ष करों से अधिक सरलता से आय वसूल हो सकती है, क्योंकि छोटे व्यवसायी ठीक हिमाब नहीं लिखते, जो प्रत्यक्ष करों के वसूल करने के लिए बहुत आवश्यक है। अल्प विकसित देशों में कुल कराधान की दर विकसित देशों की अपेक्षा निपेक्ष आय तथा प्रति व्यक्ति आय दोनों के सम्बन्ध में कम है।

प्रगामी प्रत्यक्ष करों पर आधारित कर प्रणाली आर्थिक विकास के लिए वित्त प्राप्त करने तथा मुद्रा स्फीति को रोकने के लिए महत्व रखती है। आर्थिक विकास से प्रति व्यक्ति आय, मुद्रा आय तथा वास्तविक आय की वृद्धि होती है, जो पहले कर देते थे। आर्थिक विकास होने पर अधिक कर देंगे, जो पहले आय कम होने के कारण कर से मुक्त थे अब कर सीमा के अन्दर आ जायेंगे तथा कर देने लगेंगे। इस प्रकार प्रत्यक्ष कर प्रणाली में आन्तरिक स्थिर आधार रहता है जिसके कारण शासन को कर के स्तर में परिवर्तन किये बिना आर्थिक वृद्धि से अधिक आय प्राप्त हो सकती है।

प्रगामी प्रत्यक्ष कर प्रणाली शासन को मुद्रा स्फीति के विरुद्ध आन्तरिक संरक्षण प्रदान करती है। कीमतों के बढ़ने से मुद्रा-आय बढ़ती है। फलस्वरूप शासकीय आय भी राष्ट्रीय आय के साथ-साथ बढ़ती है, किन्तु यदि कर प्रणाली पर्याप्त मात्रा में प्रगामी है, तो शासकीय आय तीव्र गति से बढ़ती है। दूसरी ओर आय में अप्रत्यक्ष करों का अंग (component) अधिक है तो शासकीय आय मुद्रा आय तथा कीमतों की वृद्धि की अपेक्षा पीछे रह जायेंगे। और यदि जैसा बहुत से अल्प विकसित देशों में होता है व्यय कीमतों के साथ बढ़ते हैं, जिससे अतिरिक्त मांग तथा मुद्रा स्फीति का दबाव बढ़ता है।

विदेशी व्यापार के करों पर निर्भरता

तीसरे, अधिकांश अल्प विकसित देश विदेशी व्यापार पर लगे करों से आय पर निर्भर रहते हैं, जिनमें आयात, निर्यात तथा विनिमय कर शामिल हैं। इनमें से इन करों से कुछ देशों में आय कुल आय का चौथाई से आधा भाग तक होता है। यह स्थिति विशेषतया निम्न तालिका में दर्शायी गयी है।

1959 में विदेशी व्यापार पर कर आय
(कुल आय के प्रतिशत के रूप में)

500 डालर प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष से अधिक आय के देश	200 से 500 डालर तक की आय के देश	200 डालर से कम आय के देश
स्विटजरलैण्ड	30	कोस्टारिका 59
न्यूजीलैण्ड	14	कोलम्बिया 34
कनाडा	10	इटली 22
स० रा० अ०	2	अर्जेन्टाइना 5
		इन्डोनेशिया 30
		बर्मा 28
		फिलिपिन्स 25
		पाकिस्तान 24
औसत	9	औसत 23
		औसत 50

विदेशी व्यापार से कर आय की कुल आय से तुलना से कम प्रति व्यक्ति आय तथा विदेशी व्यापार पर करों पर निर्भरता में बहुत सम्बन्ध है। कम प्रति व्यक्ति आय के देशों में अन्य करो के विषय में ज्ञान भी नहीं है तथा उनके विकास के लिए उनमें उच्छ्रा भी नहीं है। राष्ट्रीय आय की दृष्टि में रखते हुए इनका विदेशी व्यापार अधिक है। यह व्यापार थोड़े बन्दरगाहों के द्वारा होता है इसलिए इनकी सरकारें सरलता से तथा कम व्यय पर इन करो को वसूल कर सकती हैं।

प्रत्यक्ष कर—व्यक्तिगत आय कर लगाने के दो तरीके हैं। एकात्मक प्रणाली (unitary system) तथा अनुसूची-बद्ध (schedule)। अनुसूचात्मक प्रणाली में कर सभी श्रोतों से प्राप्त कुल आय पर प्रगामी दर पर लगता है। यह प्रणाली एशिया के अधिकांश देशों में केन्द्रीय अमरीकी देशों तथा कोलम्बिया में प्रचलित है। अनुसूची-बद्ध प्रणाली में आय के स्रोतों के अनुसार भेद कर दिये जाते हैं। कर की दर आय के स्रोत के अनुसार रहती है। इसका कुल आय से सम्बन्ध नहीं रहता। उदाहरण के लिए बर्माजुमेलाने 1956 में व्यक्तिगत सम्पत्ति पर आय की दर 5 प्रतिशत थी, औद्योगिक, वाणिज्यिक आदि में लाभ कर की दर 2½ प्रतिशत थी, कृषि लाभ कर की दर 2 प्रतिशत तथा मजदूरी तथा पेंशन पर 1 प्रतिशत थी।⁴

एकात्मक प्रणाली के पक्ष में यह तर्क है कि इसमें कर क्षमता के अनुसार लगते हैं। अनुसूची-बद्ध प्रणाली प्रशासकीय दृष्टि से अधिक उपयुक्त है। प्रत्येक व्यवसाय करों की आय का अनुमान व्यक्ति की कुल आय के बिना हो सकता है तथा कर कर्मचारियों में कार्य विशेष योग्यता तथा अनुभव के आधार पर बढ़ जाता है।

कारपोरेशनो तथा अन्य व्यवसायों की आय पर कर ये कर सभी देशों में मूल रूप में एक से ही आधार पर लगते हैं। कुछ अल्प विकसित देशों में यू० के०, कुछ में फ्राम तथा कुछ में स० रा० अ० की प्रणाली के प्रति रूप को अपनाया है। इनमें तकनीकी ब्यौरेवार बातों में अन्तर है जैसे पूर्वं वर्षों की हानि को आगामी वर्षों की आय में से घटाना, मूल्य ह्रास सम्बन्धी भत्ते तथा दुहरा लाभ कर आदि। सीमित देनदारी की कम्पनियों पर प्राइवेट साभेदारी तथा अनमाविष्ट कारपोरेशनों की अपेक्षा अधिक कर लगते हैं, क्योंकि बड़े आकार के व्यवसायों की आय अधिक होती है।

अल्प विकसित देशों में विकसित देशों की अपेक्षा कराधान का मूल स्तर कम्पनियों पर कम होता है।

निवेश को प्रोत्साहन

अल्प विकसित देशों की कर प्रणाली की एक मुख्य विशेषता यह है कि नये उद्योगों को लगभग 5 वर्ष की अवधि तक प्रत्यक्ष करों में रियायत दी जाती है। कहीं-कहीं यह अवधि 25 वर्ष है। कम्पनियों को आंशिक अथवा पूर्णरूप में इस अवधि के लिए आय कर से मुक्त कर दिया जाता है। इनमें अप्रत्यक्ष कर सम्बन्धी रियायत भी दी जाती है पूँजीगत माल तथा कच्चे माल की आयात पर 5 से 10 वर्ष तक कर नहीं लगते। ये छूट औद्योगीकरण को प्रोत्साहित करने के लिए दी जाती है। यह प्रस्ताव है कि 1971-72 के केन्द्रीय बजट में भारत के निवेश को प्रोत्साहन देने के तिये विकास के लिये गिवेट 1974 के पश्चात् नहीं मिलेगा।

पूँजी लाभ कर—यह कर बहुत से अल्प विकसित देशों में नहीं है, लेकिन कुछ देशों में जैसे भारत, ब्राजील, कोलम्बिया आदि में लगने लगे हैं। इन के विरुद्ध यह तर्क है कि इन से बचत को हानि पहुँचती है तथा व्यय को प्रोत्साहन मिलता है। पूँजीगत लाभ व्यक्तियों के प्रयास के कारण होते हैं। ये सदा समाज के कार्य के फल नहीं होते। इन करों के प्रशासन में कठिनाइयाँ हैं।

अप्रत्यक्ष कर—बिक्री कर पाकिस्तान भारत ब्राजील, आदि अल्प विकसित देशों में मिलता है प्रतिगामी होते हुए भी अल्प विकसित देशों के लिए इसकी उपयुक्त विशेषताएँ हैं। जहाँ व्यक्तियों की आय के हिसाब उपयुक्त नहीं होते वहाँ ये कर उपयुक्त हैं। बहुत देशों में खाने की वस्तुओं पर कर नहीं लगाया जाता जिससे कीमतों में वृद्धि न हो। ग्रामीण क्षेत्रों में भी यह कर नहीं लगाया जाता।

उत्पादन कर—अल्प विकसित देशों में दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं पर उत्पादन कर विस्तृत रूप में लगते हैं, क्योंकि इन वस्तुओं की माग तीव्र होती है। इनकी बमूली आसान होती है, क्योंकि वस्तुएं थोड़े बिन्दुओं में ही होकर जाती हैं। भारत में केन्द्र को इन करों से बहुत आय होती है। यदि माल देश में बनता है तो यह कर निर्माण की अवस्था में लगता है, किन्तु यदि माल का आयात होता है तब यह कर वितरण की अवस्था में लगता है।

निर्यात आयात कर—अप्रत्यक्ष करों में इन करों का विशेष स्थान है।

अधिकांश अल्प विकसित देशों में इन करो से उत्पादन करो से भी अधिक आय प्राप्त होती है। किन्तु भारत में केन्द्रीय सरकार को उत्पादन करो से सबसे अधिक आय होती है। सीमा-शुल्कों के अतिरिक्त ऐसे देशों में जहाँ विनिमय बहुत मात्रा में है विनिमय दर पर भी कर लगते हैं। अर्जेंटीना, ब्राजील, चिली, उरुग्वे, इण्डोनेशिया, घाई-लैण्ड, फिलिपिन्स आदि देशों में इन दरों के कारण बहुत मुनाफे हुए हैं तथा इन करो से बहुत आय हुई है। ये लाभ केन्द्रीय बैंक को जाते हैं जो बाद में सरकार को दे दिए जाते हैं। सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक निर्यातकों से विदेशी मुद्रा कम कीमत पर खरीद कर उसे आयातकों आदि को बेचते है।

सीमा शुल्क प्रतिगामी समझे जाते हैं, किन्तु अल्प विकसित देशों में आयात कर निर्यात करो की अपेक्षा कम प्रतिगामी होते हैं। कारण यह है कि विलासिता की, ओटोमोबाइल्स तथा काममेटिक्स जैसी वस्तुओं पर ये कर मूती कपड़े तथा अन्न पर आयात करो की तुलना में बहुत ऊँची दरों पर लगते हैं। निर्यात कर प्रतिगामी होते हैं क्योंकि बजट के अनुसार उत्पादकों पर लगते हैं। कीमत पर लगने पर निर्यात कर अल्प विकसित देशों में प्रति चक्रीय राजकोपीय उपायों के रूप में उपयोगी हैं। 1950 में कोरियन युद्ध काल में भारत में पटसन के सामान की निर्यात पर भारी कर लगाए गये तथा चीनी, इण्डोनेशिया, बर्मा तथा घाईलैण्ड में रबर तथा टिन की निर्यात पर सगा कर अप्रत्याशित आय का एक बड़ा भाग राज्य के लिए प्राप्त कर लिया गया। इस तेजी काल में इनमें से बहुत देशों में निर्यात करों के कारण अनैच्छिक बजट सम्बन्धी वचत (Involuntary budget surpluses) हो गई है। इससे देश में मुद्रा आय उस गति से बढ़ने से रुक गई जिस गति से निर्यात कीमतें बढ़ी। यदि व्यक्तियों की आय बढ़ती तो उसके फलस्वरूप मांग बढ़ती, जिससे मुद्रा स्फीति बढ़ती। इस आय का भाग इन करो द्वारा राज्य के पास आ गया जिससे मुद्रा स्फीति रुक गई। इस विदेशी मुद्रा से तेजी की समाप्ति पर निर्यात को प्रोत्साहन मिला जब कि बजट में घाटा आने लगा था। अतः मन्दी काल में देश में मुद्रा आय इतनी नहीं गिरी जितनी गिरती। इससे अल्प विकसित देशों में प्रति चक्रीय राजकोपीय नीति सफल हो सकी।

सरकारी उद्योगों की कीमत नीति—अल्प विकसित देशों में सरकारी उद्योगों के लिए उचित कीमत नीति आवश्यक है, अन्यथा सरकारी साधनों का अपव्यय होगा तथा निवेश के लिए धन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं हो सकेगा। इनकी उचित कीमत नीति के निर्धारण के लिए इन उद्योगों को तीन वर्गों में बाँटना चाहिए : (1) राज्य द्वारा सहायता प्राप्त उद्यम, जिनकी कीमत से स्थायी लागत भी नहीं निकल सकती, हो सकता है कि परिचालन लागत भी न निकल सके। (2) सामान्यतया व्यवसाय उद्यम—इनकी कीमतें ऐसी होनी चाहिए कि सभी लागत निकल आये। नई मशीनें भी खरीदी जा सकें, तथा (3) एकाधिकार जिसमें सरकार को विकास के लिए धन भी प्राप्त हो जाये।

अल्प विकसित देशों में उपयोगिताएँ तथा यानामान सम्बन्धी सुविधाएँ तो सहायता प्राप्त श्रेणी में रखी गयी है। यह सच है कि सस्ता ईंधन, बिजली तथा यातायात आर्थिक विकास के प्रोत्साहन के लिए आवश्यक हैं। इसलिए इनकी वित्तीय सहायता मिलनी चाहिए। लेकिन सहायता करो में कमी देकर होनी चाहिए न कि कीमत घटाकर। कीमत घटने से इन उद्योगों के संचालन में कुशलता की कमी छिपी रहेगी।

पूरी लागत पर आधारित कीमत के लिए पर्याप्त तर्क हैं। यदि सरकारी उद्यम केवल कर लागत के आधार पर कीमत रखेंगे तो उपकरणों के बदलाव के लिए लागत उद्यम के कोप पर न पड़कर राजकीय बजट को वर्दाशत करनी होगी। इससे समयसमय पर विभिन्न देशों में कठिनाई का सामना करना पड़ा है। बोलीविया तथा सीन्डोन में सरकारी बजट पर तनाव कम करने के लिए घाटे पर चलने वाले उद्यमों को बन्द करना पड़ा।

एकाधिकारी कीमत से राज्य बहुत सरलता से आय प्राप्त करके विकास के लिए धन एकत्रित कर सकता है। इसका मुख्य दोष यह है कि उद्यम की कुशलता की कोई विपणन जाँच नहीं हो सकती। इस बात का पता नहीं चल सकता कि व्यवसाय का प्रबन्ध मुद्धार ढंग से हो रहा है अथवा नहीं।

उपयुक्त तर्कों के ये निष्कर्ष हैं। अल्प विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं की सरकारी आय बहुत ही अपर्याप्त है। यह बात बहुत ही स्पष्ट है, किन्तु कैसे आय बड़े स्पष्ट नहीं है। जो उपाय एक देश में कारगर सिद्ध हुए हों वह जरूरी नहीं कि वे अन्य देशों में भी उपयुक्त सिद्ध हों। लेकिन मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि इस सम्बन्ध में राज्यों को तीन बातों पर ध्यान देना चाहिए। ये हैं : कर मिटाना, कर प्रतापन तथा मफयता के लिए सामाजिक तथा राजनीतिक सकल्प।

यह सच है कि इस बात के ज्ञान की कमी है कि किन करों द्वारा कम खर्च पर अधिक आय होगी जिससे न्यूनतम आर्थिक तथा राजनीतिक गड़बड़ हो। जितने करों के बारे में अध्ययन किये गये हैं उनसे वह निष्कर्ष निकलता है कि मूल समस्या कर सम्बन्धी ज्ञान की नहीं है यद्यपि इस प्रकार का ज्ञान उपयोगी है।

वर्तमान सरचना में कर प्रशासन तथा कर वसूल करने के तरीकों में उन्नति होने से आय बड़ेगी। बहुत से देशों में कर विभागों में कर्मचारियों की संख्या अपर्याप्त है। इनके प्रशिक्षण में उन्नति की आवश्यकता है। कभी-कभी राजनीतिक स्थिति के कारण अच्छे कर उपायों को स्वीकार नहीं किया जाता। भारत में कर आयोगों की मिफारिशों तथा अन्तरराष्ट्रीय संघ की रिपोर्टों के बारे में यह बात लागू है, लेकिन जब कोई शासन वसूली की उन्नति का लगातार प्रयास करता है तब आय में वृद्धि अवश्य होती है। कर सुधार धीरे-धीरे हो सकते हैं। सुधारों के लिए केवल अच्छे कानून ही काफी नहीं होते, उनका परिपालन बहुत महत्वपूर्ण होता

है बहुत से देशों में राष्ट्रीय आय तथा कर अनुपात में हाल के वर्षों में वृद्धि हुई है, किन्तु अधिकांश अल्प विकसित देशों में इसमें बहुत कम वृद्धि हुई है। कुल आय तथा प्रत्यक्ष करों के अनुपात को लेकर यदि कर प्रणाली को देखें तो कुछ छोड़े हो देशों में जैसे भारत, सीमोन, बर्मा, मैक्सिको आदि में उन्नति हुई है। शासकीय आय तथा राष्ट्रीय आय के अनुपात की दृष्टि से उत्तर युद्धकाल में कुछ उन्नति एशिया में बर्मा, भारत, कोरिया, फिलिपिन्स तथा लैटिन अमेरिका के देशों में हुई है।

सार्वजनिक वित्त का अर्थ-व्यवस्था में महत्त्व (IMPORTANCE OF PUBLIC FINANCE IN AN ECONOMY)

सार्वजनिक वित्त का अर्थ-व्यवस्था में बहुत महत्त्व है। राज्य की कर नीति तथा व्यय नीति से अर्थ-व्यवस्था को बल मिल सकता है, किन्तु अनुपयुक्त कर तथा व्यय नीति से अर्थ-व्यवस्था को हानि भी हो सकती है। अतः सार्वजनिक वित्त नीति ऐसी होनी चाहिए जिससे अर्थ-व्यवस्था सुदृढ़ हो जाये, उद्योगों की उन्नति हो, रोजगार की वृद्धि हो तथा राष्ट्रीय तथा प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि हो।

राष्ट्रीय आय की वृद्धि से ही रोजगार की वृद्धि हो सकती है। इसी से बचत तथा निवेश की वृद्धि होती है। अतः सार्वजनिक वित्त नीति ऐसी होनी चाहिए जिससे अर्थ-व्यवस्था सुदृढ़ हो, जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय तथा प्रति व्यक्ति आय बढ़े, उद्योगों की उन्नति हो, रोजगार की वृद्धि हो तथा आय तथा धन के वितरण की असमता में कमी हो। स्वस्थ लोक वित्त नीति की यही विशेषताएँ हैं।

लोक वित्त तथा साधनों का बटवारा

लोक वित्त नीति द्वारा साधनों का बटवारा होता है। लोक वित्त नीति के दो अंग हैं - आय तथा व्यय। आय करो तथा ऋणों द्वारा प्राप्त होती है। राज्य विभिन्न कर लगाता है, जिनसे आय प्राप्त होती है। भारत में राष्ट्रीय आय तथा करायान का अनुपात सन् 1965-66 में 14 प्रतिशत तक हो गया था, किन्तु बाद में गिर गया। इसलिए हमारे देश में करायान का आधार विस्तृत होना चाहिए जिससे आर्थिक वृद्धि तथा सामाजिक कल्याण की आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त धन प्राप्त हो सके।

करायान बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि जो कर लगते हैं वे वसूल हो जायें। उनका अपवचन न हो पाये। इसलिए प्रयास बचाव के रास्ते को बन्द करने का किया जाता है, जिससे करो से आय पूर्ण रूप में प्राप्त हो सके। जनता को धन बचाने के लिए प्रोत्साहन भी दिये जाते हैं। उदाहरण के लिए 1970-71 के केंद्रीय बजट में थोड़ी आय के व्यक्तियों के लिए बचत बढ़ाने के लिए यह प्रस्ताव किया गया है, यूनिट ट्रस्ट अथवा भारतीय कम्पनियों के हिस्सों पर लाभभांश से 3000 रुपये

राज्य की आय कर से मुक्त हो जायेगी। इसी प्रकार 1½ लाख रुपये तक विभिन्न प्रकार की वित्तीय सम्पत्ति में निवेश सम्पत्ति कर से मुक्त रहेगी। इससे पहले भी छोटी बचत के सर्टीफिकेट में निवेश पर, डाकघरों के बचत खातों में निवेश पर, तथा केन्द्रीय सरकार के पंचवर्षीय स्थिर जमा धन की आय 1.2 लाख की सीमा तक सम्पत्ति कर से मुक्त थी। अब यह सीमा बढ़ा कर 1½ लाख तक कर दी गई है। इसमें यूनिट ट्रस्ट के हिस्से, भारतीय कम्पनियों के हिस्से, स्वीकृत करल डिबेन्चर्स आदि की आय भी शामिल है। व्यक्तियों के लिए कर से मुक्त आय की सीमा 4,000 रुपये से बढ़ा कर 5,000 रुपये कर दी गई है, जिससे कर प्रशासन को छोटी आय के व्यक्तियों पर समय न देना पड़े तथा प्रशासन प्रणाली अधिक कुशल हो सके। इसमें 5,000 रुपये तक की वार्षिक आय के व्यक्ति कर से मुक्त हो जायेंगे।

राज्य द्वारा ऋण उधार लेना—इसी प्रकार राज्य जनता से ऋण उधार लेता है। इससे राष्ट्रीय आय का भाग राज्य के पास आता है जिसे अवस्थापना के तथा भारी उद्योगों के कार्यों में लोक क्षेत्र में लगाया जा सकता है।

राज्य की व्यय नीति—राज्य की व्यय नीति का भी धन के बटवारे पर प्रभाव पड़ता है। राज्य उद्योगों को आर्थिक सहायता देकर उनकी उन्नति करता है। प्रदेशों को योजना सम्बन्धी कार्यों के लिए सहायता दी जाती है। पिछड़े हुए प्रदेशों तथा अकालग्रस्त तथा सूखाग्रस्त क्षेत्रों के लिए विशेष सहायता दी जाती है। इस प्रकार राष्ट्रीय आय का भाग विशेष कार्यों तथा प्रदेशों के लिए उपयोग में आता है।

राजकीय नीति तथा रोजगार—राजकीय नीति का रोजगार पर भी प्रभाव पड़ता है। राज्य लोक निर्माण कार्यों पर धन व्यय करता है। इसी उद्देश्य से राजकीय क्षेत्र में उद्योगों की स्थापना की जाती है। देश में लघु उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जाता है। उन्हें धन उधार दिया जाता है तथा उनके लिए रियायत पर कच्चा माल, बिजली तथा अन्य आवश्यक सामग्री उपलब्ध की जाती है। इसीलिए तकनीकी प्रशिक्षण की व्यवस्था भी की जाती है। भारत में 14 बंकों का राष्ट्रीयकरण इसलिए किया गया कि छोटे उद्योगों को तथा कृषि को उधार धन की अधिक सुविधाएँ मिल जायें तथा कुशल प्रबन्ध को प्रोत्साहन मिल सके, जिससे रोजगार की वृद्धि हो सके।

आय तथा धन का वितरण

राज्य नीति का प्रयोग आय तथा धन के वितरण की असमता में भी कमी करने के लिए किया जाता है। सभी आधुनिक सभ्यताओं में करारोपण आय तथा सम्पत्ति के वितरण में अधिक समता प्रदान करने का एक प्रमुख साधन है। इस उद्देश्य की पूर्ति कई प्रकार से की जाती है। ऊँचे स्तरों पर आय कर की वृद्धि द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति की जाती है। भारत में 1970-71 के बजट में 40,000 वार्षिक आय तथा उससे ऊपर आय करों की सीमान्त दरों में विशेष वृद्धि द्वारा

इस उद्देश्य की पूर्ति की गयी है। 10 प्रतिशत अतिरिक्त कर लगा कर अधिकतम कर दर 93.5 प्रतिशत 2 लाख रुपये की वार्षिक आय पर पहुँच जायेगी। इससे पहले 2½ लाख रुपये की वार्षिक आय पर 82.5 प्रतिशत अधिकतम कर दर थी।

सामान्य सम्पत्ति कर की दरों में वृद्धि

इसके साथ-साथ 1970-71 के बजट से पहले सम्पत्ति कर की दर 0.5 प्रतिशत से 3 प्रतिशत तक थी। अब सब से कम आय पर यह दर बढ़ा कर 1 प्रतिशत कर दी गयी तथा सबसे अधिक आय की सीमा दर पर 5 प्रतिशत कर दी गयी है। उस व्यक्ति के लिए जिस की सब आय सम्पत्ति से ही होती है आय तथा सम्पत्ति करो को मिलाकर कर देने के पश्चात् आय की अधिकतम सीमा 25,000 रुपये वार्षिक रह जायेगी। इसके विपरीत अर्जित आय की कोई निर्पेक्ष सीमा नहीं होगी, क्योंकि 93.5 प्रतिशत की अधिकतम सीमान्त कर दर पर भी सभी स्तरों पर कर देने के पश्चात् आय की गुंजायश रहेगी। उपहारों पर भी करों की दर बढ़ा दी गयी है। इसके अतिरिक्त नगरों में भूमि के मूल्यों में सट्टों की वृद्धि को रोकने तथा नगरों में व्यक्तिगत सम्पत्ति के मूल्यों में वृद्धि को रोकने के लिए नगर-भूमि तथा भवनों पर कर बढ़ा दिये गये हैं।

उत्पादन तथा कीमतों के सम्बन्ध में राजस्व का योग

राजस्व का उत्पादन तथा कीमतों पर विशेष प्रभाव पड़ता है। उत्पादन के लिए निवेश आवश्यक है। निवेश की वृद्धि पर ही उत्पादन की वृद्धि रहती है। इसीलिए राष्ट्रीय आय के अनुपात में वृद्धि द्वारा निवेश की वृद्धि में उत्पादन अथवा राष्ट्रीय आय की वृद्धि सम्भव हो सकती है। इसी दृष्टिकोण से भारतीय पंचवर्षीय योजनाओं में निवेश के लिए राष्ट्रीय आय के अनुपात में वृद्धि की गई है। चौथी पंचवर्षीय योजना के प्रथम वर्ष 1969-70 में वृद्धि को दर 5-5½ प्रतिशत होने की सम्भावना है। भारतीय कृषि का आधुनिकरण हो रहा है। इससे औद्योगिक उत्पादन में पर्याप्त समुत्थान (recovery) हुआ है। कुछ क्षेत्रों में नई क्षमता स्थापित करना आवश्यक है, जिससे उपभोग, निर्यात तथा रोजगार के बढ़ते हुए स्तरों को संभाला जा सके। इसी दृष्टि से केन्द्र, प्रदेशों तथा सहाय्य क्षेत्रों को मिला कर योजना लागत 1969-70 में 2239 करोड़ रुपये से बढ़ कर 1970-71 में 2637 करोड़ रुपये हो जायेगी। इसमें लगभग 400 करोड़ रुपये की वृद्धि होगी। विकास की गति को बढ़ाने का यह ठोस प्रयास है। इसके अतिरिक्त उद्योग तथा कृषि को बढ़ावा देने के लिए बड़े पैमाने पर सद्भाग्य वित्त संचारित किया जायेगा। इससे आगामी वर्ष में रोजगार में वृद्धि की गुंजायश हो जायेगी।

इसी उद्देश्य से राज्यों के घाटे को पूरा करने के लिए उन्हें आगामी वर्ष में 175 करोड़ रुपये की सहायता देने का आयोजन किया गया है। इसके बिना उन राज्यों के योजना प्रोग्रामों के पूरा होने में कठिनाइयाँ होती।

वित्त नीति का कीमतों पर प्रभाव पड़ता है उद्योग तथा कृषि में निवेश द्वारा उत्पादन बढ़ाकर कीमतों को बढ़ने में रोका जा सकता है। कीमतों को बढ़ने से रोकने के लिए मुद्रा तथा राजकोषीय नीति का भी उपयोग करना आवश्यक होता है। पिछले कुछ वर्षों में कीमतें बराबर बढ़ती रही हैं। उन्हें रोकने के लिए औद्योगिक तथा कृषि उत्पादन में वृद्धि आवश्यक है। इसलिए कृषि तथा उद्योगों को बढ़ावा देने के लिए नई वित्त संस्थाओं की स्थापना की गई है जिससे वे दीर्घकाल के लिए धन उधार देकर उत्पादन में वृद्धि करावें। कीमतों को बढ़ने से रोकने के लिए मांग पर भी रोकथाम आवश्यक है। इसलिए करो में वृद्धि की गई है। 1970-71 के बजट में भान्त में 171 करोड़ रुपये के नये कर लगाने गये हैं। इनके दो उद्देश्य हैं - सरकार के लिए धन प्राप्त करना तथा मांग पर रोकथाम लगाना। 134 करोड़ रुपये की प्रत्यक्ष करो से तथा 36 करोड़ रुपये की आय अप्रत्यक्ष करो से होंगी। परीक्ष कर अधिकतर विनामिता की वस्तुओं पर लगे हैं जिससे आवश्यकता की वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि न हो।

विकास के लिए धन की प्राप्ति

उद्योगों तथा कृषि के विकास के लिए धन तथा साधन चाहिए। राष्ट्रीय आय का भाग इसके लिए जुटाया जाता है। यह राजकोषीय तथा मुद्रा नीति द्वारा जुटाया जाता है। राजकोषीय नीति ऐसी उपयुक्त होनी चाहिए, जिससे करो तथा ऋणों द्वारा राष्ट्रीय आय का एक निश्चित भाग देश में विनियोग के लिए प्राप्त हो जाये। कर नीति ऐसी होनी चाहिए जिससे देश में बचत को प्रोत्साहन मिले। राजकीय क्षेत्र के उद्योगों की वस्तुओं की कीमतें ऐसे स्तर पर निश्चित की जानी चाहिए जिससे उनमें सम्पत्ति का निर्माण होता रहे और उनमें बचत द्वारा स्वतः वित्त उनकी वृद्धि के लिए प्राप्त होता रहे।

मुद्रा नीति भी उपयुक्त होनी चाहिए। इसके द्वारा बैंकों में जमा करने के लिए धन को प्रोत्साहन मिलने चाहिए। धन ढाक़्खानों में भी जमा किया जाता है। सरकारी कर्मचारियों के लिए प्राविष्ट फण्ड की उचित व्यवस्था होनी चाहिए तथा उसके लिए प्रोत्साहन मिलना चाहिए। इन सबको छोटी बचत के साधन कहते हैं। छोटी बचत के साधनों द्वारा निवेश के लिए अर्थ-व्यवस्था में धन इकट्ठा किया जाता है।

बैंकों की उधार नीति

बैंकों की उधार नीति भी उपयुक्त होनी चाहिए, जिससे उद्योगों के लिए अल्प, मध्य तथा दीर्घकालीन धन उचित व्याज पर तथा यथा समय मिलना चाहिए। इसके लिए केन्द्रीय बैंक दर तथा अन्य साधनों द्वारा व्यवस्था करता है। उदाहरण के लिए भारत में हाल के वर्षों में नई वित्त संस्थाओं की स्थापना की गई है, तथा 1969 में 14 बड़े बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया जिससे छोटे उद्योगों तथा कृषि को पर्याप्त मात्रा में तथा उचित व्याज दर पर धन उधार मिल जाये।

विक्रम के लिए विदेशी धन की भी आवश्यकता होती है। अल्प विकसित देशों में बल, पुर्जों, तकनीकी ज्ञान आदि की कमी होती है। अवस्थापना के लिए भी विदेशी धन चाहिए। प्रबन्धकारी प्रशिक्षण भी आवश्यक है। इसलिए विदेशी पूँजी को प्रोत्साहन दिया जाता है। इस प्रोत्साहन के लिए भारत में भारतीय निवेश केन्द्र (Indian Investment Centre) की स्थापना हुई है, जिसकी शाखाएँ वाशिंगटन तथा डुसेल्डर्फ (जर्मनी) में भी हैं। यह केन्द्र भारतीय उद्योगों के भविष्य के विषय में सूचना इकट्ठा करता है तथा विदेशी निवेशकों तथा भारतीय उद्योग-पतियों में सम्पर्क स्थापित करता है।

रोजगार का उच्चतम तथा म्यादी स्तर तथा भुगतान सतुलन की सतोप-जनक स्थिति—यह भी आवश्यक है कि अर्थ-व्यवस्था में साधनों की पूर्ण अतः शक्ति को लाने की आवश्यकता तथा निवेश के लिए धन के प्रवाह की वृद्धि की आवश्यकता पर बल देना चाहिए। भारतीय अर्थ-व्यवस्था में 1955-56 तथा 1964-65 के बीच वित्तीय सम्पत्ति के रूप में समाज की दबत राष्ट्रीय आय के प्रतिशत के रूप में 55% से 67% तक हो बढ़ी थी। इसलिए हम यह नहीं कह सकते कि समाज में निवेश धन का प्रवाह पर्याप्त मात्रा में बढ़ा है। इस काल में समाज में मुद्रा की आय में वृद्धि अवश्य हुई है, किन्तु साधन-माय वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि होने से तथा व्ययित्तियों तथा कारपोरेट क्षेत्र में करो की वृद्धि से राष्ट्रीय आय का बढ़त भाग क्षय (eroded) हो गया है।

इसके जतिरिक्त राज्य द्वारा इक्वटी की गई आय का बड़ा भाग अनुत्पादक कार्यों पर व्यय किया गया है, जिससे निवेशित धन का पूरा फल अर्थ-व्यवस्था में प्राप्त नहीं हो सका। इसलिए यह आवश्यक है कि अनुत्पादक राजकीय व्यय की उच्चतम सीमा निर्धारित की जाये।

कीमतों का स्थायित्व—पिछले वर्षों में भारत में कीमतें बढ़ती रही हैं। 1962-63 तक थोक कीमतों में वृद्धि मध्यम अवस्था में रही। 1965-66 में 1960-61 की अपेक्षा थोक कीमतों का सामान्य सूचक अंक 32 प्रतिशत अधिक था। ऐसा खाद्यान्न की कीमतों की वृद्धि के कारण हुआ। 1966-67 में थोक कीमतों में 16 प्रतिशत तथा खाद्यान्न की कीमतों में 18 प्रतिशत की वृद्धि हुई। 1967-68 में थोक कीमतों में 11 प्रतिशत तथा खाद्यान्न की कीमतों में 21 प्रतिशत की वृद्धि हुई। 1968-69 में कीमतें सापेक्ष रूप में स्थिर रही। फरवरी 8, 1969 को सामान्य सूचक अंक 208.2 था, जबकि नवम्बर 1969 को यह अंक घटकर 168.5 तक आ गया।

उपभोक्ताओं की कीमत का सूचक अंक 1960-61 में 124 से घटकर 1967-68 में 213 तक पहुँच गया, जिसमें योजना के बाह्य व्यय में राजकीय तथा औद्योगिक कर्मचारियों के वेतन भत्तों की वृद्धि के कारण वृद्धि हुई। नवम्बर 1969 में यह 215 तक पहुँचा। इससे पहले अगस्त तथा सितम्बर 1969 में यह अंक 218

रहा। बहुत सी बातों के कारण अर्थ-व्यवस्था में उत्पादन व्यय में वृद्धि हुई। 1970-71 के बजट में 171 करोड़ रुपये के नये बरों के कारण, विशेषतया चीनी, चाय, मिट्टी के तेल आदि पर परोक्ष करों के लगने के कारण कीमतों में वृद्धि होगी, जिसकी रोकथाम बहुत आवश्यक है।¹

इस प्रकार सार्वजनिक वित्तीय नीति का देश की आर्थिक स्थिति पर विशेष प्रभाव पड़ता है। इसलिए देश की वित्तीय नीति ऐसी होनी चाहिए जिससे राष्ट्रीय आय तथा रोजगार में वृद्धि हो, कृषि तथा उद्योगों में उन्नति हो तथा वस्तुओं की कीमतें स्थिर रह सकें, जिससे उत्पादन लागत में वृद्धि न हो। योजनाबद्ध व्यय के लिए पर्याप्त मात्रा में धन उपलब्ध होना चाहिए, जिससे आर्थिक स्थिति को बढ़ावा मिले।

1 p. 7, Draft Fourth Five Year Plan 1969-74, p. 1913, Reserve Bank of India Bulletin, December 1969.

आठवां अध्याय करों के प्रकार (KINDS OF TAXES)

कर की परिभाषा—कर वह अनिवार्य परिव्यय है जिसके बदले में कर दाता को लोक अधिकारी से तुरन्त प्रत्यक्ष रूप में कोई प्रतिफल नहीं प्राप्त होता। इस परिभाषा के अनुसार कर की दो विशेषताएँ हैं प्रथम, कर एक अनिवार्य अशदान है तथा कर दाता के समक्ष उक्त धन के भुगतान करने अथवा न करने का विकल्प ही नहीं है। कर दाता के लिए इस धन का भुगतान करना आवश्यक तथा अनिवार्य है। दूसरे, भुगतान के प्रतिफल के रूप में कर दाता को प्रत्यक्ष रूप में कोई लाभ अथवा सेवा प्राप्त नहीं होती। राज्य इस धन को अपने व्यय की पूर्ति के लिए प्राप्त करता है।¹

राज्य की क्रियाओं के लिए वित्त प्राप्त करने का सर्वाधिक सामान्य साधन करारोपण ही है। राज्य समाज के लिए कुछ ऐसी सेवाओं की व्यवस्था करता है, जिनके बदले में कोई कीमत नहीं लेता। इसके लिए धन अनिवार्य रूप में करों द्वारा व्यक्तियों से एक निश्चित मानक के आधार पर, जैसे सम्पत्ति अथवा आय, लिया जाता है। कर के भुगतान के प्रतिफल में करदाता को राज्य से ऐसी सेवाएँ प्राप्त करने का अधिकार नहीं होता, जिन्हें वह अन्य परिस्थिति में प्राप्त नहीं कर सकता। कर तथा राज्य के आय के अन्य साधनों में अन्तर केवल यह है कि कर में अनिवार्यता वा तत्त्व निहित है। व्यक्ति आय, सम्पत्ति अथवा किसी अन्य निश्चित आधार पर भुगतान के लिए योग्य होने पर कर देने अथवा न देने के विकल्प का अधिकारी नहीं होता।²

1 According to Prof. Taussig, "the essence of a tax, as distinguished from other charges by government, is the absence of direct *quid pro quo* between the tax payer and the public authority" '*Principles of Economics*,' Vol. II, p 433.

2 See p. 2, 82, John F Due : *Government Finance*, 1293.

करो के प्रकार—वर विभिन्न प्रकार के होते हैं। प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष—प्रत्यक्ष कर उसे कहते हैं जिसका भुगतान वही व्यक्ति करता है जिस पर वह वैधानिक रूप में लगाया गया है। अप्रत्यक्ष वह कर होता है जो एक व्यक्ति पर लगाया जाता है, लेकिन वह व्यक्ति वस्तु की कीमत बढ़ाकर उसे किसी दूसरे व्यक्ति से वसूल कर सकता है तथा कर भी लेता है। आय तथा सम्पत्ति कर प्रत्यक्ष कर हैं। प्रत्यक्ष करों का सघात (impact) अथवा तात्कालिक मुद्रा भार तथा आयात (incidence) अथवा अंतिम मुद्रा भार एक ही व्यक्ति पर होता है। जिस व्यक्ति पर कर लगाया है उस कर का सघात उसी व्यक्ति पर होता है, किन्तु कर का आपात उस व्यक्ति पर होता है जो अन्त में उसका भुगतान करता है। जब किसी कर का सघात तथा आपात अलग अलग व्यक्तियों पर होते हैं तब कर अप्रत्यक्ष होता है। चीनी तथा चाय के उत्पादन पर कर का सघात उत्पादक पर होता है, किन्तु उत्पादक कीमत बढ़ा कर उसे उपभोक्ता से वसूल कर सकता है। इसलिए ऐसे कर का मुद्रा भार अन्त में उपभोक्ता पर पड़ता है। इसी प्रकार एक वस्तु का आयातक आयात कर राज्य को देकर उसे वस्तु-जेटा से वस्तु की कीमत बढ़ाकर वसूल कर लेता है। इस कर का सघात आयातक पर है, किन्तु इसका आपात अथवा सम्पात जेटा पर है। इसलिए प्रत्यक्ष कर वह है जो किसी दूसरे पर नहीं खिसकाया जा सकता, किन्तु अप्रत्यक्ष कर दूसरे पर खिसकाया जा सकता है। आय कर, उत्तराधिकार तथा सम्पत्ति कर प्रत्यक्ष कर होते हैं, किन्तु वस्तुओं तथा सौदों पर लगे कर अप्रत्यक्ष कर होते हैं। यह ध्यान में रखना चाहिए कि वस्तुओं तथा सम्पत्ति में केवल यही अन्तर है कि वस्तुएँ सम्पत्ति की अपेक्षा कम दिगन्त होती हैं।

डा० निकोलस कैंल्डोर के अनुसार प्रत्यक्ष कर व्यक्तियों तथा कॉर्पोरेशनों पर लगते हैं, किन्तु अप्रत्यक्ष कर वस्तुओं पर लगते हैं। अतः आय पर तथा सम्पत्ति के स्वामित्व पर लगे कर प्रत्यक्ष कर होते हैं तथा सम्पत्ति के कय अथवा विक्रय पर जैसे स्टाम्प शुल्क अप्रत्यक्ष कर होते हैं।

जॉन स्टुअर्ट मिल ने प्रत्यक्ष कर उसे बताया है जो उन्हीं व्यक्तियों से मागा जाता है जिन्हें राज्य की इच्छा के अनुसार उसका भुगतान करना चाहिए तथा अप्रत्यक्ष कर उसे बताया जो किसी व्यक्ति से इस आशा तथा इरादे से मागा जाता है कि वह इसे किसी दूसरे व्यक्ति से वसूल कर लेगा। सम्भवतया विधायक का इरादा वास्तविक तथ्यों के अनुकूल न हो। इंग्लैंड में शिड्यूल ए के अन्तर्गत भूमि तथा भवनों पर कर जमींदार की आय पर वैधानिक रूप में लगता है, किन्तु वह किरायेदार से वसूल किया जाता है। किरायेदार उसे लगान में से घटा लेता है तथा कर को लगान से न घटाने का अनुबन्ध अवैध होगा। अतः मिल की परिभाषा के अनुसार यह कर अप्रत्यक्ष है, किन्तु वास्तव में यह प्रत्यक्ष कर है। अतः विधायक के इरादे का आधार प्रत्यक्ष तथा परोक्ष कर में अन्तर बताने के लिए पर्याप्त नहीं है।

हैडले के अनुसार प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष करों में अन्तर अन्तिम आपात पर आधारित न होकर तात्कालिक भार पर आधारित होना चाहिए। इस परिभाषा के अनुसार ऐसे कर जो वैधानिक रूप से हस्तान्तरित हो सकते हैं अथवा खिसकाये जा सकते हैं तथा जो बिल्कुल हस्तान्तर नहीं होते प्रत्यक्ष कर होते हैं, किन्तु जो कर उपभोक्ताओं में वाणिज्यिक स्पर्धा के कारण जल्दी-जल्दी हस्तान्तर हो जाते हैं अप्रत्यक्ष होते हैं। वैस्टेवूल के अनुसार स्थायी तथा पुनरावर्तक अवमरों पर लगे कर प्रत्यक्ष होते हैं, किन्तु कभी-कभी तथा विशेष घटनाओं पर लगाये गये कर अप्रत्यक्ष होते हैं। मृत्यु कर प्रत्यक्ष कर होते हैं, किन्तु वैस्टेवूल की परिभाषा के अनुसार यह कर अप्रत्यक्ष करों की श्रेणी में आ जायेंगे।

एक अन्य परिभाषा के अनुसार प्रत्यक्ष कर वे हैं जो तत्काल व्यक्तिगत आय तथा सम्पत्ति पर लगाये जाते हैं और वे भी जिन्हें उपभोक्ता सीधे राज्य कोष में जमा करते हैं प्रत्यक्ष कर होते हैं। अन्य सब कर अप्रत्यक्ष होते हैं। इस वर्गीकरण का आधार विधायक का इरादा नहीं है। वास्तविक वसूली यह है कर का तत्काल आय अथवा सम्पत्ति में तथा प्रत्यक्ष रूप में उपभोक्ता द्वारा भुगतान किया जाना है। यदि ऐसा है तो कर प्रत्यक्ष है, अन्यथा अप्रत्यक्ष है।

कर प्रणालियों में प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों ही प्रकार के कर होते हैं। वाय मृत्यु होने पर गृह सम्पत्ति, भूमि तथा जायदाद पर लगे कर प्रत्यक्ष कर होते हैं, किन्तु वस्तुओं पर जैसे उपभोग्य वस्तुओं पर कर, उत्पादन तथा आवश्यक कर तथा सोमा शुल्क अप्रत्यक्ष कर होते हैं।

इनमें तुलनात्मक दृष्टि से प्रत्येक प्रकार के करों में गुण तथा दोष होते हैं। अतः यह आवश्यक है कि कर लगाने समय विधायकों को यह ध्यान में रखनी होती है कि कर इस प्रकार लगाये जायें कि एक प्रकार के कर के दोष दूसरे प्रकार के करों के गुणों से कुछ सोमा तक निष्प्रभाव हो जायें। इसके अतिरिक्त आय के उद्देश्यों के अलावा कर लगाने में करों में उत्पादन तथा आय तथा सम्पत्ति की असमानता पर होने वाले प्रभावों को भी ध्यान में रखा जाता है।

प्रत्यक्ष करों के गुण

मितव्ययता—इनके वसूल करने का खर्च कम होता है। कर दाता सीधे राज्य को भुगतान करते हैं। अतः वसूली व्यय घटाकर जो धन कर दाताओं से वसूल होता है सब राज्य कोष में जमा हो जाता है।

निश्चितता—कर दाता को पता रहता है कि उसे कितना कर देना है। इस लिए वह उसकी व्यवस्था कर लेता है तथा व्यवसाय में बठिनाई नहीं होती। राज्य भी कुछ हद तक कर आय का ठीक अनुमान लगा लेता है और अपनी वित्तीय योजना में परिस्थिति के अनुसार समायोजन कर सकता है।

समता अथवा साम्या—यह गुण एडम स्मिथ के नाम्या सिद्धान्त के अनुकूल

हाते हैं क्योंकि इनमें उपयुक्त सीमा तक प्रगतिशीलता आ सकती है। अधिक आय पर कर की दर अधिक होती है तथा कम आय पर कम। इसलिए इनमें त्याग की समता आने से सब के साथ न्याय होता है। वचत तथा उद्योगों पर इन प्रतिकूल प्रभावों को कर दरों में घट बड़ द्वारा हलका किया जा सकता है। अर्जित आय, परिवार आकार, सम्पत्ति अवमूल्यन आदि के लिए छूट की व्यवस्था दी जाती है। नये उद्योगों को 5 वर्ष तक कर से मुक्त कर दिया जाता है, जिससे उद्योगों में निवेश के लिए प्रोत्साहन मिले। इन उपायों से इनके प्रतिकूल प्रभावों को हलका कर दिया जाता है।

लचीलापन—देश में आय की वृद्धि के साथ प्रत्यक्ष करो से आय स्वतः ही बढ़ती रहती है। उदाहरण के लिए भारत में प्रत्यक्ष करो से आय 1950-51 में 125.70 करोड़ रुपये थी जो 1970-71 के वज्र में बढ़कर 458 करोड़ रुपये हो गयी, किन्तु 1968-69 में यह आय 505 करोड़ रुपये थी।

सामाजिक प्रभाव—इनके सामाजिक प्रभाव हितकर होते हैं। इनसे कर दाताओं में सामाजिक चेतना की जाग्रति होती है आय का व्यय कैसे होता है इस सम्बन्ध में कर दाता उपयुक्त रचि दिखाते हैं।

वितरणात्मक न्याय—प्रत्यक्ष करो से आय तथा सम्पत्ति के वितरण की अत्यधिक असमानता में कमी होती है। मृत्यु कर, उपहार कर, सम्पदा कर, उत्तराधिकार कर, तथा आय वर में ऊँची आय पर ऊँची कर दरों द्वारा वितरणात्मक सुधार किये जाते हैं। व्यय कर तथा कारपोरेशन कर भी इसी श्रेणी में आते हैं। भारत में 1970-71 के वज्र में 2 लाख वार्षिक आय में ऊपर की आय पर कर दर 93.5 प्रतिशत कर दी गई, किन्तु 40,000 रुपये वार्षिक आय की सीमा तक कर दरें पहले जैसी ही रखी गईं।

आय कर एक प्रत्यक्ष कर है। आय कर का भार कर दाताओं पर पड़ता है इसमें प्रत्येक कर दाता की व्यक्तिगत दशा के अनुसार अन्तर किया जा सकता है यह श्रेणीबद्ध भी किया जा सकता है तथा साम्या के सिद्धान्त के अनुसार ढाला जा सकता है। इसका उपयोग मांग घटाने के लिए तथा फलस्वरूप मुद्रा स्थीति में कमी करने के लिए किया जा सकता है जिससे बढ़ती हुई कीमतों पर रोक थाम लग सके।

प्रत्यक्ष करो के दोष—प्रत्यक्ष करो के निम्न दोष हैं:

असुविधा—इन करो का भुगतान एक मुश्त किया जाता है। इसलिए कर दाताओं को असुविधा हो सकती है। इस सम्बन्ध में सुविधा प्रदान करने के लिए आय कर नियोजता द्वारा स्रोत पर ही काट लिया जाता है जो उस धन को राजकोष में जमा कर देता है। ऐसा बेतन के सम्बन्ध में ही हो सकता है, किन्तु व्यवसाय तथा सम्पत्ति से प्राप्त अन्य आय स्रोत पर नहीं घटाई जा सकती। व्यवसायियों के लिए

राजकोष में अग्रिम कर जमा करने की सुविधा दी जाती है, जिससे उन्हें विशेष कठिनाई का सामना न करना पड़े तथा लाभ निकालने से पहले वे इस धन को कुल लाभ में से घटा सकते हैं।

आय कर के विवरण भरने में भी असुविधा होती है। आय कर से छूट के सम्बन्ध में आय कर धर्मचारियों को बहुत विशेषाधिकार होते हैं, जिनके कारण कर दाताओं को कठिनाई हो सकती है।

अपवंचन—इनमें अपवंचन की बहुत संभावना रहती है, जिससे राजकोष में पूरी आय प्राप्त नहीं होती। इसलिए यह आवश्यक है कि कर विधान सरल होने चाहिए, जिससे कर अपवंचन की संभावना बहुत कम रह जाये।

साराण में यह कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष कर लाभकारी होते हैं। उनके विरुद्ध आपत्तियाँ किसी भूल सिद्धान्त के आधार पर न होकर प्रशासनिक प्रक्रिया के कारण होती हैं।

अप्रत्यक्ष करों के लाभ

सुविधा—अप्रत्यक्ष कर कर दाता तथा राज्य दोनों ही के लिए सुविधाजनक है। कर दाता वस्तुओं का क्रय करते समय इन करों का भुगतान विक्रेता को कर देते हैं, जो कर के धन को कीमत में शामिल कर लेता है और क्रेता कर सहित बड़ी हुई कीमत देता है। इसलिए कर दाता को ये कर महसूस नहीं होते। राज्य इन्हें आयातकों, निर्यातकों तथा उत्पादकों से वसूल कर लेता है।

लचीलापन—थोड़ी बहुत फेर बदल से इनसे राज्य की आय बहुत बढ़ सकती है। यदि ये जन साधारण के उपभोग की वस्तुओं पर लगते हैं तो इनसे आय में विशेष रूप में वृद्धि हो सकती है। जनता पर इसका भार कम करने के लिए ये विलासिता की वस्तुओं पर अधिक लगाये जा सकते हैं। यदि ये ऐसी वस्तुओं पर लगते हैं जिनकी माँग सक्षम होती है, तो इनसे आय बहुत बढ़ सकती है। उदाहरणार्थ, भारत में केन्द्रीय करों से आय 1950-51 में राज्यों के भाग सहित लगभग 68 करोड़ रुपये थी, जो 1970-71 में बढ़कर लगभग 1814 करोड़ रुपये तक पहुँच गई, जिसमें 1970-71 में राज्यों का भाग 388.75 करोड़ रुपये था।⁴

अपवंचन की कठिनाई—साधारणतया अप्रत्यक्ष करों का अपवंचन सरल नहीं होता, क्योंकि वे वस्तुओं की कीमतों में जोड़ दिये जाते हैं, किन्तु कभी-कभी क्रेता विक्रेता से कीमत के भुगतान की नकद रसीद न लेने को सहमत हो जाते हैं। तब विक्रेता उनसे कीमत में कट की छूट दे देते हैं। यिन्ही कर के साथ यह बात लागू होती है।

साम्या—विलासिता की वस्तुओं पर कर चगाने या दर बढ़ाने से इनमें साम्या का गुण लाया जा सकता है।

सामाजिक लाभ—अप्रत्यक्ष करों से हानिकारक नशीली वस्तुओं का उपभोग घटाया जा सकता है। ये कर इस दृष्टि से लाभदायक हैं। इसके अतिरिक्त इनसे राज्य की आय में वृद्धि होती है। प्रदेशों में मादक करों का आय की प्राप्ति के अतिरिक्त इन वस्तुओं का उपभोग घटाने का भी प्रभाव है।

वास्तव में राज्य के लिए आय की प्राप्ति के सम्बन्ध में इन दोनों प्रकार के करों में सामंजस्य रखना एक वित्तीय विरोधता है। यह एक साधारण धारणा है कि प्रत्यक्ष कर धनी व्यक्तियों पर लगते हैं, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। अल्प आय के व्यक्तियों पर भी प्रत्यक्ष कर लगते हैं। भारत में 1970-71 के बजट में 5,000 रुपये तक की वार्षिक आय कर से मुक्त कर दी गई है, किन्तु कर की दरें 40,000 रुपये की वार्षिक आय के ऊपर तीव्रता से बढ़ाई गई हैं। अप्रत्यक्ष कर भी ऐसे लग सकते हैं जिनसे धनी वर्ग के व्यक्तियों पर ही उनका अधिक भार हो। विलानिता की वस्तुओं पर करों का यही प्रभाव होता है। इन दोनों प्रकार के करों में संतुलन रखना आवश्यक है, जिससे आय में वृद्धि हो सके। इसी कारण ग्लेडस्टन ने इन दोनों करों की उपमा दो मुन्दर बहनों में दी थी, जिनमें अर्थ मन्त्री की हैसियत से उन्होंने अपने को निष्पक्ष कह कर कहा “मैं इसे केवल स्वीकार्य ही नहीं मानता हूँ, अपितु इन दोनों का आदर करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।”

आय कर तथा पूँजी कर—किसी व्यक्ति की धन द्वारा प्राप्त अथवा सम्पत्ति द्वारा प्राप्त आय पर कर आय कर कहलाता है तथा सम्पत्ति के मूल्य पर लगा कर सम्पत्ति अथवा संपदा कर कहलाता है। यदि पूँजी मूल्य के वार्षिक मूल्य के अनुपात में लगा कर सभी देशों में एक सा है तब दोनों में कोई अन्तर न होगा। यदि यह अनुपात 1:20 है, तो 1000 रुपये वार्षिक मूल्य अथवा आय पर 20 पैसे प्रति रुपये की दर से कर आय उतनी ही होगी जितनी 1 पैसे प्रति रुपये की दर से 20,000 रुपये की मूल्य की पूँजी पर होगी। जब पूँजी का वार्षिक मूल्य का अनुपात अमान्यारण रूप में जैसा है तब पूँजी के मूल्य पर कर भार वार्षिक मूल्य पर कर भार की अपेक्षा, आय दोनों स्थितियों में बराबर होते हुए भी, बहुत अधिक होगा। अविकसित भूमि के स्वामियों पर यह भार विकसित भूमि के स्वामियों की अपेक्षा अधिक होगा। अतः व्यस्त नगरों में सार्वा जमीन के पूँजी मूल्य पर कर लगाने का तर्क इसलिए दिया जाता है जिसमें जमीन का उपयोग हो जाये और वह खाली न पड़ी रहे। उसके मूल्य पर कर लगाने की प्रतीक्षा में स्वामी या तो उसे बेचेंगे या उस पर मकान बनवायेंगे। पूँजी के मूल्य पर कर का भार उत्कृष्ट प्रतिभूतियों के स्वामियों पर सड़ते की प्रतिभूतियों के स्वामियों की अपेक्षा बहुत अधिक होगा।

पूँजी पर निर्धारित किया कर उस कर से भिन्न है जिसका भुगतान पूँजी से होता है। कर पूँजी पर निर्धारित किया जा सकता है, किन्तु इसका भुगतान अन्य से भी हो सकता है। एक व्यक्ति मृत्यु कर का आय से भुगतान करने की व्यवस्था कर सकता है। आय पर निर्धारित किये कर का भुगतान पूँजी का रुपया निगान

कर भी किया जा सकता है। एक व्यक्ति आय कर का यह भुगतान बैंक से स्थिर जमा खाते में से धन निकाल कर भी कर जा सकता है। यह उदाहरण ऐसे कर का है जो आय पर लगा है, लेकिन जिसका भुगतान पूँजी के धन से हुआ है।

सम्पत्ति पर लगे कर तथा वस्तुओं पर लगे कर

यह अंतर सापेक्षिक स्थायित्व पर आधारित है। भूमि की कीमत पर लगा कर सम्पत्ति कर कहलाता है, किन्तु चीनी अथवा वस्त्र पर लगा कर वस्तु कर कहलाता है। जो समय-समय पर कर लगता है वह सम्पत्ति कर कहलाता है। किन्तु जो कर एक बार ही लगता है वह वस्तु कर कहलाता है। कपड़े पर एक ही बार कर लगता है। अतः उसे वस्तु कर कहते हैं। किन्तु भूमि अथवा भवनो पर समय-समय पर लगता है। इसलिए उसे सम्पत्ति कर कहते हैं। मृत्यु कर यद्यपि कभी कभी लगता है, किन्तु यह सम्पत्ति कर होता है।

विशेष कर तथा यथा मूल्य कर

एक विशेष कर किसी वस्तु के वजन तथा उसके आकार के अनुसार लगता है, किन्तु यथा मूल्य कर वस्तु के मूल्य पर लगता है। मोटे कपड़े की कीमत कम होती है। इसलिए उस पर तौल के अनुसार कर लगता है किन्तु बढिया कपड़े पर यथा मूल्य (ad valorem) कर लगता है।

अस्थायी तथा स्थायी कर—अस्थायी कर कुछ समय के लिए ही लगते हैं। उदाहरण के लिए युद्धकालीन लाभ पर कर थोड़े समय के लिए ही लगता है। आय कर स्थायी कर का ही उदाहरण है, यद्यपि इसकी दर समय-समय पर बदलती रहती है।

व्यक्तिक तथा अव्यक्तिक कर—इस वर्गीकरण के तीन रूप होते हैं : व्यक्तिक कर कर दाताओं की व्यक्तिगत विशेषताओं पर लगे कर को व्यक्तिगत कर कहते हैं, किन्तु जिन करों का मानदण्ड व्यक्तिगत विशेषताओं से अलग हो, जैसे व्यक्ति की आय, सम्पत्ति अथवा उसके भवन का लगान, ऐसे कर को अव्यक्तिक कर कहते हैं। दूसरे, कुछ कर व्यक्तियों द्वारा अदा किए कहे जाते हैं तथा कुछ वस्तुओं द्वारा, किन्तु यह वर्गीकरण उचित नहीं है। निम्नदेह जब हम कर आधार के विषय में विचार करते हैं तब हम भूमि कर, उद्योग पर कर, आयात-निर्यात कर आदि शब्दावली का प्रयोग करते हैं, किन्तु इन सबका भुगतान व्यक्तियों द्वारा ही होता है। तीसरे व्यक्तिक कर प्रत्यक्ष कर माने जाते हैं। बैस्टेबूल के अनुसार प्रत्यक्ष कर वे हैं जो स्थायी तथा पुनरावर्तक (recurring) अवसरो पर अथवा समय-समय पर लगते हैं।

अब हम कराधान सम्बन्धी कुछ अन्य शब्दों का स्पष्टीकरण करेंगे।

क्रम-बद्ध कराधान (Graduated Taxation)—इसका अर्थ यह है कि कर की दर आय, सम्पत्ति आदि के मूल्य के अनुसार बदलती है। जब आय के साथ कर की दर बढ़ती है तब अनुक्रम (graduation) ऊपर की ओर होता है। इसे वर्तमान

सम्पन्न हो चुकी है तथा चौथी पंचवर्षीय योजना 1969-74 के लिए जा रही है।

पंचवर्षीय योजनाओं में धन का विनियोग

(करोड़ रुपये में)

योजना काल	धन का विनियोग ^१		
	निजी क्षेत्र	लोक क्षेत्र	योग
पहली योजना	1700	1600	3300
दूसरी योजना	3300	4600	7900
तीसरी योजना	4100	8577	12,677
वार्षिक योजनाएँ 1967-1968		4352	
1968-1969		2337	
चौथी योजना 1969-74	10,000	14,398	24,398

इन योजनाओं में घाटे के बजट से प्राप्त धन का परिमाण निम्न तालिका में दिया हुआ है :

(करोड़ रुपये में)

योजना काल	प्राप्त धन
पहली पंचवर्षीय योजना	421
दूसरी पंचवर्षीय योजना	948
तीसरी पंचवर्षीय योजना	1133
1967-68	416
1968-69	307
चौथी योजना	850 (अनुमान)

निम्न तालिका में इन योजनाओं में भारत को विदेशों से प्राप्त आर्थिक सहायता का परिमाण दिया हुआ है :

(करोड़ रुपये में)

योजना काल	विदेशी आर्थिक सहायता ^२
पहली योजना	200
दूसरी योजना	800 (बाद का अनुमान 1090 करोड़)
तीसरी योजना	2423
वार्षिक योजनाएँ 1966-69	2426
चौथी योजना	2614 जिसमें 380 करोड़ पी० एल० 480 से प्राप्त

5 Third Plan, pp. 95, 105 ; Fourth Plan, pp 78, 80, 90.

6 Second Five Year Plan, p. 81; Fourth Plan, 1969-74, Table 2, p. 74 and Table 3, p 77.

हमारे देश में विकास के लिए साधनों की गतिशीलता देने का प्रयास किया गया है। देश में वृत्त बढ़ाने का तथा विदेशों से तकनीकी तथा आर्थिक सहायता लेने की व्यवस्था की गई है। फलस्वरूप प्रति व्यक्ति तथा राष्ट्रीय आय में वृद्धि हुई है। हमारी पंचवर्षीय योजनाओं में विकास की रूपरेखा की निम्न मुख्य विशेषताएँ हैं। इनका मुख्य उद्देश्य स्थायी आर्थिक वृद्धि के लिए, रोजगार की वृद्धि के लिए तथा जन साधारण के जीवन स्तरों की उन्नति के लिए सुदृढ़ बुनियाद डालना है। विकास की योजनाओं में कृषि को उच्च प्राथमिकता दी गई है, जिससे कृषि उत्पादन उच्चतम स्तरों तक बढ़ सके। कृषि की वृद्धि तथा मानव साधनों के विकास पर ही उद्योगों का विकास निर्भर है। कृषि तथा उद्योग विकास की प्रक्रिया के ही सम्मिलित अंग हैं। योजनावद्ध विकास के द्वारा ही उद्योगों की प्रगति बढ़ सकती है तथा आर्थिक उन्नति सम्भव हो सकती है। भारी मशीनें तथा कल पुर्जे बनाने के उद्योगों को विकसित करना है तथा लोक क्षेत्र तथा सहकारी क्षेत्र का प्रसार होना है। देश में निजी तथा लोक क्षेत्र दोनों ही की वृद्धि आवश्यक है। सामाजिक नीतियों तथा आर्थिक वृद्धि के मुख्य लक्ष्य समाज तथा उसके दुर्बल खण्डों के हित में होने चाहिए। वर्तमान सामाजिक तथा आर्थिक संस्थाओं का मूल्यांकन राष्ट्र के विकास में उनके योग द्वारा होना चाहिए तथा आवश्यकतानुसार उनमें परिवर्तन भी होने चाहिए। जब देश की जनता गरीब है तो उनके लिए सामाजिक न्याय, काम करने का अधिकार, समान अवसर तथा न्यूनतम जीवन स्तर उपलब्ध होने चाहिए। आर्थिक प्रक्रिया की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि उत्पादन तथा वृद्धि वितरण की साम्या के लक्ष्यों की प्राप्ति हो सके। इसीलिए शासकीय हस्तक्षेप आवश्यक है तथा इन्हीं उद्देश्यों को दृष्टिकोण में रखते हुए साधनों को जुटाना तथा उन्हें विभिन्न क्षेत्रों में पहुँचाना आवश्यक है। इसके लिए सुदृढ़ मुद्रा नीति, राजकोषीय नीति तथा कर तथा व्यय सम्बन्धी नीतियों का अनुसरण अत्यावश्यक है। इन्हीं कारणों से शासकीय प्रक्रियाओं का सुचारु रूप में परिचालन आवश्यक है। इसीलिए लोक क्षेत्र का प्रसार भी आवश्यक तथा वाछनीय है।

चौथा अध्याय

शासकीय प्रक्रियाओं के अनुकूलतम स्तर

(OPTIMUM LEVELS OF GOVERNMENT ACTIVITIES)

पिछले अध्याय में इस बात का विवेचन किया गया है कि शासन द्वारा विभिन्न प्रक्रियाओं की व्यवस्था क्यों की जाती है। इसी से सम्बन्धित यह प्रश्न है कि इन प्रक्रियाओं के अनुकूलतम स्तर क्या है। विभिन्न शासकीय प्रक्रियाओं के स्तरों तथा तत्सम्बन्धी व्ययों के क्या नियम हैं? नियमों का निर्धारण तो आर्थिक प्रणाली के सामान्यतया मान्यता प्राप्त लक्ष्यों के आधार पर ही होगा। ये लक्ष्य नीचे दिये गये हैं -

(1) प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यवसाय तथा रोजगार के चयन की अधिकतम स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

(2) माधनों के दृष्टिकोण से श्रेष्ठतम जीवन स्तर होने चाहिए।

(3) आर्थिक प्रगति की वाछनीय दर की प्राप्ति होनी चाहिए।

(4) आय तथा सम्पत्ति का वितरण सुसंगति के मान्यता प्राप्त मानदण्डों के अनुरूप होना चाहिए।

शासकीय प्रक्रियाएँ दो प्रकार की होती हैं। एक तो वे जिनका सम्बन्ध साधनों के बटवारे से होता है, उदाहरण के लिए उपलब्ध धन राजि का कितना भाग किस प्रक्रिया के लिए उपलब्ध करना चाहिए। नागरिक सेवाएँ, प्रतिरक्षा, समाज सुरक्षा, शिक्षा आदि के लिए कितना धन उपलब्ध करना चाहिए। दूसरे प्रकार की क्रियाओं को अंतरण प्रक्रियाएँ कहते हैं। उदाहरण के लिए निजी क्षेत्र में शासकीय क्षेत्र के लिए साधनों का अंतरण।

औपचारिक अर्थ में अनुकूलतम माधनों के बटवारे का जो नियम निजी क्षेत्र के लिए उपयुक्त है, वही शासकीय क्षेत्र में लागू होता है। इस नियम के अनुसार सीमान्त सामाजिक लागत तथा लाभ में समता होनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि आय का वितरण ज्यों का त्यों बना रहते हुए उत्पादन के अनुकूलतम स्तर तभी प्राप्त हो सकते हैं, जब सभी क्षेत्रों में उत्पादन उस स्तर तक आ जाये जहाँ सीमान्त सामाजिक लाभ सीमान्त सामाजिक लागत के समान है। जब सभी वस्तुओं के सम्बन्ध में यह

स्थिति आ जाती है, तब उत्पादन के सभी क्षेत्रों में सीमान्त सामाजिक लाभ समान होते हैं तथा इस प्रकार उत्पादन के प्रत्येक कारक के सीमान्त अशदान सभी वस्तुओं के उत्पादन में समान रहते हैं। आय के वितरण की रूपरेखा ज्यों की त्यों रहते हुए, ऐसी स्थिति में उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों में कारकों के पुनर्व्यवस्थापन से आर्थिक कल्याण में उन्नति नहीं हो सकती।

शासन के सम्बन्ध में सीमान्त नियम की प्रयुक्ति APPLICATION OF MARGINAL PRINCIPLE TO GOVERNMENTAL ACTIVITY

शासन के सम्बन्ध में इस नियम की प्रयुक्ति का अर्थ यह होगा कि प्रत्येक शासकीय प्रक्रिया उसी सीमा तक बढ़ाई जाये जहाँ प्रक्रिया से प्राप्त सीमान्त सामाजिक लाभ सीमान्त सामाजिक लागतों के बराबर होते हैं। सीमान्त सामाजिक लाभ शासकीय प्रक्रियाओं से समाज के सदस्यों को प्राप्त होने वाले लाभों का प्रतिनिधित्व करते हैं। सीमान्त सामाजिक लागत निजी क्षेत्र के उन उत्पादन के लाभों को प्रतिबिम्बित करते हैं जिनका उस समय त्याग हो जाता है जब शासन अपनी प्रक्रियाओं के लिए इन कारकों को निजी क्षेत्र से ले लेता है। यदि प्रत्येक प्रक्रिया से यह स्तर प्राप्त हो जाता है, तब सब प्रक्रियाओं के सीमान्त सामाजिक लाभ एक दूसरे के बराबर होते हैं, अर्थात् प्रत्येक सेवा के उत्पादन में प्रत्येक रुपये के व्यय से समान लाभ होता है। उदाहरण के लिए शिक्षा पर प्रत्येक अन्तिम रुपये के व्यय से समाज को उतना ही लाभ होगा जितना प्रत्येक अन्तिम रुपये को सड़क निर्माण अथवा प्रतिरक्षा सम्बन्धी सेवा पर खर्च करने से होगा। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह है कि यदि किसी एक शासकीय प्रक्रिया पर, जैसे शिक्षा, सीमान्त रुपये के खर्च से दूसरी प्रक्रिया की अपेक्षा, जैसे लोक उपवन, लाभ कम होता है, ऐसी दशा में सामाजिक लाभ में उन प्रक्रियाओं पर व्यय कम करने से जिनसे सामाजिक लाभ कम होता है तथा उस धन को अन्य प्रक्रियाओं पर लगाने से, जैसे इस उदाहरण में अन्तिम रुपया शिक्षा से हटा कर लोक उपवन पर लगाया जाये, तब सामाजिक लाभ में वृद्धि होगी।

ऐसा भी हो सकता है कि सभी शासकीय प्रक्रियाओं से होने वाले सामाजिक सीमान्त लाभ एक दूसरे के बराबर हों, किन्तु वे उन लाभों से कम हों जो उतने ही व्यय से व्यक्तियों को अपनी इच्छानुसार उतना ही धन अर्थ-व्ययस्था के निजी क्षेत्र पर व्यय करने से होते, तब ऐसी अवस्था में शासकीय प्रक्रियाओं को कम करने से तथा निजी क्षेत्र में उत्पादन बढ़ाने से समाज को लाभ होगा।

इसे निम्न तालिका की सहायता से अधिक स्पष्ट किया जा सकता है :

अन्तिम धन राशि से प्राप्त उपयोगिता

(इकाइयों में)

शिक्षा

उपवन

50

60

उपर्युक्त से यह स्पष्ट है कि उतनी ही अन्तिम धन राशि के व्यय से शिक्षा

से 50 इकाई तथा उपवन से 60 इकाइयों का लाभ प्राप्त होता है। इसलिए यह आवश्यक है कि कुछ धन शिक्षा से हटाकर उपवन पर व्यय किया जाये जिससे दोनों का सीमान्त लाभ समाज के लिए बराबर हो।

शासन द्वारः कीमत प्रणाली का उपयोग

जब शासकीय प्रक्रियाओं द्वारा व्यक्तियों की प्रत्यक्ष तथा प्रत्यक्ष रूप में लाभ प्राप्त होते हैं तथा मुनीति संगत सिद्धान्त के अनुसार भी ये लाभ समान हैं तब शासन सेवाओं की सीमान्त लागत में बराबर कीमतों पर बेच कर प्रक्रिया के स्तरों में समंजन लाने के लिए कीमत प्रणाली का उपयोग कर सकता है। फलस्वरूप ऐसी स्थिति में सीमान्त सामाजिक लागत तथा सीमान्त सामाजिक लाभ दोनों बराबर होंगे। ऐसी स्थिति में लाभ को प्रत्यक्ष रूप में नापने की समस्या नहीं रहेगी। यदि कीमतें सीमान्त लागत के स्तर पर स्थापित हैं, तब व्यक्ति सेवाएँ इतनी ही खरीदेंगे कि उन्हें शासकीय तथा निजी क्षेत्रों में उत्पादित वस्तुओं से सीमान्त लाभ समान हों। ऐसी अवस्था में यदि निजी क्षेत्र में सीमान्त लागत तथा कीमतों में समता है तब शासकीय सेवाओं के उत्पादन में तथा निजी क्षेत्र में उत्पादित वस्तुओं में अनुकूलतम समंजन होगा। ऐसा न होने का फल साधनों का गलत बटवारा होगा। ऐसी अवस्था में अनुकूल स्थिति निजी क्षेत्र में उत्पादन में सुधार द्वारा पुनः प्राप्त हो सकेगी।

यहाँ एक बात ध्यान में रखनी चाहिए। शासकीय सेवाओं की कीमतें सीमान्त लागत के समान रखने से उसी दशा में इन सेवाओं का अनुकूलतम उत्पादन हो सकेगा जबकि समाज को समूह के रूप में उन लाभों के अतिरिक्त जो व्यक्तियों को अलग-अलग होते हैं अन्य कोई अप्रत्यक्ष लाभ न होते हों। यदि ऐसे अप्रत्यक्ष लाभ होते हों तो शासकीय सेवाओं की कीमतों को सीमान्त लागत के आधार पर रखने से उत्पादन बहुत कम होगा, क्योंकि इन लाभों को नापने का प्रयास किया जायेगा तथा कीमतों को तय करते समय इनको विचाराधीन रखा जायेगा।

सम.ज के लाभों की माप

अधिकांश शासकीय प्रक्रियाएँ ऐसी हैं जो उपभोक्ताओं को बेची नहीं जा सकती। कुछ लाभ मारे समाज को समूहिक रूप में ही होते हैं, वे अलग-अलग व्यक्तियों को नहीं होते। इसलिए इन सेवाओं की कीमत लेकर अलग-अलग व्यक्तियों को नहीं बेचा जा सकता। इनके अतिरिक्त कुछ वस्तुएँ तथा सेवाएँ ऐसी हैं जिनकी व्यक्तियों को बेचने से आय के वितरण में वांछनीय मुनीति संगत सिद्धान्तों से विरोध होगा। इन स्थितियों में प्रक्रियाओं के अनुकूलतम स्तरों के निर्धारण के लिए कीमत प्रणाली का प्रत्यक्ष रूप में प्रयोग करना उचित नहीं होगा। ऐसी दशा में समाज की सीमान्त भलाई तथा सीमान्त सामाजिक लागत का सिद्धान्त औपचारिक रूप में लागू होने पर भी नीति की दृष्टि से उपयोगी सिद्ध नहीं होगा।

पुलिस तथा प्रतिकक्षा सम्बन्धी ऐसी सेवाएँ हैं जिनकी व्यक्तियों के लिए अलग आवश्यकता अथवा उपयोगिता तय नहीं की जा सकती। इनका लाभ समाज

को सामूहिक रूप में ही होता है। इसलिए सीमान्त लागत के आधार पर कीमत तय करके इनकी व्यवस्था नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त शिक्षा, लोक आरोग्यता आदि ऐसी सेवाएँ हैं जिन्हें लागत के आधार पर कीमत लेकर व्यक्तियों को बेचने से आय के वितरण की असमता बढ़ेगी। इसलिए इन सेवाओं को गरीब आदमियों को मुफ्त देना ही आवश्यक है। अतः इनकी व्यवस्था सीमान्त लागत के सिद्धान्त के अनुसार कीमत तय करके अनुकूलतम स्तर तक नहीं हो सकती।

यदि शासन को समाज की एक आर्गेनिक इकाई मान लिया जाये, जो उन व्यक्तियों से मिलता है जिन से मिलकर समाज बना है तथा यह इकाई समाज के लिए निर्णय लेती है तब भी यह कहना उचित ही है कि शासन का कर्तव्य सब प्रक्रियाओं को उस स्तर तक बढ़ाने का है जहाँ सीमान्त लाभ तथा सीमान्त लागत समान है। सीमान्त लाभ सामाजिक उपयोगिता में सेवा की एक अतिरिक्त इकाई की उपयोगिता का योग होगा तथा सीमान्त लागत अतिरिक्त इकाई की उपयोगिता घटा कर निकाली जायेगी। इस नीति के अनुसार शासन को इन नीतियों द्वारा व्यक्तियों को होने वाले लाभ तथा हानियों का अनुमान लगाना होगा। इस प्रकार शासन को विभिन्न व्यक्तियों की सापेक्षिक उपयोगिताओं का अनुमान लगाना होगा। इसलिए ऐसा करना नितान्त उद्देश्यहीन होगा, क्योंकि इस प्रकार की तुलना असम्भव होगी। इसलिए शासन की प्रक्रियाओं से समाज को सामूहिक रूप में होने वाले लाभों तथा लागतों के अनुमान करने का कोई साधन नहीं है। अतः नीति निर्धारण में सीमान्त सामाजिक लाभ तथा सीमान्त सामाजिक लागत के सिद्धान्त से कोई व्यावहारिक अथवा वास्तविक निर्देशन नहीं मिलता।

एक वास्तविक उपागम यह होगा कि समाज को व्यक्तियों का समूह मान लिया जाय, जो सामूहिक रूप में व्यक्तियों के लिए निर्णय लेने के लिए एक प्रकार का ढाँचा होगा, तथा जिसके उन व्यक्तियों से जिनसे मिलकर यह समूह बना है अलग उद्देश्य अथवा लक्ष्य नहीं होंगे। अतः पृथक्-पृथक् व्यक्तियों के तथा समूह के उद्देश्य भी एक ही होंगे। इस अर्थ में शासकीय प्रक्रियाओं के वे अनुकूलतम स्तर जो समाज को सामूहिक रूप में लाभ पहुँचाते हैं समाज द्वारा उन प्रक्रियाओं के विभिन्न उद्देश्यों के सापेक्षिक महत्त्व के मूल्यांकन पर निर्भर होंगे। दूसरे शब्दों में हम यही कह सकते हैं कि शासन की प्रत्येक प्रक्रिया के अनुकूलतम स्तर जो समाज के इस सामूहिक निर्णय पर निर्भर होंगे जो प्रत्येक प्रक्रिया के विशेष लक्ष्य को एक हद तक आवश्यक मानता है। शासन के बहुत उद्देश्य हैं जैसे बाह्य आक्रमण से बचाव करना, जन शिक्षा की व्यवस्था करना, जीवन तथा सम्पत्ति का संरक्षण करना, यातायात की उपयुक्त व्यवस्था करना, आदि। इन्हीं उद्देश्यों की सफलता पर शासन की प्रक्रियाओं की फुलता निभर है। किस उद्देश्य पर अधिक ध्यान दिया जाय, किस पर कम दिया जाये, इसी निर्णय को अनुकूलतम निर्णय तब कहेंगे जब प्रत्येक प्रक्रिया उसी स्तर तक

की जाय जहा पर सीमान्त सामाजिक लाभ तथा सीमान्त सामाजिक लागत प्रत्येक प्रक्रिया के सम्बन्ध में समान हैं। ऐसी दशा में ही सामूहिक रूप में समाज के लिए कुल उपयोगिता अधिकतम होगी। सीमान्त सामाजिक लाभ तथा सीमान्त सामाजिक लागत का सिद्धान्त औपचारिक रूप में सभी परिस्थितियों में लागू होता है, किन्तु जब शासकीय प्रक्रियाओं के लाभ समाज को जाते हैं तब यह अनुपयुक्त तथा अर्थहीन है। अनुकूलतम स्तर उन विभिन्न शासकीय प्रक्रियाओं के उद्देश्यों की प्राप्ति की मात्रा पर निर्भर रहते हैं जिन्हें जनमत अर्थ-व्यवस्था के निजी क्षेत्र के उत्पादन की व्यक्तियों की इच्छाओं के सम्बन्ध में आवश्यक समझता है।

विभिन्न उद्देश्य कहाँ तक वांछनीय हैं तथा समाज प्रक्रियाओं की क्या महत्त्व देता है इस सम्बन्ध में जनमत निर्धारण करने का कार्य शासन का है। दूसरे शब्दों में कौन सी शासकीय प्रक्रिया किस हद तक समाज के हित में है तथा विभिन्न प्रक्रियाओं में प्रत्येक की क्या सापेक्षिक उपयोगिता है इस बात का निर्णय लेने का कर्तव्य शासन का ही है। शासन की उन नीतियों तथा व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में निर्णय लेता है जिनसे जनमत के अनुसार सामाजिक उद्देश्यों की अधिकतम पूर्ति हो सकेगी। लोकतन्त्र में नीतियों के तय करने का मूल दायित्व समद पर रहता है तथा इसमें शासन से निर्देशन मिलता है।

लाभों का अनुमान

सामाजिक उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए विभिन्न प्रक्रियाओं तथा व्ययों के स्तरों के लाभों का अनुमान सामन का एक प्रारम्भिक कार्य है। यह कार्य वास्तव में राष्ट्रीय प्रतिरक्षा जैसी प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में बहुत कठिन है, किन्तु फिर भी निम्न बातों से इसमें सहायता मिलती है :

प्रथम, बहुत सी प्रक्रियाओं के लिए तथ्य सम्बन्धी सूचना उपलब्ध रहती है। उदाहरण के लिए मिचाई के किसी प्रोजेक्ट पर निर्णय लेने के लिए उसकी लागत तथा उससे होने वाले लाभों के सम्बन्ध में एकाउन्टेन्टो तथा इन्जिनियरों द्वारा किये गये अनुमान उपलब्ध रहते हैं।

दूसरे, यह स्पष्ट है कि समाज की वांछनाओं के दृष्टिकोण से कुछ प्रक्रियाओं पर व्यय अन्य प्रक्रियाओं की अपेक्षा अधिक आवश्यक होते हैं। उदाहरण के लिए चिकित्सा में बच्चे की शिक्षा के मुकाबले में प्रारम्भिक शिक्षा अधिक आवश्यक है।

तीसरे, यह भी स्पष्ट है कि किसी भी प्रक्रिया से प्राप्त सामाजिक सीमान्त लाभ व्यय की वृद्धि के साथ कम होता जाता है।

उदाहरण के लिए दो शासकीय प्रक्रियाओं को ले लीजिए। पहली वह प्रक्रिया जो माने हुए सामाजिक मूल्यों के अनुसार समाज के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है और दूसरी वह प्रक्रिया जो समाज के लिए पहली से कम महत्त्वपूर्ण है। एक निश्चित सीमा से ऊपर अधिक व्यय से पहली प्रक्रिया से उतना लाभ नहीं मिलेगा जितना

दूसरी प्रक्रिया से। उदाहरण के लिए एक छोटे नगर के लिए आग बुझाने की एक ट्रक पर उपवन की व्यवस्था की अपेक्षा खर्च से समाज के लिए अधिक लाभ होगा। यदि नगर के समक्ष यह विकल्प है कि उतना ही धन ट्रक पर या पार्क पर लगाया जाये, तो अग्नि से बचाव के लिए ट्रक अधिक उपयोगी होगा। किन्तु यदि ३ ट्रक मौजूद हैं तथा उपवन एक भी नहीं है, तब उपवन की उपयोगिता चौथे ट्रक की अपेक्षा अधिक होगी। किन्तु बहुत अवसरों पर समाज के वाछनीय उद्देश्यों को दृष्टि-कोण में रखते हुए यह अनुमान लगाना कि कौन-सी प्रक्रिया अधिक लाभदायक है विरोध कठिन होता है। उदाहरण के लिए राष्ट्रीय प्रतिरक्षा सम्बन्धी प्रक्रिया के अनुकूलतम स्तर का पता लगाना अत्यन्त कठिन हो जाता है, क्योंकि इसका अनुकूलतम स्तर दूसरे देशों की स्थिति पर भी निर्भर है जिसका अनुमान लगाना सम्भव नहीं है।

लागतों का अनुमान

व्यय सम्बन्धी कार्यक्रमों के निर्धारण में भी इसी प्रकार प्रोग्रामों से प्राप्त फलों की लागतों को ध्यान में रखना चाहिए। इन प्रोग्रामों की लागतों के दो पहलू होने हैं : (१) साधनों को शासकीय उत्पादन के लिए अंतरण से निजी क्षेत्र में उत्पादित वस्तुओं के उत्पादन में कमी, (२) आय की प्राप्ति के तथा विशेष रूप में करों के साधनों के सभरण, प्रोत्साहनों तथा आर्थिक विकास पर होने वाले प्रभाव।

उत्पादन के साधन निजी क्षेत्र से शासकीय क्षेत्र में हस्तान्तरित होते हैं। इससे राजकीय प्रक्रिया की वृद्धि होती है। फलस्वरूप निजी क्षेत्र में उत्पादन घटता है। इस प्रकार शासकीय प्रक्रिया की वृद्धि के कारण निजी क्षेत्र में उत्पादन में कमी समाज के लिए ककरीट, लोहा, श्रम तथा सीमेंट आदि वस्तुएँ आवश्यक है। इनकी उपलब्धि निजी क्षेत्र के लिये कम हो जाती है। वहाँ से हटाकर ये वस्तुएँ सरकारी भवनों के निर्माण के लिए प्राप्त होती हैं। यदि साधनों का पूर्णतया उपयोग हो रहा है तो शासकीय उत्पादन में वृद्धि निजी क्षेत्र में उत्पादन घटने से ही हो सकती है, क्योंकि इसके लिए अधिक मात्रा में साधन शासकीय क्षेत्र में पहुँचाने चाहिए। यदि सभी साधन वही न कहीं उपयोग में आ रहे हैं, देश में साधन खाली नहीं पड़े हैं, अतः उन्हें किसी अन्य स्थान से हटाकर राजकीय क्षेत्र में भेजा जा सकता है। इससे निजी क्षेत्र में उत्पादन कम हो जायेगा। सामान्यतया व्यक्तियों के लिए यह लागत करों के रूप में अभिव्यक्त होती है। ये कर शासकीय प्रक्रियाओं की लागत की पूर्ति के लिए प्राप्त किये जाते हैं। करों का फल यह होता है कि कर-दाता कर देने के पश्चात् कम वस्तुएँ खरीद सकता है, क्योंकि उनकी आय कम हो जाती है। कर प्रणाली से तो केवल यह पता चलता है कि व्यक्तियों पर कर भार कैसे वितरित होता है। व्यक्तियों के लिए सामूहिक भार निजी क्षेत्र में उत्पादन में कमी होना है। पूर्ण रोजगार की स्थिति में यह भार अवश्य रहेगा, कर लगे या न लगे। यदि कर नहीं लगेंगे तो धन उधार लेकर शासकीय प्रक्रियाओं का खर्च चलाया जायेगा।

ऐसी स्थिति में यह भार मुद्रा स्फीति द्वारा होगा, जिसके फलस्वरूप व्यक्तियों की आय की त्रय शक्ति घटेगी तथा वस्तुओं की कीमतें बढ़ेंगी।

उपर्युक्त तर्क इस बात पर आधारित है कि अर्थ-व्यवस्था में साधनों का पूर्ण उपयोग हो रहा है, लेकिन यदि ऐसे भी साधन हैं जिनका उपयोग नहीं हो रहा है, तब शासकीय उत्पादन में वृद्धि निजी क्षेत्र में उत्पादन में कमी न होते हुए भी हो सकती है, क्योंकि शासकीय प्रक्रियाओं में ऐसे साधनों का उपयोग हो सकता है जो खाली पड़े हों। ऐसी स्थिति में निजी क्षेत्र में उत्पादन कम होने के बजाय बढ़ेगा। अतः ऐसी स्थिति में समाज के लिए शासकीय प्रक्रियाओं की वास्तविक लागत पूर्ण रोजगार की स्थिति की अपेक्षा बहुत कम होगी। अतः मन्दी काल में प्रशासकीय प्रक्रियाओं के विस्तार से समाज के लिए वास्तविक लागत बहुत कम होगी। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि प्रशासनिक प्रक्रियाओं का स्तर व्यावसायिक प्रक्रिया के अनुकूल घटा बढ़ा कर मरलता से नहीं हो सकता। फिर भी जहाँ तक यह बात सम्भव है वहाँ तक उन प्रक्रियाओं की वास्तविक लागत मन्दी काल में जबकि अर्थ-व्यवस्था का प्रसार आवश्यक हो जाता है, बहुत कम होगी।

आय प्रणाली के घर्षणात्मक प्रभाव

(The frictional effects of the revenue system)

साधनों के अंतरण के कारण निजी क्षेत्र में उत्पादन की कमी होने से अर्थ-व्यवस्था पर शासकीय प्रक्रिया का भार होता है। इसके अतिरिक्त शासकीय सेवाओं की पूर्ति के लिए करों द्वारा प्राप्त की गई आय अर्थ-व्यवस्था में प्रोत्साहनों पर होने वाले प्रभावों का भी गौण भार पड़ता है। करों का एक प्रत्यक्ष प्रभाव यह होता है कि पासन के पास साधनों के अंतरण के कारण निजी क्षेत्र में व्यय में कमी हो जाती है। व्यक्तियों की आय का कुछ भाग जो करों के रूप में शासन के पास चला जाता है वस्तुओं पर व्यय के लिए व्यक्तियों के पास उपलब्ध नहीं रहता। इसके अतिरिक्त कर भूँकि अनिवार्य होते हैं, इनसे अर्थ-व्यवस्था की कार्यात्मकता के अन्य पहलुओं पर प्रभाव पड़ते हैं। इनसे उत्पादन के साधनों के सभरण में घट-बढ़ हो सकती है, इन साधनों के सापेक्षिक परिमाण में परिवर्तन हो सकते हैं तथा इन का प्रोत्साहनों तथा दक्षता पर भी प्रभाव हो सकता है। विभिन्न करों के अलग-अलग प्रभाव होते हैं।

ज्यों-ज्यों शासकीय प्रक्रियाओं का प्रसार होता है त्यों-त्यों समाज के लिए व्यय की प्रत्येक इकाई की वास्तविक लागत बढ़ती रहती है। शुरु में प्रशासकीय प्रक्रियाएँ ऐसे साधनों से चलाई जाती हैं जो निजी क्षेत्र में लग कर ऐसी आवश्यकताओं की पूर्ति करते जिनकी तीव्रता कम होती, किन्तु धीरे-धीरे जैसे-जैसे प्रशासन साधनों की अधिक मात्रा प्राप्त करता है तैसे-तैसे व्यक्तियों को निजी क्षेत्र में उत्पादित उन वस्तुओं को त्यागना पड़ता है जिनसे अधिक तीव्रता की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। इसी प्रकार करों के घर्षणात्मक प्रभाव भी धीरे-धीरे करों की वृद्धि के

साथ अधिक भ्रष्टाचार होते जाते हैं। कम करो का अर्थ-व्यवस्था पर महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ता, किन्तु कर दर ऊँची होने से प्रोत्साहनों को भारी बाधा होती है।

लाभ तथा लागत की तुलना

प्रत्येक प्रशासकीय प्रक्रिया द्वारा समाज में वाछनीय उद्देश्यों की पूर्ति होती है। निजी क्षेत्र में उत्पादित वस्तुओं में कमी होने से समाज को हानि होती है किन्तु प्रशासकीय क्षेत्र में प्रक्रिया के प्रसार से समाज को लाभ होता है। शासन को अपनी प्रक्रिया का ऐसा स्तर चयन करना चाहिए जिससे विभिन्न उद्देश्यों की जनमत के अनुसार वाछनीय स्तर तक पूर्ति हो सके। इसके लिए विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा प्राप्त लाभों की तुलना होनी चाहिए। प्रशासन को यह देखना चाहिए कि जनता के हित में कौन सी प्रक्रिया अधिक उपयोगी है तथा जनमत किसे अधिक पसन्द करेगा। इसके साथ समाज के लिए होने वाली वास्तविक लागत तथा लाभ की तुलना करनी चाहिए। प्रशासनिक प्रक्रिया का ऐसा स्तर रखना चाहिए जहाँ सामाजिक लाभ तथा वास्तविक सामाजिक लागत समान हों। व्यय के ऐसे ही स्तर को अनुकूलतम स्तर कहते हैं। अनुकूलतम व्यय के स्तरों के निर्धारण में बाधाएँ

व्यय के अनुकूलतम स्तरों के निर्धारण में कई बाधाएँ आती हैं। प्रथम, समाज की पसन्द को मापना बहुत कठिन है। जनमत के अनुसार सामाजिक उद्देश्यों के प्राथमिकता के क्रम का अनुमान लगाना बहुत कठिन है। विभिन्न वर्गों की सामाजिक वस्तुओं के लिए अलग-अलग पसन्द होगी। सभी वर्गों की पसन्द अधिकतम स्तर तक पहुँच सके ऐसा हल निकालना सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त सब व्यक्तियों की सामाजिक वस्तुओं के लिए पसन्द के क्रम का अनुमान लगाना बहुत कठिन है। विभिन्न वर्ग यह चाहेंगे कि सामाजिक सेवाओं का लाभ उन्हें प्राप्त हो, किन्तु कर अन्य वर्गों पर लगे। समाज के उद्देश्यों की प्राथमिकता के क्रम को ध्यान में रखते हुए प्रशासनिक व्यय के विशेष स्तरों से होने वाले लाभों के अनुमान में भी बहुत कठिनाइयाँ हैं। लोकतन्त्र में इसके अनुमान का मूल दायित्व विधानकारी संस्था पर ही होगा, किन्तु विधिकारों में बहुत सी प्रशासनिक प्रक्रियाओं का तथा उनमें होने वाले लाभों का ज्ञान नहीं होता तथा उन्हें निष्पक्ष सूचना (unbiased information) भी सरलता से नहीं मिल सकती। लोकतान्त्रिक शासन में वास्तविक निर्णय अधिकतर वे व्यक्ति लेते हैं जिन्हें नीतियों के प्रशासन का प्रत्यक्ष अधिकार होता है। सिद्धान्त रूप में तो प्रशासकीय प्रक्रियाओं की वास्तविकता लागत तथा उसके लाभों का अनुमान करना सम्भव है, किन्तु प्रशासक अपने विभागों के बारे में अत्यधिक उत्साह से प्रेरित हो कर समाज की आवश्यकताओं पर कम बल देते हैं तथा निजी विभाग की प्रक्रियाओं को अधिक महत्व देते हैं। वे इस सम्बन्ध में पूर्वाग्रह से ऊपर नहीं उठ पाते।

एक और कठिनाई यह है कि जनता को प्रशासनिक प्रक्रियाओं से होने वाली वास्तविक लागत तथा लाभों का ज्ञान नहीं होता। इसलिए शासन उन नीतियों

का पालन नहीं कर पाता जो माने हुए सामाजिक उद्देश्यों के हित में वाछनीय है। वास्तव में विभिन्न लक्ष्यों की वाछनीयता के अन्तिम निर्णय की जिम्मेदारी तो समाज पर ही है, किन्तु नीति निर्धारक व्यक्ति लक्ष्यों को दृष्टि में रख कर विभिन्न नीतियों का मूल्यांकन करने में तभी सफल हो सकते हैं जब उन्हें प्रोग्रामों के वास्तविक परिणामों तथा लागतों के विषय में पूरी सूचना प्राप्त हो। नीतियों की स्वीकृति जनता के बहुमत से होने पर भी यदि उनका परिपालन लाभ तथा लागत सम्बन्धी अपर्याप्त सूचना के आधार पर होता है तो ऐसी स्थिति में इन प्रक्रियाओं तथा व्ययों के स्तरों पर बहुमत प्राप्त होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि ये समाज के वाछनीय उद्देश्यों की अनुकूलतम स्तर के अनुसार पूति करते हैं। यदि एक व्यक्ति अपर्याप्त सूचना के आधार पर ऐसी वस्तुएँ खरीदने में अपनी आय खर्च करता है जिससे उसे उचित उपयोगिता नहीं मिलती, तो उसे आय के ऐसे व्यय से अनुकूलतम लाभ नहीं हो सकता। ठीक ऐसी ही दशा उम समय होती है जब लागत तथा लाभ सम्बन्धी अनुपयुक्त सूचना के आधार पर प्रशासकीय प्रक्रियाओं पर व्यय किया जाता है। अतः प्रशासन का एक मुख्य कार्य जनता को विभिन्न प्रशासकीय प्रक्रियाओं के विषय में पर्याप्त सूचना प्रदान करना है जिससे शासकीय प्रोग्रामों के लिए समाज के उद्देश्यों की सफलता के लिए जन समर्थन उपलब्ध हो सके।

प्रशासनिक प्रक्रियाओं को अनुकूलतम स्तरों पर लाने के निम्न मार्ग हैं

(1) जनता का इन प्रक्रियाओं के निर्धारण में प्रत्यक्ष अधिकार—एक यह सुझाव दिया जाता है कि नीति का निर्धारण जनता के प्रतिनिधियों द्वारा तब न होकर प्रत्यक्ष रूप में जनमत द्वारा तब किया जाये। लेकिन प्रशासकीय प्रक्रियाओं तथा व्यय सम्बन्धी बातें इतनी जटिल हैं तथा समस्याएँ इतनी टेक्निकल हैं कि इनका वास्तविक सीमे मतदाताओं पर छोड़ना उपयुक्त नहीं होगा। टेक्निकल बातों को ऐसे मरल ढंग से प्रस्तुत करना असम्भव है जिससे मतदाता उन्हें सरलता से समझ सकें।

(2) प्रशासकीय स्तर पर कार्यों का विभाजन—अनुकूलतम व्यय स्तरों को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक समझा गया है कि कार्यों का विभाजन तत्ताओं के विभिन्न स्तरों की क्षमता के अनुसार किया जाये। स्थानीय महत्व के मामलों को स्थानीय संस्थाओं के सुपुर्द किया जाये। उन्हें अपने कार्य करने के लिए आय के कुछ साधन दिये जाये। उन्हें कर लगाने के अधिकार दिए जाये तथा आर्थिक सहायता भी दी जाये। कुछ कार्य प्रदेशीय शासनों को सौंपे जाये तथा उनके लिए उन्हें आय के साधन उपलब्ध किये जायें। केन्द्र के अधिकार में प्रतिरक्षा, यातायात तथा संचार, परराष्ट्र नीति, मुद्रा-व्यवस्था आदि राष्ट्रीय स्तर के मामले दिये जायें। कार्यों के विभाजन के अनुकूल प्रशासकीय स्तर की इन समस्याओं को आय के उपयुक्त साधन भी मिलने चाहिए। संघीय शासन प्रणाली में कार्य तथा आय के साधनों का इसी प्रकार बंटवारा होता है। भारत में भी यही व्यवस्था है। इस प्रणाली में भी विभिन्न

व्ययों से होने वाले लाभों में समंजन लाने में कठिनाई होती है। कौन से कर किस सीमा तक प्रशामन के विभिन्न स्तरों को दिये जायें इसमें भी कठिनाई आती है। इस सम्बन्ध में बहुत सी समस्याएँ प्रस्तुत होती हैं। विभिन्न देशों में जहाँ-जहाँ सघीय प्रशामन प्रणाली है कार्यों तथा आय के स्रोतों का विभाजन ऐतिहासिक, सामाजिक तथा अन्य बातों पर निर्भर रहा है तथा इनका विकास धीरे-धीरे हुआ है।

यह भी आवश्यक है कि प्रशासन के प्रत्येक स्तर का कार्य क्षमता से किया जाये, जिससे कार्यों के करने में लागत न्यूनतम हो तथा लाभ अधिकतम हो। इसके लिए अनुकूलतम प्राविधियों का प्रयोग भी आवश्यक है। अर्थ-व्यवस्था के निजी क्षेत्र में तो अधिकतम क्षमता के लिए बहुत दबाव तथा प्रोत्साहन होते हैं। प्रतियोगी परिस्थिति के कारण जो फर्म अपना व्यवसाय कुशलता से नहीं चला पाती वे कालान्तर में समाप्त हो जाती हैं। प्रशासकीय स्तर पर लाभ का उद्देश्य हट जाता है। क्षमता के लिए कुछ प्रोत्साहन इस कारण होता है कि शासन करो को कम स्तर पर रखना चाहता है, जिसमें करदाताओं के प्रतिनिधि प्रशासन की आलोचना न करें। इसलिए प्रशामन द्वारा करो के स्तर को नीचा रखने का तथा एक निश्चित आय से अधिकतम स्तर की सेवाएँ देने का प्रयास किया जाता है। हो सकता है कि यह प्रयास अपर्याप्त रहे। कीमत पणाली द्वारा ही क्षमता का निर्देशन सम्भव हो सकता है, किन्तु इसमें कठिनाई सिद्धान्त की नहीं, किन्तु उसके परिपालन की है।

पुनर्वितरण प्रक्रियाओं के श्रेष्ठतम स्तर

(Optimum levels of redistributive activities)

सरकार की अंतरण अथवा पुनर्वितरण सम्बन्धी प्रक्रियाओं में साधनों के उपयोग अथवा समाज को सेवाएँ देने के प्रश्न नहीं आते, अतः इन प्रक्रियाओं में सरकारी सेवाओं के उत्पादन के समंजन की समस्याएँ नहीं उठती। इन प्रक्रियाओं द्वारा क्रय-शक्ति कुछ व्यक्तियों से अन्य व्यक्तियों के पास चली जाती है। अतः अनुकूलतम स्तरों का विचार इस बात पर निर्भर होगा कि जनमत आय के वितरण के कौन से नमूने को सर्वाधिक स्तर तक साम्यिक (equitable) समझता है। ये सब सामाजिक मूल्यों से सम्बन्धित निर्णय हैं। आज समाज में यह धारणा है कि बाजार पर आधारित समाज में आय के वितरण की क्षमता अत्यधिक है तथा शासन को इस बात का प्रयास करना चाहिए कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक न्यूनतम जीवन-यापन का स्तर प्राप्त हो। इस अभिवृत्ति (attitude) के आधार पर केवल प्रगामी वर प्रणाली का ही परिचलन नहीं है, बल्कि इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के समाज सुरक्षा के कार्यक्रम भी विकसित हो गये हैं। इन कार्यक्रमों की वाछनीयता तथा पर्याप्तता का मूल्यांकन इस बात से होना चाहिए कि किस समय आय के वितरण का वाछनीय प्रतिरूप क्या है। आय के वितरण की साम्यता के आधार पर ही कल्याणकारी कार्यक्रमों का मूल्यांकन होना चाहिए। कल्याणकारी कार्यक्रमों के

आर्थिक प्रभावों पर भी विचार होना चाहिए। एक ओर तो अंतरण प्रक्रियाओं से आर्थिक विकास में कमी है। इनके लिए करो द्वारा प्रोत्साहन कम हो जाते हैं। दूसरी ओर गरीबों के जीवन स्तरों की वृद्धि से उत्पादन बढ़ता है। त्रय-शक्ति के विचलन (shift) से बेरोजगारी के कम होने में सहायता मिलती है। इन कार्यक्रमों के आर्थिक स्थिति पर प्रतिकूल प्रभावों की तुलना इनके फलस्वरूप आय की अधिक साम्यता से होनी चाहिए। समाज किन उद्देश्यों को अधिक मान्यता देता है इसी दृष्टिकोण से इन कार्यक्रमों पर निर्णय लेने चाहिए।

पाँचवाँ अध्याय
राष्ट्र के आर्थिक लक्ष्य
 (NATIONAL ECONOMIC GOALS)

मुद्रा, साख तथा राजकोपीय नीतियों के तीन मुख्य लक्ष्य हैं : आर्थिक प्रगति पर्याप्त दर पर होनी चाहिए, उत्पादन तथा रोजगार की अविच्छिन्न (sustained) वृद्धि होनी चाहिए तथा वस्तुओं के मूल्यों में उपयुक्त स्थायित्व रहना चाहिए। तभी जीवन स्तरों की उन्नति सम्भव हो सकती है। इन तीन लक्ष्यों का अन्य राष्ट्रीय उद्देश्यों के साथ समन्वय होना आवश्यक है। अन्य उद्देश्यों में पर्याप्त राष्ट्रीय सुरक्षा का ऊँचा स्थान है। दूसरे देशों से मित्रता के सम्बन्ध होने चाहिए। राष्ट्र का एक यह भी प्रमुख उद्देश्य है कि वस्तुओं तथा साधनों के बटवारे के लिए विपणन प्रक्रिया में आस्या हो तथा आर्थिक स्वतन्त्रता का एक वाछनीय स्तर भी जरूरी है। अर्थ-व्यवस्था के उपयुक्त संचालन तथा उसकी विपणन शक्तियों के अनुसार साधनों के कुशल उपयोग के लिए निजी उद्यम प्रणाली में क्रियात्मक स्पर्धा लाना भी आवश्यक है।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि स्वतन्त्र उद्यमों अर्थ-व्यवस्था में शासकीय हस्तक्षेप आवश्यक है। विभिन्न स्तरों पर शासन द्वारा ऐसी वस्तुएँ तथा सेवाएँ उपलब्ध की जाती हैं जिनकी व्यवस्था सुचारु रूप से निजी उद्यम द्वारा सम्भव नहीं हो सकती जैसे—प्रतिरक्षा, यातायात, जन शिक्षा तथा दूसरे देशों को आर्थिक सहायता आदि की व्यवस्था प्रदान करना। निजी क्षेत्र में उत्पादन सम्बन्धी बहुत से निर्णय शासकीय प्रक्रियाओं से प्रभावित होते हैं। साख सहायता, अनुदान तथा कर सम्बन्धी रियायतें, शासन द्वारा मूल्य समर्थन (price support) आदि शासकीय हस्तक्षेप के उदाहरण हैं जिनसे निजी क्षेत्र में उत्पादन सम्बन्धी निर्णयों पर प्रभाव पड़ता है।

शासन का एक मुख्य कर्तव्य यह है कि निजी क्षेत्र के उपयुक्त रूप में संचालन के लिए व्यवस्था की जाय जिससे प्रतियोगी विपणन प्रणाली द्वारा साधनों का कुशल उपयोग हो सकता है। अन्य बातों के साथ शासन को यह देखना चाहिए कि प्रतियोगिता प्रभावी रहे तथा उपभोक्ताओं के हित में कार्यान्वित हो।

कुछ ऐसी सेवाएँ हैं जिनकी व्यवस्था शासन द्वारा होनी चाहिए, क्योंकि वे जनहित में हैं तथा निजी क्षेत्र में उनकी निपुण व्यवस्था नहीं हो सकती। राज्य का यह देखने का कर्तव्य है कि निजी उद्यम का इस प्रकार संचालन हो कि धर्मिकों की रोजगार की सुविधाएँ पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हो सकें। जिन व्यक्तियों में काम करने की शक्ति तथा इच्छा है उन्हें रोजगार मिल सके। राज्य को अधिकतम उत्पादन तथा रोजगार की सुविधाओं की व्यवस्था करनी चाहिए।

पर्याप्त आर्थिक वृद्धि, बेरोजगारी के स्तरों में कमी तथा कीमतों में उचित स्थायित्व के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए शासन तथा निजी उद्यम में सहयोग आवश्यक है। ये तीनों उद्देश्य एक दूसरे के पूरक हैं। इनमें कुछ संघर्ष की सम्भावना भी हो सकती है। उदाहरण के लिए यदि मूल्य स्तर के स्थायित्व के उद्देश्य के लिए विरोध प्रयाम किये जायें, तब आर्थिक वृद्धि तथा रोजगार के स्तरों में कुछ कमी आ सकती है या ये 'झगने बढ़े' जितने उस समय घटते जबकि मूल्य स्तरों पर इतना ध्यान न दिया जाता जितना दिया गया है। यह हो सकता है कि समय-समय पर किसी एक उद्देश्य को अन्य उद्देश्यों की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया जाय। उदाहरण के लिए अत्यधिक मुद्रा प्रसार के प्रभाव इतने अधिक हो जायें कि मूल स्तर के स्थायित्व को शिलर प्राथमिकता दी जाय। इससे रोजगार तथा आर्थिक वृद्धि कुछ पीछे रहे किन्तु सामान्य-तया इन सब उद्देश्यों को साथ-साथ लेकर चलना चाहिए।

दूसरे, इन लक्ष्यों के पारस्परिक मेल का स्तर इनकी सफलता के लिए किये गये उपायों से भी प्रभावित होगा। किसी एक लक्ष्य की पूर्ति के लिए ऐसे भी उपाय हो सकते हैं जिनसे अन्य उद्देश्यों को कोई हानि न पहुँचे; किन्तु ऐसे भी हो सकते हैं जब एक की सफलता से दूसरे को हानि पहुँचे। उदाहरण के लिए आर्थिक वृद्धि में निपुणतापूर्वक उन्नति हो तो चालू उपभोग पर कोई कुप्रभाव नहीं होगा।

तीसरे, मुद्रा साख तथा अकेले राजकोपीय उपायों द्वारा ही तीनों लक्ष्यों में साथ साथ पर्याप्त सफलता तब नहीं मिलेगी जबकि मार्ग के परिवर्तन द्वारा साधन एक उपयोग से दूसरे में घीमी गति से प्रविष्ट हो या कुछ वर्ग इतने शक्तिशाली हों कि वे कीमतों या मजदूरी को दरों को अनुचित ऊँचे स्तरों पर रखने में सफल हो सकें। बहुत से देशों में बेरोजगारी को एक स्तर से कम करने के उपायों से मूल्य स्तरों में वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त यदि मूल्य स्तरों पर एक सीमा से आगे मुद्रा, साख तथा राजकोपीय नीतियों द्वारा रक्षाबंद लगें तो आर्थिक वृद्धि की गति घीमी होगी तथा बेरोजगारी बढ़ेगी। प्रयाम होना चाहिए कि सभी उद्देश्यों में साथ साथ सफलता मिले। रोजगार की वृद्धि हो, मूल्य स्तरों में उचित स्थायित्व रहे तथा आर्थिक वृद्धि की गति भी अनुकूल हो ऐसा सुव्यवस्थित आर्थिक नियोजन द्वारा सम्भव है।

किसी भी देश में रोजगार के स्तर के सम्बन्ध में दो बातें चिंता का विषय होती हैं। बेरोजगारी के दो मुख्य प्रभाव होते हैं। पहला, बेरोजगार व्यक्तियों पर इस परिस्थिति का प्रत्यक्ष प्रभाव होता है। दूसरा प्रभाव कुल उत्पादन तथा उसकी

वृद्धि की दर पर होता है। बेरोजगार व्यक्तियों को समृद्धि के लाभ नहीं मिलते। व्यक्तियों की बेरोजगारी से बेरोजगार व्यक्ति के कुटुम्ब को ही हानि नहीं पहुँचती, बल्कि बेरोजगारी उत्पादन के साधनों के अपव्यय का कारण भी होती है। लेकिन बेरोजगारी के स्तर में कमी के उद्देश्य का यह अर्थ नहीं है कि बेरोजगारी बिल्कुल ही समाप्त हो जाय। युद्ध काल में भी श्रम की माँग की वृद्धि होने पर भी किसी भी अर्थ-व्यवस्था में बेरोजगारी पूर्णतया समाप्त नहीं हुई। किसी स्थान में एक विशेष प्रकार की योग्यता के लिए श्रम की माँग तथा सभरण की स्थिति पैदा करना असम्भव है।¹

बेरोजगारी के कारण

दो बातों में अन्तर समझना चाहिए। एक तो यह कि बेरोजगारी इसलिए है कि व्यक्तियों के लिए पर्याप्त परिमाण में काम नहीं है या व्यक्तियों के लिए जाब्स (Jobs) नहीं हैं। दूसरी परिस्थिति ऐसी है जिसमें सरचनात्मक, घर्षणात्मक तथा मौसम सम्बन्धी कारण हो। ये दोनों परिस्थितियाँ सदा स्पष्ट नहीं होती या यों कहा जाये कि बेरोजगारी के इन दो कारणों में सदा अन्तर स्पष्ट नहीं होता। मन्दी काल में माँग की कमी बेरोजगारी का मुख्य कारण होता है। हाल के वर्षों में भारत में इन्जीनियरिंग तथा अन्य उद्योगों में मन्दी के कारण बेरोजगारी बढ़ी है। आर्थिक वृद्धि की गति धीमी होने से माँग धीमी होने के कारण बेरोजगारी होती है। इस प्रकार की बेरोजगारी को माँग की कमी की बेरोजगारी कहते हैं। भारत में योजना काल में विशेषतया तीसरी योजना में आर्थिक वृद्धि की गति निर्दिष्ट लक्ष्यों की अपेक्षा बहुत धीमी रही। इसलिए भारत में मुख्यतया आर्थिक वृद्धि की धीमी गति बेरोजगारी का मुख्य कारण है, किन्तु कुछ देशों में माँग की कमी से भी बेरोजगारी हुई है।

कभी-कभी ऐसी स्थिति भी हो सकती है कि रोजगारों की सख्या श्रमिकों की सख्या के बराबर या अधिक हो। ऐसी स्थिति में भी कुछ व्यक्ति बेरोजगार होते हैं। ऐसी स्थिति में कभी यह होता है कि काम करने वाले व्यक्ति मौजूद हैं, लेकिन जिस काम के लिए माँग है उसके लिए वे व्यक्ति अनुपयुक्त हैं। ऐसी स्थिति में काम तथा श्रमिकों की कुशलता में तारतम्य नहीं है। इसे सरचनामूलक बेरोजगारी कहते हैं।

ऐसी स्थिति होती है कि किसी एक नगर में जीवों की उपलब्ध सख्या में तथा श्रमिकों में एक प्रकार से सामंजस्य हो, लेकिन कुछ कारखानों में प्रसार के कारण उत्पादन बढ़ता है। अतः नये श्रमिकों की जरूरत होती रहती है। कुछों में कमी होती है। कुछ श्रमिक स्वेच्छा से काम छोड़ते हैं, लेकिन उन्हें फौरन ही दूसरा काम नहीं मिल पाता, कुछों को छोड़ते ही मिल जाता है। श्रमिकों को रिक्त स्थानों के बारे में तुरन्त सूचना नहीं मिल पाती। इसलिए कुछ व्यक्ति कुछ समय तक बेरोजगार रहते हैं, जब वे समझते हैं कि उनकी बेरोजगारी थोड़े समय के लिए है वे काम तलाश नहीं करते। ऐसी बेरोजगारी को घर्षणात्मक बेरोजगारी कहते हैं।

1 The Report of the Commission on Money and Credit, U. S. 1958, p. 24.

कर सकता है। निजी उद्योग द्वारा भौतिक पूँजी पर अधिक धन व्यय होगा, क्योंकि उससे लाभ होगा। शिक्षा पर व्यय से प्रत्यक्ष रूप में तत्काल लाभ की आशा नहीं हो सकती। यह कार्य राज्य द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है।

इसी प्रकार राज्य साधनों का अपवर्तन उपभोग क्षेत्र से उत्पादन के लिए कर सकता है। इस सम्बन्ध में पूँजी निर्माण के लिए बहुत प्रकार के प्रोत्साहन दिए जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त विलासिता की वस्तुओं के उपभोग पर कर लगा कर उन पर खर्च में कमी की जा सकती है। करों द्वारा प्राप्त किया गया धन उत्पादन कार्यों में लगाया जा सकता है।

ऋण भुगतान के लिए राज्य की आय से ऋण शोधन निधि की पूँजी निर्माण के लिए स्थापना हो सकती है। भारत में राज्य सरकारों द्वारा आय को संचित कोषों से पूँजी निर्माण कार्यों में लगाने से प्रोत्साहन मिलता है। करों द्वारा प्राप्त धन का कुछ भाग ही बचाया जा सकता है, किन्तु जो धन निवेशकों (investors) को दिया जाता है उसका पुनर्निवेश होता है। अतः ऋण शोधन नीति द्वारा पूँजी निर्माण कार्य को प्रोत्साहन मिलता है, जिससे उत्पादन की वृद्धि होती है।

ऋण शोध-कोष द्वारा अनुत्पादक ऋण का भुगतान किया जा सकता है। इन धन से निजी क्षेत्र में सम्पत्ति निर्माण द्वारा उत्पादन की वृद्धि हो सकती है। इसके अतिरिक्त लोक अधिकारी निजी व्यवसायों का ऋण कर सकते हैं। इससे सम्पत्ति निजी क्षेत्र से राजकीय क्षेत्र में जा सकती है। इससे प्राप्त धन से निजी क्षेत्र में नये व्यवसायों को प्रोत्साहन मिल सकता है। लोक व्यय से लोक स्वामित्व में नई सम्पत्ति का निर्माण हो सकता है।

इस प्रकार लोक व्यय नीति द्वारा वचत तथा पूँजी निर्माण को प्रोत्साहन मिल सकता है। वचत को कराधान से युक्त कर के पूँजी निर्माण को प्रोत्साहित किया जा सकता है। इस प्रकार लोक व्यय नीति द्वारा वचत को प्रोत्साहित किया जा सकता है।

आर्थिक स्थिरता तथा रोजगार

लोक व्यय नीति का उपयोग आर्थिक स्थायित्व लाने के लिए किया जाता है, जिसके फलस्वरूप रोजगार बना रहे तथा रोजगार के अवसरों की वृद्धि हो। जब समाज उत्पादन के लिए आवश्यक धन से कम व्यय करता है तथा निवेश से बचत अधिक होती है तो ऐसी दशा में चीजों की कीमतें गिरती हैं जिससे बाजार में मन्दी आती है। कीमतों के गिरने पर उपभोक्ता उपभोग सम्बन्धी माल को कम खरीदते हैं, जिसके फलस्वरूप निर्माता वर्ग कच्चे माल का व्यय घटा देता है। ऐसी दशा में राज्य निजी माँग की कमी को अपनी व्यय नीति द्वारा पूरी कर सकता है। यदि मन्दी का कारण वचत का निवेश से अधिक होना है। तब निवेशकों को प्रोत्साहन देकर निवेश में वृद्धि की जा सकती है। वचत को आकृष्ट करने के लिए

नये उद्योग शुरू किए जा सकते हैं। पाश्चात् देशों में बचत की ओर सहज ही झुकाव रहता है। राज्य निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्र में उत्पादक व्यवसायों की वृद्धि कर सकता है। इसके लिए दो उपाय किए जा सकते हैं। कराधान नीति में दृढ़-कृट सम्बन्धी भत्तों में परिवर्तन किया जा सकता है तथा व्याज दरों पर नियन्त्रण होना चाहिए, जिससे निवेशकों में व्यवसाय के प्रति विश्वास की भावना की जागृति हो सके।

निवेश के स्तर को बढ़ाने के निम्न पद हो सकते हैं :

(1) निजी निवेश को प्रोत्साहन देने के लिए व्याज दर नीची होनी चाहिए तथा साख सुविधाएँ बढ़नी चाहिए।

(2) नये उद्योगों के वित्त के लिए सुविधाएँ होनी चाहिए।

(3) करो में कमी होनी चाहिए।

(4) नये निवेश पर मूल्य ह्रास सम्बन्धी भत्तों की दर बढ़नी चाहिए।

(5) राज्य को लघु उद्योगों के लिए वित्तीय सुविधाएँ देनी चाहिए तथा अनुमन्धान तथा विक्रय सम्बन्धी सुविधाएँ बढ़ानी चाहिए। भारत में 1971 में लगभग 170 वस्तुओं का निर्माण लघु उद्योगों के लिए सुरक्षित है।

(6) निजी उद्योगों को प्रत्यक्ष आर्थिक सहायता प्रदान करनी चाहिए।

सार्वजनिक निवेश

जब निजी निवेश द्वारा पूर्ण रोजगार की स्थिति को स्थापित करने के लिए प्रयास सफल नहीं होते, तब निजी निवेश की कमी को पूरा करने के लिए राज्य सार्वजनिक निर्माण कार्यों के प्रसार के लिए प्रयत्न करता है। ऐसी परिस्थिति में राज्य निवेश के उतार चढ़ाव की पूर्ति के लिए सार्वजनिक कार्यों के स्तर में फेर बदल करना है।

उपयुक्त वित्त पर उन्नीसवीं शताब्दी की विचारधारा के अनुसार बेरोजगारी बढ़ने पर तनाव के समय लोक व्यय में कमी की जाती थी। ऐसा बजट में सन्तुलन करने के लिए किया जाता था, किन्तु इस नीति से आर्थिक जीवन में स्थायित्व लाना सम्भव नहीं था। अब नयी विचारधारा के अनुसार कुछ परिस्थितियों में घाटे के बजट को वाछनीय समझा जाता है। वित्त के परम्परागत साधनों के अनुसार लोक व्यय को कर सामर्थ्य की सीमा के अन्तर्गत ही सीमित किया जाता था। अब ऐसा नहीं है। अब वित्तीय सन्तुलन आय तथा व्यय में सामान्य बजट नीति द्वारा नहीं प्राप्त किया जाता है। प्रत्याशित आय तथा उपलब्ध साधनों का अनुमान लगाकर अब इस बात का पता लगाया जाता है कि व्यय का प्रसार किस सीमा तक हो सकता है तथा कराधान द्वारा इसकी किस सीमा तक पूर्ति हो सकती है। जब व्यय कराधान की आय में अधिक होता है तब यह अन्तर स्फोटिकांगी होता है। बजट राष्ट्रीय आय तथा राष्ट्रीय व्यय के आधार पर तैयार किया जाता है। युद्ध काल में यह नीति सफल रही है, किन्तु इसकी पूर्ण रोजगार की प्राप्ति के लिए शान्ति काल में व्यवहार

में लाना है। अस्फीतिकारी तथा स्फीतिकारी अन्तर को मालूम किया जा सकता है। यदि अन्तर अस्फीतिकारी हो तो इसका अर्थ है कि निवेश बचत से कम है। इस बात का पता तभी चल सकता है जब राष्ट्रीय आय के विषय में अद्यावधिक (up-to-date) तथा विश्वस्त सूचना प्राप्त हो। पाश्चात्य देशों में इस सम्बन्ध में अंक उपलब्ध रहते हैं तथा अब सभी अल्प विकसित देशों में भी इस सम्बन्ध में आर्थिक नियोजन के कारण अंक उपलब्ध रहते हैं। तभी निजी निवेश के सम्बन्ध में सूचना प्राप्त करना सम्भव होता है तथा सभी रोजगार सम्बन्धी नीति निर्दिष्ट हो सकती है।

प्रति वर्ष दो बजट होने चाहिए : आषाढ बजट, जिसमें प्रतिरक्षा, प्रशासन, राष्ट्रीय ऋण सम्बन्धी व्याज, देश के अन्दर शान्ति व्यवस्था की स्थापना आदि बातों के सम्बन्ध में व्यय का अनुमान रहता है। इस बजट में सन्तुलन लाना आवश्यक है। दूसरा बजट पूँजीगत बजट कहलाता है। इसमें पूँजीगत आय तथा पूँजीगत व्यय का अनुमान रहता है। पूँजीगत व्यय की पूर्ति ऋण द्वारा होती है, जिससे पूँजीगत सम्पत्ति का निर्माण होता है।

पूँजीगत बजट में व्यय की कसौटी सामाजिक दृष्टि से लाभप्रद होती है अर्थात् ऐसा पूँजीगत व्यय न्यायसंगत है जो सामाजिक दृष्टि से लाभप्रद हो। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि इस व्यय के फलस्वरूप इतनी आय होनी चाहिए जिससे व्याज का भुगतान हो सके। भवन निर्माण, सड़क, शिक्षा, लोक चिकित्सा आदि बातों पर व्यय से जनता की उत्पादन शक्ति बढ़ती है जिससे आर्थिक समृद्धि की वृद्धि होती है। अतः वार्षिक पूँजीगत बजट के लोक व्यय का अनुमान करने में मुख्य कसौटी सामाजिक लाभ होना चाहिए। दूसरे शब्दों में वही पूँजीगत व्यय उपयुक्त है जिससे समाज का लाभ हो।

अतः लोक व्यय नीति का उपयोग आर्थिक स्थायित्व प्राप्त करने तथा रोजगार बढ़ाने के लिए किया जाता है। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए घाटे का वित्त आधुनिक बजट का एक अनिवार्य भाग है। घाटे के वित्त का उपयोग उत्पादन बढ़ाने तथा रोजगार को बढ़ाने के लिए अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन योजनाओं के लिए किया जाता है। घाटे के बजट का उपयोग भारत की पंचवर्षीय योजनाओं में भी इसी दृष्टिकोण से किया गया है। किन्तु इस प्रकार की वित्त-व्यवस्था स्फीतिकारी सिद्ध हुई है, जिसको नियन्त्रण में रखने के लिए उपयुक्त उपाय किये जाने चाहिए।

रोजगार को कायम रखना

एक लोक सत्ता अपनी श्रम की माँग दृढ़ रखकर ही रोजगार को कायम रख सकती है। यह अपने व्यय का कार्यक्रम ऐसा बना सकती है कि व्यापार के मन्द होने के काल में श्रम की माँग में वृद्धि हो। इसी दृष्टिकोण से 1930 के दशक में अमेरिका तथा यूरोप के देशों में रोजगार की वृद्धि के लिए लोक-निर्माण कार्यों की योजनाएँ शुरू की गईं। राज्य अपने व्यय की व्यवस्था ऐसी कर सकता है कि जब

निजी क्षेत्र में श्रम की माँग घटे तब लोक क्षेत्र में श्रम की माँग बढ़ाई जाय, अर्थात् लोक क्षेत्र को श्रम की माँग में निजी क्षेत्र की श्रम की माँग की विपरीत दशा में उतार-चढ़ाव हों। प्रयास इस बात का होना चाहिए कि दोनों ही क्षेत्रों में श्रम की माँग में वृद्धि हो, किन्तु इसके साथ साथ, श्रम की माँग की वृद्धि स्फीतिकारी नहीं होनी चाहिए।

मन्दी काल में राज्य निजी उद्योगों की वृद्धि के लिए आर्थिक सहायता भी दे सकता है। इस व्यय की पूर्ति कराधान से न होकर यदि ऋण द्वारा की जाय तब श्रम की माँग अधिक होगी। ऋण के वित्त द्वारा साख का प्रसार होता है, जिससे वचत नये निवेश के लिए प्रयोग में लायी जाती है। फलस्वरूप श्रम की माँग बढ़ती है, जिससे रोजगार की सुविधाएँ भी बढ़ती हैं। अतः श्रम की माँग को कायम रखकर बजट नीति द्वारा रोजगार के अवसर बढ़ाये जा सकते हैं। इसके लिए ब्यौरेवार योजनाएँ तैयार होनी चाहिए, जिनको कार्यान्वित करने के लिए सुदृढ़ व्यवस्था होनी चाहिए।

साधनों का दिक्परिवर्तन

(Diversion)

लोक व्यय द्वारा साधनों का एक स्थान से दूसरे को तथा एक उद्योग से दूसरे को दिक्परिवर्तन होता है। भारत में मध्य शासन प्रदेशों को विभिन्न उद्देश्यों के लिए आर्थिक सहायता देता है। इसी प्रकार प्रदेशीय शासन भी लोक मत्ताओं को शिक्षा तथा अन्य कार्यों के लिए आर्थिक सहायता देते हैं। इससे अनुदान पाने वाले हिताधिकारियों को अपने कार्य उपयुक्त रूप में करने में क्षमता प्राप्त होती है। पिछड़े हुए क्षेत्रों में शिक्षा के प्रसार तथा प्रशासन की उन्नति के लिए विशेष अनुदान दिये जाते हैं। इस लोक व्यय से उत्पादन की वृद्धि होती है। उन उद्योगों को आर्थिक सहायता दी जाती है जिनका तत्सम्बन्धित स्थान के आर्थिक विकास पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। इसका फल यह होता है कि बेकार पड़े हुए भौतिक तथा मानवीय साधन उपयोग में आते हैं, जिससे उत्पादन बढ़ता है।

उपर्युक्त तर्क निजी सम्पत्ति तथा निजी उद्योग पर आधारित औद्योगिक प्रणाली के लिए लागू होता है। राज्य के कार्यक्षेत्र के बहुत बढ़ने पर इस साधन का महत्व कम हो जाता है। रूम की तरह की सामाजिक अर्थ-व्यवस्था में जहाँ निजी सम्पत्ति द्वारा उत्पादन की गुंजायश नहीं है, निजी वचत का विशेष महत्व नहीं होता। ऐसी अर्थ-व्यवस्था में आर्थिक प्रक्रिया का निर्देशन राज्य द्वारा होता है तथा लोक उद्यम (public enterprise) की व्यवस्था भी राज्य द्वारा ही होती है। इसमें करों द्वारा बहुत आय नहीं होती, किन्तु भारत जैसी मिली जुली अर्थ-व्यवस्था में जहाँ निजी तथा लोक दोनों ही प्रकार के उद्यमों (enterprises) को महत्व दिया जाता है, लोक व्यय द्वारा साधनों के दिक्परिवर्तनों का विशेष महत्व है। इनका उत्पादन तथा रोजगार पर विशेष प्रभाव होता है।

लोक व्यय तथा वितरण

लोक व्यय के कई रूप होते हैं। मुद्रा के रूप में व्यवसायीयों को तथा उद्योगपतियों को अनुदान दिये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त वस्तुएँ तथा सेवाएँ नि शुल्क तथा लागत से कम कीमत पर प्रदान की जा सकती हैं। इस प्रकार के व्यय का आय के वितरण पर विशेष प्रभाव पड़ता है। डॉ० डाल्टन ने तीन प्रकार के अनुदान बताये गए हैं।

- (1) प्रतिगामी (Regressive)
- (2) आनुपातिक (Proportional)
- (3) प्रगामी (Progressive)

प्रतिगामी अनुदान उसे कहते हैं जब हिताधिकारी की आय अधिक हो तो उसे अनुदान भी आनुपातिक रूप में अधिक मिले। प्रगामी अनुदान उसे कहा गया है जब हिताधिकारी की आय अधिक हो तो उसे अनुदान आनुपातिक दृष्टि से कम मिले। आनुपातिक वह अनुदान है जब हिताधिकारी की आय जो कुछ भी हो उसे अनुदान से आय में आनुपातिक वृद्धि हो।

कम आय के व्यक्तियों को यदि अधिक अनुदान दिये जायें तब आय के वितरण की असमानता घटती है। यदि सभी व्यक्तियों को एक निश्चित आयु आने पर एक सी पेन्शन दी जाय, तब इस प्रकार का भुगतान प्रगामी अनुदान कहा जायेगा, जिससे हिताधिकारियों की आय की असमानता घटेगी। इस प्रकार बीमारी, तथा बेरोजगारी के भत्ते के रूप में तथा गरीबों को नि शुल्क सुविधाओं के रूप में मौद्रिक अनुदान दिये जाने से आय के वितरण की असमानता घटती है। इसी प्रकार भारत में विभिन्न योजनाओं में केन्द्र से राज्यों को जो पिछड़े खण्डों की शिक्षा की उन्नति के लिए तथा पिछड़े प्रदेशों की शासन प्रणाली की उन्नति के लिए जो अनुदान दिये जाते हैं उनसे आय के वितरण की असमानता घटती है। इसी प्रकार शिक्षा पर तथा तकनीकी प्रशिक्षण पर व्यय द्वारा परोक्ष रूप में आय के वितरण की असमानता घटेगी। इसके फलस्वरूप इस प्रकार प्रशिक्षित व्यक्तियों की आय बढ़ेगी। वे ऐसे पेशों को जहाँ कम वेतन मिलता है छोड़कर उन पेशों में चले जायेंगे जहाँ उनका प्रशिक्षण अधिक लाभदायक होगा और जहाँ उन्हें अधिक वेतन मिलेगा। आधुनिक समाज सुरक्षा पर व्यय भी इसी प्रकार का है। मातृत्व भत्ते, कल्याणकारी कानून, न्यूनतम वेतन कानून आदि का फल यह होता है कि आय की असमानता घटती है जिससे राष्ट्रीय सामाजिक वितरण में गरीबों के लिए अधिक लाभ होता है। ये सब सुविधाएँ गरीब वर्ग के व्यक्तियों के लिए दी जाती हैं- जिससे परोक्ष रूप में उनकी आय बढ़ती है।

लोक व्यय तथा आर्थिक कल्याण

वस्तुओं तथा सेवाओं को राज्य द्वारा गरीबों के लिए नि शुल्क तथा

कम कीमत पर देने से आय की असमानता घटती है। इसके फलस्वरूप समाज की उत्पादन शक्ति की वृद्धि होती है तथा जनता के आर्थिक कल्याण की वृद्धि होती है। प्रो० पीगू के अनुसार कोई कारण हो जिसमें गरीबों की वास्तविक आय का निरपेक्ष भाग बढ़ता है वशतः कि इससे किसी भी दृष्टि से राष्ट्रीय लाभान्वित न घटे, तब सामान्यतया इससे अधिक कल्याण की वृद्धि होगी।¹

लोक वित्त नीति के फलस्वरूप राष्ट्रीय आय के वितरण में गरीबों के पक्ष में कई प्रकार से परिवर्तन हो सकते हैं। प्रथम, कराधान तथा लोक व्यय नीति द्वारा त्रय शक्ति का धनी वर्ग को निर्धन वर्ग के लिए अन्तरण हो सकता है। करो द्वारा प्राप्त किए धन को ऐसी बातों पर व्यय किया जाय जिससे गरीब व्यक्तियों को लाभ पहुँचे। दूसरे, गरीब व्यक्तियों तथा धनी व्यक्तियों में त्रय शक्ति वैसे ही बँटी रहने पर यह सम्भव है कि गरीबों को लाभ हो तथा अमीरों को कुछ हानि हो। राशनिंग प्रणाली अथवा अन्य किसी उपाय द्वारा धनी व्यक्तियों की माँग ऐसी वस्तुओं के लिए कम करने के प्रयास किये जो गरीबों के लिए बहुत आवश्यक हैं और जिनका उत्पादन ऐसी परिस्थितियों में होता है कि उनकी माँग कम होने से उनकी कीमत घट आयेगी। इससे गरीबों को लाभ पहुँचेगा। यदि आय का अन्तरण अमीरों से गरीबों को होता है तो इसका यह फल होगा कि जनता की अधिक तीव्र इच्छाओं की सन्तुष्टि बढेगी। इसका फल यह होगा कि अधिकतम सन्तुष्टि की वृद्धि होगी।

अमीर आदमियों को सभी अधिक सन्तोष मिलता है जब वे समझते हैं कि उनके पास दूसरों से अधिक धन है। मिल के अनुसार मनुष्यों की केवल अमीर होने की ही इच्छा नहीं होती, किन्तु उनकी यह भी इच्छा रहती है कि उनके पास दूसरों से अधिक धन हो। एक लालची व्यक्ति कितना ही धन होने पर भी सन्तुष्ट नहीं होगा। यदि वह यह समझे कि अपने पड़ोसियों में वही सबसे गरीब है। बहुत होने से ऐसी इच्छा की सन्तुष्टि पर बहुत खर्च होता है। यदि दो व्यक्तियों की आय 25 प्रतिशत घटा दी जाय तो भी एक व्यक्ति की अपने पड़ोसी में अच्छा दिखने की इच्छा की पूर्ति वैसी ही हो सकती है जैसी तब होती जबकि दोनों की आय पहले जैसी रहती है। इसीलिए प्रो० पीगू का कहना यह है कि धनी आदमियों की आय द्वारा प्राप्त तुष्टि का एक बड़ा भाग उनके निरपेक्ष धन से न प्राप्त होकर सापेक्ष धन से प्राप्त होता है। अतः सभी धनी व्यक्तियों की आय कम होने से यह भाग नष्ट नहीं होगा। इसलिए यदि अमीरों से गरीबों को साधनों के अन्तरण से आय की असमानता घटा दी जाती है तो अमीर व्यक्तियों के लिए होने वाली आर्थिक समृद्धि की हानि गरीबों को होने वाले लाभ की अपेक्षा बहुत कम होगी।

यह कहना आवश्यक है कि यदि इस प्रकार के अन्तरण से गरीबों की आय एकदम बढ़ जाये जो यह सम्भव है कि गरीब आदमी इस अतिरिक्त आय को

उत्तजक इच्छाओं पर अथवा विनाशिता की वस्तुओं पर व्यय करेंगे जिसके फलस्वरूप सुष्टि की वास्तविक हानि होगी तथा आर्थिक कल्याण घट जायगा। यह अवस्था समाप्त हो जायगी यदि आय धीरे-धीरे बढ़े क्योंकि तब वातावरण बदल जायेंगे। शिक्षा तथा अन्य सुविधाओं द्वारा गरीब आदमियों की परिस्थितियों में इस प्रकार परिवर्तन किये जा सकते हैं कि बढ़ती आमदनी से उन्हें लाभ हो। अतः दीर्घकाल में घनी तथा गरीब आदमियों की रुचि तथा स्वभाव के अन्तर उनमें आय के परिवर्तन से ही समाप्त हो जाते हैं। इसलिए इन परिवर्तनों को इस बात का तर्क नहीं मानना चाहिए कि अन्तरण से लाभ नहीं होते। अतः लोक वित्तीय नीति के फलस्वरूप आय तथा धन के वितरण में परिवर्तन होने में उत्पादन की वृद्धि हो सकती है तथा धन तथा आय के वितरण की असमानता भी हो सकती है।

लोक ध्यय नीति

डा० डाल्टन के अनुसार अंग्रेज अर्थशास्त्रियों ने लोक ध्यय के सिद्धान्तों पर बहुत ही कम लिखा था।² उसका कारण यह था कि उनके अनुसार शासन के कर्त्तव्य सीमित थे। उसीसवीं शताब्दी के एक अर्थशास्त्री का कहना था कि उस खर्च को छोड़कर जो देश में शान्ति स्थापित करने के लिए तथा बाह्य आक्रमण से बचाने के लिए यह आवश्यक है कि सब खर्च फिजूल है तथा जनता पर अनुचित तथा बण्टकर भार है।³

वास्तव में वर्तमान शताब्दी में सार्वजनिक सत्ताओं का ध्यय बहुत बढ़ाया है तथा व्यय नीति का उपयोग आर्थिक वृद्धि के निदेशन तथा बेरोजगारी का सामना करने के लिए किया जा रहा है। इसका उपयोग मँग पर प्रभाव डालने के लिए भी हो रहा है। इसी में शासन नरो तथा ऋणों के रूप में राष्ट्रीय आय का प्रयत्न हुआ भाग प्राप्त कर रहा है।⁴

व्यय की वृद्धि के मुख्य कारण—सार्वजनिक ध्यय की लगातार वृद्धि के निम्न मुख्य कारण हैं

2 *Public Finance*, 1948, Edition, p. 195

3 Quoted by Dalton *Public Finance*, p. 195.

4 In U. S. A. in 1850, the yield from taxes at all levels of the State was 4 per cent of the national income, but by 1941-42, excluding social security taxes, the yield had risen to about 33 per cent of national income. In Canada, before 1939, the public authorities spent 25, 30 per cent of national income, but in 1942, the expenditure of the Dominion Government alone was about 50 per cent of the national income. In the U. K. defence expenditure rose from 3.6 per cent of national income in 1913 to 7.8 per cent in 1938 and social security expenditure during the period went up from 5.5 per cent to 13.0 per cent (U. K. Hicks, *Public Finance*, p. 32). In India, the expenditure of the Central Government on revenue account alone rose from Rs. 85.11 crores in 1938-39 to Rs. 3152 crores in 1970-71.

(1) शासन के कार्यों का प्रसार—शासन के कार्य लगातार बढ़ते जा रहे हैं। शासन नये क्षेत्रों का दायित्व ले रहा है तथा इसके साथ साथ परम्परागत कार्यों पर भी व्यय बढ़ रहा है। लोक चिकित्सा, शिक्षा, सफाई तथा समाज सुरक्षा आदि सामाजिक सेवाओं पर व्यय में बहुत वृद्धि हो रही है। उन्नीसवीं शताब्दी में शासन पुलिस राज्य के कार्य करता था। इसके स्थान पर शासन की वर्तमान सकल्पना कल्याणकारी राज्य की है, जिसमें वैधानिक तथा प्रशासनिक उपायों द्वारा उत्पादन बढ़ा कर तथा वितरण में उन्नति द्वारा राज्य के हस्तक्षेप से जन जीवन स्तरों की उन्नति के प्रयास किये जा रहे हैं। भारत में सामाजिक तथा विकास सम्बन्धी सेवाओं पर व्यय 1950-51 में 38.5 करोड़ रुपये से बढ़कर 1968-69 के बजट में 298.31 करोड़ रुपये हो गया।

(2) विकास व्यय में वृद्धि—रेलो, सड़को तथा सिंचाई सम्बन्धी विकासशील कार्यों पर व्यय में बराबर वृद्धि हो रही है।

(3) प्रतिरक्षा व्यय में वृद्धि—सभी देशों में प्रतिरक्षा व्यय में बराबर वृद्धि हो रही है। 1951-52 में भारत में प्रतिरक्षा व्यय 164 करोड़ रुपये से बढ़कर 1968-69 के बजट में 894.46 करोड़ रुपये हो गया जो 1970-71 में लगभग 1000 करोड़ रुपये हो गया। 1974-75-101577

(4) सार्वजनिक व्यय में वस्तुओं की कीमतों के बढ़ने के कारण बहुत वृद्धि हुई है, जिसके फलस्वरूप अधिक धन की आवश्यकता हो रही है। भारत में 1955-56 में थोक मूल्यांकन 92.5 था जो नवम्बर 1967 में बढ़ कर 214.9 हो गया। उसके पश्चात् फरवरी 1968 में यह अंक घटकर 208.2 तक आ गया, किन्तु उसके पश्चात् फिर बढ़ने लगा। इसके साथ-साथ उपभोग सम्बन्धी मूल्यांकन में बराबर वृद्धि हो रही है।

(5) विकासशील देशों में स्वाधीनता प्राप्त होने पर शासन के व्यय में वृद्धि हुई है। इन देशों को अन्तरराष्ट्रीय सस्थाओं में प्रतिनिधित्व मिला है तथा विदेशों में इन्होंने अपने राजदूत नियुक्त किये हैं। भारत मुद्रा कोष, विश्व बैंक, एशियन विकास बैंक आदि सस्थाओं का सदस्य हो गया है जिसके फलस्वरूप शासन के व्यय में वृद्धि हुई है।

(6) लोकतन्त्र का फल—लोकतान्त्रिक शासन प्रणाली आने से शासन के दायित्वों में वृद्धि हुई है, जिनके फलस्वरूप व्यय बढ़ा है। कुछ क्षेत्रों में प्रशासन के स्तर में उन्नति की गई है, जिससे व्यय में वृद्धि हुई है।

(7) योजना के आगमन से सार्वजनिक व्यय में वृद्धि हुई है। भारत में सार्वजनिक क्षेत्र में पहली पंचवर्षीय योजना में व्यय 1940 करोड़ रुपये से बढ़कर चौथी योजना में लोक क्षेत्र में 15902 करोड़ रुपये हो गया है।

आवश्यकता इस बात की है कि व्यय सन्तुलित ढंग से होना चाहिए तथा

सब पर विशेष अंकुश रखना चाहिए, जिससे अपव्यय हके तथा व्यय से पूर्ण उपयोगिता प्राप्त हो ।

सार्वजनिक व्यय के मापदण्ड CANONS OF PUBLIC EXPENDITURE

राज्य को सार्वजनिक व्यय नीति की कुशलता का मूल्यांकन करने के निम्न मापदण्ड हैं :

(1) लाभ का सिद्धान्त—इस मापदण्ड का आदर्श अधिकतम सामाजिक लाभ है । सार्वजनिक व्यय से उत्पादन में वृद्धि होनी चाहिए, देश में शान्ति तथा सुरक्षा रहनी चाहिए तथा आय तथा सम्पत्ति की अममानता घटनी चाहिए । साथ ही रोजगार के अवसरों में भी वृद्धि होनी चाहिए । निक्सन के अनुसार, उपयोगी सिद्धान्त पर जोक व्यय का आदर्श उस समय प्राप्त होगा जब प्रत्येक अवस्था में सीमान्त व्यय की सार्वजनिक उपयोगिता समान हो । वास्तव में यह आदर्श अव्यावहारिक है, किन्तु ऐसी बात नहीं है कि इस पर विचार ही नहीं करना चाहिए तथा इस पर अनुसरण करने से महत्वपूर्ण व्यावहारिक फल मिल सकते हैं ।

यह एक जाना माना नियम है कि किसी एक व्यक्ति के लिए कोई सार्वजनिक व्यय नहीं किया जाना चाहिए जब तक कि उसकी मात्रा बहुत ही कम न हो तथा उसका पाना न्यायालय द्वारा न लागू किया जा सके तथा व्यय एक मान्य नीति के अनुसार न हो ।

(2) मितव्ययता का सिद्धान्त—लोक व्यय के सम्बन्ध में मावधानी बरतनी चाहिए । कर दाताओं के हितों की रक्षा व्यय में विवेकपूर्ण कमी द्वारा तथा सविधानी से आय की वृद्धि द्वारा करनी चाहिए । लोक निर्माण' कार्यों पर आवश्यकता के अनुसार ही व्यय होना चाहिए । इन सिद्धान्त की व्यावहारिकता के लिए प्रत्यक्ष संसदीय तथा प्रशासनिक प्रतिबन्धों की व्यवस्था है । इंग्लैण्ड में व्यय तथा आय पर सदन एक समिति का रूप धारण करता है जिसमें स्पीकर अध्यक्षता नहीं करते । इसी बैठक में वित्तीय बहस होनी है, जिससे प्रत्येक मामला पर अनौपचारिक ढंग से बहस हो सके ।

दूसरे, लेखा निरीक्षक अपनी रिपोर्ट शासन को न देकर सीधे सरन के समक्ष प्रस्तुत करते हैं । ऑडिट के पश्चात् हिसाब की जाँच सार्वजनिक लेखा समिति द्वारा होती है, जिसका अध्यक्ष विरोधी दल का नेता होता है ।

तीसरे, अनुमानों का चयन समिति पूरी जाँच करती है । भारत में भी केन्द्र में लोक लेखा समिति है जिसके 15 सदस्य हैं । इसके अतिरिक्त व्यय पर संसदीय नियन्त्रण के लिए एक अनुमान समिति है तथा लोक उद्यमों के लिए एक अलग लोक उद्योग समिति है ।

भारत तथा इंग्लैण्ड दोनों ही में व्यय में मितव्ययता लाने के लिए प्रशासनिक नियन्त्रण की व्यवस्था है । भारत में केन्द्र में वित्त मन्त्रालय विभागीय लेखा

कर्मचारियों द्वारा विभागीय व्यय पर लगातार नियन्त्रण रखता है। इन प्रतिबन्धों के अतिरिक्त, व्यय में मितव्ययता लाने के लिए मितव्ययता समितियों की नियुक्ति होती है।

(3) स्वीकृति का सिद्धान्त—इसके अनुसार उपयुक्त अधिकार की अनुमति के बिना कोई व्यय नहीं होना चाहिए। ऋण उन्हीं उद्देश्यों पर व्यय होने चाहिए जिनके लिए वे लिए गये हैं तथा उनके भुगतान की व्यवस्था होनी चाहिए। अनुदानों की मांग लोक सभा में प्रस्तुत होती है और उनके पारित होने पर ही सदन की अनुमति मानी जाती है। अतः शासन ससद अथवा विधान सभा की अनुमति पर ही व्यय कर सकते हैं।

(4) बचत का सिद्धान्त—इसके अनुसार व्यय में घाटा नहीं होना चाहिए। व्यय का आय तथा पूँजीगत व्यय में उपयुक्त बटवारा आवश्यक है। सामान्यतया प्रशासनिक व्यय तथा ऐसे व्यय की पूर्ति जिससे भौतिक सम्पत्ति का निर्माण नहीं होता चासू आय से ही होनी चाहिए। सही वित्तीय सिद्धान्तों के अनुसार बजट में घाटा नहीं होना चाहिए। बजट सन्तुलित होना चाहिए। 1920 की ब्रूसेल्स के अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन के निर्णय के अनुसार, जो देश घाटे के बजट की नीति पर चलता है वह ऐसे फिसलने वाले मार्ग पर चलता है जिससे उसका पतन होगा। उस मार्ग से बचने के लिए कोई भी बलिदान बहुत अधिक नहीं है। ग्लेडस्टन के अनुसार “वित्तीय गड़बड़ केवल अपव्यय से ही नहीं, बल्कि आय तथा व्यय के सन्तुलन की अवहेलना से होती है, जिनके फलस्वरूप श्रान्ति तथा वरवादी होती है। जब तक आय तथा व्यय में सन्तुलन रहता है तथा खर्च आय से चलता है, यदि व्यय अधिक होगा तो उसमें कमी की जायेगी। सही वित्त की यही वास्तविक कसौटी तथा यही वास्तविक बचाव है।” हममें मुद्रा स्फीति का भय रहता है। लेकिन यह ध्यान में रखना चाहिए कि असन्तुलित बजट से वस्तुओं की कीमतों का बढ़ना भदा अनिवार्य नहीं है। ऐसा तभी होगा जब शासन व्यय की पूर्ति के लिए अथवा बैंक से ऋण लेकर घाटे को पत्र मुद्रा छाप कर पूरा करे। कुछ सीमा तक मुद्रा स्फीति हो सकती है, किन्तु उसे नियन्त्रण में रखना चाहिए।

भारतवां अध्याय
सार्वजनिक आय
(PUBLIC REVENUE)

आय शब्द सीमित तथा विस्तृत अर्थों में प्रयुक्त होता है। बहुधा यह कहा जाता है कि किसी काल में एक सार्वजनिक सत्ता की आय व्यय से कम है तथा इस अन्तर को कराधान द्वारा पूर्ति होनी चाहिए। यहाँ आय शब्द का अभिप्राय लोक अधिकारों की चालू आय से है। विस्तृत अर्थ में इसका अभिप्राय ऋण द्वारा प्राप्ति से भी है। ऋण पत्र बेचकर जो धन लोक सत्ता को प्राप्त होता है उसके लिए सार्वजनिक वित्त विज्ञान में आय न कहकर प्राप्ति (receipts) शब्द का प्रयोग किया गया है।

भारत सरकार का वजट विभाजन आयगत तथा पूँजीगत वजट में होता है। आयगत वजट के शीर्षकों को आय के शीर्षक कहते हैं, किन्तु पूँजीगत वजट की आय को प्राप्ति शब्द में व्यवहृत किया जाता है।

लोक आय पर लेखकों ने विस्तृत व्याख्या की है। आय के इस वर्गीकरण का मुख्य उद्देश्य आय के साधनों का निर्धारण करना तथा उत्पादन तथा वितरण पर उनके प्रभावों का मूल्यांकन करना है। वर्गीकरण इसी दृष्टिकोण से उपयोगी है, किन्तु इस विवेचन की बहुत कुछ हद तक व्यावहारिक उपयोगिता कम ही है।

वर्गीकरण के विभिन्न प्रकार नीचे दिए गये हैं।

(1) एडम स्मिथ द्वारा वर्गीकरण—एडम स्मिथ के अनुसार सार्वजनिक आय को दो विस्में है। (क) वह आय जो शासन को सम्पत्ति से प्राप्त होती है, तथा (ख) वह आय जो जनता से व्युत्पन्न (derived) होती है। पहली श्रेणी में लोक उद्योगों से प्राप्त आय आती है, किन्तु दूसरी श्रेणी में कराधान की आय आती है। स्मिथ के काल से लोक सत्ताओं के कार्य क्षेत्र में बहुत प्रसार हुआ है तथा जनता के लिए समाज सेवाओं की सुविधाओं का बहुत विकास हुआ है। कल्याणकारी राज्य की संकल्पना आधुनिक विकास है, किन्तु यह विचार इंग्लैण्ड में कई शताब्दियों से आ रहा था। राज्य की आय का कराधान ही एक मात्र साधन नहीं है। लोक उद्योगों से आय बढ़ रही है।

(2) **वैस्टेबल द्वारा वर्गीकरण**—वैस्टेबल ने भी आय के दो वर्ग किए हैं : (क) वह आय जो राज्य को एक बड़े कारपोरेशन अथवा न्यायिक व्यक्ति के कार्यों द्वारा होती है, जो व्यक्तियों तथा प्राइवेट कम्पनियों की भाँति साधारण परिस्थितियों में कार्य करते हैं; तथा (ख) वह आय जो शासन की शक्ति द्वारा समाज की आय से प्राप्त होती है। इसके अन्तर्गत विशेष करो, उपहारों, दण्डों आदि मदों से प्राप्त आय का वर्गीकरण कठिन है, क्योंकि इनमें कर तथा अन्तर दोनों ही के तत्त्व निहित हैं।

(3) **एडम्स द्वारा वर्गीकरण**—एडम्स ने सार्वजनिक आय के तीन वर्ग किए हैं।¹

(1) प्रत्यक्ष आय जिसमें (क) सार्वजनिक सम्पत्ति, (ख) सार्वजनिक उद्योग, (ग) उपहार आदि तथा (घ) सम्पत्तिहरण अथवा जब्ती (confiscations) तथा हरजाना (indemnity) आते हैं। इस वर्ग में वह आय आती है जो मुख्यतया सार्वजनिक भूमि तथा रेल, डाक तार तथा बहुल उद्देश्यीय शक्ति योजनाओं आदि उद्योगों से प्राप्त होती है।

(ii) व्युत्पादित आय (Derivative Revenue) जिसमें कर, शुल्क, तथा जुर्मानों से प्राप्त आय आती है। इस वर्ग में मुख्यतया करो से प्राप्त आय आती है।

(iii) प्रत्याशी आय (Anticipatory Revenue) जिसमें बोंटो तथा वाणिज्यिक साख के अन्य प्रकारों तथा ट्रेजरी पत्रों से प्राप्त आय भी आती है। इस शीर्षक में भारत सरकार के पूँजीगत बजट की आय अथवा प्राप्ति आवेगी।

ये वर्गीकरण स्पष्ट नहीं है तथा परस्पर व्यापी (overlapping) हैं। उदाहरण के लिए (i) के अन्तर्गत उपहार तथा जुर्माने व्युत्पादित आय के अन्तर्गत भी आ सकते हैं। जब्ती तथा हरजाने अनिवार्य भुगतान हैं, जिनका उद्देश्य आय प्राप्त करना नहीं है, बल्कि उनके देने वालों को उन कार्यों के करने से रोकना है जिनके लिए ये लगाये गए हैं। ये जुर्मानों अथवा अर्थ दण्डों में मिलते जुलते हैं। इसी प्रकार (iii) के अन्तर्गत कर का अंश भी शामिल है जो युद्ध काल में मुद्रा स्थिति को रोकने के लिए लगते हैं।

(4) **सैलिमैन द्वारा वर्गीकरण**—इन्होंने सार्वजनिक आय की तीन श्रेणियाँ की हैं :—

(1) नि शुल्क जैसे उपहार तथा दान। ये भुगतान लोग बिना माँगे राज्य को देते हैं। जनता विशेष उद्देश्यों के लिए दान देती है, जैसे बाढ़ तथा भूचाल के पीड़ितों की रक्षा के लिए।

(ii) **संविदात्मक**—जैसे सम्पत्ति तथा उद्योगों की वस्तुओं की कीमतों के रूप में होने वाली आय। इस शीर्षक के अन्तर्गत राज्य को खानों तथा अन्य राजकीय

सम्पत्ति से प्राप्त होने वाली आय आती है। राज्य उद्योग चलाता है जिनसे आय प्राप्त होती है, जैसे रेल, डाक तार तथा वाणिज्यिक उद्योगों की आय। राज्य वस्तुएँ निर्यात करता है, जिन्हें जनता खरीदती है। जनता इन वस्तुओं तथा सेवाओं का खरीदने के लिए बाध्य नहीं है, किन्तु खरीदने पर मूल्य देना होता है। जैसे-जैसे राज्य का उद्योग क्षेत्र बढ़ता है, इस शीर्षक से आय बढ़ती है। यह आय सविदात्मक है, तथा इसे मूल्य अथवा कीमतें कहते हैं। यदि कीमत लागत से अधिक है तो इसमें करो का तत्त्व भी आता है।

(iii) अनिवार्य आय—इसमें सम्पत्ति की आय, जुमानि तथा कर लगाने के अधिकार, जिनमें विशेष कर, आदि शामिल हैं, आते हैं। इस वर्ग में कर आय का मुख्य स्थान है। राज्य जब्ती द्वारा अपने नागरिकों से सम्पत्ति प्राप्त कर सकता है।

सैलिग्मन के वर्गीकरण का आधार विशेष तथा सामान्य हित का सापेक्षिक महत्त्व है। एक अन्तिम छोर पर कीमतें आती हैं, जो शासन के विशेष उद्योग से सम्बन्धित हैं तथा दूसरे छोर पर कर है जो शासन के सब उद्योगों तथा व्यक्तियों के साथ सम्बन्धों पर निर्भर है। इन दो छोरों के बीच श्रुलक आते हैं।

(5) डा० डाल्टन द्वारा वर्गीकरण—डा० डाल्टन के अनुसार सबसे मुख्य व्यावहारिक अन्तर करधान तथा आय के अन्य साधनों में है। इस प्रकार कर आय तथा अ-कर आय लोक आय के दो मुख्य साधन हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि कर किसे कहते हैं। कर वह अनिवार्य देन है जो लोक सत्ता एक मार्वाजनिम उद्देश्य के लिए वसूल करती है। तथा इसके बदले में कर दाता को कोई प्रत्यक्ष प्रतिफल नहीं मिलता।

प्रो० टौसिग के अनुसार शासन के अन्य परिव्ययों (charges) को छोड़ कर, कर का सार कर दाता तथा लोक सत्ता में प्रत्यक्ष प्रतिफल का अभाव है। इस परिभाषा के अनुसार कर आय की दो मुख्य विशेषताएँ हैं : (1) यह एक अनिवार्य देन है जिसके लिए कर दाता को देने अथवा न देने का कोई विकल्प ही नहीं है। (2) जो धन कर के रूप में दिया जाता है वह दाता के लिए लाभ अथवा सेवा को नहीं नापता। शासन इसे अपने व्यय की पूर्ति के लिए प्राप्त करता है।

कीमतें भी लोक आय का एक मुख्य साधन हैं। लोक सत्ता वस्तुओं तथा सेवाओं के बदले में कीमत लेती है। इसलिए कीमतें देने वालों के लिए लाभ तथा सेवाओं को प्रत्यक्ष रूप में नापती है। दूसरे व्यक्ति इन भुगतानों को अपनी इच्छा से करते हैं, क्योंकि वे इन्हें खरीदने के लिए बाध्य नहीं हैं।

मार्वाजनिम आय की कई किस्में हैं जो अनिवार्य हैं तथा उनके सम्बन्ध में दाता तथा लोक सत्ता में प्रतिफल की अनुपस्थिति है। इन बातों में वे करो के समान हैं, किन्तु कुछ अन्य बातों में वे करो से भिन्न हैं। खिराज (tributes) तथा हरजाने, अनिवार्य छूण आदि डा० डाल्टन के अनुसार इसी श्रेणी में आते हैं। बटवारे से पूर्व रजबाड़े भारत सरकार को खिराज देते थे। हरजाने युद्ध काल में उत्पन्न होते

हैं। अनिवार्य ऋण शासक मध्य काल में बहुधा लेते थे। जुरमाने इसलिए लगाने जाते हैं जिससे कुछ कार्य जनहित में रोके जा सकें।

खिराज तथा करो में यह समानता है कि यह दोनों नियमित तथा मियादी भुगतान होते हैं। हरजाने नियमित नहीं होते। जुरमानों का निवारक उद्देश्य होता है, किन्तु कराधान का मुख्य उद्देश्य आय प्राप्त करना है।

राजकीय एकाधिकार द्वारा निर्मित वस्तु तथा सेवा की लागत से अधिक कीमत की प्राप्ति कर के समान है। इसमें कर का अंश शामिल है। इसलिए कीमतों में कर का अंश हो सकता है। किसी वस्तु की कीमत का लागत तथा लाभ से अपर का भाग कर के समान है।

मैलिगमैन ने विशेष निर्धारण (special assessment) को अनिवार्य देन बताया है जो जन हित में सम्पत्ति पर विशेष उन्नति की लागत की पूर्ति के लिए विशेष लाभ के अनुपात में लगाया गया है। अनिवार्य देन होने के कारण विशेष निर्धारण कर के समान है। कर से यह इसलिए भिन्न है कि कर दाता को इसके बदले में प्रत्यक्ष तथा निश्चित लाभ मिल जाता है। यह कीमत के इसलिए समान है कि यह सेवा का भुगतान है। यह कीमत में इसलिए भिन्न है कि यह भुगतान ऐच्छिक नहीं है।

उपयुक्त वर्गीकरण

आय के वर्गीकरण का उद्देश्य अध्ययन की सुविधा के लिए समान विशेषताओं की आय को एक ही श्रेणी में रखने का है। उपयुक्त वर्गीकरणों में आय के विभाजन में परस्पर व्यापन है जो व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से हटना चाहिए। इस दृष्टिकोण से सार्वजनिक आय को कर आय तथा अ-कर आय में विभाजित किया जा सकता है। भारत में केन्द्र तथा राज्यों में आयगत वजट के अन्तर्गत आय के दो भाग होते हैं कर आय तथा अ-कर आय। कर आय में करो के अतिरिक्त शुल्क तथा विशेष निर्धारण भी आते हैं। शुल्क एकाधिकार उद्योगों की रजिस्ट्री की आय होती है। लायसेंस शुल्क तथा रजिस्ट्री शुल्क में देने वाले व्यक्ति को विशेष लाभ मिलता है, जिसे नापा जा सकता है तथा इनके पीछे एक विशेष सार्वजनिक उद्देश्य होता है। लायसेंस शुल्क में उद्देश्य व्यापार का नियमन है तथा आय प्राप्त करना है। इसमें अनुज्ञप्तिधारी (licensee) को एक विशेष लाभ प्राप्त होता है जिसे नापा जा सकता है। शुल्क में कीमत की तरह कर का अंश भी होता है क्योंकि प्रभार सेवा की लागत से अधिक होता है।

एक प्रकार की आय को दूसरी से भिन्न करना मदा सरल नहीं है, क्योंकि वे बहुधा परस्परव्यापी होती हैं। कर धीरे-धीरे कीमतों में विलीन हो जाते हैं, क्योंकि जो सेवाएँ लोक अधिकारी जनता को प्रदान करते हैं उनमें तथा भुगतानों में एक अनिश्चित सम्बन्ध रहता है। जहाँ भीटर नहीं लगते वहाँ पानी के लिए रेंट्स कर की तरह होती है।

करोँ तथा जुरमानों में अन्तर उद्देश्य है। करो का उद्देश्य आय प्राप्त करना है, किन्तु जुरमानों का उद्देश्य ऐसे कार्यों को रोकना है जो जनहित के विरुद्ध हों। लोक उद्योगों के एकाधिकार लाभों में करो का अंश होता है। कीमत मुनाफे को मिलाकर लागत से ऊँची होती है। यह अतिरिक्त आय कर की तरह है। इसलिए आय के विभिन्न साधनों में अन्तर स्पष्ट नहीं है। अतः वर्गीकरण की खोज वर्गीकरण के निश्चय से अधिक शिक्षाप्रद है।²

Birdsall Ming
on 7 Dec
Rajiv Kumar Datta

बारहवाँ अध्याय

कराधान का सम्पात

(INCIDENCE OF TAXATION)

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने कराधान के सम्पात तथा प्रभावों में अन्तर नहीं बताया था। सर्व प्रथम सम्पात के विषय में सैलिग्मैन ने अपनी पब्लिक फाईनेन्स नामक पुस्तक में इस विषय पर लिखा। बाद में कराधान के सम्पात की समस्याओं पर डा० डाल्टन ने अपनी पब्लिक फाईनेन्स नामक पुस्तक में विस्तृत रूप में विवेचन किया।

सम्पात की परिभाषा

अंग्रेजी भाषा में तीन शब्द एक दूसरे से निकटतम सम्बन्ध रखते हैं। वे हैं (1) सघात, (impact), (2) सम्पात (incidence), तथा (3) प्रभाव (effects)। इनमें परस्पर अन्तर भी है। शासन कपड़े अथवा चीनी के उत्पादक पर कर लगाता है तथा उसे उत्पादक से वसूल कर लेता है। अन्त में उत्पादक कपड़े अथवा चीनी की कीमत कर की घन राशि के बराबर बढ़ा कर क्रेता से वसूल कर लेता है। इसमें प्रारम्भ में उत्पादक कर देता है, किन्तु अन्त में वह उसे उपभोक्ता से वसूल कर लेता है। इस कर का सघात (impact) अथवा तात्कालिक मुद्रा भार उत्पादक पर है, किन्तु इसका सम्पात (incidence) अथवा अन्तिम मुद्रा भार उपभोक्ता पर है। इसलिए सघात की समस्या यह है कि अन्त में कर कौन देता है। शासन कर के रूप में जो भी आय प्राप्त करता है उसका प्रत्यक्ष मुद्रा भार किसी न किसी पर पड़ता है। डा० डाल्टन के अनुसार यह सम्पात (incidence) की समस्या है।

इस प्रकार कर का सघात उस व्यक्ति पर है जो प्रारम्भ में घन राशि शासन के कोष में जमा करता है। प्रारम्भ में वही कर का भार बरदाश्त करता है। किन्तु सम्भवतः अन्त में कर के भार का पूरा अथवा थोड़ा भाग वह किसी अन्य व्यक्ति पर डाल सकता है। कर का सम्पात उस अन्य व्यक्ति पर पड़ता है। हो सकता है कि सघात तथा सम्पात दोनों एक ही व्यक्ति पर हो जैसे आय कर अथवा लगान पर कर के सम्बन्ध में होता है। ऐसे कर को प्रत्यक्ष कर कहते हैं। किन्तु यदि सघात एक व्यक्ति पर है तथा सम्पात अन्य व्यक्ति पर, तब कर अप्रत्यक्ष

कर कहलाता है। यदि उत्पादक कर के बराबर कीमत बढ़ा सकता है, तो सम्पात उपभोक्ता पर होता है, किन्तु यदि कीमत आंशिक रूप में ही बढ़ती है तब सम्पात उत्पादक तथा उपभोक्ता दोनों पर रहता है।

इस प्रकार सम्पात का अभिप्राय प्रत्यक्ष अथवा अन्तिम मुद्रा भार से होता है। सम्पात के अतिरिक्त कर के अन्य भार भी होते हैं जिन्हें प्रभाव कहते हैं। उदाहरण के लिए एक रुपये के कर के भार से थोड़ी आय के व्यक्ति को अन्य बातें समान होते हुए अधिक आय के व्यक्ति की तुलना में अधिक भार महसूस होता है। यह समस्या सम्पात की नहीं बल्कि कर के प्रत्यक्ष वास्तविक भार की है। कपड़े पर उत्पादन कर लगने से कोई व्यक्ति कम कपड़ा खरीदे, जिससे उसे आर्थिक कल्याण की हानि होती है। यह कर का अप्रत्यक्ष वास्तविक भार है। कपड़े का व्यापारी शासन को कर देता है और फिर उसे उपभोक्ताओं से प्राप्त कर लेता है, किन्तु इन दोनों बातों में कुछ समय लगता है। इस बीच में व्यापारी को राज-कोप में जमा किये हुए कर के धन पर व्याज की हानि होती है यह कर का अप्रत्यक्ष मुद्रा भार कहलाता है। हो सकता है कि व्यापारी व्यापार घटने के डर से कर का भार अपने आप बरदाश्त करे अथवा कर के कारण साधन एक व्यवसाय या स्थान से दूसरे में चले जाये। ये समस्याएँ सम्पात की नहीं बल्कि प्रभावाँ की हैं।

सम्पात का महत्व

यह आवश्यक है कि कर के भार का वितरण विभिन्न कर दाताओं में साम्या (equity) के अनुसार हो। यह उनकी क्षमता के अनुकूल होना चाहिए। ऐसा तभी हो सकता है जब उन व्यक्तियों का पता लग सके जिन पर कर का अन्तिम मुद्रा भार टहरता है। शासन इस विचार में कि कपड़े के व्यापारी कीमत नहीं बढ़ा सकेंगे क्योंकि वे प्रारम्भ में ही उँची कीमतें ले रहे हों, कपड़े पर उत्पादन कर बढ़ा देते हैं जिससे व्यापारियों के लाभ का कुछ भाग शासन को मिल जाय। शासन के विचार में कपड़े के निर्माता कर को बरदाश्त करने की क्षमता रखते हैं। शासन का यह अनुमान ठीक है या नहीं, यह कीमतों के बढ़ने अथवा न बढ़ने पर निर्भर होगा, किन्तु यदि कीमतें बढ़ जाती हैं तो कर का भार गलत व्यक्तियों पर होगा। इस बात का ज्ञान सम्पात की समस्या के अध्ययन से ही हो सकता है।

सम्पात का पता वस्तु की कर से पहले तथा बाद की कीमत के अन्तर से ही नहीं लग सकता, क्योंकि कीमत में उतार-चढ़ाव कर के अतिरिक्त अन्य कारणों से भी होते हैं। यहाँ यह कहना उपयुक्त होगा कि सम्पात कराधान के उचित वितरण की वास्तविक बसोटी नहीं है।

कर सम्पात के मुख्य सिद्धान्त

पहले लेखकों ने कराधान के सम्पात के दो सिद्धान्त बताये हैं :

- (1) सान्द्रण सिद्धान्त (Concentration Theory)
- (2) प्रसारण सिद्धान्त (Diffusion Theory)

(1) सान्द्रण प्रसारण

(Concentration Theory)

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन भूमिवादी अर्थशास्त्रियों ने किया था, जिनके अनुसार कर का भार अन्त में भूस्वामियों पर पड़ता है। इनके अनुसार कृषि धन्दा ही उत्पादक धन्दा है, जिसमें शेष उत्पादन होता है। ऐसा व्यवसाय, वाणिज्य तथा अन्य धन्दों में नहीं होता। इसलिए कहीं भी कर लगे अन्त में उसका भार कृषकों पर पड़ेगा जो उसका धन शेष उत्पादन (net product) से देंगे। इसलिए भूमिवादी अर्थशास्त्रियों का कहना था कि शासन को केवल लगान पर ही कर लगाना चाहिए जिसका सम्पात निश्चित है। यह कर सरल होगा तथा इसमें मित-व्ययता होगी। यद्यपि यह सिद्धान्त ठीक नहीं है फिर भी यह इस बात को मान कर चलता है कि कर वचन में से ही दिये जा सकते हैं अन्यथा वे बराबर विसर्जित रहेंगे अथवा उनका भार हटता रहेगा। कर की तुलना लागत में की जा सकती है। उत्पादक जब वस्तु की कीमत तय करता है तो सब खर्चों को वह लागत में जोड़ लेता है। ऐसे ही वह करों को भी जोड़ लेता है और उनका भार दूसरों पर डालने का प्रयास करता है।

(2) प्रसारण सिद्धान्त

(Diffusion Theory)

इस सिद्धान्त के अनुसार कर किसी एक व्यक्ति पर नहीं ठहरते। उनका भार बराबर हटता रहता है। हो सकता है कुछ समय तक कर जहाँ लगा है वही ठहरा रहे, किन्तु धीरे-धीरे उसका भार सारे समाज में फैल जाता है। यह एक व्यक्ति से दूसरे पर पड़ता रहता है। केनर्ड (Canard)¹ का कहना है कि कर लगाना किसी व्यक्ति की नस से रुधिर लेना है। रुधिर लेने पर उस नस में औरों की तुलना में कम खून नहीं रह जाता, क्योंकि उसकी कमी और नसों में भी आ जाती है। इसी प्रकार कर लगने पर मुनाफा सभी शाखाओं में घट जाता है और ऐसी सन्तुलित स्थिति पहुँचने तक होता रहता है। इसलिए इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक पुराना कर अच्छा है, तथा प्रत्येक नया कर बुरा है, क्योंकि इससे सन्तुलन बिगड़ता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार अन्त में कर का भार प्रत्येक व्यक्ति पर फैलता है। इसका अर्थ यह है कि कर जहाँ लगते हैं वहाँ नहीं ठहरते। वाकर के अनुसार यह सिद्धान्त पूर्ण प्रतियोगिता की कल्पना (assumption) पर आधारित है, जो स्थिति बहुत सी बातों के कारण नहीं हो पाती। कर हटते तो रहते हैं, किन्तु उनके सम्पात का पता ठीक-ठीक नहीं लग पाता। इस सिद्धान्त के दो दोष हैं :

(i) यह सम्पात की कठिनाइयों से बचने का प्रयास है।

1 Quoted by F. Shurras. 'Public Finance' p. 186.

(ii) यह भ्रामक (misleading) है, क्योंकि यह पूर्ण प्रतियोगिता की कल्पना (assumption) पर आधारित है।

सम्पत्ति निर्धारण के घटक

(Factors Determining Incidence)

कर के एक व्यक्ति से दूसरे पर हट जाने के कई कारण होते हैं :

कर का स्वरूप—कर वस्तु के उत्पादन अथवा विक्रय अथवा आय तथा सम्पत्ति पर हो सकता है। वस्तु का उत्पादन स्पर्धा, एकाधिकार तथा एकाधिकारक स्पर्धा के अन्तर्गत हो सकता है।

(क) पूर्ण स्पर्धा की अवस्था में वस्तु के बहुत संख्या में क्रेता तथा विक्रेता होते हैं तथा कीमत माँग तथा सम्भरण (supply) के समुलन द्वारा निर्धारित होती है। एक प्रतियोगी के नियन्त्रण में कुल उत्पादन का बहुत थोड़ा भाग रहता है। अतः उत्पादकों में से केवल एक उत्पादक कीमत में परिवर्तन नहीं ला सकता। वह वही कीमत लेता है जो मण्डी में प्रचलित रहती है। ऐसी स्थिति में उत्पादकों की कर को हटाने की तथा उसका भार दूसरे पर डालने की सामर्थ्य वस्तु के सम्भरण तथा उसकी माँग की मापेक्षिक लोच पर निर्भर रहती है। कर एक व्यक्ति से दूसरे पर कीमत बढ़ाकर ही पहुँचाया जा सकता है। यदि वस्तु की कीमत 2 रुपये प्रति इकाई है और उस पर 5 पैसे प्रति स्पर्धा कर लगता है तो उत्पादक 10 पैसे कीमत में जोड़कर क्रेता से 2 रुपये 10 पैसे लेगा। इस प्रकार वह कर का भार क्रेता पर पहुँचा देगा। ऐसा वह तभी कर सकेगा जबकि कीमत बढ़ने से माँग के घटने की सम्भावना नहीं हो, लेकिन यदि माँग के घटने की सम्भावना होगी तो या तो कर का भार वह स्वयं बरदाश्त करेगा या कुछ भार स्वयं बरदाश्त करेगा तथा कुछ क्रेता पर पहुँचाने का प्रयास करेगा। जितनी अधिक आपूर्ति अथवा सम्भरण की लोच होगी उतनी ही अधिक सम्भावना कर के भार के क्रेता पर पड़ने की होगी, किन्तु जितनी अधिक माँग की लोच होगी उतनी ही अधिक सम्भावना इस बात की होगी कि कर का भार उत्पादक अथवा प्रदायक (supplier) पर पड़े।

प्रदाय की लोच—प्रदाय की लोच कई बातों पर निर्भर होती है। कुछ उद्योगों में अचल सम्पत्ति का विशेष महत्त्व होता है। इनमें मकानों, मशीनों आदि वस्तुओं में बहुत निवेश किया जाता है। प्रदाय की तीन स्थितियाँ होती हैं : (1) सतत उत्पादन अथवा आय के नियम के अनुसार, (2) घटती लाग के नियम के अनुसार, तथा (3) वर्षगान आय के नियम के अनुसार।

परिस्थिति न० (1) में कीमत कर के बराबर बढ़ेगी। न० (2) में उत्पादन अथवा प्रदाय के बढ़ने के साथ लागत भी बढ़ती है। अतः इस स्थिति में वस्तु के उत्पादन पर कर लगने से प्रदाय घटेगा, जिससे प्रति इकाई लागत घटेगी। ऐसी स्थिति में कीमत कर की मात्रा से कम बढ़ेगी। तीसरी स्थिति में प्रदाय के घटने से उत्पादन व्यय बढ़ेगा। अतः कीमत कर की मात्रा से अधिक बढ़ेगी।

दीर्घ काल में प्रत्येक उद्योग में प्रदाय घट सकता है। अतः कर का भार क्रेता पर डाला जा सकता है। अल्प काल में आपूर्ति लोचदार नहीं होती। अतः कुल कर अथवा उसका कुछ भाग सभरक पर ही रहेगा।

कर का आगे-पीछे हटाना—प्रदायक कीमत बढ़ाकर कर का भार आगे की ओर क्रेता अथवा उपभोक्ता पर डाल सकता है। इसे आगे की ओर हटाना कहते हैं। यदि प्रदायक कीमत नहीं बढ़ा सकता, अथवा कर के बराबर कीमत नहीं बढ़ा सकता, तो वह श्रम की मजदूरी कम कर सकता है अथवा कच्चे माल की कीमत घटाने की कोशिश कर सकता है। यदि वह इस कार्य में सफल होता है, तब कर का भार श्रमिकों अथवा कच्चे माल के विक्रेताओं पर पड़ेगा। इसे कर भार को पीछे की ओर हटाना कहते हैं।

जब कीमत कर के बराबर बढ़ती है तब कर का भार उपभोक्ता पर रहता है, लेकिन जब कीमत बिल्कुल नहीं बढ़ती या कर से कम बढ़ती है तब कर का कुल अथवा आंशिक भार उत्पादक अथवा प्रदायक पर रहता है।

माँग की लोच का कर के हटाने से सम्बन्ध—यदि कर लगी वस्तु की माँग लोचदार है तब कीमत बढ़ने से माँग तथा विक्री घटेगी। ऐसी स्थिति में प्रदायक या तो स्वयं कर का भार बरदाश्त करेगा या उसे श्रमिकों तथा कच्चे माल के क्रेताओं पर पीछे की ओर हटाकर डालने का प्रयास करेगा।

दूसरी ओर यदि माँग वेलोच है तब कर का भार उपभोक्ताओं तथा क्रेताओं पर पड़ेगा। आवश्यक वस्तुओं की ऊँची अथवा बहुत नीची कीमतों पर माँग वेलोच होती है। विलासिता की तथा अनुकल्पों (substitutes) वाली वस्तुओं की माँग लोचदार होती है। उपभोक्ता वस्तु की माँग की लोच द्वारा कर का भार अपने ऊपर आने से रोक्ने का प्रयास करते हैं तथा उत्पादक प्रदाय की लोच द्वारा कर के भार को आगे-पीछे हटाने का प्रयास करते हैं।

स्पर्धा की स्थिति में मुनाफे पर कर उत्पादन दर न लगाकर उत्पादकों के मुनाफे पर लगाया जा सकता है। ऐसी स्थिति में एक न्यूनतम कर उन्मुक्त आय होती है। इस कर से सीमान्त फर्मों प्रभावित नहीं होती, क्योंकि उनका औसत मुनाफा लागत में शामिल होता है जिससे कीमत का नियमन होता है तथा वस्तु की कीमत उत्पादन लागत के बराबर होती है। अतः सीमान्त फर्मों को मुनाफा नहीं होता। यदि बढ़िया फर्म कीमतें बढ़ाती हैं तो उनके ग्राहक सीमान्त फर्मों से माल खरीदने लगेंगे। यदि कर लाभ के धन के अनुपात में लगता है अथवा मुनाफे पर वर्धमान दर पर लगता है तो कर हटाने की कठिनाई बढ जाती है। अतः प्रतियोगी स्थिति में कर का हटाना बहुत कठिन होता है क्योंकि जो उत्पादक अधिकतम मुनाफा लेते हैं तथा वर्धमान दरों पर कर देते हैं उन्हें यह भय रहता है कि कीमत बढ़ने से ग्राहक उन फर्मों से माल खरीदने लगेंगे जिनके मुनाफे पर नीची दर पर कर लगता है।

एकाधिकार स्थिति में कर—एकाधिकारी वस्तु को ऐसी कीमत तय करता है जिस पर उसका मुनाफा अधिकतम रहे। उसे स्पर्धा का भय नहीं रहता। अपने मुनाफे को बढ़ाने के लिए वह विभेदकारी (discriminating) कीमत भी तय कर देता है। एकाधिकारी पर कर की एक निश्चित रकम हो सकती है, जैसे लाइसेन्स शुल्क अथवा कर एकाधिकारी के उत्पादन अथवा मुनाफे के अनुपात में भी लग सकता है।

पहली परिस्थिति में एकाधिकारी कर को क्रेता पर नहीं हटा सकता। कारण यह है कि उसने वस्तु को ऐसी कीमत तय कर रखी हो जिस पर उसे अधिकतम लाभ होता है। कीमत बढ़ाने से वस्तु कम विक्रेयी तथा उसका लाभ घटेगा।

कर के विक्री अथवा मुनाफे के अनुपात में होने पर भी यही स्थिति पैदा होती है। एकाधिकारी के लिए कर को उपभोक्ता पर हटाने की सम्भावना नहीं रहती। एकाधिकारी के मुनाफे पर तय कर को हटाकर आगे पीछे करबा भी सम्भव नहीं होगा। कीमत उसी स्थिति में बढ़ाई जा सकती है जब पहले एकाधिकारी उस कीमत से कम ले रहा हो जो उसके लिए अधिकतम लाभ हो। अतः एकाधिकारी के मुनाफे पर तय कर का सम्पात एकाधिकारी पर ही रहेगा।

एकाधिकारों स्पर्धा में कर का सम्पात—यह वह स्थिति है जहाँ कुछ बड़े उत्पादक प्रतियोगिता में माल बनाते हैं। प्रदाय का बहुत बड़ा भाग वे ही बेचते हैं। कर उनके उत्पादन के अनुपात में हो सकता है। इस स्थिति में प्रत्येक एकाधिकारी प्रतियोगी का सीमान्त उत्पादन व्यय बढ़ेगा। ऐसी स्थिति में कर का हटाया जाना निम्न वांछित पर निर्भर होगा :

(1) वस्तु की माँग तथा उसके सम्भरण की सापेक्षिक लोच।

(2) विभिन्न फर्मों की वस्तुएँ व्यापार चिन्हों के अनुसार भिन्न-भिन्न होती हैं। उनकी कीमत भी अलग हो सकती है। ऐसे अवसरों पर कुछ ग्राहक मस्ती वस्तु खरीदने का प्रयास कर सकते हैं। इसलिए जो फर्म कीमती माल बनाती हैं वे उस पर लगे कर का भार स्वयं सहन कर सकती हैं। ऐसी सम्भावना कम ही होती है, क्योंकि व्यापार चिन्हों के साथ फर्म का मुनाफा सम्बन्धित रहता है। इससे माघ उपभोक्ताओं की अक्रियता (inertia) का भी प्रश्न रहता है। यदि कुछ फर्म प्रतियोगिता से हट भी जायें तो शेष अपनी वस्तुओं की कीमतें बढ़ा देंगी। लेकिन एकाधिकारी प्रतियोगियों का आकार विशाल तथा उनके साधन वितरित होते हैं, वे फर्म प्रतियोगिता से बाहर नहीं हटाई जा सकती।

(i) कर एक निश्चित मात्रा में धन के रूप में हो सकता है, जिससे कीमतें नहीं बढ़ती। कर विक्री के अनुपात में भी हो सकता है। ऐसी स्थिति में इसका हटाया जाना माँग की लोच पर निर्भर होगा।

(ii) कर का हटना इस बात पर भी निर्भर होगा कि कर एक वस्तु पर लगता है। अथवा सभी प्रतियोगी वस्तुओं पर लगता है। एक वस्तु पर लगाया गया

कर शिफ्ट नहीं होगा, लेकिन सभी प्रतियोगी वस्तुओं पर लगा कर शिफ्ट हो जायेगा। यह वस्तुओं की माँग तथा उनके प्रदाय की तुलनात्मक लोच पर निर्भर होगा।

(iii) कर सम्पात कर के रूप पर भी निर्भर होता है। विशिष्ट कर का सम्पात उपभोक्ता पर होता है। सस्ते प्रकार की वस्तुओं के विक्रेता मुनाफा कम होने के कारण कर का सम्पात वरदाशत करने में असमर्थ होते हैं। यदि कीमत में कर के बराबर वृद्धि नहीं होती, तो उत्पादकों को कारोबार छोड़ना पड़ता है। यथा मूल्य (ad valorem) कर के हटने की बहुत सम्भावना होती है क्योंकि कर तथा मुनाफे का अनुपात कम होता है।

(iv) वस्तुओं पर कर शिफ्ट होने के लिए ही लगाये जाते हैं। उत्पादक वस्तुओं पर कर उपभोग की वस्तुओं की अपेक्षा अधिक सरलता से शिफ्ट होते हैं।

(v) आवर्तक (recurring) कर का सम्पात कर लगी वस्तु के स्थायित्व पर निर्भर होता है। सम्पत्ति का क्रेता उसका मूल्य तय करने से पहले इस बात को दृष्टिकोण में रखेगा कि उसे प्रति वर्ष कर देना होगा। अतः वह कर के पूर्णजीकरण द्वारा सम्पत्ति की कीमत घटाने की कोशिश करेगा।

(vi) कर सम्पात वस्तु की आपूर्ति तथा उसकी माँग की लोच पर निर्भर होगा। लोचदार माँग की वस्तु पर कर का सम्पात उत्पादक पर होगा, किन्तु लोचदार प्रदाय की वस्तु पर कर का सम्पात क्रेता पर होगा। आवश्यक वस्तुओं पर कर का सम्पात उपभोक्ता अथवा क्रेता पर होगा, विलासिता की वस्तुओं पर कर का सम्पात विक्रेता पर होगा।

बेलोच प्रदाय की वस्तुओं के उदाहरण भी उपलब्ध हैं। बड़े नगरों में भूमि की आपूर्ति बेलोच होती है। अतः भूमि पर कर का सम्पात स्वामी पर होगा, किन्तु उसमें उन्नति कर का सम्पात उपभोक्ताओं अथवा क्रेताओं पर होता है। दीर्घ काल में लोचदार आपूर्ति की वस्तु पर कर सम्पात क्रेता पर होगा। किन्तु अन्तःकालीन समय में उत्पादन की परिस्थितियों को कर परिवर्तनों में तब्दीलियों से सामंजस करने का समय नहीं मिल पाता। अतः प्रदाय की लोच कम होती है। इसलिए यह सम्पात विक्रेता पर होता है।

(vii) सम्मिलित माँग तथा सम्मिलित आपूर्ति की परिस्थितियों द्वारा भी सम्पात निर्धारित होता है। इनमें एक वस्तु पर कर दूसरी वस्तु के उपभोक्ता अथवा उत्पादक पर शिफ्ट हो सकता है। मोटर के टायर अथवा रबर के अन्य सामान के निर्माता टायर के क्रेताओं पर टायर कर शिफ्ट करने का प्रयास करेंगे। इसमें असफल होने पर वे अन्य सामग्री की कीमत बढ़ायेंगे। अतः टायर पर कर का सम्पात कुछ हद तक अन्य सामग्री के उपभोक्ताओं पर हो सकता है। यदि उत्पादक माल की अधिकतम कीमत पहले से ले रहा है तब या तो कर का सम्पात वह स्वयं वरदाशत करेगा या वस्तु की न्वालिटी घटा देगा।

करों का पूँजीकरण—कर का शिफ्टिंग पूँजीकरण द्वारा भी होता है। प्रतियोगी निवेशों में से एक पर कर लगता है। उसकी आय कम हो जायेगी। उदाहरण के लिए एक निवेश से 5 प्रतिशत की आय होती है। उस पर 1 प्रतिशत कर लगता है। आय 4 प्रतिशत रह जाती है। क्रेता इस बात को निवेश खरीदते समय ध्यान में रखेगा। यदि निवेश का मूल्य 100 रुपये हो, तो क्रेता उसे 80 रुपये में खरीदना चाहेगा। 5 रुपये की आय प्राप्त करने के लिए 100 रुपये लगाने होते हैं। 4 रुपये की आय प्राप्त करने के लिए 80 रुपये लगाने होंगे। इसे कर का पूँजीकरण कहते हैं। कर हटाने पर निवेश अथवा ऋण पत्र का मूल्य 100 रुपये हो जायेगा। किन्तु विक्रेता हानि की पूर्ति नहीं कर सकेंगे। ऐसी स्थिति में क्रेताओं ने कर विक्रेताओं पर डाल दिया होगा।

पूँजीकरण की शर्तें—निम्न परिस्थितियों में कर का पूँजीकरण सम्भव है।

(1) वस्तु टिकाऊ होनी चाहिए, बिगड़ने वाली नहीं होनी चाहिए। बिगड़ने वाली वस्तु पर कर एक ही बार लग सकता है बार-बार नहीं। इसलिए पूँजीकरण का प्रश्न ही नहीं उठता।

(2) कर बराबर प्रति वर्ष चलना चाहिए। यदि एक ही बार लगा तो पूँजीकरण का प्रश्न नहीं आयेगा।

(3) जिस वस्तु पर कर लगता है उसका पूँजी मूल्य होना चाहिए। इसके अभाव में मूल्य ह्रास सम्भव नहीं होगा। मजदूरी पर कर का पूँजीकरण नहीं हो सकता।

(4) कर एक निवेश पर होना चाहिए। सब पर नहीं। सब निवेशों पर होने से एक पर अधिक आय की गुंजायश ही नहीं रहती।

(5) कर लगी वस्तु की विक्री जल्दी-जल्दी होनी चाहिए, अन्यथा त्रय विक्रय द्वारा मूल्य के परिवर्तन की सम्भावना नहीं रहेगी।

पूँजीकृत कर का भावी क्रेताओं पर कोई भार नहीं होगा। वस्तु को वे यह समझ कर खरीदते हैं कि उस पर कर लगता रहेगा तथा वे उसकी कीमत कम कर देते ह।

कर का रूपान्तरण

TRANSFORMATION OF A TAX

डा० डार्ल्टन के अनुसार कराधान के पूँजीकरण का सिद्धान्त भ्रामक है। आगामी क्रेता यह समझ कर कि उन्हें आगे कर देना होगा उसकी कम कीमत देते हैं। कर समाप्त होने पर कर लगी वस्तु के धारकों (holders) को लाभ होगा। वस्तु के विक्रय मूल्य तथा उसकी आय में वृद्धि होगी। अतः बाद के क्रेताओं को ही कर का प्रत्यक्ष मुद्रा भार बरदाश्त करना होता है। हो सकता है कि कर के भार से शिफ्टिंग तथा पूँजीकरण द्वारा बचना सम्भव न हो सके। शिफ्टिंग से विक्री तथा मुनाफा घट सकता है जब तक कि वस्तु की माँग वेलोप नहीं है। अतः व्यापारी वर्ग संगठन में उन्नति द्वारा लागत घटाने का प्रयास करेंगे। इसे रूपान्तरण (transfor-

mation) कहते हैं। एक मत के अनुसार ऐसी स्थिति में कर का भार उत्पादक पर होता है, किन्तु दूसरे मत के अनुसार उसका भार उपभोक्ता पर है, क्योंकि कर की अनुपस्थिति में उपभोक्ता को लाभ होगा।

भवनों पर कर का सम्पात—इस कर का सम्पात स्वामी, किरायेदार तथा निर्माता आदि पर हो सकता है। यदि किरायेदार व्यवसायी है, तो वह कर को वस्तु के क्रेताओं से वसूल कर लेगा। वस्तु यदि पूँजीगत है, उसके क्रेता उस से बनी वस्तुओं के क्रेताओं पर कर का भार शिफ्ट कर सकते हैं।

जब ग्राहक वस्तुएँ पड़ोस की दुकानों से खरीदते हैं तो व्यापारी करो का भार ग्राहकों पर डाल सकते हैं, क्योंकि ऐसी स्थिति में उनकी माँग की लोच कम होती है, किन्तु यदि ग्राहक वस्तुएँ विस्तृत क्षेत्र से खरीदते हैं तब कर का भार व्यापारियों को सहन करना होगा, क्योंकि ग्राहक ऐसे स्थानों से खरीदेंगे जहाँ कर न हो। यातायात तथा बिजली के आधुनिक साधनों के विकास के कारण व्यापारी स्थानीय करो का भार सरलता में ग्राहकों पर नहीं डाल सकते।

स्वामी तथा किरायेदारों के बीच स्थानीय करो का भार स्वामी पर होगा। यदि उसे कर देने होंगे तो किरायेदार किराया घटा देंगे, किन्तु यदि माँग बेलाच है तब भार किरायेदारों पर होगा। दो परिस्थितियों में स्थानीय करो का भार स्वामियों पर होगा। प्रथम, जब भवनों की माँग पूर्णतया लोचदार हो, किन्तु प्रायः नगरी में ऐसा कम ही होता है। दूसरे, प्रदाय पूर्णतया बेलाच हो, किन्तु ऐसा भी नहीं होता। इसलिए इन करो का भार दोनों ही पर होता है।

वस्तुओं पर कर—निम्न परिस्थितियों में वस्तु की कीमत कर के घन से अधिक भी बढ़ सकती है।

प्रथम, विक्ता कर की एक निश्चित रकम राजकोष में जमा कर देता है। उस घन पर उसे व्याज की हानि होगी। अतः वह वस्तु की कीमत इतनी बढ़ाने की कोशिश करेगा कि कर तथा उस घन पर व्याज दोनों ही उसे मिल जायें।

दूसरे, जब वस्तु का उत्पादन वृद्धिमान नियम के अनुसार होता है, तब ऐसी स्थिति में इकाई लागत उत्पादन के बढ़ने से घटती है। कीमत बढ़ने से माँग घटेगी तथा प्रदाय की कम मात्रा की प्रति इकाई लागत कर के घन के अनिश्चित बढेगी।

तीसरे, उत्पादक मिलकर कीमत कर से अधिक बढ़ा दें, जिससे जनता कर हटाने अथवा घटाने का आन्दोलन करे।

अन्तिम वस्तुओं के आयात पर कर लगने से उनकी आयात कम होगी। इससे उनकी कीमते बढ़ेंगी। यदि सोने के आयात पर कर नहीं है तो सोने का आयात बढ़ेगा, जिसके फलस्वरूप मुद्रा तथा साल का प्रसार होगा, जिससे वस्तुओं की कीमतें बढ़ेंगी।

एक पुराने कर का सम्पात—कभी-कभी यह कहा जाता है कि पुराना कर कोई कर नहीं है। उसका अर्थ यह है कि पुराने कर को लोग नये कर की तरह

महसूम नहीं करते, क्योंकि वे पुराने कर के आदी हो जाते हैं। मिल के अनुसार पुराना कर वर्तमान जमींदारी से नहीं लिया जाता। डा० डाल्टन इस तर्क को भ्रामक मानते हैं, क्योंकि एक पुराने कर का प्रत्यक्ष मौद्रिक भार उन व्यक्तियों पर होता है जिन्हें उस कर के हटने से लाभ होगा। जो जमींदार पुराना कर दे रहे हैं उन्हें उसके हटने से प्रत्यक्ष मौद्रिक लाभ होगा। उनकी भूमि का विप्रय मूल्य बढ़ेगा तथा उनकी आय भी वृद्धि होगी। इसलिए पुराने कर का सम्पात उन्हीं पर होता है।²

आयात करों का सम्पात—सीमा शुल्को का सम्पात निर्धारित करने में पूँजी की तुलनात्मक गतिशीलता एक मुख्य घटक है। एक देश से उत्पादक विदेशों को माल भेजने के लिए विशिष्ट मशीनों में बहुत धन लगाते हैं। विशिष्टीकरण की मात्रा माँग की सीमा पर निर्भर होगी। आयाती देश सीमा शुल्क लगाता है। आयाती देश में माँग इतनी लोचदार हो सकती है कि कर के फलस्वरूप कीमत इतनी बढ़ जाये जिससे विश्वी बहुत घट जाये। ऐसा स्थिति में कुछ समय तक विदेशी क्रेताओं को ही सीमा शुल्क का भार सहन करना होगा। ऐसा बहुत कम होता है कि विदेशी क्रेताओं को निर्यात करों का भार सहना पड़े। उत्पादक अपनी पूँजी अन्य कार्यों में नहीं लगा सकते तथा उन्हें दूसरे देशों में माल बेचने के अवसर प्राप्त न हो सकें। इसलिए निर्यात करों का सम्पात उन्हें ही सहन करना पड़ेगा।

आयात करों के सम्पात के सम्बन्ध में एक यह भी बात है कि विदेशी उत्पादक उम देश के उत्पादकों से जहाँ आयात कर लगता है प्रभावी स्पर्धा करते हैं। दूसरी बात यह देखने की है कि क्या विदेशी उत्पादक ही माल देने का एकाधिकार रखते हैं? विदेशी उत्पादकों में ही परस्पर इतनी स्पर्धा हो सकती है कि विश्वी घटने के भय से वे स्वयं ही कर का भार सहन करने को तैयार हो जायें। यदि विदेशी प्रदायक एकाधिकारी है तथा अधिकतम कीमत ले रहा है, तब वह माल की कीमत नहीं बढ़ा सकता। इसलिए जो धन वह कर के रूप में देता है वह मुनाफे की उस हानि से कम है जो उसे माल की कीमत बढ़ाने से विश्वी कम हो जाने के कारण होगी।

किन्तु एकाधिकार के ऐसे उदाहरण कम ही मिलते हैं। एवजी वस्तुएँ उपलब्ध रहती हैं, जिससे कीमत बढ़ने में रूकावट हो सकती है। सीमा शुल्क लगने या बढ़ने पर, एकाधिकारी की नीति पर एवजी वस्तुओं पर करों का प्रभाव पड़ता है। यदि सभी वस्तुओं पर समान कर लगते हों और कोई सरक्षण या गिरावट न हो तब कीमत कर के बराबर बढ़ सकती है। तब उस कर का सम्पात देशी उत्पादकों पर ही होगा, किन्तु यदि विदेशी एकाधिकारी को अपने प्रतियोगियों से अधिक कर

देने होते हैं तब इसके लिए कीमत बढ़ा कर इस की पूर्ति करना सम्भव नहीं होगा। ऐसी स्थिति में कर का कुछ भार उसे ही सहन करना होगा।

आयात करों के सम्पात का निर्धारण इस बात पर भी निर्भर है कि उत्पादक के दृष्टिकोण से देश की मण्डी का क्या तुलनात्मक महत्त्व है। आयात कर लगाने वाला देश ही विदेशी माल की माँग की पूर्ति का एकाधिकारी हो। ऐसी दशा में विदेशी विक्रेता के लिए कीमत बढ़ाना कठिन होगा, किन्तु यदि उसे अन्य बाजार उपलब्ध हों, वह अपना माल वहाँ बेच सकता है और यदि कर लगाने वाले देश के उपभोक्ताओं की माँग बहुत तीव्र हो तो आयात कर लगाने वाले देश को ही कर का सम्पात सहन करना होगा।

इस प्रकार सम्पात विदेशी माल की माँग की लोच पर निर्भर होगा। विदेशी माल की माँग बेलोच होने पर कीमत कर के बराबर बढ़ जायेगी तथा बिक्री कम नहीं होगी तथा सम्पात उपभोक्ताओं पर होगा। किन्तु यदि माँग कर लगाने वाले देश में ही है किन्तु साथ-साथ लोचदार है ऐसी दशा में सब कर विदेशी विक्रेता को ही सहन करना होगा।

देश में वस्तु के उत्पादन की सम्भावना—चौथी बात जिस पर आयात कर का सम्पात निर्भर होगा वह यह है कि वस्तु किस हद तक देश में पैदा होती है। यदि वस्तु देश में नहीं बन सकती, तब कीमत कुछ तो कर के कारण बढ़ेगी तथा कुछ इसलिए बढ़ेगी कि विदेशी माल का प्रदाय घट जायेगा। यदि माँग बहुत ही अप्रत्यास्थ (inelastic) है, तब विदेशी माल के प्रदाय के घटने की कोई सम्भावना नहीं होगी। हो सकता है कि पहले देश में उत्पादन इसलिए कम रहा हो कि विदेशी उत्पादक ने उस उद्योग के प्रारम्भ करने में पहल की हो तथा देश में साधनों की कमी नहीं रही हो। इसलिए देश में सर्वोत्तम व्यवसायी ही माल बनाते रहे हों, क्योंकि वे ही विदेशी उत्पादक की स्पर्धा सहन कर सकते हों। ऐसी दशा में कर लगने के कारण कीमत बढ़ने से देशी उद्योगों को सुरक्षण मिलेगा और जो उत्पादक अब तक सीमा से नीचे रहे हों देशी बाजार में माल देने लगे। नयी कीमतों का स्तर जितना अधिक होगा उतनी ही अधिक सम्भावना इन व्यवसायियों के लिए उत्पादन बढ़ाने की तथा देशी बाजार में माल बेचने की होगी।

कीमतों में परिवर्तन—बदलती हुई कीमतों का प्रभाव भी आयात करों के सम्पात को निर्धारित करता है। यदि वस्तु का उत्पादन घटती लागत अथवा बढ़ती आय के नियम के अनुसार होता है तो देशी उत्पादकों की अधिक बिक्री से कीमतें कम होंगी। यह बात इस पर निर्भर होगी कि देश के उत्पादकों में कितनी प्रभावी स्पर्धा है। यदि यह स्पर्धा तीव्र है, तो कर पहले स्तर पर भी बना रहे, फिर भी कीमतें गिरेंगी।

तेरहवाँ अध्याय

कराधान का अन्तरण तथा सम्पात

(SHIFTING AND INCIDENCE OF TAXATION)

कर सम्पात अंत में आदाता पर ठहर जाता है। इसे प्रत्यक्ष मौद्रिक भार अथवा कर सम्पात कहते हैं। सेलिग्मैन के अनुसार कर सम्पात अथवा अन्तरण की समस्या का सम्बन्ध कीमत से सम्बन्धित आय से है। इसका यह अर्थ है कि कर के अन्तरण का माध्यम वस्तु की कीमत है। कर लगने से यदि कीमत बढ़ती है तथा कर का भार हमारे व्यक्ति पर कीमत बढ़ा कर डाला जा सकता है तब कर सम्पात उम व्यक्ति पर रहता है जो बड़ी हुई कीमत देता है। क वस्तु की कीमत बढ़ाकर वस्तु पर लगा कर ख से प्राप्त कर लेता है। तब इस कर का सम्पात ख पर रहता है।

कर सम्पात तथा कर प्रभाव में अंतर है। कर प्रभाव से अभिप्राय कर के मौद्रिक भार से न हो कर उस कर के लगने के फलस्वरूप होने वाले सामाजिक तथा आर्थिक परिणामों से है।

सम्पात से अभिप्राय कर के मौद्रिक भार से है। कर के प्रभाव से अभिप्राय उन अंतिम आर्थिक परिस्थितियों से है जो किसी कर के लगने से उत्पन्न होती है।¹

कर सम्पात (incidence) तथा कर प्रभाव (effects) में अंतर जानना आवश्यक है। कर के बहुत प्रभाव हो सकते हैं। उसके लगने से उद्योगों का ह्रास हो सकता है। व्यक्तियों की हानि हो सकती है, किन्तु कर समाज के लिए वरदान सिद्ध हो सकता है, क्योंकि करो की आय से आर्थिक विकास तथा जन कल्याण सम्भव है। सम्पात की समस्या का इन बातों से कोई सम्बन्ध नहीं है। सम्पात का सरल अभिप्राय यह है कि अन्त में कर देता कौन है? जब हम यह समझ लेते हैं तब कर से होने वाले विभिन्न सामाजिक तथा आर्थिक परिणामों पर ध्यान देते हैं तथा उनका अध्ययन करते हैं।

अंत में कर का मौद्रिक भार किस पर पड़ता है इसका पता लगाना सरल नहीं है। वास्तव में यह एक आत्मनिष्ठ (subjective) बसोटी है कि कर सम्पात

¹ See, Silverman, H. A. : 'Taxation, Its Incidence and Effects' 1931, p. 89.

वहाँ समाप्त होता है तथा उनके प्रभाव कहीं प्रारम्भ होते हैं। कर सम्पात तथा प्रभाव में अंतर सैलिमैन तथा आटो वोन मेरिंग ने बताया था, किन्तु कैनन तथा डकन ब्लैक ने इस अंतर को मनमाना ठहरा कर अस्वीकार किया। डकन ब्लैक के अनुसार सम्पात शब्द धेकार है तथा इसके वजाय प्रभाव शब्द का प्रयोग होना चाहिए।² श्रीमती उर्मुला हिक्स ने औपचारिक सम्पात तथा प्रभावी सम्पात में अंतर बताया। औपचारिक सम्पात से होने वाली सामाजिक प्रक्रिया के विषय में कुछ पता नहीं चलता।³ इस तर्क से बहुत लेखक सहमत नहीं हैं। अंतिम भार के अर्थ में सम्पात का निर्धारण उस काल पर निर्भर है जो प्रथम बार कर लगने के पश्चात् बीतता है। कर व्यक्तियों तथा कम्पनियों की आय पर लगते हैं। यह आय वेतन, भत्ता, मुनाफे आदि के रूप में होती है। रिचाड गुड नामक लेखक कारपोरेट कर के प्रारम्भिक तथा अंतिम सम्पात को भिन्न समझते हैं। प्रारम्भिक सम्पात में इनका अभिप्राय लाभ, कीमत तथा मजदूरी पर कर के अल्पकालीन प्रभावों से है तथा अन्तिम सम्पात में दीर्घकालीन प्रभाव शामिल है। सब समन्वय के पश्चात् कर कहीं ठहरता है यह समस्या कर के प्रारम्भिक सम्पात की है। इसमें वे समन्वय शामिल नहीं है जो वर्तमान स्थिर प्लाट तथा उपकरणों अथवा तकनीकी आकार में परिवर्तन के पश्चात् होते हैं। तकनीकी आकार तथा फर्म की व्यवस्था के रूप में परिवर्तनों के पश्चात् जहाँ अंत में सम्पात ठहरता है यह समस्या अंतिम सम्पात की है।⁴ यह अंतर लगभग वही है जो डा० डाल्टन तथा अन्य लेखकों ने सम्पात तथा प्रभावों में बताया है।

मस्प्रैव ने एक कर द्वारा प्राप्त धन के मार्वांजनिक उपयोग के लिए अधिक साधनों के अन्तरण के सम्मिलित प्रभावों तथा केवल वित्त के ढगों के परिवर्तनों के परिणामों में जिनमें मार्वांजनिक उपयोग के लिए साधनों में परिवर्तन नहीं होता अंतर धनाया है। पहली प्रकार के वितरणात्मक परिवर्तनों को बजट सम्पात की संज्ञा दी है तथा वित्त प्राप्त करने के ढगों के परिवर्तनों को कर सम्पात की संज्ञा दी है। इन्होंने विशिष्ट (special) सम्पात तथा अंतरीय (differential) सम्पात में भी अंतर बताया है। विशिष्ट सम्पात वह स्थिति है जहाँ कर के फलस्वरूप व्यय में परिवर्तन नहीं होते। अंतरीय सम्पात यह स्थिति है जहाँ उतनी ही आय के लिए एक कर ढूँढ़ने का स्थान लेता है। सन्तुलित बजट सम्पात यह स्थिति है जहाँ शासकीय व्यय कर की आय के बराबर रहता है।

आय कर का सम्पात—अन्तरण सम्बन्धी प्रक्रिया का सिद्धान्त स्वतन्त्र बाजार की अर्थ-व्यवस्था में कीमत प्रणाली के प्रचालन पर आधारित है। इसकी यह व्याख्या है। कीमत सीमान्त उत्पादक द्वारा तय होती है। सीमान्त उत्पादक लाभ प्राप्त नहीं करता। कर लगने से इस प्रकार के उत्पादक की कीमत अथवा उसकी स्थिति

2 Black Duncan . 'The Incidence of Income Taxes'.

3 Hicks, U K . 'Development Finance'.

4 Richard Goods . 'The Corporation Income Tax', 1951, p. 46.

पर कोई प्रभाव नहीं होता। इस सीमान्त फर्म की लागत तथा कीमत की स्थिति में कर से कोई परिवर्तन नहीं होता। इसलिए कर कीमत बढ़ाकर आगे नहीं हटाया जा सकता। कर से सीमान्त फर्म की स्थिति पर प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि यह फर्म उस सीमा तक उत्पादन करती रहेगी जहाँ इसकी सीमान्त आय तथा सीमान्त लागत बराबर है तथा उत्पादन की सीमान्त इकाई वही रहती है जैसी कर लगने से पहले थी।

इस व्याख्या के अनुसार कर सम्पात कर दाता पर रहता है। कर का परिवर्तन नहीं होता। ग्रेब्स के अनुसार कर का सघात (impact) तथा सम्पात समान है। सम्पात का अर्थ उस स्थान से है जहाँ कर का अंतिम भार ठहरता है तथा सघात का अर्थ कर की अदायगी से है। कर लगने से किसी व्यक्ति को होने वाली हानि की माप की सर्वोत्तम क्वांटिटी आय है। आय कर का सम्बन्ध सीधा आय से है। इसलिए आय कर में परिवर्तन हो सकते हैं जिन से विभिन्न वर्गों पर बांछनीय त्याग सम्भव हो जाए।

वैयक्तिक आय कर—आय कर का देश की कर रचना में विशेष महत्त्व है। इस कर के लगने तथा इसकी दरों में घट बढ़ से सकल राष्ट्रीय माँग पर प्रभाव पड़ता है। इस प्रक्रिया द्वारा अर्थ-व्यवस्था की व्यय तथा वचन प्रवृत्तियों पर प्रभाव पड़ते हैं। इन परिवर्तनों से अर्थ-व्यवस्था प्रभावित होती है। अल्प काल में कर उस व्यक्ति पर पड़ता है जिसकी आय पर वह लगता है। वैयक्तिक आय कर एक साधारण कर है जिसके भार से कीमत के परिवर्तनों द्वारा व्यक्ति बच नहीं सकता। व्यक्ति आय कर द्वारा उत्पादन लागत को प्रभावित नहीं कर सकता। इसलिए इससे प्रदाय अथवा आपूर्ति कारकों में भी परिवर्तन नहीं हो सकते।

आय कर का सामान्य सम्पात आय पाने वाले व्यक्ति पर होता है। आय कर उत्पादन लागत का घटक अथवा तत्त्व नहीं है। यह व्यवसाय अथवा व्यापार की सफलता की कीमत है, अर्थात् व्यापार की सफलता से लाभ होता है। व्यक्ति की आय बढ़ती है। अधिक आय होने से व्यक्ति को अधिक कर देना होता है। आय कर से व्यवसायियों की वस्तुओं की कीमत पर प्रभाव नहीं पड़ता।

निम्न तालिका में भारत में आय कर का सम्पात दिया गया है :

1951-52 से 1996-67 तक व्यक्तियों पर आय कर सम्पात

वर्ष	व्यक्तियों की संख्या	निर्धारित आय करोड़ रु०	कर जिम्मेदारी करोड़ रु०	कर आय का प्रतिशत	प्रति व्यक्ति कर रु०
1951-52	547539	475.5	80.4	16.91	1468
1952-53	456516	425.7	77.6	18.23	1700
1953-54	439340	470.4	75.2	15.99	1712
1954-55	426411	469.3	73.0	15.56	1712
1955-56	454695	500.5	79.4	15.86	1746

1956-57	499621	551.8	87.6	15.88	1753
1957-58	570172	605.0	90.3	51.93	1584
1958-59	717340	603.7	94.6	13.64	1319
1959-60	768063	742.2	96.5	13.00	1256
1960-61	828347	777.8	98.1	12.61	1184
1961-62	940246	884.6	112.6	12.73	1198
1962-63	961841	923.1	118.3	12.82	1230
1963-64	1036534	959.1	115.6	12.07	1117
1964-65	1229854	1091.8	128.0	11.72	1041
1966-67	1471777	1436.2	190.0	13.23	1291

इस तालिका से स्पष्ट है कि 1951 तथा 1967 के बीच व्यक्तियों की संख्या, कर निर्धारित आय तथा कर जिम्मेदारी बढ़ी, किन्तु आय के प्रतिशत के रूप में कर तथा प्रति व्यक्ति कर के अंको में कमी हुई। 1951-52 में कर आय का 16.91% था जो 1966-67 में घटकर 13.23% रह गया। प्रति व्यक्ति कर इसी काल में 1468 रुपये से घटकर 1291 रह गया। निर्वेक्ष दृष्टि से निर्धारित आय का अंक 1951-52 में 80.4 रुपये से बढ़कर 1966-67 में 190 रुपये आ गया। इसका परिणाम यह है कि प्रति व्यक्ति कर तथा आय के देखते हुए कर भार में वृद्धि हुई।

1952-53 में कर तथा आय का अनुपात 18.23% था जो सबसे अधिक था, किन्तु यह अनुपात 1964-65 में सबसे कम था जो 11.72% था। प्रति व्यक्ति कर 1956-57 में अधिकतम था जबकि यह अंक 1753 रुपये था, किन्तु 1964-65 में यह अंक न्यूनतम, अर्थात् 1041 रुपये था।

1955-56 से कर वाताओ की संख्या बराबर बढ़ती रही है। 1953-54 तथा 1954-55 में यह संख्या घटी थी। इसका तात्पर्य यह है कि प्रति वर्ष अधिकाधिक व्यक्ति कर के क्षेत्र में आ रहे हैं तथा 1955-56 से आय की भी वृद्धि बढ़ने की रही है। 1964-65 से 1966-67 तक कर सीमा की आय लगभग $\frac{1}{3}$ बढ़ी।

1955-56 से कर जिम्मेदारी बढ़ती रही है। 1963-64 में यह 1962-63 की अपेक्षा लगभग 2.5% घटी, किन्तु 1954-55 तक इसमें घटने की वृत्ति रही। १५ लाख व्यक्ति 1300 रुपये प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष कर देते हैं जो लगभग आय का 14% है, अर्थात् कर सम्पत्ति 14% है।

आय के चार स्रोतों को लेकर आय कराधान का विस्तृत विश्लेषण किया जा सकता है। आय की ये चार श्रेणियाँ हैं: (1) किराये से आय, (2) मजदूरी तथा वेतन से आय, (3) व्याज से आय तथा, (4) मुनाफे से आय।

किराये अथवा लगान पर कर—इस कर का अन्तरण नहीं हो सकता। रिकार्डों के अनुसार आर्थिक लगान ऊँची कीमतों का कारण नहीं बल्कि उनका

परिणाम है। कीमत सीमान्त भूमि की उपज पर निर्भर होती है जिससे लगान नहीं मिलता। इस लगान पर लगाये गये कर का सम्पात पूर्णतया भूस्वामियों पर ही होगा। तथा इसका अन्तरण किसी प्रकार के उपभोक्ताओं पर नहीं हो सकता। रिकार्डों के इस मत से अधिकांश आधुनिक अर्थशास्त्री सहमत हैं।

लगान की आय भूमि तथा भवन सम्पत्ति को किराये पर देने से प्राप्त होती है। आय कर कानून के अंतर्गत भवन सम्पत्ति किराये पर न दी जाय, किन्तु मालिक स्वयं उसमें रहता हो तब भी किराये की आय मान ली जाती है जो कि कर दायित्व के निर्धारण के लिए उसको आय में शामिल की जाती है। निम्न तालिका में गृह सम्पत्ति की आय पर कर का सम्पात दिखाया गया है :

1951-52 से 1966-67 तक भवन सम्पत्ति की आय पर कर सम्पात

वर्ष	कर दाताओं की संख्या	निर्धारित आय	कर जिम्मेदारी	कर तथा आय का अनुपात	प्रति कर दाता कर (रुपयों में)
(अंक करोड़ रुपयों में)					
1951-52	187443	30.2	6.1	20.20	325
1952-53	152137	32.1	8.5	26.48	559
1953-54	138768	27.4	5.7	20.80	411
1954-55	137538	28.1	5.7	20.28	414
1955-56	144063	29.7	6.1	20.54	423
1956-57	156982	33.8	7.1	21.00	452
1957-58	179432	35.0	7.0	20.00	390
1958-59	210789	38.9	7.6	19.54	361
1959-60	220676	39.0	7.7	19.74	349
1960-61	228149	37.3	7.1	19.03	311
1961-62	250331	42.7	8.6	20.14	344
1962-63	254763	42.8	7.6	17.76	298
1963-64	261424	42.4	7.2	16.98	275
1964-65	276712	44.4	7.7	17.42	278
1966-67	264875	50.5	9.4	18.61	355

उपर्युक्त तालिका के अनुसार गृह सम्पत्ति की आय पर कर भार 30% है। 1966-67 में 1951-52 की तुलना में कर तथा आय का अनुपात घटा। कर जिम्मेदारी 1951-52 की तुलना में लगभग $1\frac{1}{2}$ गुना थी, किन्तु उस आय में जिस पर कर लगा 1951-52 की अपेक्षा $1\frac{2}{3}$ गुना हो गयी। कर जिम्मेदारी विभिन्न वर्षों में बदलती रही, किन्तु अधिकतम जिम्मेदारी 1966-67 में थी। कर दाताओं की

संख्या 1956-57 के पश्चात् बराबर बढ़ती रही है, किन्तु प्रति कर दाता कराधान में घटने की वृत्ति रही।

मजदूरी तथा वेतन पर कर—मजदूरी पर कर सम्पात का अनुमान कुशल तथा अकुशल मजदूरी के सम्बन्ध में लगाया जा सकता है। कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि अकुशल मजदूरी की आय पर कर का अन्तरण मालिकों पर होता है, किन्तु अल्प काल में अकुशल मजदूरी का प्रदाय अथवा उनकी आपूर्ति लचीली नहीं होती। इसलिए यह मत मान्य नहीं है। यदि मजदूरी जीवन निर्वाह के स्तर से ऊपर नहीं है तो मजदूरी पर कर मजदूरी पर ही ठहरता है, किन्तु यदि मजदूरी जीवन निर्वाह के स्तर से अधिक हो तब सम्पत्ति कर दोनों पक्षों की सौदे की शक्ति के अनुसार हट सकता है।

कुशल श्रम की मजदूरी पर कर श्रमिकों पर ही रहता है। इनकी मजदूरी घटने से इनके प्रदाय पर प्रभाव नहीं पड़ता। इनका प्रदाय शैक्षिक सुविधाओं की उपलब्धि तथा उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा पर निर्भर रहता है।

कभी-कभी यह तर्क दिया जाता है कि मजदूरी तथा वेतन पर कर उत्पादन लागत में शामिल होने के कारण उपभोक्ता पर चला जाता है। यह तर्क इस धारणा पर निर्भर है कि मजदूरी पाने वालों के पास बचत नहीं है। जिन पर कर लगता है यह आवश्यक नहीं है कि यह कर उत्पादन लागत में शामिल होता है तथा कीमतें बढ़ जाती हैं। मजदूरी जीवन स्तर के सूचक अंक से सम्बन्धित रहती है। इसलिए वस्तुओं पर कर वृद्धि से मजदूरी बढ़ेगी जिसके फलस्वरूप उत्पादन लागत बढ़ेगी, किन्तु प्रत्यक्ष कर में ऐसा नहीं होता।

1951-52 से 1966-67 तक वेतन आय पर कर सम्पात

वर्ष	कर दाताओं की संख्या	निर्धारित आय (अंक करोड़ रुपये में)	कर जिम्मेदारी (अंक करोड़ रुपये में)	आय तथा कर का प्रतिशत	प्रति कर दाता कर (रुपयों में)
1951-52	280288	178.4	15.2	8.52	542
1952-53	243425	167.1	17.6	10.53	723
1953-54	239456	185.1	17.8	9.62	743
1954-55	224542	189.0	19.6	10.37	873
1955-56	235291	206.5	22.2	10.75	944
1956-57	244637	207.4	22.7	10.95	928
1957-58	257124	224.6	26.5	11.80	1031
1958-59	332033	255.3	25.0	9.79	753
1959-60	356602	272.8	27.4	10.04	768

1960-61	393051	291.1	29.7	10.20	756
1961-62	468855	339.2	33.4	9.84	712
1962-63	473229	352.6	33.8	9.59	714
1963-64	520035	377.3	32.2	8.53	619
1965-66	638187	455.0	40.2	8.76	630
1966-67	752381	598.7	55.7	9.30	740

उपर्युक्त तालिका के अनुसार वेतन पाने वाले व्यक्तियों में 1957-58 के पश्चात् बहुत वृद्धि हुई। इस काल में निर्धारित आय तथा कर जिम्मेदारी में बहुत वृद्धि हुई।

व्याज पर कर—पूँजी की आपूर्ति सबसे अधिक लचीली होती है। इसलिए व्याज पर कर उधार लेने वाले तथा उनसे उपभोक्ताओं पर पहुँचाया जा सकता है। व्याज पर भारी कर का प्रभाव यह होगा कि पूँजी भारी कर वाले देश से कम कर वाले देश में भेज दी जायेगी। कर दरों में अन्तर उधार लेने वाले पर हटाया जा सकता है, किन्तु अलग-अलग देशों में कर सम्बन्धी कानून ऐसे हैं कि व्याज कर सरलता से नहीं हटाया जा सकता।

1951-52 से 1966-67 तक भारत में व्याज की आय पर कर सम्पात

वर्ष	करदाताओं की संख्या	निर्धारित आय (अक करोड़ रुपयों में)	कर जिम्मेदारी	आय तथा कर अनुपात	प्रति कर वाता कर (रु०)
1951-52	50677	14.5	5.1	35.17	1006
1952-53	44092	23.5	10.3	43.83	2336
1953-54	24085	18.0	9.3	49.21	3861
1954-55	23150	15.8	7.5	47.47	3240
1955-56	24268	10.2	4.5	44.12	1854
1956-57	28774	13.6	6.4	47.06	2224
1957-58	29077	13.8	6.9	50.00	2375
1958-59	31463	13.6	6.6	48.89	2098
1959-60	31634	12.5	6.2	49.60	1960
1960-61	29452	12.5	7.0	56.00	2377
1961-62	30102	19.7	12.9	65.48	4285
1962-63	27839	16.2	7.0	43.21	2514
1963-64	25309	6.7	2.3	34.33	909
1964-65	26151	14.2	5.7	40.14	2180
1966-67	51648	26.3	6.8	25.86	1317

इस तालिका के अनुसार 1966-67 में 1964-65 की तुलना में कर दाताओं की मर्यादा दुगुनी हो गयी, किन्तु कर जिम्मेदारी बहुत कम बढ़ी। इसके साथ आय तथा कर के अनुपात तथा प्रति व्यक्ति कर में कमी हुई।

लाभ पर कर—लाभ पर कर आगे पीछे हो सकता है अथवा नहीं इस पर अर्थशास्त्री सहमत नहीं हैं। सेलिगमैन के अनुसार नेट मुनाफे पर कर किसी दूसरे व्यक्ति पर नहीं डाला जा सकता। उत्पादन लागत से ऊपर आय मुनाफा है। इस पर कर लगाने से उत्पादन लागत पर प्रभाव नहीं पड़ सकता तथा कीमते नहीं बढ़ाने सकती। तत्काल तथा अन्त में उत्पादक ही इस कर को बरदाश्त करता है।⁵ इस कर को दूसरे व्यक्ति पर डालने अथवा पहुँचाने के लिए साधनों का पुनर्द्वारा करना आवश्यक होगा। पूँजी अन्य उपयोगों में लगानी होगी अथवा सीमान्त उत्पादक को हटाकर आपूर्ति कम करनी होगी, किन्तु पूँजी का अन्तरण अभी सम्भव होगा जब अन्य स्थान पर इससे अधिक मुनाफा मिल सके।

प्रतियोगी तथा एकाधिकारी लाभ पर आय कर का सम्पात

सम्पात सम्बन्धी सिद्धान्त के अनुसार प्रतियोगी अथवा एकाधिकारी व्यवसाय आय कर को किसी दूसरे पर डालने की स्थिति में नहीं होते। प्रतियोगी स्थिति में सीमान्त फर्म का उत्पादन माँग की पूर्ति के लिए आवश्यक है। कीमत इतनी होनी चाहिए कि सीमान्त उत्पादक व्यवसाय में ठहर सके। ये फर्म लाभ नहीं कमाती। इसलिए इन पर लाभ कर नहीं लगता। आय कर का भार उन्हीं फर्मों पर पड़ता है जिन्हें मुनाफा होता है।

सेलिगमैन के अनुसार एकाधिकारी के लाभ पर कर को हटाया नहीं जा सकता, क्योंकि सम्भवतया विक्रेता अधिकतम कीमत ले रहा है। इस सिद्धान्त की आलोचना मार्शल तथा अन्य अर्थशास्त्रियों ने की। मार्शल के अनुसार प्रतिनिधि फर्म की लागत से कीमत तय होती है। यह वह फर्म है जो सामान्य लाभ कमाती है। सामान्य लाभ इसके लागत व्यय में शामिल होता है।

अब इस सम्बन्ध में दो मत हैं। एक मत के अनुसार लाभ पर कर का अन्तरण सम्भव नहीं है। इस का तर्क यह है कि आय कर का अन्तरण इसलिए सम्भव नहीं है क्योंकि कीमत नहीं बदलती। कीमत इसलिए नहीं बदलती क्योंकि उत्पादन नहीं घट सकता। उत्पादन इसलिए नहीं घटता क्योंकि साधनों का उपयोग अन्य स्थानों में मुनाफे पर नहीं हो सकता, क्योंकि जहाँ-जहाँ साधनों का उत्पादक रूप में उपयोग होता है वहाँ आय कर लगता है।⁶

दूसरे मत के अनुसार लाभ पर आय कर का अन्तरण सम्भव है। उनका कहना है कि यह तो ठीक है कि साधन एक जगह से दूसरी जगह हटा कर मुनाफे

5 Seligman, E. R. A. 'The Shifting and Incidence of Taxation', p. 21.

6 See, Kummel L. H. 'Taxes and Economic Incentives', 1950.

पर नहीं लगाए जा सकते, किन्तु उनको बेकार रखता तो सम्भव है। कर लगने पर यह तो विकल्प रहता है कि अधिक-व्यस्त रहा जाए, अथवा आराम किया जाए। यह बात कार्य तथा आराम की सीमान्त उपयोगिता पर निर्भर है।

इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि आय कर का भी अन्तरण सम्भव है। यह तभी सम्भव है जब आराम पर भी कर लगे तथा कर की घोषणा के पश्चात् भी वैसे ही कार्य होता रहे।⁷

निम्न तालिका में भारत में व्यवसाय पर आय कर का सम्पात प्रस्तुत है :—

वर्ष	कर दाताओं की संख्या	निर्धारित आय (करोड़ रुपयों में)	कर जिम्मेदारी (करोड़ रुपयों में)	आय तथा कर अनुपात	प्रति कर दाता कर
1951-52	387514	465.8	135.1	29.00	3486
1952-53	295184	416.6	134.6	32.35	4560
1953-54	264773	461.9	146.3	31.67	5525
1954-55	270264	435.4	130.2	29.90	4817
1955-56	291098	457.8	139.1	30.38	4778
1956-57	332089	581.2	174.0	30.09	5267
1957-58	414318	640.5	180.8	28.23	4364
1958-59	505599	752.0	218.5	29.06	4322
1959-60	534479	766.9	208.7	27.21	3905
1960-61	563745	832.7	227.5	27.32	4036
1961-62	613205	1041.0	347.4	33.37	5665
1962-63	637229	1062.2	238.5	22.45	3743
1963-64	661687	1009.3	213.0	21.10	3219
1964-65	751585	1157.9	255.1	22.03	3394
1966-67	903250	1697.3	410.3	24.17	4542

इस तालिका से स्पष्ट है कि व्यापार से आय पाने वाले व्यक्तियों की संख्या अन्य साधनों से आय पाने वाले व्यक्तियों की संख्या से अधिक है। व्यवसाय से आय कर दाताओं की संख्या 9 लाख से अधिक है तथा 1954-55 के पश्चात् यह संख्या बहुत तीव्रता से बढ़ी है। प्रति व्यक्ति कर में भी घट बढ़ रही है। इस में प्रवृत्ति निश्चित नहीं है।

निम्न तालिका में कम्पनियों के आय कर का 1951-52 के 1966-67 तक का सम्पात दिया गया है :—

वर्ष	कर दाता कम्पनियों की संख्या	कर निधारित आय (अककरोड रुपयों में)	कर जिम्मेदारी (रुपयों में)	कर आय का, प्रतिशत	प्रति कम्पनी कर
1951-52	10761	200.0	91.0	45.95	85401
1952-53	9700	200.3	102.1	50.97	105258
1953-54	9933	220.0	96.3	43.77	56949
1954-55	9455	197.5	86.8	43.95	91803
1955-56	10261	188.1	82.5	43.86	80402
1956-57	10780	235.9	108.5	45.99	100649
1957-58	10989	219.7	110.5	50.30	100564
1958-59	10778	265.9	137.4	51.67	122482
1959-60	9791	213.0	169.5	51.41	111837
1960-61	9959	247.9	122.0	49.21	122502
1961-62	11464	405.0	195.0	48.37	170883
1962-63	12024	361.2	175.1	48.48	145625
1963-64	10315	271.5	136.2	50.17	132041
1964-65	11288	376.5	179.1	47.57	158664
1966-67	13512	544.2	274.9	50.51	203449

भारत में आय कर आय का अधिकांश भाग कम्पनियों से प्राप्त होता है। प्रति कम्पनी कर 2 लाख रुपये से अधिक है। कर जिम्मेदारी कोष्ट के अकों के अनुसार कम्पनियों से उनकी अर्जित आय का आधा भाग कर के रूप में मिलता है।

आय कर के अर्थ-व्यवस्था पर बहुत प्रभाव होते हैं। इसके प्रभाव फर्मों के निर्णय पर पड़ते हैं जिससे उत्पादन घटको की माँग भी प्रभावित होती है। इसके कारण उत्पादन घटको की आपूर्ति में परिवर्तन होते हैं। उद्योगों में घटक सम्बन्धी सेवाओं का पुनर्बंटवारा होता है। इस प्रकार आय कर घटको की आपूर्ति तथा माँग पर प्रभाव द्वारा राष्ट्रीय आय के स्तर, उसकी रचना तथा वितरण में परिवर्तन लाता है।

इसी प्रकार अन्य करों के भी अर्थ-व्यवस्था पर प्रभाव पड़ते हैं। इसलिए कर रचना ऐसी होनी चाहिए जिससे शासन को अधिकतम आय प्राप्त हो, किन्तु अर्थ-व्यवस्था की उन्नति हो तथा मुद्रा स्थिति रोकी जा सके। अतः शासन की कर नीति तथा केन्द्रीय बैंक की मुद्रा नीति में समन्वय तथा निकटतम सहयोग आवश्यक है।

षोडश्या अध्याय कर के प्रभाव (EFFECTS OF TAXES)

पिछले अध्याय में प्रभावों तथा सम्पात में अन्तर का स्पष्टीकरण कर दिया गया है। कर के प्रत्यक्ष मुद्रा भार की समस्या ही सम्पात की समस्या है, किन्तु करों के अन्य भार प्रभाव कहलाते हैं। डा० डाल्टन, जिन्होंने करों के सम्पात तथा प्रभावों में वैज्ञानिक ढंग से अन्तर बताया है, प्रभावों को उत्पादनात्मक, वितरणात्मक तथा अन्य प्रभावों की श्रेणियों में विभाजित करते हैं। इसलिए करों के उत्पादन तथा वितरण पर क्या प्रभाव हैं तथा अन्य प्रभाव क्या हैं इन समस्याओं पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

उत्पादन पर प्रभाव—कर लगने से कर दाता की कार्य करने तथा धन बचाने की क्षमता पर तथा उसकी कार्य करने तथा धन बचाने की इच्छा पर प्रभाव पड़ता है तथा कर लगने से विभिन्न व्यवसायों तथा स्थानों में साधनों में पुनर्वितरण होता है।

कार्य तथा बचत की क्षमता पर करों का प्रभाव—जिस कर से किसी व्यक्ति की क्षमता अथवा कुशलता में कमी आती है उससे उसकी कार्य करने तथा धन बचाने की क्षमता घटती है। कम आय पर करों के ऐसे ही प्रभाव पड़ते हैं। थोड़ी आय पर प्रत्यक्ष कर, आवश्यकताओं पर कर, तथा ऐसी वस्तुओं पर जो निपुणता के लिए आवश्यक हैं कर लगाने से कर दाताओं की कार्य करने तथा धन बचाने की क्षमता में कमी आती है। आवश्यकताओं की माँग बेल्कोच होती है। उन पर लगे करों के कारण कीमतें बढ़ती हैं। इसका फल यह होता है कि गरीब व्यक्तियों की आय का एक बड़ा भाग करों में चला जाता है तथा अन्य वस्तुओं पर व्यय करने के लिए उनके पास कम धन बचता है। इसलिए सभी देशों में एक न्यूनतम कर मुक्त आय होती है। भारत में अप्रैल 1, 1970 में यह कर मुक्त आय एक नागरिक के लिए 5,000 रुपये कर दी गई, जो 1971-72 के अन्तिम बजट के अनुसार 6,000 रुपये कर दी गई है।

जो व्यक्ति धन बचाते हैं उन पर कर लगने से उनकी धन बचाने की क्षमता

कम होती है। इसलिए जॉन स्टुआर्ट मिल के अनुसार ऐसा कोई भी आय कर जिससे बचत मुक्त नहीं है वास्तव में उपयुक्त नहीं है.....जब तक आय कर से बचत मुक्त नहीं होती, कर दाताओं की बचत पर दो बार कर लगता है, किन्तु उनके व्यय पर एक ही बार कर लगता है। निवेश पर कर लगाने तथा उसके पश्चात् निवेश की आय पर कर लगाने का यह अर्थ है कि कर दाता की आय के उसी भाग पर दो बार कर लगाना।¹

कर दाताओं की कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा पर प्रभाव—कर से कर दाता की कार्य करने तथा धन बचाने की इच्छा पर प्रभाव पड़ता है। कर का प्रभाव इस बात पर निर्भर है कि व्यक्तियों का कर तथा उसके प्रकार के प्रति कैसा रवैया है। यदि कर दाता की आय की माँग की लोच बहुत कम है, तब कर लगने से व्यक्ति की कार्य करने तथा धन बचाने की इच्छा बढ़ेगी। व्यक्तियों को अपने परिवार का जीवन स्तर सुरक्षित रखने के लिए एक न्यूनतम धन-राशि की आवश्यकता है। ऐसी स्थिति में कर लगने से व्यक्ति पहले से अधिक सख्त काम करने के लिए तैयार होगा। धनी व्यक्तियों की भी विदाल धन-राशि पाने की तथा आय प्राप्त करने की इच्छा रहती है जिससे उन्हें अधिकार तथा गौरव मिले। इसलिए कर लगने से उनकी काम करने तथा धन बचाने की इच्छा कम नहीं होगी। इसलिए 'कर से' उन्हें अधिक प्रयास करने का प्रोत्साहन ही मिलेगा।

इसके अतिरिक्त बचत कारपोरेशनों तथा लोक मण्डलों द्वारा भी होती है, किन्तु उनकी कोई व्यक्तिगत उपभोग के लिए दूसरी से स्पर्धा की इच्छा नहीं होती। वे धन को व्यवसाय में ही लगाना चाहते हैं। इसलिए लोक-क्षेत्र के प्रसार के कारण इस साधन से बचत के बढ़ने की गुंजायश रहती है। अतः इस क्षेत्र में कर से काम करने तथा धन बचाने की इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता।

कराधान के सूचनागत प्रभाव—नये कर से कर दाता की आय घटती है। इससे उसकी आय अर्जित करने की इच्छा भी घट सकती है। जब ध्यवित्त यह समझते हैं कि नया कर लगता रहेगा तो उसकी भविष्य में आय-अर्जित करने की इच्छा घटेगी। प्रो० पीगू ने इन्हे करों के सूचनागत प्रभाव (announcement effects) कहा है।

करों के प्रकार के प्रभाव—अलग-अलग करों के काम करने तथा धन बचाने की इच्छा पर प्रभाव पड़ते हैं। उनमें से कुछ ऐसे कर हैं जैसे अप्रत्याशित लाभ कर जिन्का कर दाता के काम करने तथा धन बचाने की इच्छा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसे काल में जबकि जल्दी-जल्दी आर्थिक परिवर्तन होते हैं, ऐसे करों के लिए बहुत गुंजायश रहती है। कुछ स्थितियों में भूमि कर भी अप्रत्याशित आय कर हो सकता है, किन्तु जब लोग जानते हैं कि भूमि का मूल्य बढ़ेगा तब यह अप्रत्याशित

1 See Dalton : 'Public Finance', Chapter X, p. 183.

(unexpected) लाभ अथवा आय कर नहीं कहा जा सकता। कभी-कभी उत्तराधिकार घन अप्रत्याशित हो सकता है, किन्तु अन्य स्थितियों में यह प्रत्याशित भी होता है, किन्तु जिस व्यक्ति को उत्तराधिकार में घन मिलने की आशा हो उससे उस व्यक्ति के काम करने तथा घन बचाने की इच्छा घटनी नहीं चाहिए। एकाधिकारी पर ऐसा कर जिससे उत्पादन बढ़ता है तथा कीमत घटती है काम करने तथा घन बचाने की इच्छा को बढ़ाता है।

करो का काम करने की तथा घन बचाने की इच्छा पर प्रभाव सामान्यतया 'कर दाता की आय की माँग की लोच पर निर्भर रहता है। जब आय की माँग की लोच बहुत होती है तब इसका उत्पादन पर प्रभाव प्रतिकूल होगा। उपभोग अथवा वस्तुओं पर करो से यह इच्छा बहुत कम घटेगी। कारण यह है कि कर दाता की एक निश्चित प्रवास द्वारा आय की कम क्षय शक्ति होगी। आय कर से वस्तु करो की अपेक्षा यह इच्छा अधिक घटेगी। वस्तुओं पर कर बचत पर न होकर व्यय पर पड़ेंगे। इसलिए उत्पादन के हित में यह आवश्यक है कि बचत कर से मुक्त होनी चाहिए।

अर्जित आय के पक्ष में भेद किया जा सकता है इसलिए श्रम द्वारा प्राप्त आय पर सम्पत्ति में प्राप्त आय की तुलना में कर की दर कम हो सकती है। इससे बचत की इच्छा काम करने की इच्छा की तुलना में अधिक घटेगी, लेकिन यदि ऐसा कर लगे जिससे आय तो उतनी ही हो किन्तु सम्पत्ति तथा आय में कर लगने में कोई भेद न हो तब बचत की इच्छा नहीं घटेगी। इस सम्बन्ध में यह बताना आवश्यक है कि भविष्य में बचत करने के लिए अर्जित आय के व्यक्ति सम्पत्ति में प्राप्त आय के व्यक्तियों की तुलना में घन बचाने के अधिक इच्छुक होते हैं। इसका अर्थ यह है कि भविष्य में आय की माँग ऐसे व्यक्तियों के लिए जिनकी आय श्रम से होती है उन व्यक्तियों की तुलना में जिनकी अनर्जित आय होती है भविष्य में कम लोचदार होती है। इसलिए अर्जित आय के पक्ष में भेद होने से कार्य करने तथा घन बचाने की इच्छा घटने के बजाय बढ़नी चाहिए। जब आम कर की दर अधिक प्रगामी होती है तथा ऊँची आय पर कर की दर बहुत अधिक होती है तब ऊँची आयों के व्यक्तियों की काम करने तथा घन बचाने की इच्छा अवश्य घटेगी।

उत्पादन पर प्रभावों की दृष्टि से उत्तराधिकार कर आय कर की अपेक्षा अधिक उपयुक्त है। इसका भुगतान ऋण पत्र बेचकर होता है, किन्तु आय कर उस आय से दिया जाता है जो बचायी जाती है। इन दोनों के ये प्रभाव एक से हैं, किन्तु आय आवर्तक (recurring) होती है। इसलिए उत्तराधिकार कर की अपेक्षा आय कर से बचाने की इच्छा अधिक कम हो जायेगी। उत्तराधिकार कर का भविष्य में भुगतान अनिश्चित वर्ष में होगा, किन्तु यदि उत्तराधिकार कर का बीमा हो जाता है तो भुगतान के लिए घन बीमा कम्पनी से मिल जायेगा। इसलिए आय कर तथा उत्तराधिकार कर दोनों ही के बचत पर एक से प्रभाव होते हैं। किन्तु उत्पादन पर

आय के गौण प्रभाव उत्तराधिकार कर की अपेक्षा अधिक प्रतिकूल होते हैं। आय कर की भविष्य में लगने की प्रत्याशा होती है। इसलिए दोनों करों से एक सी आय होने पर आय कर से बचत पर अधिक रुकावट होगी।

रिन्नेनो की उत्तराधिकार कर योजना

एक साधारण उत्तराधिकार कर से धन संचय करने वाले व्यक्तियों की कार्य करने तथा धन बचाने की इच्छा रहेगी। इटली के प्रो० रिन्नेनो नामक अर्थशास्त्री ने एक उत्तराधिकार कर की योजना का सुझाव दिया था, जिसके अन्तर्गत काम करने तथा धन बचाने की इच्छा बहुत कम होगी। इस योजना के अनुसार कर की दर सम्पत्ति के काल के अनुसार बदलती रहेगी अर्थात् जैसे जैसे सम्पत्ति उत्तराधिकार द्वारा अधिकारियों के पास बदल कर पहुँचेगी कर की दर बढ़ेगी। इससे जो व्यक्ति अपने परिश्रम द्वारा कमा कर धन बचायेंगे उस धन पर कर कम होगा, किन्तु जो सम्पत्ति उन्हें उत्तराधिकार में प्राप्त होगी उस पर कर अधिक होगा। मृत्यु होने पर परिश्रम द्वारा प्राप्त सम्पत्ति पर उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति की अपेक्षाकृत कर की दर कम होगी। इससे व्यक्तियों को काम करने तथा धन संचय करने का प्रोत्साहन मिलेगा। इस प्रस्ताव के अनुसार अर्जित तथा अनर्जित धन पर कर में भेद रहेगा।

उत्पादन पर प्रभावों की दृष्टि से, आय कर की अपेक्षा उत्तराधिकार कर (inheritance tax) अधिक उपयुक्त है। यदि उत्तराधिकार द्वारा विशाल सम्पत्ति की आशा होगी तो भावी उत्तराधिकारी श्रम कम करेंगे तथा धन भी कम बचायेंगे। सम्पत्ति की प्राप्ति की आशा में वे ऋण भी उधार लेंगे। उत्तराधिकार कर के कारण उनकी प्रत्याशा (expectation) कम हो जायेगी तथा उन्हें काम करने तथा धन बचाने का प्रोत्साहन होगा। कर जितना अधिक होगा यह प्रोत्साहन भी उतना ही अधिक होगा।

साधनों को रोजगारी तथा स्थानों में एक से दूसरे में मोड़ने (diversion) में उत्पादन पर प्रभाव का यह तर्क दिया जाता है कि वे कर जो साधनों को अपने स्वाभाविक मार्ग से हटाते हैं उत्पादन को रोकते हैं, किन्तु ऐसे भी उदाहरण मौजूद हैं जहाँ यह नियम लागू नहीं होता। लेकिन हम यह कह सकते हैं कि ऐसे कर जो आर्थिक साधनों को सबसे कम हटाते हैं धारणा उनके पक्ष में है कि वे ही अच्छे होते हैं। विशेष मामलों में यह परिचल्पना ठीक नहीं है।

एक व्यक्ति साधनों को नये मार्गों में तभी हटायेगा जब उसे आश्वासन हो कि इस हटाने से जो हानि होगी वह कम कर वाले नये रोजगार के लाभ से कम होगी।

वर्तमान साधनों को हटाना कठिन होता है, क्योंकि श्रम तथा पूँजी का विशिष्टीकरण (specialization) हो जाता है, किन्तु जब अचर पूँजी के

प्रतिस्थापन (replacement) करने का समय आता है तब उसके स्थान पर नई पूँजी उस उद्योग अथवा स्थान में न लगायी जाये। नई पूँजी भारी कर वाले पुराने उद्योगों में न लगाई जाये। इस प्रकार हटाने का प्रश्न नई पूँजी के सम्बन्ध में आता है। कर लगे रोजगार के कारण साधन बिना कर के रोजगारों में किस हद तक हटाकर लगाये जायेंगे तथा उत्पादन के प्रदाय पर इस हटाने का क्या प्रभाव पड़ेगा यह इस पर निर्भर होगा कि वस्तु की माँग तथा उसके प्रदाय की लोच किस प्रकार की है। यदि कर लगी वस्तु की माँग बेलोच है तो कर का सम्पात प्रेता पर होगा। इसलिए साधन उस रोजगार से नहीं हटाये जायेंगे, किन्तु यदि माँग लोचदार है तथा प्रदाय बेलोचदार है तो कर सम्पात उत्पादक पर होगा। इनसे उत्पादक साधनों को किसी ऐसी अन्य वस्तु के उत्पादन में अथवा ऐसे रोजगार में लगायेगा जहाँ कर नहीं हो।

निम्न करों के साधन हटाने के सम्बन्ध में प्रभाव

(1) अप्रत्याशित लाभ पर करों का अनुमान नहीं होता। इसलिए इनके कारण साधन नहीं हटाये जाते।

(2) भूमि चाहे जिस कार्य के लिए उपयोग में लायी जाये भूमि स्थल मूल्य पर कर का सम्पात भूस्वामी पर होता है। इसलिए इस कर के कारण साधन नहीं हटाये जाते। भूमि का प्रदाय सीमित तथा स्थिर है। इसलिए इस प्रदाय पर कोई रूकावट सम्भव नहीं है।

(3) एकाधिकारी पर ऐसा कर जिसके कारण वह उत्पादन अथवा विक्रय मूल्य में परिवर्तन नहीं कर सकता साधनों के हटाये जाने का कारण नहीं हो सकता। इससे एकाधिकारी के लाभ में तो कमी आती है, किन्तु इससे साधनों को हटाने की प्रेरणा नहीं मिलती।

(4) सभी व्यवसायों अथवा रोजगारों पर लगे कर से साधनों को हटाने का प्रोत्साहन नहीं होता, क्योंकि हर स्थान पर कर है। इसलिए व्यवसायी को साधनों को एक स्थान अथवा रोजगार से हटा कर दूसरे में लगाने से कोई लाभ नहीं होगा।

परन्तु ऐसा कोई कर नहीं है जो पूर्णतया भेद रहित हो। एक साधारण आय कर का प्रभाव भी यह होता है कि माधन बचत से व्यय में हटते हैं, अर्थात् व्यक्ति बचत कर के बराबर कम कर देंगे। आय कर का फल यह होता है कि आय पर सब भी कर लगता है जब बचत होती है तथा उस आय पर भी लगता है जो संचित धन से प्राप्त होती है। इस तर्क के अनुसार केवल व्यय कर ही भेद रहित होगा। आय कर के कारण बचत से व्यय के लिए साधन हटते हैं अथवा नहीं यह कर दाता की भावी आय की माँग की लोच पर निर्भर है। यदि यह लोच बहुत कम है तो साधन इस प्रकार नहीं हटेंगे, किन्तु यदि यह लोच बहुत है तो सम्भव है कि साधन हटाये जायें।

यह भी कह देना उचित है कि कुछ हटाव लाभकारी होते हैं। माल के वस्तुओं पर करो से इन वस्तुओं के उपभोग में कमी आती है, जिस का उपभोक्ताओं की आरोग्यता तथा निपुणता पर अनुकूल अथवा सहायक प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार के साधनों के हटाने से उत्पादन बढ़ता है। एकाधिकारी उत्पादक पर ऐसे कर का, जिसके कारण उत्पादन बढ़ता है तथा वस्तु की कीमत घटती है, प्रभाव साधनों के हटाने में लाभदायक होता है।

हानिकारक प्रभाव—करो द्वारा साधनों के अन्तरण के हानिकारक प्रभाव भी होते हैं। व्यावसायिक लाभ कर द्वारा उद्योगों से उत्कृष्ट प्रतिभूतियों (gilt-edged securities) में साधनों का अन्तरण होता है।

सुरक्षा सम्बन्धी नीति द्वारा साधनों का प्राकृतिक मार्गों से सुरक्षित उद्योगों में अन्तरण होता है। इससे उत्पादन घटता है, किन्तु दीर्घ काल में सुरक्षित उद्योग की तीव्रता से उन्नति होती है, जो सुरक्षण बिना सम्भव नहीं होती। इसके लिए राष्ट्रीय दृष्टि से शुल्क दर का निपुणता से निर्माण होना आवश्यक है; किन्तु जब इस नीति के कारण शक्तिशाली निहित स्वार्थ की स्थिति पैदा हो जाती है जो सरक्षण हटाने का सदा विरोध करती है तब इसका प्रभाव देश की आर्थिक स्थिति के लिए हानिकारक होता है।

द्विपक्षी वाणिज्यिक संधियों (bilateral trade agreements) तथा कोटा आदि युक्तियों से, जिन का उपयोग नियोजित अंतरराष्ट्रीय विनिमय के विकास के कारण हुआ है, आर्थिक साधनों का अन्तरण होता है, जिसके फलस्वरूप बहुत समस्याएँ पैदा होती हैं। उच्च सरक्षण सूचियों तथा क्षेत्रीय वरीयताओं (priorities) के कारण व्यापार के स्वतन्त्र प्रवाह में रुकावट होती है, जिसके फलस्वरूप उत्पादन घटता है। अतः व्यापार तथा शुल्क सूची सम्बन्धी साधारण अनुबन्ध (G. A. T. T.) का विकास इनको दूर करने के लिए किया गया है।

स्थानीय अन्तरण—कराधान के फलस्वरूप साधन एक स्थान से हटा कर दूसरे स्थान में लगाए जाते हैं। जहाँ कर उँचे होते हैं वहाँ से साधन हटा कर उन स्थानों में लगाए जाते हैं जहाँ कर नहीं होते अथवा कम होते हैं। अंग्रेजी शासन काल में भारतीय प्रान्तों में आय कर लगता था, किन्तु देशी रजवाड़ों में नहीं लगता था। इसलिए उद्योगों को हटा कर देशी राज्यों के सीमावर्ती नगरों में स्थापित करने का भुकाव रहता था।

वितरण पर प्रभाव—जैसे एक घर प्रणाली को दूसरी की तुलना में खाने करने में यह देखा जाता है कि जिस प्रणाली को चुना है उसका उत्पादन पर कम हानिकारक प्रभाव हो, ठीक उसी तरह यह भी देखना है कि उस में आय की असमानता को घटाने की प्रवृत्ति होनी चाहिए। एक प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री वाकर ने कराधान के उपयोग के पक्ष में इस असमानता को घटाने के तर्क दिए थे तथा उन्होंने ही सर्व

प्रथम इस सम्बन्ध में कर नीति के उपयोग का सुझाव दिया था। अब इस नीति का प्रयोग बढ़ रहा है।

प्रतिगामी कर प्रणाली के कारण आय की असमानता बढ़ती है। सम्भवतया यही प्रभाव आनुपातिक कर प्रणाली तथा कुछ नरम प्रगामी कर प्रणाली का भी होता है। इसके विपरीत एक तीव्र प्रगामी कर प्रणाली असमानता को कम करती है। इसलिए वितरण की असमानता को कम करने के लिए तीव्र रूप से प्रगामी कर प्रणाली अधिक उपयोगी है, किन्तु इसका उत्पादन पर हानि कर प्रभाव होगा, क्योंकि इस के फलस्वरूप धन संचय कार्य को हानि पहुँचती है।

आय तथा उत्तराधिकार कर तथा सम्पत्ति पर माधारण कर बहुत हद तक प्रगामी बनाये जा सकते हैं। आय कर ऊँची आयों पर ऊँची दरों द्वारा प्रगामी किया जाता है। श्रम से प्राप्त आय पर कर की दर सम्पत्ति से आय पर कर की दर से कुछ कम होनी चाहिए। उसका कारण यह है कि श्रम से आय प्राप्त करने में कुछ अनुपयोगिता (disutility) होती है, किन्तु सम्पत्ति से आय प्राप्त करने में अनुपयोगिता नहीं होती। इसलिए इस दूसरी आय में आर्थिक कल्याण अधिक होता है। श्रम में आय प्राप्त करने में कुछ आत्मनिष्ठ लागत होती है, जो सम्पत्ति से आय प्राप्त करने में नहीं होती। इसलिए श्रम से आय पर कर दर सम्पत्ति की आय की दर की तुलना में कम होनी चाहिए।

सामान्यतया विस्तृत उपभोग की वस्तुओं पर कर बहुत प्रतिगामी होते हैं, क्योंकि एक व्यक्ति की जितनी अधिक आय होती है उतना ही कम उसका भाग वह किसी एक वस्तु पर खर्च करता है। खाने की वस्तुओं पर कर के प्रभाव प्रतिगामी होते हैं। वस्तु पर यथा मूल्य कर उतना प्रतिगामी नहीं होता जितना विशिष्ट कर होता है, क्योंकि यथा मूल्य कर कीमती वस्तुओं पर ही लगते हैं तथा उन वस्तुओं को अधिक आय के व्यक्ति ही उपभोग में लाते हैं। व्यक्तिगत व्यय पर आनुपातिक कर तथा विक्री कर भी प्रतिगामी होते हैं। उसका कारण यह है कि आय तथा व्यय का अनुपात आय के बढ़ने के साथ कम होता जाता है। विलासिताओं पर कर प्रतिगामी नहीं होते।

उत्तराधिकार कर कई प्रकार से अंगीकृत अथवा क्रमबद्ध (graduated) हो सकता है। यदि सम्पत्ति के स्वामी की मृत्यु के पश्चात् यह कर उत्तराधिकारियों पर प्रगामी दर पर लगता, तो ये विशेष रूप में प्रगामी होगा। मिल में यह सुझाव दिया था कि एक ऐसी न्यूनतम धन राशि तक होनी चाहिए जिस सीमा से अधिक किसी व्यक्ति को उत्तराधिकार में धन न मिले। इसका अर्थ यही होता है कि प्रगामी कर प्रणाली बहुत कड़ी होनी चाहिए, अर्थात् उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति के मूल्य के बढ़ने पर कर की दर बहुत बढ़नी चाहिए। किन्तु इसमें ऐसी स्थिति में विशेष उल्लंघन पैदा होती है जब एक ही व्यक्ति अलग-अलग समय पर उत्तराधिकार में सम्पत्ति प्राप्त करता है। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति 20 हजार रुपये के मूल्य की सम्पत्ति 2

व्यक्तियों से अलग-अलग प्राप्त करता है। अगर वह यह सम्पत्ति एक ही व्यक्ति से प्राप्त करता तो कर की दर अधिक होती। अतः वितरण की दृष्टि से यह आवश्यक है कि उत्तराधिकार कर को धन राशि की प्राप्ति के अनुसार ही क्रमबद्ध करना पर्याप्त नहीं होगा, बल्कि उत्तराधिकारियों के पाम पहले कितनी सम्पत्ति है इसके अनुसार क्रमबद्ध करना चाहिए। इसका यह अर्थ हुआ कि जो सम्पत्ति एक व्यक्ति को उत्तराधिकार में मिलती है उसका मूल्य उस व्यक्ति के कदजे में जो पहले से ही सम्पत्ति है उसके मूल्य में जोड़कर कर की दर तय होनी चाहिए। इंग्लैण्ड में मृत्यु कर का आधार दूसरा है। सम्पत्ति का वितरण उत्तराधिकारियों में कैसे होता है इसको ध्यान में न रख कर मृत्यु होने पर कुल सम्पत्ति जिसका अन्तरण होता है उसके मूल्य पर प्रगामी दर पर कर तय होता है। उत्तराधिकारी का सम्बन्ध मृतक व्यक्ति से कितना दूर अथवा निकट है इस बात पर प्रगामिता निर्भर है। यदि 50,000 पाँड के मूल्य की सम्पत्ति 5 उत्तराधिकारियों में बंटती है तो इंग्लैण्ड में मृत्यु कर की दर उनकी तुलना में अधिक होगी जब 40 हजार पाँड मूल्य की सम्पत्ति एक ही व्यक्ति को जाती है। इस प्रकार उत्तराधिकार कर उत्तराधिकार में अलग-अलग प्राप्त सम्पत्ति के मूल्य पर तथा उत्तराधिकारियों की धन-राशि के मूल्य पर प्रगामी दरों पर कर लगा कर विशेष रूप में प्रगामी बनाया जा सकता है। एक भारी उत्तराधिकार कर से आय की असमानता इसलिए भी घटेगी क्योंकि इस कर से बचने के लिए सम्पत्ति उपहार में भी दी जायेगी, किन्तु सम्भावना यह है कि जो व्यक्ति उपहार पायेंगे वे ही उत्तराधिकार में कुछ समय बाद सम्पत्ति के अधिकारी होंगे। इसलिए यह प्रवृत्ति उत्तनी तीव्र नहीं है जितनी शुरू में मालूम देती है।

पूँजी पर वार्षिक कर तथा निवेशी आय पर कर

इन दोनों करों के प्रभाव एक ही होते हैं। निवेश पर यदि ५ प्रतिशत आय है तो पूँजी पर एक प्रतिशत कर का वही प्रभाव होगा जो निवेश की आय पर 20 प्रतिशत कर का होगा। यह ध्यान रहे कि भिन्न-भिन्न प्रकार की पूँजी सम्पत्ति के मालिकों पर इन दो स्थितियों में प्रभाव अलग होंगे। जिनकी पूँजी पर औसत में ऊँची आय होती है वे निवेश पर आय कर में पूँजी कर की तुलना में अधिक कर देंगे। इसके अतिरिक्त पूँजी कर पूँजी के मूल्य की वृद्धि को रोकेगा, किन्तु निवेश कर का यह प्रभाव नहीं होगा।

उत्कृष्ट प्रतिभूतियों, शेयरों जैसी तरल सम्पत्ति पर पूँजी कर का निवेश कर की अपेक्षाकृत अधिक प्रतिकूल प्रभाव होगा। पूँजी कर का प्रभाव जोलिम' वाले उद्योगों पर कम होगा। अन्य करों में भी प्रगामी करों का अंश लाया जा सकता है। भूमि के मूल्य पर प्रगामी कर लग सकते हैं।

संरक्षण सूची के वितरणात्मक प्रभाव

(Protective Tariff)

संरक्षण सूची को भी आय की विषमता में कमी करने के लिए प्रयोग में

आया जाता है। आयाती वस्तुओं पर, जिनमें मजदूरी अधिक होती है तथा जो घरेलू उद्योगों से स्पर्धा में आती हैं, कर लग सकते हैं। इससे कम वेतन वाले उद्योगों से उत्पादन तथा रोजगार हट कर अन्य उद्योगों में आयेगे। दूसरे अमीर आदमियों के उपयोग में आने वाली आयाती वस्तुओं पर कर लग सकते हैं। इससे ऐसी वस्तुओं का अधिक आयात होगा जो समाज के लिए अधिक आवश्यक है।

इस सम्बन्ध में यह कह देना आवश्यक है कि उपर्युक्त परिणाम सिद्धान्त रूप में ही सम्भव है, किन्तु व्यवहार में इन्हें लाना कठिन है तथा इससे बहुत हानि भी हो सकती है। वितरण में सुधार करने के लिए करों के प्रयोग के अतिरिक्त अन्य प्रत्यक्ष साधन भी हैं।

करों के अन्य प्रभाव

(1) रोजगार पर प्रभाव—रोजगार पर करों के प्रभावों के सम्बन्ध में बहुत गमतफहमी-अथवा भ्रम है। ऐसी आम धारणा है कि अमीरी पर कराधान से बेरोजगारी बढ़ती है, किन्तु ऐसा नहीं होता। करो का धन लोक अधिकारियों के पास आता है जो उसे उत्पादन कार्यों में तथा अन्य ऐसे कार्यों में लगा सकते हैं, जिनसे रोजगार की वृद्धि होती है। कर के प्रभाव पर उस व्यय के प्रभाव के साथ विचार होना चाहिए जिससे लोक सत्ताएँ रोजगार बढ़ा सकती हैं। हो सकता है कि कराधान में अधिक तथा आकस्मिक परिवर्तनों से बेरोजगारी बढ़ जाये, किन्तु यह प्रभाव सभी करो का हो सकता है, केवल अमीर आदमियों पर करो का हो नहीं।

— कराधान तथा श्रम की माँग—कराधान से श्रम की माँग स्थिर हो सकती है, जिसके फलस्वरूप बेरोजगारी घटाई जा सकती है। यह व्यय नीति पर निर्भर होगा।

कराधान के राष्ट्रीय कल्याण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ते हैं। इसका फल व्यय घटाने का होता है, किन्तु कर के कारण व्यक्तिगत व्यय में कमी लोक अधिकारियों के व्यय को बढ़ा कर पूरी हो सकती है। कराधान की आय को राज्य लोक कार्यों में इस्तेमाल करता है। भारी कराधान से उत्पादन घट सकता है, जिससे निजी क्षेत्र में पूँजी निर्माण कार्य में तथा उद्योगों में निवेश में कमी हो सकती है।

कराधान के अनुकूल प्रभाव भी होते हैं। कुछ करों के उद्देश्य हानिकर वस्तुओं के उपभोग को कम करने के होते हैं। इन का प्रभाव उपभोक्तृताओं की आरोग्यता तथा निपुणता पर अच्छा पड़ता है।

इस पर करों के कुछ प्रतिकूल तथा कुछ अनुकूल प्रभाव होते हैं। कर नीति ऐसी होनी चाहिए जिससे प्रतिकूल प्रभाव कम हो तथा अनुकूल प्रभाव अधिक हो। साथ साथ राज्य को अधिकतम आय प्राप्त हो, किन्तु उत्पादन की वृद्धि हो तथा वितरण में सुधार हो। कर नीति का मुद्रा नीति के साथ सम्बन्ध होना आवश्यक है, जिससे मुद्रा स्फीति तथा अस्फीति को रोकने में तथा उत्पादन को बढ़ाने में सहायता मिले।

पन्द्रहवाँ अध्याय
कर योग्य सामर्थ्य
(TAXABLE CAPACITY)

प्रत्येक देश में सार्वजनिक व्यय बराबर बढ़ रहा है। कल्याणकारी राज्य के दायित्व के तथा आर्थिक नियोजन के कारण हाल के वर्षों में सार्वजनिक व्यय में बहुत ही वृद्धि हुई है। इस व्यय की सीमा जनता की कर देने की सामर्थ्य पर निर्भर है।

कर योग्य सामर्थ्य की परिभाषा—आर्थिक विकास के लिए साधन कराधान द्वारा, ऋण लेकर, घाटे के बजट द्वारा तथा लोक उद्योगों के लाभ द्वारा प्राप्त किये जाते हैं। कर लगा कर घन प्रशासनिक व्यय तथा आर्थिक विकास कार्यों के लिए प्राप्त किया जाता है। करो की एक सीमा होती है जिससे ऊपर करो के जाने से देश की अर्थ-व्यवस्था के स्थायित्व को खतरा पैदा हो सकता है। इस सीमा को कर योग्य सामर्थ्य कहते हैं। यह जन-साधारण तथा विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों की कराधान का भार सहन करने की वह सीमा है जिसको पार करने से उत्पादन तथा उत्पादन कुशलता को हानि पहुँच सकती है।

कर योग्य सामर्थ्य शब्द के दो अर्थ (1) एक राष्ट्र की निपेक्ष कराधान सामर्थ्य, तथा (2) विभिन्न राष्ट्रों तथा एक ही राष्ट्र में विभिन्न व्यक्ति समूहों की सापेक्षिक कराधान सामर्थ्य (relative taxable capacity)।

निपेक्ष कराधान सामर्थ्य (Absolute Taxable Capacity)—इसका अर्थ उस घन राशि अथवा राष्ट्रीय आय के उस अनुपात से होता है जो शासन करो के रूप में प्रभावों के पैदा किये बिना जनता से प्राप्त कर सकता है। यदि उस सीमा का उल्लंघन होता है तो घन की बचत तथा निवेश में कमी आ जाती है जिसके फल-स्वरूप आर्थिक स्थिति को हानि पहुँचती है। यदि कर प्रणाली के आर्थिक-स्थिति पर ये या अन्य प्रतिकूल प्रभाव पड़ते हैं तब यह कहा जा सकता है कि कर सीमा का उल्लंघन हो गया है।

सापेक्षिक अर्थ में कर सीमा का संकेत उस अनुपात से है जिसमें कुछ राष्ट्र किसी अन्तरराष्ट्रीय सस्था के लिए अथवा संघ, शासन में विभिन्न राज्य अथवा व्यक्ति समूह करों द्वारा साधारण खर्च की पूर्ति के लिए अंशदान देते हैं। हो सकता है कोई एक वर्ग अथवा राज्य अपने उचित भाग से अधिक धन करो के रूप में दे रहा हो। ऐसी स्थिति में यह कहा जा सकता है कि सापेक्षिक कर सामर्थ्य की सीमा का उल्लंघन हो गया है।

निर्बंध कर सामर्थ्य में कराधान की उस धन राशि से अभिप्राय है जो प्रशासन प्रणाली की कुशलता के हित में उन उद्देश्यों के लिए, जिनमें करों के धन का उपयोग होना है, प्राप्त की जा सकती है। दूसरी ओर सापेक्षिक कर सामर्थ्य से संकेत उस धन राशि से है जो एक व्यक्ति समूह को शासन के साधारण खर्च की पूर्ति के लिए देना चाहिए या जो विभिन्न राष्ट्रों को किसी अन्तरराष्ट्रीय सस्था के खर्च के लिए देना चाहिए। जहाँ तक अंशदायक पक्षों (contributing parties) का प्रश्न है, इस दूसरी स्थिति में हो सकती है कि उनकी कर देने की सीमा से नीचे ही उनका अंशदान रहे, किन्तु अन्य पक्ष की तुलना में कुछो को सापेक्ष रूप में अधिक अंशदान करना पड़े।

आदर्श कर योग्य सामर्थ्य (Optimum Taxable Capacity) आदर्श कर योग्य सामर्थ्य का अर्थ कराधान की अधिकतम धन राशि से है जो जनता से प्राप्ति के पश्चात् आर्थिक कल्याण को अधिकतम सीमा तक पहुँचाने में व्यय हो सके।

कर योग्य सामर्थ्य उत्पादन तथा उपभोग के अंतर पर निर्भर होती है। उत्पादन जितना उपभोग से अधिक है उतनी ही कर योग्य सामर्थ्य बढ़ती है। किन्तु बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि कर योग्य सामर्थ्य का कौंसे पता किया गया है तथा पूँजी को ज्यों की त्यों बनाये रखने के लिए क्या किया गया है। मूल्य ह्रास तथा पुरानी पूँजी के पुनर्स्थापन के लिए उपयुक्त व्यवस्था होनी चाहिए। इसी प्रकार कर दाताओं के पास कर देने के पश्चात् इतनी आय बचनी चाहिए कि उनके जीवन स्तरों की उन्नति हो सके। ऐसा तभी सम्भव है जब एक न्यूनतम आय कर से मुक्त रहे तथा उस सीमा से ऊपर की आय पर ही कर लगे। इससे कर दाताओं के जीवन स्तरों की उन्नति भी सम्भव हो सकेगी तथा उन्हें आय का कुछ भाग बचाने का भी प्रोत्साहन मिलेगा, जिससे पूँजी का निर्माण हो सकेगा।

कर योग्य सामर्थ्य के अनुमान का उद्देश्य—कर योग्य सामर्थ्य के अनुमान द्वारा यह पता चल सकता है कि जनता से करों द्वारा विभिन्न उद्देश्यों के लिए कितना धन प्राप्त हो सकता है। शासन को प्रतिरक्षात्मक कार्यों (Defence Purposes) तथा आर्थिक विकास के लिए धन चाहिए। इसके अतिरिक्त लोक उद्योगों के लिए धन चाहिए जो करो तथा ऋणों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। राज्य का कार्य क्षेत्र विस्तृत होता

जा रहा है। अतः बढ़ते हुए व्यय के लिए अधिक आय आवश्यक है जो मुख्यतया करों द्वारा प्राप्त हो सकती है। इसलिए कर योग्य सामर्थ्य का ज्ञान आवश्यक है।

कर देय सामर्थ्य की परिभाषा—भिन्न-भिन्न लेखकों ने कर योग्य सामर्थ्य की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ दी हैं। इसकी एक परिभाषा है निचोड़े जाने की सीमा (limit of squeezability) अर्थात् वह सीमा जहाँ तक शासन के लिए आय प्राप्त करने के लिए अधिकतम कर लगाए जा सकते हैं। सैलिगमैन के अनुसार यह परिभाषा तर्क युक्त तथा सार्थक है किन्तु यह बहुत अस्पष्ट है। कुछ राष्ट्र अन्य राष्ट्रों की तुलना में अधिक सीमा तक कर बरदाश्त कर सकते हैं, लेकिन अवसर आने पर उनकी कर देने की अनिच्छा विशेष दृष्टि में परिवर्तित हो सकती है। एक राष्ट्र के अन्तर्गत व्यक्तियों की कर देने की सामर्थ्य भिन्न-भिन्न होगी।

वह अधिकतम धन राशि जो देश की आय से उस आय को भावी वर्षों में पहले जैसे स्तर पर रखकर, घटाई जा सकती है कर योग्य सामर्थ्य कहलाती है। इस परिभाषा का दोष यह है कि एक प्रगतिशील देश में उद्देश्य राष्ट्रीय आय को ज्यों का त्यों रखने का नहीं होना चाहिए, बल्कि राष्ट्रीय आय में बढ़ने की गुंजायश रहनी चाहिए।

कर योग्य सामर्थ्य की सीमा उस समय उच्चतम शिखर पर समझी जानी चाहिए जब कर दाताओं से इतने कर वसूल कर लिए जायें कि उत्पादन करने के लिए प्रोत्साहन कम हो जाये तथा जब छीजन की पूर्ति के लिए तथा देश की बढ़ती हुई जन संख्या के श्रमिकों की सहायता के लिए आवश्यक पूँजी प्राप्त न हो सके। यह दृष्टिकोण भी असन्तोषजनक है क्योंकि इसमें लोक व्यय के प्रभावों को दृष्टि में नहीं रखा गया। इसके अतिरिक्त आवश्यक पूँजी एक अस्पष्ट शब्द है।

कर योग्य सामर्थ्य की एक अन्य परिभाषा यह है कि इसकी सीमा का तब उल्लंघन होता है जब कि कराधान का उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इस बात का पता करो में परीक्षण द्वारा लग सकता है। वास्तव में शासन सदा ही करो की-दरो में समय समय पर परिवर्तनों द्वारा तथा नये कर पुरानों के स्थान पर लगाकर परीक्षण करता रहता है।

एक अन्य परिभाषा यह है कि कर सामर्थ्य की सीमा उस समय पहुँच गई समझी जानी चाहिए जब कर दाता बैंको से धन उधार लेकर राज्य को करो की धन राशि का भुगतान करे। इस परिभाषा का दोष यह है कि कुछ व्यक्तियों का बैंको में हिसाब ही नहीं है, किन्तु इससे यह नहीं मानना चाहिए कि वे कर दे ही नहीं सकते। अल्प विकसित देशों में बैंक सम्बन्धी सुविधाएँ पर्याप्त स्तर पर उपलब्ध न होने पर लोग बैंको में हिसाब नहीं रख सकते, किन्तु उनके पास पर्याप्त परिमाण में धन अवश्य हो सकता है तथा होता भी है।

सर जोनिया स्टाम्प के अनुसार कर योग्य सामर्थ्य का अनुपात उत्पादन से उस धन राशि को जो जनता को न्यूनतम जीवन स्तर पर रख कर घटाई जा सकती

है किया जा सकता है। उसे घटा कर जो दोष घन बचे वह कर योग्य सामर्थ्य है तथा करो के रूप में राज्य उस घन को धसूल कर सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जब तक घन की बचत है कर योग्य सामर्थ्य से ऊपर कर नहीं लिए जा सकते, अर्थात् जितना घन बचाया जाता है वह करो के रूप में लिया जा सकता है। इस परिभाषा का यह दोष है कि यदि बचा हुआ सब घन करो के रूप में ले लिया जाये तो पूँजी निर्माण कार्य को हानि पहुँचेगी, किन्तु राज्य भी इसमें से कुछ घन बचा सकता है। इसके अतिरिक्त इस परिभाषा के अनुसार जनता के पास धन न्यूनतम उपयोग के लिए ही पर्याप्त रहता है। इसका फल यह होगा कि कार्य तथा उत्पादन की क्षमता घटेगी।

प्रो० फिन्डले शिराज् के अनुसार कर योग्य सामर्थ्य उत्पादन तथा न्यूनतम उपभोग के उस अन्तर को कहते हैं जो पहले जितना उत्पादन रखने के लिए तथा जीवन स्तरों को ज्यों का त्यों बनाए रखने के लिए आवश्यक है। इस परिभाषा के अनुसार कर योग्य सामर्थ्य की दो कसोटियाँ हैं। प्रथम, जीवन स्तरों में कमी नहीं आनी चाहिए तथा दूसरे, उद्योगों को हानि नहीं पहुँचनी चाहिए। किन्तु हमारा उद्देश्य जीवन स्तरों को ज्यों का त्यों बनाए रखने के बजाय उन्हें सुधारने का होना चाहिए। इसके अतिरिक्त उद्योगों में अव्यवस्था रोकने पर ही ध्यान नहीं करना चाहिए, बल्कि उनकी निपुणता के लिए गुंजायश रखनी चाहिए।

डा० डाल्टन का विचार है कि कर सामर्थ्य एक अस्पष्ट तथा भ्रान्त संकल्पना है। इसके अतिरिक्त, इसके पश्चात् एक अव्यवस्थित गड़बड़ी के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता, किन्तु यह अव्यवस्था उन सब जाँच पड़ताओं में है जो समाज की निपेक्ष कर योग्य सामर्थ्य से सम्बन्धित है। कर योग्य सामर्थ्य की संकल्पना भ्रामक है।

कर योग्य सामर्थ्य की परिभाषाओं पर टिप्पणी के पश्चात् हम उन तथ्यों पर विचार करेंगे जिन पर कर सामर्थ्य निर्भर है। वे घटक निम्न हैं :

(1) कर प्रणाली का स्वभाव (Nature of Tax System)—एक सुव्यवस्थित तथा विस्तृत आधारभूत कराधान से कुछ थोड़े से प्रत्यक्ष करो की तुलना में कहीं अधिक घन प्राप्त हो सकता है। इसका अर्थ यह है कि कराधान सुव्यवस्थित होना चाहिए तथा इसका रूप देश की अर्थ-व्यवस्था के अनुरूप होना चाहिए। व्यापार तथा उद्योग विकसित तथा व्यवस्थित होने से कारपोरेशन कर तथा आय कर उपयुक्त होंगे तथा इनकी दरें वर्धमान (progressive) होनी चाहिए। इसके लिए दो बातें आवश्यक हैं। प्रथम, आय की उपयुक्त परिभाषा होनी चाहिए तथा नागरिकों में हिसाब रखने की क्षमता तथा कर देने की इच्छा भी होनी चाहिए।

दूमरे, करो को तय करने तथा उन्हें वसूल करने की एक सुव्यवस्थित प्रशासनिक प्रणाली भी होनी चाहिए। इसलिए आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए देशों में प्रणामी वर प्रणाली के मार्ग में बाधाएँ आती हैं तथा कर से बचने के विभिन्न मार्ग अपनाये जाते हैं।

(2) लोक व्यय का रूप—कर सामर्थ्य इस बात पर भी निर्भर रहती है कि शासन करो से प्राप्त धन को कैसे व्यय करता है। यदि उसे जनता के हित में तथा विकासशील कार्यों पर व्यय किया जाता है तब जनता सन्तुष्ट रहेगी तथा अधिक कर देने के लिए तत्पर रहेगी। ऐसा न होने से करो का विरोध होगा।

(3) कर दाताओं का सहयोग—कर दाता तभी सहयोग देंगे जब वे ये समझेंगे कि राज्य करो का धन जनता के हित में तथा विकासशील कार्यों पर व्यय करना है। इसके अनिवार्य उन में अपने दायित्व को समझने की भावना भी होगी।

(4) आय का स्थायित्व—जब आय स्थिर रहती है तथा वह किसी एक उद्योग पर विशेष रूप में आधारित न होकर एक सन्तुलित ढंग पर होती है तब कर योग्य सामर्थ्य अधिक होती है। किन्तु जब किसी देश की आय मुख्यतया कृषि जैसे उद्योग पर अधिक निर्भर रहती है तब कर योग्य सामर्थ्य कम होती है, क्योंकि कृषि बन्धा प्रकृति पर ही निर्भर है। जिसके कारण आय में बहुत उतार चढ़ाव रहने है। जब राष्ट्रीय आय में बहुत उतार चढ़ाव रहते हैं तब कर योग्य सामर्थ्य कम होती है।

(5) युद्ध जैसे सकट काल में कर योग्य सामर्थ्य अधिक होती है, क्योंकि आक्रमण को रोकने के लिए तथा अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए जनता विशेष बलिदान के लिए तैयार हो जाती है। इसलिए सकटकालीन अवस्था में कर योग्य सामर्थ्य अधिक होती है।

(6) प्रशासनिक निपुणता—कर योग्य सामर्थ्य प्रशासनिक निपुणता पर निर्भर रहती है। कराधान प्रणाली कुशल तथा उदार होनी चाहिए। जब कर बचन प्रथा बहुत प्रचलित रहती है तथा इस बात को सब जानते हैं तब जनता का नैतिक स्तर गिर जाता है। इसमें ईमानदार कर दाताओं में असन्तोष रहता है। इसलिए कर दायित्वों को समान रूप से लागू कर देना चाहिए। अप्रिय नीतियों तथा अप्रभावी प्रशासन (ineffective administration) से कर सामर्थ्य कम होती है।

(7) जन संख्या तथा उत्पादन के परिमाण का सम्बन्ध—उत्पादन का परिमाण कम तथा जन संख्या अधिक होने से प्रति व्यक्ति आय कम होती है, किन्तु अधिक उत्पादन तथा कम जन संख्या होने पर प्रति व्यक्ति आय अधिक होती है। पहली स्थिति में जनता का जीवन स्तर कम होगा, किन्तु दूसरी में ऊँचा होगा। इसलिए पहली स्थिति में जनता की कर योग्य सामर्थ्य कम होगी, किन्तु दूसरी में अधिक होगी। पाश्चात् देशों में अल्प विकसित देशों की अपेक्षा उत्पादन के सम्बन्ध

में जन सख्या का आकार कम है। अतः अल्प विकसित देशों में कर योग्य सामर्थ्य पश्चिम के औद्योगिक दृष्टि से विकसित देशों की तुलना में कम है।

सापेक्षिक कर योग्य क्षमता का अर्थ कराधान के भार को व्यक्तियों में देने की क्षमता की किसी कसीटी के अनुसार वितरित करना है। यदि दो अथवा अधिक समाजों को एक पारस्परिक भार में भागी होता है तब वे उसे सापेक्षिक राष्ट्रीय आयों के अनुपात में बांट सकते हैं।

सापेक्षिक तथा निपेक्ष कर योग्य क्षमता में कोई तार्किक (logical) सम्बन्ध नहीं है। एक समाज पारस्परिक व्यय के लिए अपनी सापेक्ष कर योग्य क्षमता से अधिक धन दे रहा हो, किन्तु फिर भी यह हो सकता है कि यह उस देश अथवा समाज की निपेक्ष कर योग्य क्षमता से अधिक न हो, बल्कि उससे कम ही हो। डा० डाल्टन के अनुसार, सापेक्ष कर योग्य क्षमता यथार्थवादिता है..... किन्तु निपेक्ष कर योग्य क्षमता कल्पित है।¹

मक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कर योग्य क्षमता की सीमा पारित उस समय समझी जानी चाहिए जब कराधान के कारण किसी समाज अथवा राष्ट्र की उत्पादन क्षति घट जाये। इसकी कोई निश्चित सीमा तय नहीं की जा सकती। यह सफलता सापेक्ष है तथा समय समय पर तथा देश देश में भिन्न होती है।

कर योग्य क्षमता की नाप—कर योग्य क्षमता राष्ट्रीय आय पर निर्भर होती है। राष्ट्रीय आय का अभिप्राय उन वस्तुओं तथा सेवाओं में है जिनका उत्पादन अथवा उपभोग एक वर्ष में होता है। प्रो० मार्शल उत्पादन के अर्थ को मानते हैं। वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन में संयन्त्र तथा उपकरण प्रति वर्ष घिसते हैं। इसलिए शेष उत्पादन का अनुमान करने में उपकरणों के अवमूल्यन की व्यवस्था होनी चाहिए जिनके द्वारा यह आय प्राप्त होती है। प्रो० फिशर के अनुसार राष्ट्रीय आय का अर्थ उन वस्तुओं तथा सेवाओं से है जो किसी देश में एक वर्ष के उपभोग के लिए उपलब्ध होती है। उनके अनुसार धन की बचत राष्ट्रीय आय में शामिल नहीं है। वे राष्ट्रीय आय की परिभाषा उपभोग के दृष्टिकोण से करते हैं।

प्रो० पीगू का कहना है कि फिशर की राष्ट्रीय आय की परिभाषा उस दृष्टि से उपयुक्त है जब कुछ समय के लिए किसी राष्ट्र को युद्ध संचालन कार्य के लिए व्यवस्था करनी है। इसलिए यह देखना आवश्यक हो जाता है कि किसी समय में पूँजी के ज्यों की त्यों भी न बने रहने पर कितना धन व्यय के लिए उपलब्ध हो सकता है। इसलिए मार्शल का विचार कर योग्य सामर्थ्य के निर्धारण के लिए अधिक उपयुक्त है।

राष्ट्रीय उत्पादन उत्पादन का वह योग है जो द्विगुणन (double counting) से मुक्त है। राष्ट्रीय आय समिति ने राष्ट्रीय आय के नापने के निम्न साधन बताये हैं²

1 'Public Finance', p. 171.

2 Final Report of the National Income Committee, p. 4

पहले साधन के अनुसार सब उत्पादकों के कुल उत्पादन का मूल्य लगाकर अन्य उत्पादकों से खरीदी वस्तुओं के मूल्य को उसमें से घटाना है, अर्थात् उन वस्तुओं के मूल्यों तथा उत्पादन में इस्तेमाल किये गये उपकरणों के मूल्य ह्रास को जो उत्पादन प्रक्रिया में इस्तेमाल किये गये हैं कुल उत्पादन के मूल्य में से घटाना चाहिए। इस प्रकार का शेष अंक प्रत्येक उत्पादक के लिए निकाला जा सकता है। यह उस मूल्य को बताता है जो उत्पादक ने बीच की वस्तुओं के मूल्य में जोड़ा है जिनसे उसने उत्पादन शुरू किया है। इसलिए यह बिना द्विगुणन के उत्पादन के योग में उसका अंशदान है। इसको यदि हम दूसरी दृष्टि से देखें तो यह जोड़ा हुआ मूल्य मजदूरी, लाभ तथा अन्य आय का प्रतिनिधित्व करता है जो उत्पादन प्रक्रिया में उत्पन्न होते हैं। इसलिए वही योग विभिन्न आयों को जोड़कर प्राप्त हो सकता है जो प्राप्त हुई हैं तथा जिनका भुगतान हुआ है। तीसरा विकल्प यह है कि उन सब अन्तिम उत्पादनों को उपभोग अथवा निवेश के लिए उपलब्ध हो जोड़ा जाये तथा इनके अनुरूप मूल्यों को जोड़ा जाये, जिनका उनना ही योग आयेगा।

भारत में कर योग्य सामर्थ्य अच्छी फसल तथा खराब फसल के वर्षों में बदलती रहेगी। उसका कारण यह है कि भारत की अर्थ-व्यवस्था बहुत कुछ हद तक कृषि तथा उससे सम्बन्धित पेशों पर निर्भर है, किन्तु जब पंचवर्षीय योजनाओं के फलस्वरूप यहाँ सतुलित अर्थ-व्यवस्था स्थायी हो जायेगी तब राष्ट्रीय तथा प्रति व्यक्ति आयों में वृद्धि होगी तथा कर योग्य सामर्थ्य भी बढ़ेगी।

भारत में कर आय राष्ट्रीय आय का 15 प्रतिशत है। यह दक्षिण पूर्व एशियायी देशों की तुलना में भी कम है। इससे दो परिणाम निकलते हैं। प्रथम, यहाँ कराधान के बढ़ने की बहुत गुंजायश है और अभी सीमा नहीं आयी है। दूसरे, कर योग्य सीमा पहुँच चुकी है तथा वर्तमान स्थिति में और कराधान की गुंजायश नहीं है।

भारत में कर आय राष्ट्रीय आय का बहुत कम अनुपात है। जैसा ऊपर कहा गया है यह अनुपात अन्य दक्षिण पूर्वी एशिया के भी कुछ देशों से कम है। इसके निम्न कारण हैं :

(1) प्रथम, जनता के जीवन स्तर नीचे हैं तथा प्रति व्यक्ति आय कम है। इससे जनता की कर देने की क्षमता बहुत कम है। दूसरे, देश में बहुत बड़ा क्षेत्र ऐसा है जहाँ मुद्रा का प्रयोग नहीं होता। इसलिए सामान्य रूपों में करो द्वारा आय नहीं प्राप्त हो सकती। उदाहरण के लिए किसान उपज का बड़ा भाग सीधे इस्तेमाल करते हैं। यदि उसे बाजार में बेच कर मुद्रा प्राप्त करें तथा तब उसका उपभोग करें तो आय बढ़ेगी, जिसपर कर लग सकते हैं। तीसरे, राष्ट्रीय आय तथा अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का अनुपात कम है जिससे वाणिज्य क्षेत्र का प्रसार स्वतन्त्र है। वाणिज्य के विस्तार के बढ़ने से कर आय बढ़ती है। इसलिए इन कठिनाइयों की दृष्टि में रखते हुए दूसरे देशों की तुलना के आधार पर ऐसे परिणाम पर पहुँचना कि भारत में कर बढ़ाने की बहुत गुंजायश है उचित नहीं होगा।

इसके अतिरिक्त एक यह भी बात विचारणीय है कि क्या कर योग्य सामर्थ्य की सीमा आ चुकी है अथवा इस में वृद्धि हो सकती है। इस बात पर कर प्रणाली के संदर्भ में ही विचार हो सकता है। इस सम्बन्ध में कई बातें आती हैं। यदि कर उन कार्यों की पूर्ति के लिए लगाए जाते हैं जो पहले व्यक्तिगत रूप में जनता अथवा कर दाताओं द्वारा होते रहे थे और यदि करों द्वारा प्राप्त किया गया धन जनता के हितों के लिए व्यय किया जाय तब निश्चित हो कर क्षमता की सीमा ऊँची हो सकती है, अर्थात् जनता अधिक कर दे सकेगी, किन्तु वास्तव में करों तथा उनके लाभों में अनुरूपता न तो प्रत्यक्ष है, न स्पष्ट है। इसलिए इन लाभों को जनता समझ नहीं सकती। यदि करों द्वारा प्राप्त धन अधिक विकास तथा समाज सेवाओं पर सीधे व्यय किया जाए, तब इन लाभों को स्पष्ट रूप में समझा जा सकता है। इसलिए कर सामर्थ्य ऊँची होगी, अर्थात् ऐसी स्थिति में जनता अधिक कर देने को तैयार हो जायेगी। इसलिए कर योग्य सामर्थ्य की सीमा तथा अतिरिक्त करों से प्राप्त धन में सापेक्ष सम्बन्ध है। कर योग्य सामर्थ्य की सीमा के निर्धारण करने में मनोवैज्ञानिक तथा राजनीतिक तथ्य भी अधिक तथ्यों के साथ जुड़े रहते हैं। इसलिए शासन की विकास सम्बन्धी योजनाओं के विषय में जानकारी तथा विवेकपूर्ण विचार आवश्यक है। लोक कोषों (public funds) का प्रभावी उपयोग होना आवश्यक है, जिससे जनता यह समझ सके कि अतिरिक्त करों का धन उनकी भलाई के लिए व्यय होता है तथा उसके लिए अधिक धन आवश्यक है। ऐसा तभी सम्भव है जब प्रशासन की निपुणता में उन्नति हो तथा लोक व्यय में किराया की जाये।

यह भी आवश्यक है कि कर दायित्वों का उपयुक्त रूप में पालन किया जाना चाहिए। जब जनता में यह भावना हो कि कर बँधन (tax evasion) बड़े रूप में होता है तब नैतिक स्तर गिरता है तथा ईमानदार कर दाताओं को कर सम्बन्धी अनुपालन कार्य में भारी दिक्कत आती है। इससे कर योग्य सामर्थ्य को क्षति पहुँचती है। कराधान जाँच आयोग के शब्दों में यह कहना अनुचित नहीं होगा कि कर सामर्थ्य किङ्गमखर्ची तथा अप्रिय नीतियों से तथा प्रभावहीन प्रशासन के कारण कम होती है तथा लाभकारी तथा सुयोग्य प्रशासन से बढ़ती है।³

भारत में अब चौथी पंचवर्षीय योजना चल रही है, तथा विकासशील बातों पर व्यय तेजी से बढ़ रहा है, किन्तु निश्चित रूप में यह कहना कठिन है कि व्यय में विफायत हो रही है तथा इस में निपुणता बढ़ रही है, किन्तु देश में यह भावना बल पकड़ रही है कि सामाजिक तथा विकासशील सेवाओं में वृद्धि होनी चाहिए। इनसे कर योग्य सामर्थ्य की सीमा की वृद्धि में सहायता अवश्य मिलेगी।

most

सोलहवां अध्याय
दुहरा कराधान
(DOUBLE TAXATION)

mmmm

आधुनिक काल में किसी भी देश के लिए एकाकी कर प्रणाली (single tax system) कर दाताओं में न्याय नहीं दे सकती तथा साथ साथ उससे शासन की आवश्यकता के लिए उपयुक्त धन भी प्राप्त नहीं हो सकता। आधुनिक शासनों की धन के लिए आवश्यकताएँ बराबर बढ़ रही हैं। इसलिए कर दाताओं में माँग के लिए तथा शासन के लिए पर्याप्त मात्रा में साधन जुटाने के लिए बहुत से क़दम की आवश्यकता है। इससे दुहरे तथा बहुल कराधान की समस्या पैदा होती है।
दुहरे कराधान का अर्थ

साधारणतया जब शासन उसी आधार पर एक से अधिक बार कर लगाता है तब दुहरे कराधान का प्रश्न उठता है। उदाहरण के लिए भवन के किराये पर कर लगता है तथा साथ साथ भवन की पूँजी के मूल्य पर भी कर लगता है। शासन आय पर कर लगाता है तथा व्यय पर भी कर लगाता है। पहले उदाहरण में भवन के स्वामी पर दुहरा कर लगता है तथा दूसरे उदाहरण में उसी आय पर दो बार कर लगता है। पहले जब उसका अर्जन होता है तथा दूसरे जब उसका व्यय होता है। इसके अनिश्चित आय पर उद्गम अथवा श्रोत के आधार पर कर लगाया जाता है तथा आय पाने वाले के निवास अथवा अधिवास के आधार पर भी कर लगता है। एक देश उस आय पर भी कर लगाता है जिसका वहाँ उद्गम होता है तथा वह उस आय पर भी कर लगता है जो वहाँ के निवासियों को प्राप्त होती है। इस उदाहरण में उन व्यक्तियों पर दुहरा कर लगता है जो उस देश के निवासी हैं जो कर लगाता है, किन्तु उनकी आय दूसरे देश में प्राप्त होती है। उस आय पर दो देश कर लेते हैं, एक तो वह देश जहाँ आय का उद्गम होता है, तथा दूसरी बार वह देश जहाँ आय पाने वाला व्यक्ति निवास करता है। इस प्रकार एक कर दाता का सम्पर्क आय के सम्बन्ध में कई कर लगाने वाले अधिकारियों से हो सकता है। वह एक देश में व्ययसाय करे तथा दूसरे देश का स्थायी निवासी हो। इसके

साथ साथ अपनी आय का बड़ा भाग वह तीसरे देश में व्यय करे। ऐसी स्थिति में उसी आय पर तीन देश कर लगाते हैं तथा यह बहुल कर (multiple tax) का उदाहरण है। इसलिए दुहरा अथवा बहुल कर तब होता है जब (1) एक ही व्यक्ति की आय पर दो या दो से अधिक अधिकारी कर लेते हैं, तथा (2) उस पर एक से अधिक अधिकारी भिन्न मानको (standards) के आधार पर कर लेते हैं।

निम्न स्थितियों में एक ही अधिकारी द्वारा दुहरे कर का प्रश्न आ जाता है :-

(1)-सम्पत्ति की आय पर तथा उसकी पूँजी के मूल्य पर कर लगता है। अतः उसी सम्पत्ति पर दो धार कर लगता है।

(2)-आय के अर्जन पर तथा उसके व्यय पर भी कर लगता है। आज कल प्रत्येक राज्य में आय कर तथा वस्तुओं पर कर लगते हैं। इसलिए ऐसा प्रत्येक व्यक्ति जो आय कर देता है दुहरा कर देता है, एक तो आय पर तथा दूसरे उस समय जब वह वस्तुएँ खरीदता है।

(3) लायट स्ट्राक कम्पनियों के लाभ पर हिस्सेदारों में बटने से पहले कर लगता है। उसी लाभ पर हिस्सेदारों की आमदनी में उसे जोड़कर फिर कर लगता है। ये लाभ बटने के बाद हिस्सेदारी की वारंवार आय में शामिल होते हैं भाग्य में कार्य प्रणाली यह है कि कम्पनियों के लाभ पर कर लगता है, किन्तु जब हिस्सेदार इस सम्बन्ध में प्रमाण पत्र प्रस्तुत करते हैं तब उन्हें उस पर दिया हुआ कर वापिस मिल जाता है। कम्पनी के लाभ पर प्राप्त किया हुआ कर उस कर धन में से घटा दिया जाता है जो कर दाता अपनी विश्व आय पर देना होता है। प्रमुख लोगों की सम्पत्ति के कारण पोल सम्बन्धी कम्पनियों के उद्गम से दुहरे तथा बहुल कर का क्षेत्र बढ़ गया है। ये मनुष्य अपना व्यवसाय बहुत से राष्ट्रों में करते हैं। किन्तु उनकी आय उस देश में आती है जहाँ उनका प्रधान कार्यालय होता है। जिस देश में उस आय का उद्गम होता है वहाँ कर लगता है तथा उनके प्रधान कार्यालय के आधार पर वहाँ कर लगता है जहाँ प्रधान कार्यालय स्थित होता है। क्योंकि आय उसी देश में लाई जाती है। इसलिए वैकल्पिक कम्पनी, पोल कम्पनी तथा वायुपोल कम्पनियों को दुहरे तथा बहुल कर देने होते हैं। लेकिन इससे बचने के लिए विभिन्न देशों में ऐशमिण्ट हो जाते हैं, अन्धसा कम्पनियों द्वारा व्यवसाय को रूकावट पहुँचती है।

(4) कर उन पर लगाया जा सकता है जिनकी आय प्राप्त होती है तथा उन व्यक्तियों पर भी जिनने आय प्राप्त होती है। कर भवन लगान तथा व्याज की आय पर उन व्यक्तियों पर लगाया जा सकता है जो उन आय के स्वामी हैं। यह उन पर भी लग सकता है जो उसका मुग्तान करते हैं।

दुहरे कराधान के दोष—दुहरे कराधान के कई दोष होते हैं। प्रथम, इससे एक राज्य से दूसरे राज्य के लिए पूँजी की गतिशीलता में रुकावट आती है। इससे अल्प विकसित देशों को हानि पहुँचती है। उन्हें अपनी अर्थ-व्यवस्था को सुधारने तथा उसे विकसित करने के लिए पूँजी की आवश्यकता होती है। इसलिए यदि वे

विदेशी पूँजी को आकर्षित करना चाहते हैं तो उन्हें विदेशी निवेशकों को प्रोत्साहन देने होते हैं, जिससे वे अपनी पूँजी इन देशों में लगा सकें। इसलिए उन्हें इस आय पर जो लाभ के रूप में पैदा होती है विदेशी निवेशकों को कर से मुक्त करना आवश्यक होता है।

दूसरे, दुहरे कराधान के कारण—विभिन्न कर दाताओं में साम्या नहीं हो पाती। अतः यह एडम स्मिथ द्वारा प्रतिपादित साम्या के सिद्धान्त से मेल नहीं खाता। साम्या हीन (inequitable) होने पर कर प्रणाली में परिवर्तन होने चाहिए। कर एक ही अधिकारी द्वारा लगने पर यह कार्य सरल हो जाता है अधिकारी कुछ करों में वृद्धि कर सकता है तथा कुछों में कमी। उन करों में जो दुहरे कराधान की श्रेणी में आते हैं संशोधन हो सकते हैं इन संशोधनों से एक-सी कर सामर्थ्य के व्यक्तियों पर एकसा भार रखा जा सकता है।

दुहरा कराधान तथा कर अधिकारियों की बहुलता—दुहरा अथवा बहुल कराधान कई स्वतन्त्र कर अधिकारियों के द्वारा कर लगाये जाने के कारण हो सकता है। ऐसी स्थिति में विभिन्न कर दाताओं में साम्या की कमी की गुंजायस हो सकती है। अधिवाम के आधार के अपनाने में साम्या लाई जा सकती है किन्तु जब कुछ कर दाताओं पर दूसरे राज्य में उनके सम्पर्क के कारण कर लगते हैं, तब कर प्रणाली में साम्या की कमी आती है। एक ही क्षमता के व्यक्तियों पर अलग-अलग कर लगते हैं। जिनका दूसरे राज्यों से सम्पर्क नहीं रहता उन पर एक ही राज्य कर लगायेगा। यदि किन्तु कुछ व्यक्तियों पर एक से अधिक राज्य कर लगायेंगे। यदि अधिवाम का राज्य उन्हें कुछ छूट देता है तो उसे आय का कुछ त्याग करना पड़ेगा इसलिए अन्य नागरिकों पर अधिक कर लगाने होंगे जिससे पर्याप्त आय प्राप्त हो सके।

कर अधिकारियों की बहुलता के कारण दो परिस्थितियों में दुहरा कराधान हो सकता है। प्रथम एक संघ शासन में अशीभूत राज्य तथा सघीय शासन दोनों को कराधान के स्वतन्त्र अधिकार होते हैं। दूसरे, स्वतन्त्र देश ऐसे ढग से कर लगायें जिससे कुछ कर दाताओं को दुहरे अथवा बहुल कर देने पड़ जायें। दोनों स्थितियों में समस्या एक सी ही है, किन्तु हल अलग हो सकता है। कुछ राज्य विदेशियों से कर लेकर अपनी आर्थिक समृद्धि करना चाहे। दुहरे कराधान का यह भी कारण हो सकता है कि कर उद्गम तथा अधिवाम दोनों ही आधारों पर लयें। कुछ व्यक्ति अथवा मस्थाएँ एक देश में व्यवसाय करें, किन्तु दूसरे देश में उनका निवास स्थान हो। इसलिए दोनों देशों के शासन उन पर कर लगायें। कर उन आयों पर अधिक होता है जो एक देश में प्राप्त होती है तथा दूसरे में भेजी जाती है। दोनों देशों में उन पर कर लगता है। उन आयों पर कम लगता है जो उन्हीं देश में प्राप्त होती हैं जहाँ उनका पाने वाला रहता है। इसलिए दुहरे कराधान के कारण पूँजी दूसरे देशों में मुक्त रूप से नहीं जा पाती। इस प्रकार खावटें विश्व साधनों के

आदर्श रूप में उपयोग में बाधक होती है। इनसे अल्प विकसित देशों को हानि होती है जिससे अन्तरराष्ट्रीय आर्थिक समृद्धि को हानि पहुँचती है।

दुहरा कराधान अन्तरराष्ट्रीय तथा आन्तरिक दोनों ही प्रकार का हो सकता है। यह अन्तरराष्ट्रीय इसलिए होता है क्योंकि स्वतन्त्र देश आय के स्रोत के तथा आय पाने वाले के अधिवास के आकार पर कर लगाते हैं। दूसरा इसलिए होता है कि फेडरेशन में नागरिकों पर संघ तथा क्षेत्रीय अधिकारी दोनों ही कर लगाते हैं। इसमें अन्तर यह है कि फेडरेशन एक ही राष्ट्र है जहाँ एक क्षेत्र से दूसरे में श्रम तथा पूँजी विभिन्न देशों की अपेक्षा सरलता से हस्तान्तरित हो सकते हैं।

समय समय पर अन्तरराष्ट्रीय स्तर के दुहरे कराधान से बचने के लिए प्रयास किये गये हैं। 1920 में ब्रुसेल्स के अन्तरराष्ट्रीय वित्त सम्मेलन ने लीग आफ नेशन्स को दुहरे कराधान को हटाने की सन्तुति दी थी। साथ साथ यह भी सुझाव दिया गया था कि प्रत्येक देश को अपना उचित भाग देना चाहिए। लीग आफ नेशन्स की वित्त समिति के विशेषज्ञों के सुझाव के अनुसार दुहरे कराधान से बचने का उपाय यह था कि सभी देश एक समान कसौटी अपनायें। उनके अनुसार दुहरे कराधान की समस्या के उद्गम का मुख्य कारण यही था कि विभिन्न देश अलग अलग कर आधार चुनते थे। कुछ अधिवास को आधार अपनाते थे, कुछ आय के उद्गम को तथा कुछ आय के व्यय को आधार अपनाते थे।

उन्होंने आर्थिक निष्ठा के मिद्धान्त के अनुपालन का सुझाव दिया जिससे अधिवास तथा उद्गम दोनों ही मिद्धान्त निकले हैं। प्रत्येक स्थिति में उद्गम तथा अधिवास का क्या निश्चित अनुपात होना चाहिए इसका निर्णय सम्भव नहीं है। अर्थात् कितनी आय उद्गम के कारण सम्भवी जानी चाहिए तथा कितनी अधिवास के कारण यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता तथा इंग्लैंड विशेषज्ञों ने इन दोनों आधारों का निश्चित रूप से अनुपात नहीं दिया। इसलिए वित्तीय समिति ने विशेषज्ञों के सुझाव को नहीं माना। विशेषज्ञों ने यह भी सुझाव दिया था कि अनुवन्धक देशों (contracting countries) को उस आय पर कर नहीं लगाने चाहिए जो अ-नागरिकों को प्राप्त हो। इससे उन देशों को कोई हानि नहीं होती जहाँ से अ-नागरिकों को प्राप्त होने वाली आय उस आय के बराबर होती जिसका उद्गम विदेशों में होता, किन्तु जो उनके नागरिकों का मिलती। अन्य देशों के लिए यह सन्तुति दी गयी कि जिन देशों को इससे हानि हो, उस हानि को वे देशों पूरा करें जिन्हें इस व्यवस्था से लाभ पहुँचे। 1927 में लीग आफ नेशन्स की वित्तीय समिति के विशेषज्ञों ने यह सन्तुति दी कि व्यक्तिगत (impersonal) करों की व्यवस्था अलग अलग हो। कुल आय पर वैयक्तिक कर लगाने का अधिकार उस राष्ट्र को दिया गया जिसमें कर दाना का सामान्य अधिवास हो। अवैयक्तिक कर उस राष्ट्र को लगाने का अधिकार दिया गया जहाँ आय का उद्गम हुआ हो।

औद्योगिक, वाणिज्यिक तथा कृषि संस्थानों की आय पर कर लगाने का अधिकार उस राष्ट्र को था जिसमें इन संस्थानों के प्रधान कार्यालय स्थित हो।

लीग आफ नेशनस की विशेषज्ञों की समिति ने दुहरे कर से बचने के निम्न चार विकल्पों की सन्तुति की —

(1) एक देश अपने नागरिकों से प्राप्त होने वाले कर धन में से वह धन राशि घटा दे जो नागरिकों ने कर के रूप में विदेश को उस आय पर दी हो जो आय विदेश में उन्हें प्राप्त हुई। अमेरिका ने इस विकल्प को कुछ परिवर्तन के साथ अपनाया है। जो कर की दर अमेरिका में प्रचलित है तथा जो दर दूसरे देशों में प्रचलित है इन दोनों करों में जो नीची दर है उस पर कर का हिसाब जोड़ा जाता है। इसी प्रकार विदेशी करों के कुल जोड़ की एक अधिकतम सीमा निकाली जाती है।

(2) कभी-कभी वह देश जहाँ आय अर्जित होती है गैर नागरिकों को कर में मुक्त कर देता है। उदाहरण के लिए भारत इंग्लैंड के निवेशकों के भारत में निवेश से प्राप्त आय को कर से मुक्त कर दे। इसका फल यह होगा कि भारत में विदेशी पूँजी विनियोग के लिए आयेगी। किन्तु अल्प विकसित देशों को अपने लिए भी आय प्राप्त करनी होती है। अतः हो सकता है कि अल्प विकसित देश इस प्रकार की पूरी आय पर पूरी छूट न दे पायें।

(3) किसी व्यवस्था के अनुसार कर का विभाजन उन दोनों देशों में हो जाय, जहाँ आय अर्जित होती है तथा जहाँ नागरिकों का अधिवास है। 1947 तक भारत तथा इंग्लैंड में इसी आधार पर विभाजन होता था। छुटकारे की व्यवस्था यह थी कि कर दाता को नेट कर दोनों देशों में प्रचलित ऊँची दर पर देना होता था जो उसके लिए लागू होती थी। यू० के० के कानून के अन्तर्गत उस देश की आयों दर पर वापसी मिल जाती थी। कर दाता को पहले यू० के० से वापसी लेनी होती थी। यदि वह वापसी कुल भारतीय कर से अधिक होती थी तब और वापसी नहीं मिलनी थी। जब यह भारतीय कर से कम होती थी तो भारत यहाँ की दर के अनुसार आधे तक अन्तर वापिस कर देता था।

(4) समझौते द्वारा दोनों देशों में आय के साधनों का विशेष बटवारा हो जाये। प्रत्येक देश उम्मीद से प्राप्त आय पर कर लगायेगा जो आंशिक रूप में अथवा पूर्णतया उसको मिली हो, यह दुहरा कराधान बचन अनुबन्ध (double tax avoidance agreement) साधन कहलाता है। इसका लाभ यह है कि उम्मीद आय पर एक में अधिक देश गुरु में कर नहीं लगाता। इसलिए बाद में दुहरे कराधान से छूट का प्रश्न ही नहीं उठता।

भारत ने पाकिस्तान, अदन तथा कुछ अफ्रीकी देशों से दुहरे कराधान से बचने के समझौते कर लिए हैं। कुछ अन्य देशों में समझौते होने को है। इन समझौतों के अन्तर्गत अब सब विदेशी आय पर छुटकारा उपलब्ध है, किन्तु इस आय के उस भाग

पर जो भारत में अर्जित मानी गई है तथा पहले वर्षों में कर नहीं लगा और उसके जो भाग बाहर भेजे गए हैं इन पर छूट नहीं मिलेगी।

भारतीय कराधान जाँच आयोग ने इन सम्झौतों के सम्बन्ध में कुछ मिडान्तों के मुद्दा दिए, जिनमें से एक मुद्दा जिस पर आयोग ने विचार किया वह है कि औद्योगिक तथा वाणिज्यिक सस्थानों के लाभों पर उन राज्यों में कर लगाने चाहिए जहाँ इन सस्थानों के स्थायी कार्यालय हो किन्तु यदि सस्थानों का स्थायी कार्यालय सम्झौतों के हर एक राज्य में है तब प्रत्येक राज्य को उसके क्षेत्र के लाभ पर कर लगाने का अधिकार है। पोत तथा वायु उद्यमों के लाभ पर उस देश को कर लगाना चाहिए जिसमें उद्यम का वित्तीय अधिवास हो। इसका फल यह होगा कि भारत को व्यवसायिक सम्पर्कों से प्राप्त लाभों पर कर नहीं मिलेगा जब तक स्थायी सस्था की परिभाषा में एजेंसी न आ जाये।

दूसरा मुद्दा यह है कि जलपोतों के लाभों पर उस देश को कर लगाने का अधिकार होना चाहिए, जिसमें उमकम्पनों का रजिस्टर्ड कार्यालय हो। इससे भारत को बहुत हानि होगी, क्योंकि विदेशी कम्पनियों के रजिस्टर्ड कार्यालय भारत में नहीं हैं।

फंडरेशन में दुहरा कराधान—फंडरेशन में भी दुहरा कराधान की समस्या होती है। बहुत से कर दाता सघीय तथा राज्य के शासनों के कर क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत भी आते हैं। इसके साथ साथ वे कई राज्यों के कर क्षेत्राधिकारों के अन्तर्गत भी आते हैं। ऐसे कराधान से माधनों का समुचित उपयोग नहीं हो पाता तथा कर वितरण भी कर क्षमता के अनुकूल नहीं हो पाता। उसका कारण यह है कि कुछ कर दाताओं पर दुहरा कर लगता है, किन्तु कुछ उसी सामर्थ्य के कर दाता उससे बच जाते हैं। एक राज्य में ऐसा माल बनता हो जो अन्य राज्यों में विक्रित है। पहला राज्य उम सामग्री पर कर लगाता हो। भारतीय संविधान के अन्तर्गत अन्तरदेशीय वाणिज्य की वस्तुओं पर विक्री कर लगाना वर्जित है। इस प्रविधान से अन्तरराष्ट्रीय वाणिज्य मुक्त रूप से हो सकता है तथा यह प्रविधान बहुत से फंडरेशनों में है।

आस्ट्रेलिया, कनाडा तथा अमेरिका में आय कर अधिकार फंडरेशन तथा राज्य शासनों को दिया गया था। ऐसे अन्य उदाहरण भी हैं जहाँ राज्य तथा सघ दोनो शासनों को आय कर लगाने का अधिकार है। इससे दुहरा कराधान की समस्या तो आती ही है। इसके साथ-साथ कर दाताओं को परेशानी होती है, क्योंकि उन्हें सब राज्यों के कानूनों का ज्ञान होना चाहिए तथा पेवीदा फार्म भरने होते हैं। विभिन्न राज्यों में कर सम्पात भी भिन्न होता है। वही कर दर अधिक होती है, वही कम। आस्ट्रेलिया में भूमि कर तथा उत्तराधिकार कर कामनवैलथ तथा राज्यों की गवर्नमेण्ट दोनों ही लगाते हैं। अमेरिका में भी आय कर तथा उत्तराधिकार कर राज्य तथा फंडरेशन दोनों ही लगाते हैं।

अन्तरदेशीय दुहरे कराधान से बचने के उपाय :

(१) दुहरे कराधान से फंडरेशन की इकाइयों में पारस्परिक सहयोग द्वारा बचा जा सकता है। यही सहयोग इकाइयों तथा फंडरेशन में भी आवश्यक है। राज्य एक ही कर से सम्बन्धित समान कसौटी अपना सकते हैं। संघ द्वारा एक मानक कानून बन सकता है जिसे सभी इकाई अपना सकती हैं। इससे कुछ राज्यों को होने वाली हानि केन्द्र कोष से आर्थिक सहायता द्वारा पूरी हो सकती है।

(२) दूसरा उपाय यह है कि कुछ कर एक ही अधिकारी को दिये जायें जिससे दुहरा कराधान न होने पाये। सभी फंडरेशनों में सीमा शुल्क सघ शासन को दिये जाते हैं। भारत में संविधान की धारा 246 के अन्तर्गत सातवें परिशिष्ट की पहली सूची में उल्लिखित करों को लगाने तथा उनकी देख रेख करने का पूर्णाधिकार संघ शासन को है। इस सूची में आय कर, वारपोरेशन कर, सीमा शुल्क, उत्पादन कर तथा उत्तराधिकार कर आते हैं। कृषि आय कर, भूमि कर, बिक्री कर, मादक वस्तुओं पर कर आदि पूर्णतया राज्यों को दिये गये हैं। इस प्रकार भारतीय संविधान में करों का ऐसा बंटवारा है कि कृषि आय तथा सम्पत्ति करों को छोड़कर आय तथा पूँजी सम्बन्धी सभी कर सघ शासन लगाता है। सघ को निर्माण की प्रक्रिया में सभी वस्तुओं पर तथा आयात निर्यात कर लगाने का अधिकार है, किन्तु राज्य शासन उनके त्रय विक्रय पर ही कर लगा सकते हैं। वस्तुओं पर दुहरे कराधान को हटाने के लिये संविधान की धारा 286 में यह विधान है कि कोई राज्य वस्तु के त्रय अथवा विक्रय पर जबकि यह त्रय विक्रय राज्य के बाहर हो अथवा आयात अथवा निर्यात के अन्तर्गत हो, कर नहीं लगा सकता। कोई भी राज्य शासन, ऐसे मान पर जो समदीय कानून द्वारा सामाजिक जीवन के लिये आवश्यक घोषित किया गया है, त्रय अथवा विक्रय कर नहीं लगा सकता। इस प्रकार उत्पादन करों के सम्बन्ध में राज्यों को केन्द्रीय शासन से स्पर्धा करने से रोक रखा है। भारत में बहुत सी परिस्थितियों में दुहरे कराधान का प्रश्न आता है, यद्यपि ये बहुत महत्वपूर्ण नहीं हैं। राज्यों की पेशों, व्यापार तथा रोजगारों आदि पर 250 रुपये प्रति वर्ष तक कर लगाने का अधिकार है। यह कर कुछ राज्यों में लगाया जाता है।

दुहरा कराधान कृषि आय तथा भूमि की आय के सम्बन्ध में भी हो सकता है। कृषि आय कर अधिवास तथा उद्गम दोनों के आधार पर लग सकता है। उस व्यक्ति को जिसकी कई राज्यों में कृषि से अथवा कृषि भूमि से जो कई राज्यों में है आय होती है दुहरा अथवा बहुत कराधान देना होता है। कृषि आय कर की दर अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग है। अब तो कृषि आय कर भारत में लगभग सभी राज्यों में लगता है। आय के लोचदार साधन केन्द्र के अधिकार में है। राज्यों को आय कर का 75% भाग मिलता है। इसके अतिरिक्त उन्हें आर्थिक सहायता भी केन्द्र से मिलती है। भारत में दुहरे तथा बहुत कराधान की समस्या बहुत कुछ हद तक तय हो गई है। किन्तु अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर इसका हल द्विपक्षीय समझौतों (bilateral agreements) द्वारा ही सम्भव है।

Sustice in Taxation

सत्रहवां अध्याय
कराधान में न्याय
(SUSTICE IN TAXATION)

कराधान का भार देश के विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों में उचित रूप में वितरित होना चाहिए। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् से हाल के दशकों में सार्वजनिक व्यय में सभी देशों में बहुत वृद्धि हुई है। अतः यह आवश्यक है कि इन व्यय का भार अमीर तथा गरीब वर्गों में न्यायोचित ढंग से बटना चाहिए। सार्वजनिक व्यय में वृद्धि केवल राज्य के मूल कर्तव्यों के पालने के ही कारण नहीं हुई है, बल्कि राज्य ने गरीब वर्गों के लिए समाज सुरक्षा (social security) की तथा आर्थिक विकास की वृद्धि की भी व्यवस्था की है। इसके लिए कर बढ़ा कर तथा नये कर लगा कर तथा आवश्यकतानुसार बजट में घाटे द्वारा भी धन प्राप्त किया गया है। अतः इस भार के न्यायोचित ढंग से वितरण की आवश्यकता को अधिकाधिक मान्यता दी गई है। यन्त्र नियम (law of mechanics) के अनुसार थोड़ा भार भी अच्छे ढंग से वितरित न होने पर भारी हो जाता है। ठीक इसी प्रकार यदि अनुपयुक्त कर लगा कर थोड़ा धन भी वसूल किया जाता है तो उससे जनता में असन्तोष हो सकता है तथा आर्थिक प्रगति रुक सकती है। अनुपयुक्त कर भी शक्तिशाली रोम साम्राज्य के पतन का कारण कहे जाते हैं। इसीलिए कराधान में न्याय की समस्या पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

अब प्रश्न यह है कि उचित कर वितरण क्या है तथा कैसे हो सकता है ? इस सम्बन्ध में कई विचार धारण हैं।

(१) सेवा व्यय सिद्धान्त (Cost of Service Principle)—इस मत के अनुसार राज्य को प्रत्येक नागरिक से कर के रूप में सेवा का व्यय ही वसूल करना चाहिए। राज्य के लिए कुछ सेवाओं की व्यवस्था करना अनिवार्य तथा आवश्यक है। इसलिए तत्सम्बन्धी व्यय नागरिकों से वसूल होना चाहिए। विक्रेता क्रेता से वस्तु की लागत अवश्य वसूल करता है। अतः जो सिद्धान्त व्यवसाय में उचित है

यह राज्य को नागरिकों से सेवाओं की व्यवस्था के व्यय में करो के वसूल करने में अपनाना चाहिए। परन्तु इस सिद्धान्त को व्यवहार में लाने में विशेष कठिनाईयाँ हैं। देखने में यह सिद्धान्त अवश्य सरल लगता है। बहुत से मामलों में यह व्यावहारिक नहीं है। प्रथम, कुछ ऐसी सेवाएँ हैं जिनकी व्यक्तियों के लिए अभग अलग लागत बनाना असम्भव है। पुलिस तथा प्रतिरक्षा पर प्रत्येक व्यक्ति के हिस्से में जितनी लागत आती है इस बात का पता चलना असम्भव है। राज्य के अन्य कार्यों के माथ भी यह सिद्धान्त लागू नहीं हो सकता। दूसरे, राज्य को स्थानुपाय गरीब व्यक्तियों की सम्पत्ति की रक्षा पर धनी व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक व्यय करना पड़ता है। गरीब व्यक्तियों की सम्पत्ति बहुत स्थानों में थोड़ी थोड़ी बिखरी रहती है, किन्तु धनी व्यक्तियों की करोड़ों रुपये के मूल्य की सम्पत्ति एक स्थान में हो सकती है। अतः इस पर कम व्यय होगा। जो सम्पत्ति बहुत स्थानों में स्थित है उसकी रक्षा करने में अधिक व्यय होगा इसका अर्थ यह होगा कि लागत के अनुसार गरीबों पर अधिक कर लगेंगे। अतः लागत के अनुसार लगे कर प्रतिगामी होंगे। तीसरे, सेवा व्यय सिद्धान्त समाज सेवाओं में लागू नहीं हो सकता। राज्य इन सेवाओं की व्यवस्था इसलिए करना है कि जिनके लिए ये की जाती हैं वे इनके व्यय का भार सहन नहीं कर सकते। राज्य चिकित्सा, शिक्षा, बीमारी बीमा, बेरोजगारी सम्बन्धी भत्ते आदि की व्यवस्था करता है। जिन व्यक्तियों के लिए इन सेवाओं की व्यवस्था की जाती है वे इन सबका खर्च बरदाश्त नहीं कर सकते। इसलिए या तो ये निशुल्क होती हैं या लागत से कम कीमत पर मण्डाई होती हैं। इनका खर्च राज्य उन्हीं व्यक्तियों से वसूल करे जिनके लिए इनकी व्यवस्था की जाती है तब राज्य कल्याणकारी राज्य नहीं कहा जायेगा। एक आधुनिक कल्याणकारी राज्य में इन सेवाओं की व्यवस्था अनिवार्य है। अतः इन क्षेत्रों में कर वसूल करने में व्यय सिद्धान्त लागू नहीं हो सकता। यह सिद्धान्त राज्य के वाणिज्यिक विभागों की सेवाओं के व्यय की लागत के शुल्क के सम्बन्ध में तो लागू हो सकता है, जैसे डाक तार विभाग, रेल, सिंचाई योजनाएँ आदि। राज्य इन सेवाओं की कीमत लागत सिद्धान्त के अनुसार तय कर सकता है।

(2) सेवा के लाभ का सिद्धान्त (Benefit of Service Principle)—इस सिद्धान्त के अनुसार हिताधिकारी का दृष्टिकोण प्रधान है, किन्तु सेवा के लागत सिद्धान्त में विक्रेता अर्थात् राज्य का दृष्टिकोण मुख्य है। एक प्रकार सेवा का लाभ सिद्धान्त सेवा के लागत सिद्धान्त का ही दूसरा रूप है। सेवा के लागत का सिद्धान्त कराधान में न्याय की समस्या को समाज के दृष्टिकोण से देखता है, किन्तु लाभ सिद्धान्त समस्या को एक उपभोक्ता अथवा क्रेता की दृष्टि से देखता है। लाभ सिद्धान्त में यह नहीं कहा जाता कि जो किसी व्यक्ति ने कर लिया जाता है उस कर दाता को राज्य से बदले में लाभ प्राप्त होना चाहिए। राज्य के द्वारा किसी व्यक्ति के लिए की गई सेवाओं का सही मूल्यांकन करना सम्भव नहीं है।

इस सिद्धान्त का केवल यही लक्ष्य है कि कराधान का भार जनता में इस प्रकार वितरित होना चाहिए जिससे प्रत्येक कर दाता को राज्य के कुल व्यय के लिए उसे उसी अनुपात में अंशदान देना चाहिए जो अनुपात राज्य की सेवाओं से प्राप्त कुल लाभ तथा व्ययितक लाभ में है।

इस सिद्धान्त के अनुरूप कराधान की योजना वांछित सम्भव नहीं हो सकना। इनके अतिरिक्त यह आधुनिक विचारधारा के विकास के प्रतिकूल है। एक व्यक्ति के लिए पुलिस सेवा से प्राप्त होने वाले लाभ जो उसे राज्य से मिलते हैं उसी तक सीमित नहीं हैं। व्यक्ति को शारीरिक सुरक्षण मिलता है तथा इसके साथ उमे सांस्कृतिक लाभ भी मिलते हैं। वीन हाक के अनुसार आनुपानिक कर सम्पत्ति की रक्षा के लिए लाभ सिद्धान्त के अनुरूप होगा, किन्तु व्यक्तिगत रक्षा के लिए तथा राष्ट्र कल्याण के भाग के लिए व्यक्ति पर अधिक उपयुक्त होगा।¹

लाभ सिद्धान्त सामाजिक सेवाओं के लिए लागू नहीं हो सकता। शिक्षा, अच्छे पुस्तकालयों तथा प्रदर्शनियों आदि सेवाओं के लाभ उन्हीं को प्राप्त होते हैं जो इनका उपयोग कर सकते हैं तथा इनका महत्त्व समझते हैं। इन के बहुत से लाभ आत्मनिष्ठ होते हैं तथा वे अर्जन शक्ति पर निर्भर नहीं रहते। वृद्धावस्था तथा बेरोजगारी भत्ता आदि ऐसी सेवाएँ हैं जिनसे व्यक्तियों को होने वाला लाभ मायूम हो सकता है, किन्तु इस सम्बन्ध में हम सिद्धान्त के लागू करने का अर्थ यह होगा कि पेंशंस भोगी को राज्य से प्राप्त लाभ वापिस करना होगा। इसलिए इन सेवाओं की व्यवस्था लाभ सिद्धान्त के अनुसार करों द्वारा विल प्राप्त करके नहीं हो सकती।

यह सिद्धान्त सीमित क्षेत्र में तो लागू हो सकता है। जहाँ जनता के एक खण्ड को राज्य की क्रिया से लाभ होता है तथा वह खण्ड शासकीय अनुदान का अधिकारी नहीं है, ऐसी अवस्था में राज्य उम खण्ड से लाभ सिद्धान्त पर कर वसूल कर सकता है। राज्य व्यवसायियों द्वारा युद्ध काल में प्राप्त लाभ का भाग इस सिद्धान्त के अनुसार प्राप्त करने का अधिकारी है। व्यवसाय लाभ कर (business profit tax) तथा अतिरिक्त लाभ कर (excess profit tax) आदि इसी सिद्धान्त के अनुसार लग सकते हैं तथा लगते हैं। इस सिद्धान्त को व्यवहार में लाने का क्षेत्र स्थानीय कराधान में है, क्योंकि स्थानीय समस्याओं की सेवाओं की माया जा सकता है। इनकी जन तथा विद्युत सम्बन्धी वैकल्पिक सेवाएँ तथा सड़कों पर रोशनी आदि की व्यवस्था की अनिवार्य सेवाएँ लाभ सिद्धान्त के आधार पर ही प्रधान की जाती हैं। स्थानीय संस्थाओं के व्यय का अधिक भाग सामाजिक सेवाओं पर ही लगता है, किन्तु इनका लाभ देश व्यापी होता है। इसीलिए केन्द्र तथा राज्य इन सेवाओं के लिए इन संस्थाओं को अनुदान देते हैं।

1 Quoted in *Justice in Taxation in India* by Lakdawala, p. 7

(3) देय क्षमता सिद्धान्त (Ability to Pay Principle)—यह सिद्धान्त सर्वाधिक मान्यता प्राप्त सिद्धान्त है। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को राज्य की आय के लिए अपनी क्षमता के अनुपात में अंशदान देना चाहिए। क्षमता कराधान का आदर्श नैतिक सिद्धान्त है। कोहन के अनुसार यह नैतिक संहति (moral solidarity) के सामान्य सिद्धान्तों का एक प्रकार से विशेष उपयोग है। इस सम्बन्ध में मुख्य प्रश्न यह है कि देय क्षमता को कैसे नापा जाय।

इस सिद्धान्त पर उत्पादन तथा उपभोग दोनों ही दृष्टियों से विचार करना चाहिए। आय तथा सम्पत्ति के परिमाण की वृद्धि के साथ साथ व्यक्तियों की कमाने की शक्ति तथा सुअवसर दोनों ही की वृद्धि होती है। बहुत कुछ सीमा तक धन के साथ भी बढ़ती हुई आय का सिद्धान्त लागू होता है। इसलिए राज्य को इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि व्यक्ति की सम्पत्ति की वृद्धि के साथ उसकी धन कमाने की शक्ति भी बढ़ती जाती है। अधिक सम्पत्ति होने से व्यक्ति को अधिक धन कमाने के अवसर प्राप्त होते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार आय तथा सम्पत्ति पर वर्धमान कराधान होना चाहिए। वाकर के अनुसार उत्पादन की दृष्टि से देय क्षमता उत्पादन की अर्जित शक्ति है। यह शक्ति व्यक्ति की सम्पत्ति के साथ बढ़ती है। किन्तु इस सिद्धान्त से प्रगति की मात्रा का संकेत नहीं मिलता, क्योंकि इससे इस बात में सहायता नहीं मिलती कि सम्पत्ति के बढ़ने के साथ व्यक्ति की धन कमाने की शक्ति कितनी बढ़ती है। अतः इस सिद्धान्त से यह तो संकेत मिलता है कि कराधान में प्रगति होनी चाहिए, लेकिन यह पता नहीं लगता कि प्रगति कितनी होनी चाहिए। यह वस्तुनिष्ठ अथवा आय पक्ष है।

क्षमता का अभिप्राय केवल उत्पादन अथवा धन कमाने की शक्ति से ही नहीं है, बल्कि इसमें बड़ी हुई आय का उपभोग करने की क्षमता भी निहित है। इसलिए इस पर व्यक्तिनिष्ठ दृष्टि से भी विचार होना चाहिए। यह व्यक्तिनिष्ठ सिद्धान्त त्याग सिद्धान्त है।

(4) मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता—त्याग सिद्धान्त का अर्थ है कि राज्य जब कर दाता से उसकी आय का कुछ भाग कर के रूप में लेता है तो कर दाता को कुछ त्याग करना पड़ना पड़ता है। कराधान में न्याय प्राप्त करने के लिए इस त्याग का वितरण साम्यिक होना चाहिए। लेखकों के अनुसार धन तथा जन कल्याण आवश्यकताओं के माध्यम से परस्पर सम्बन्ध रखते हैं तथा घटती हुई उपयोगिता का नियम मुद्रा को भी लागू होता है। इस नियम के अनुसार किसी वस्तु की आपूर्ति एक व्यक्ति के पास बढ़ने से उसके समान अंशों की उपयोगिता घटती है। मुद्रा की उपयोगिता प्रत्यक्ष न हो कर अप्रत्यक्ष होती है। आवश्यकता की वस्तुओं से आराम की वस्तुएँ मिलने पर इच्छाओं की तीव्रता घटती है। इसके साथ सम्पत्ति अथवा आय के बढ़ने पर व्यक्ति की मुद्रा की आगामी इकाइयों की उपयोगिता भी घटती है, किन्तु मुद्रा की उपयोगिता धीरे धीरे घटती है तथा इसकी उपयोगिता

सुन्य नहीं हो सकती, क्योंकि मुद्रा का सामाजिक महत्त्व भी है। मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता में कमी होने के स्तर को नापना सम्भव नहीं है, किन्तु आय के सामान्य मोपानों में मुद्रा की उपयोगिता की कमी का मामूली तौर पर अनुमान लग सकता है। मनुष्य की जब तक अन्न, वस्त्र तथा रहने के लिए घर की आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति न हो तब तक मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता असीमित रहती है। उसकी आगामी इकाइयों की उपयोगिता तभी घटती है जब आवश्यक वस्तुएँ पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होकर आराम की वस्तुओं की अवस्था आने लगती है। जब विलासिता की वस्तुएँ खरीदी जाती हैं तब मुद्रा की उपयोगिता तीव्रता से गिरती है। ऐसा एक स्तर तक होता है। इसके बाद उपयोगिता की कमी की गति धीमी होकर ठहर जाती है।

कराधान में न्याय लाने के त्याग के तीन मुख्य सिद्धान्त हैं : समान त्याग, आनुपातिक त्याग तथा न्यूनतम त्याग।

समान त्याग के सिद्धान्त के अनुसार कराधान के मौद्रिक भार का वितरण ऐसे हो जिससे प्रत्येक कर दाता को समान त्याग करना पड़े। इसके अनुसार अधिक आय के व्यक्तियों को कम आय के व्यक्तियों से अधिक कर देने चाहिए। कराधान की वृद्धि की दर मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता के घटने की गति पर निर्भर होगी। यदि सीमान्त उपयोगिता तीव्र गति से घटती है जैसा कि खड़ी वक्र रेखा इंगित करती है तब प्रगामी कराधान द्वारा समान ऋण प्राप्त होगा। यदि सीमान्त उपयोगिता के घटने की गति बहुत धीमी है तथा उपयोगिता की वक्र रेखा अधिक समतल है ऐसी दशा में प्रतिगामी कर से समान त्याग प्राप्त होगा। उदाहरण के लिए 50,000 रुपये की वार्षिक आय पर 5 प्रतिशत कर लगने पर 2,500 रुपये कर दाता को देने होंगे। जब कि 10,000 रुपये की आय पर $7\frac{1}{2}$ प्रतिशत कर लगने पर कर दाता को 750 रुपये देने होंगे। ऐसी अवस्था में दोनों के लिए समान त्याग की परिस्थिति हो, क्योंकि अधिक आय वाले व्यक्ति को 2,500 रुपये की उपयोगिता उतनी ही हो जितनी कम आय के व्यक्ति को 750 रुपये की उपयोगिता। एक न्यूनतम आय कर से मुक्त होनी चाहिए। आय के बढ़ने के साथ उपयोगिता की घटने की गति को नापना सम्भव नहीं है। इसलिए कर बढ़ने की दर विवेकाधीन होगी। एक निश्चित स्तर से ऊपर कर की वृद्धि से पूर्वी निर्माण में रुकावट होगी तथा उद्योग की वृद्धि को हानि पहुँचेगी।

ऊँची आय के व्यक्तियों की बहुत सी इच्छाएँ जिनकी वे तृप्ति करते हैं सापेक्षिक हैं। एक व्यक्ति कुछ वस्तुओं की कमी को इसलिए महसूस करता है क्योंकि उसकी हैसियत के व्यक्ति उनका उपयोग करते हैं। यदि उसकी हैसियत के अन्य व्यक्तियों को भी वे वस्तुएँ उपलब्ध न हो तो कदाचित् उनके अभाव को वह भी महसूस न करे। इसलिए ऊँची आय के स्तरों पर कर की प्रगति की दर बहुत

ऊँची हो सकती है। इस सम्बन्ध में मिल का कहना है कि मनुष्य धनवान् ही नहीं होना चाहते, किन्तु वे अन्य व्यक्तियों से अधिक धनी होना चाहते हैं। एक धन लोलुप व्यक्ति के पास कितना भी धन क्यों न हो, यदि अपने पड़ोसियों से उसके पास कम धन है तो वह कभी सतुष्ट नहीं रहेगा। प्रो० पीगू के अनुसार सापेक्ष आय का महत्त्व उन आयों के लिए जिनसे जीवन की आवश्यक तथा सामान्य आराम की वस्तुएँ मिल सकती हैं कम होता है, किन्तु अधिक आयों के लिए अधिक होता है। दूसरे शब्दों में, धनी व्यक्तियों की आयों से प्राप्त होने वाली तुष्टि का अधिक अनुपात उनकी निर्वेक्ष मात्रा से न प्राप्त होकर सापेक्ष मात्रा से प्राप्त होता है। यदि सब धनी व्यक्तियों की आय एक साथ घटा दी जाये तो यह भाग नष्ट नहीं होगा।² इसलिए यदि साधन धनी व्यक्तियों में गरीबों को हस्तान्तर हो जाते हैं तो उससे होने वाली धनी व्यक्तियों की आर्थिक कल्याण की हानि गरीबों को होने वाले आर्थिक कल्याण के लाभ की अपेक्षा उससे कहीं कम होगी जो घटती हुई उपयोगिता के नियम के विचार द्वारा इंगित होती है।

न्यूनतम त्याग का सिद्धान्त (Minimum Sacrifice Principle)—इस सिद्धान्त के अनुसार कर प्रणाली की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जिससे कर दाताओं को न्यूनतम त्याग करना पड़े। राज्य का उद्देश्य जनता के आर्थिक कल्याण को अधिकतम करना है। करो से जनता के कल्याण की वृद्धि नहीं हो सकती। इसलिए कर इस प्रकार लगाये जाएँ, जिससे कर दाताओं को कम से कम अमुविधा हो। ऐसा तभी सम्भव होगा जब प्रत्येक कर दाता का सीमान्त त्याग बराबर हो। यदि हम इस कल्पना पर चलें कि सब कर दाताओं के लिए धन तथा कल्याण में एक सा सम्बन्ध है, तब यह आवश्यक होगा कि नीची श्रेणियों की आय पर कर लगाने से पहले कराधान द्वारा ऊँची श्रेणी की आय घटा कर नीची श्रेणी की आय के स्तर तक लायी जाये। इस समता को लाने के लिए राज्य धनी व्यक्तियों पर कर लगाये तथा गरीबों को आर्थिक सहायता दे लेकिन राज्य अगर इस हद तक न जा सके, तो जब तक ऊँची आय नीची श्रेणियों तक न आ जायें तब तक नीची श्रेणी की आय पर कर न लगाये जायें।

सम-सीमान्त त्याग के सिद्धान्त के आधार पर हम उपर्युक्त नतीजे पर इस बात को मान कर चलने पर पहुँच सकते हैं कि सभी व्यक्तियों की पसन्द तथा आवश्यकताएँ एकसी ही हैं, लेकिन ऐसा नहीं है। राज्य इन भिन्नताओं को दृष्टिकोण में तभी रख सकता है जब कोई बाह्य अभिसूचक (external index) उपलब्ध हो। इसीलिए आधुनिक कर प्रणालियों में परिवार के आकार को दृष्टि में रखकर छूट दी जाती है।

वर्तमान तथा भावी इच्छाएँ—इच्छाओं के सम्बन्ध में वर्तमान तथा भावी

इच्छाओं का महत्व व्यक्तियों के लिए एकसा नहीं होता। अर्जित आय के व्यक्ति के लिए एक रुपये का महत्व उस व्यक्ति से भिन्न होगा जिसकी आय सम्पत्ति से प्राप्त होती है। अर्जित आय के व्यक्ति को अपने कुटुम्बियों के लिए प्रविधान करना जरूरी है, क्योंकि उनकी आय का कोई अन्य साधन नहीं है, किन्तु सम्पत्ति की आय के व्यक्ति के लिए यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि उसके पश्चात् उसके परिवार के व्यक्तियों के लिए सम्पत्ति की आय उपलब्ध होगी। इसलिए अर्जित आय के व्यक्ति के लिए धन की एक निश्चित मात्रा के त्याग का दूसरे व्यक्ति के मुकाबले में अधिक महत्व है। इसलिए आय कर में अर्जित आय के लिए कुछ छूट की व्यवस्था रहती है।

वितरण पर प्रभाव—यह सिद्धान्त वितरण की दृष्टि से सन्तोषजनक है। इसके अनुसार ऊँची आय पर अधिक कर की दर होती है तथा नीची पर कम। इसलिए इसमें कराधान में न्याय होता है।

उत्पादन पर प्रभाव—इसके प्रभाव उत्पादन पर प्रतिकूल पड़ते हैं। वित्तीय लाभ की आशा के अभाव में व्यक्ति की कार्य करने की इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। राष्ट्रीय आय को बढ़ाने के लिए प्रयास की प्रोत्साहन मिलना चाहिए। इसलिए कर प्रणाली ऐसी होनी चाहिए कि ऊँची आय के व्यक्तियों को कर देने के पश्चात् भी आय पर्याप्त मात्रा में बच जाये। किन्तु यह आवश्यक है कि वर्तमान वितरण प्रणाली की असमानता में कभी अवश्य होनी चाहिए। कभी कितनी होनी चाहिए तथा असमानता कितनी रहनी चाहिए यह कहना कठिन है, किन्तु यह कहा जा सकता है कि वर्तमान असमानता में बहुत कुछ कमी आने पर भी उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा। मुद्रा के अतिरिक्त अन्य प्रोत्साहन भी प्रयास में प्रेरणा देने के लिए महत्व रखते हैं। इन प्रोत्साहनों की वातावरण में परिवर्तन द्वारा बल दिया जा सकता है। इसलिए राज्य करों द्वारा धन वसूल करके इस असमानता को बहुत हद तक दूर कर सकता है।

पूँजी निर्माण पर प्रभाव—सम-सीमान्त त्याग सिद्धान्त पर आधारित कर प्रणाली के वचन की क्षमता तथा फलस्वरूप पूँजी निर्माण पर प्रतिकूल प्रभाव हो सकते हैं। कर लगने से धनी व्यक्तियों की वचन कम हो सकती है, क्योंकि वे अपने खर्च न घटाकर कर भुगतान बचे हुए धन से करें, किन्तु इसके कुछ पूरक पहलु भी हैं। प्रथम, प्रमण्डलों की वचन में कमी नहीं होगी तथा पूँजी निर्माण में इस वचन का बहुत महत्व होता है। दूसरे, उत्पादन पर कर प्रणाली के प्रतिकूल प्रभाव राजकीय व्यय द्वारा कुछ कम हो जायेंगे। क्योंकि राजकीय व्यय से उत्पादन क्षमता बढ़ेगी। तीसरे, धनी वर्ग सरकारी ऋण पत्र खरीदते हैं, जिन पर उन्हें व्याज की आय मिलती है। अतः सम-सीमान्त त्याग सिद्धान्त द्वारा पूरक प्रभाव होते हैं। चौथे, लोक श्रेय के प्रसार के फलस्वरूप व्यवसायिक पूँजी का बढता हुआ भाग राज्य द्वारा प्राप्त होता है। इस पूँजी पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा। अन्तिम,

भौतिक पूँजी की कमी मानवीय पूँजी की क्षमता की वृद्धि से पूरी हो सकती है, जो कि राजकीय व्यय से समाज सेवाओं में उन्नति के फलस्वरूप होती है। हो सकता है कि पूँजी निर्माण पर प्रतिकूल प्रभाव न भी हो। कर नीति में परिवर्तनों द्वारा आय के वितरण में उन्नति होने से राष्ट्रीय कल्याण में वृद्धि हो सकती है चाहे उत्पादन पर तात्कालिक प्रभाव प्रतिकूल ही हो। दो विकल्पों में एक को चुनना होगा। घन का अनमान वितरण तथा गरीबी का समान घटवारा। जब उत्पादन बहुत हो तथा वितरण में बहुत अमान्यता हो तो राज्य सम-भोग (equal sacrifice principle) के अनुसार कर प्रणाली में बहुत कुछ हद तक परिवर्तन कर सकता है, जिससे उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं होंगे। किन्तु जहाँ उत्पादन कम है वहाँ परिस्थिति भिन्न होगी। कर नीति पर अधिक उन्नति तथा न्याय के आधार पर ही विचार करना होगा तथा आर्थिक प्रगति तथा न्याय दोनों ही दीर्घकाल में सामाजिक कल्याण के आधार पर समर्पित हो सकते हैं।

आनुपातिक त्याग (Proportional Sacrifice)—एडम स्मिथ के अनुसार, आनुपातिक त्याग का अर्थ है कि राज्य के नागरिकों को उसके व्यय की पूर्ति के लिए अपनी क्षमता के अनुपात में अंशदान देना चाहिए। क्षमता की माप राज्य के संरक्षण से प्राप्त लाभ से ही हो सकती है। देय क्षमता की सामान्य संकल्पना मान्य होनी चाहिए, किन्तु इस सम्बन्ध में क्षमता केवल वस्तुनिष्ठ दृष्टि (objective view) अथवा मौद्रिक आय से ही नहीं मापी जा सकती। उदाहरणार्थ, यदि राज्य सभी स्तर की आय का पाँचवा भाग करों के रूप में वसूल करे तो एक सहस्र वार्षिक आय का व्यक्ति को 200 रुपये कर के रूप में देने होंगे तथा 200 रुपये वार्षिक आय के श्रमिक को 40 रुपये कर के रूप में देने होंगे। अब, यह स्पष्ट है कि इस उदाहरण में श्रमिक के लिए त्याग की मात्रा बहुत अधिक होगी। इसके अतिरिक्त आय एक सी होने पर एक ऐसे व्यक्ति के लिए जिसके परिवार में सदस्यों की संख्या अधिक है त्याग की मात्रा अधिक होगी। अतः मौद्रिक आय ही देय क्षमता का सही माप नहीं हो सकती।

प्रगामी कराधान तथा ग्याय—इस सिद्धान्त के अनुसार वास्तविक आनुपातिक त्याग की प्राप्ति होती है। मिल के अनुसार कर दर में आय की वृद्धि होनी चाहिए। यह संकल्पना निम्न बातों पर निर्भर है : प्रथम, व्यक्तियों के लिए आय की उपयोगिता समान मान लेनी चाहिए, दूसरे, आय में प्रत्येक वृद्धि के साथ उपयोगिता घटती है तथा विलासिता की वस्तुओं पर होने वाले व्यय में वृद्धि होती है, तीसरे, विलासिता की वस्तुओं पर व्यय की तुलना में आवश्यकताओं पर व्यय राष्ट्रीय निपुणता की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। पहली संकल्पना तथ्यों के अनुरूप प्रतीत नहीं होती, क्योंकि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की आय की उपयोगिता समान नहीं होती, क्योंकि व्यक्तियों की परिस्थिति तथा स्वभाव अलग अलग होते हैं। अन्तिम दो संकल्पनाएँ वास्तविक स्थिति के अनुसार हैं।

इन कल्पनाओं से प्रगामी प्रणाली का कार्यात्मक आधार मिलता है जिसकी दो मुख्य विशेषताएँ हैं : (1) एक न्यूनतम आय की कर से मुक्ति, तथा (2) न्यूनतम आय से ऊपर की आयों पर बढ़ती हुई दरों पर कराधान। इस सिद्धान्त की मुख्य कठिनाई एक ऐसी योजना है जिसके अनुसार सभी कर दाताओं को समान त्याग करना पड़े। इस सम्बन्ध में मुख्य बात ऐसे मानदण्ड को स्थापित करने की है, जिसके अनुसार सापेक्षिक त्याग का अनुमान किया जा सके। हम इस बात को स्वीकार करते कि समान आयों से विभिन्न व्यक्तियों को समान उपयोगिता प्राप्त होती है, किन्तु उन मनोवैज्ञानिक तथ्यों को मालूम करना बहुत कठिन है जो त्याग के विचार में निहित होते हैं तथा कुछ हद तक अंशाकृत प्रणाली का इच्छाधीन होना आवश्यक है। इसके अनिर्विक्त प्रगामी कराधान से सम्पत्तिशाली व्यक्तियों को हानि होती है, जिसे वचन तथा राष्ट्रीय उत्पादन को बाधा पहुँचती है।

कराधान का तृतीय सिद्धान्त—आनुपातिक कर प्रणाली पर कभी-कभी वित्तीय आधार पर ही विचार किया जाता है। ऐसा कहा जाता है कि कराधान का उद्देश्य लोक व्यय के लिए धन प्राप्त करना है। अतः कराधान का साम्या अथवा देय क्षमता से सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। कर का मुख्य उद्देश्य जनता में न्यूनतम कठिनाई तथा असतोष के साथ राज्य के लिए आय प्राप्त करना है। अतः प्रत्येक व्यक्ति से आय के अनुपात में धन दमूल करना चाहिए। धनी व्यक्तियों को उनकी आय के अनुसार गरीबों की तुलना में अधिक कर देने चाहिए। इससे वर्तमान वितरण प्रणाली ज्यों की त्यों रह सकती है। इस सिद्धान्त के अनुसार ऐसी कर प्रणाली अच्छी है जिससे कर दाताओं में न्यूनतम असतोष हो तथा यथेष्ट शेष आय प्राप्त हो सके। यही सिद्धान्त आधुनिक कराधान का आधार है तथा परीक्ष कराधान का बहुत भाग इस पर आधारित है कि कर ऐसे लगाये जायें जिससे विरोध न्यूनतम हो तथा कर दाताओं में असतोष भी कम से कम हो।

कराधान का सामाजिक सिद्धान्त (Social Principle of Taxation) -- वर्तमान वितरण प्रणाली के प्रति बहुत असतोष है। अतः आय की असमानता को कम करने के लिए कराधान का सहारा लिया जाता है। कुछ विचारकों का यह कथन है कि कर प्रणाली ऐसी होनी चाहिए जिससे धन के वितरण में सुधार के साथ साथ आय भी प्राप्त हो जायें। इस उद्देश्य की पूर्ति तभी सम्भव है जब धनिक वर्गों से उनकी आय के अनुपात से अधिक कर लिए जायें। इससे उत्पादन को हानि होगी, वचन कम होगी तथा आर्थिक वृद्धि में बाधा होगी। अतः कराधान की प्रगामी प्रणाली की गति बहुत तीव्र नहीं होनी चाहिए। उसका कारण यह है कि असमानता को करो द्वारा घटाने के उद्देश्य की पूर्ति आय को गरीबों की आर्थिक दशा सुधारने के लिए उपयुक्त रूप में लगाने में भी हो सकती है। व्यवहार में करो की ऊँची दरों का प्रभाव यह होता है कि धनी व्यक्तियों पर गरीबों की तुलना में अधिक कर

लगते हैं तथा कुछ सीमा तक इसका उद्देश्य आय तथा धन की असमानता में कमी करने का भी होता है।

उपभोग नियमन हेतु कराधान (Taxation to Regulate Consumption)—कराधान का समर्थन उपभोग को नियन्त्रित करने के लिए भी किया जाता है। इसका उद्देश्य मादक वस्तुओं के उपभोग में कमी करने का होता है, जिनसे आरोग्यता को हानि पहुँचती है तथा कुशलता घटती है। इसका उद्देश्य आर्थिक तथा वित्तीय न होकर नैतिक होता है। ऐसे करो से आय बहुत प्राप्त होती है। इन करो से सामाजिक कल्याण भी बढ़ता है तथा इनके वसूल करने में व्यय भी बहुत नहीं होता।

आधुनिक समाजों में प्रगामी कराधान का विशेष प्रयोग हो रहा है। राज्य का कर्त्तव्य क्षेत्र बढ़ रहा है जिसके कारण राज्य की आय के लिए आवश्यकता बराबर बढ़ रही है। विस्तृत रूप में प्रगामी कराधान केवल आय के प्रकार पर न होकर धन राशि पर होना चाहिए। आय कर, सम्पत्ति कर तथा उत्तराधिकार कर सर्वोत्तम प्रगामी कर हैं तथा इनमें ही विशेष रूप में वृद्धिमान कर प्रणाली लागू होती है। यह प्रणाली परोक्ष करो में भी लागू हो सकती है। विलासिताओं पर कर की दर आवश्यकताओं की तुलना में अधिक तीव्र हो सकती है। कर दाताओं के लिए बलिदान न्यूनतम रखने के लिए श्रम से प्राप्त आय पर सम्पत्ति से प्राप्त आय की तुलना में कर की दर कम होनी चाहिए। अप्रत्याशित लाभ करो के लिए इसी कारण तर्क दिए जाते हैं। सामरिक लाभ तथा भूमि मूल्य की वृद्धि से अनर्जित आय अप्रत्याशित लाभ के मुख्य उदाहरण है। इस प्रकार के धन की दो विशेषताएँ मुख्य हैं : अनधिकृतता तथा अप्रत्याशितता। अनधिकृतता का अर्थ है कि जिसको यह आय प्राप्त होती है वह व्यक्ति इसका अधिकारी नहीं है। उसने इसे प्राप्त करने के लिए कोई सेवा नहीं की, न कोई प्रयास ही किया। अप्रत्याशितता का अर्थ है आय प्राप्त करने वाले को इस आय की कोई आशा नहीं होती तथा यह अकस्मात् होती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि उत्पादन, उपभोग तथा वितरण के दृष्टिकोण से अनुभव तथा जाच पड़ताल द्वारा ही कराधान में न्याय की प्राप्ति सम्भव है। इस सम्बन्ध में निम्न बातें ध्यान में रखनी चाहिए :

(1) **न्यूनतम छूट सीमा (Minimum Exemption Limit)**—कर से मुक्त आय की एक न्यूनतम सीमा होनी चाहिए, जिससे ऊपर की आय पर ही कर लगने चाहिए। भारत में 1970-71 के बजट में व्यक्तियों के लिए यह सीमा 5,000 रुपये हो गई थी। इससे ऊपर की आय पर ही व्यक्तियों को कर देने होंगे। कुछ राजनीतिज्ञों तथा अर्थशास्त्रियों के मतानुसार प्रत्येक व्यक्ति को कर देने चाहिए जिसमें उनमें नागरिक भावना की जागृति हो सके। साधारणतया अप्रत्यक्ष कराधान में कोई छूट सीमा नहीं होती तथा यहाँ जो सीमा होती है, जैसे विक्री कर में,

यह प्रशासनिक आधार पर होती है। यह किसी निर्वेक्ष न्याय के दृष्टिकोण से नहीं होती।

(2) अप्रत्याशित आय पर कर लगने चाहिए। इन करो से कोई दुःख तथा अन्याय नहीं होता। भेदीय आय (differential yield) पर, जैसे लगान तथा अर्ध लगान, कर लग सकते हैं तथा लगते हैं, जिनसे उत्पादन पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं होते।

(3) आर्थिक समृद्धि को अधिकतम करने के लिए प्रगामी कराधान न्याय संगत है। पूँजी निर्माण को उनके हानिकर प्रभावों से बचाया जा सकता है।

(4) कराधान का उपयोग हानिकर उपयोग को रोकने के लिए भी किया जा सकता है। मादक वस्तुओं पर कर वित्तीय आधार पर ही नहीं, बल्कि जन कल्याण को अधिकतम करने के लिए भी लगाये जाते हैं।

(5) कराधान का उपयोग आय तथा सम्पत्ति के वितरण की स्पष्ट असमानता को कम करने के लिए तथा आर्थिक कल्याण की वृद्धि के लिए किया जाता है।

अठारहवाँ अध्याय सार्वजनिक ऋण (PUBLIC DEBT)

लोक सत्ताएँ ऋण द्वारा भी आय प्राप्त कर सकती हैं तथा करती भी हैं। वे जनता से, बैंको से तथा वित्तीय संस्थानों से ऋण उधार लेती हैं। यह पूँजीगत आय कहलाती है। ऋण भुगतान के लिए जो प्रतिवर्ष व्यवस्था की जाती है वह पूँजीगत व्यय कहलाता है।

सार्वजनिक तथा निजी ऋण—इनमें कई अन्तर होते हैं। प्रथम, राज्य द्वारा लिए गये ऋण की धन राशि समाज के हित में व्यय होती है। यह सार्वजनिक निर्माण कार्यों में लगाई जाती है। निजी ऋणों की धन राशि उन व्यक्तियों के हित में जिन्होंने उधार ली है इस्तेमाल होती है।

दूसरे, ऋणी शासन ऋण के मूल धन का भुगतान कर आय से करता है। जब उधार धन राशि राजकीय उद्यमों में लगाई जाती है उसका भुगतान उद्यमों की आय से किया जाता है, किन्तु यदि उनसे लाभ नहीं होता तब कर आय द्वारा व्याज तथा मूल धन का भुगतान किया जाता है। कर दाता तथा व्याज पाने वाले व्यक्ति अलग हो सकते हैं। यदि ऋण देश के अन्दर ही लिए गए हैं तो जिन व्यक्तियों को व्याज मिलता है वे ही कर भी देते हैं।

तीसरे, लोक ऋणों पर व्याज दर निजी ऋणों की व्याज दर से कम होती है, क्योंकि राज्य की सत्ता बहुत ऊँची होती है, किन्तु वित्तीय संस्थान भी ऐसी ही व्याज दर पर ऋण प्राप्त करते हैं जिस पर राज्य करता है। कुछ संस्थानों की प्रतिभूतियों पर राज्य की गारन्टी होती है।

लोक ऋणों का उद्गम—तुलनात्मक दृष्टि से लोक ऋण आधुनिक आविष्कार हैं। वैस्टेवूल के अनुसार वर्तमान रूप में लोक ऋण की उत्पत्ति पिछली दो शताब्दियों में हुई।¹ शान्ति काल में सम्राट भावी आवश्यकताओं के इस्तेमाल के लिए धन जमा

¹ *Public Finance*, Book V, Chapter II.

करते थे। धीरे धीरे ऋण लेने की प्रथा पैदा हुई। मितव्ययी सम्राट धन जमा करते थे, विन्तु अव्ययी सम्राट ऋण लेते थे।

मध्यकाल में मूदसोरी के विरुद्ध तीव्र भावना थी। सम्राट व्यक्तिगत साख पर अथवा अपनी भूमि बन्धक रख कर चर्चें अथवा विदेशी बैंकों से ऋण उधार लेते थे। धन की वृद्धि तथा शासन के व्यय की वृद्धि के कारण इंग्लैण्ड तथा फ्रान्स में ऋण प्रथा साधारण हो गई। चतुर्थ एडवर्ट ने तथा सोलहवीं शताब्दी में द्यूडर सम्राटों ने बलवृत्त ऋण भी लिए।

इटली में बैंकों का ऋणों के लिए प्रयोग—इटली के नगरों में, विनोपतया 'जिनेवा तथा वेनिस में, ऋणों की बैंकों द्वारा व्यवस्था की गई जो दसी उद्देश्य से स्थापित किये गये थे। वेनिस में सेन्ट जार्ज का बैंक इस प्रणाली का सबसे महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दियों में हार्लैण्ड में बैंकों ने व्यापार तथा लोक ऋण सम्बन्धी कार्य संभाल लिया। दो आगामी शताब्दियों में डचों के वाणिज्यिक तथा वित्तीय तरीके अग्रेजों ने भी अपनाये। फनस्वरूप इंग्लैण्ड में निधि बड (funded) ऋण की स्थापना हुई जो अन्य देशों के लिए भी उदाहरण बन गया।

मध्य कालीन लोक ऋण प्रणाली ने आधुनिक प्रणाली को जन्म दिया। आधुनिक काल में लोक ऋण की वृद्धि बदलती हुई आर्थिक तथा राजनीतिक स्थितियों के कारण हुई। विविध माध्यम के रूप में मुद्रा का स्थान अधिकांश रूप में साख ने लिया। शेयरो तथा ऋण पत्रों ने आधुनिक लोक ऋण प्रणाली की स्थापना में सुविधा प्रदान की। रेलों, बैंकों तथा लोक उपयोगिताओं के लिए ऋणों की व्यवस्था की जा सकती है। ऋण पत्रों में व्यवहार की सुविधाएँ स्टाक एक्सचेंजों द्वारा मिली, जिनके कारण वित्तीय संस्थाओं के मस्थापकों की शक्ति प्रबल हो गई। जब तक स्टाक एक्सचेंजों की स्थापना नहीं हुई तब तक राजकीय ऋण व्यवस्था सुदृढ़ नहीं हुई।

आधुनिक लोक ऋणों की वृद्धि के घटक (Factors)—ऋण पत्र मण्डियों, मुद्रा मण्डियों के गठन के तथा आधुनिक काल में राज्य की वृद्धि हुई लागत के कारण सार्वजनिक ऋणों का महत्त्व बढ़ता गया। प्रतिभूति मण्डियों की व्यवस्था के कारण उधार दी गई पूँजी की वसूली सुविधाजनक हो गई। मुद्रा मण्डियों की व्यवस्था से राजकीय ऋण सम्बन्धी व्यवस्था सुदृढ़ हो गई तथा शासकीय व्यय की वृद्धि के कारण करोड़ों की आय पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं हुई। इसलिए राज्य कार्य संभालने के लिए ऋण प्रथा प्रचलित हो गई।

लोक संस्थानों, कम्पनियों तथा राज्य द्वारा संचालित प्रतिभूतियों के क्रय विप्रेय सम्बन्धी कार्य प्रणाली को स्टाक एक्सचेंजों से बहुत सुविधाएँ मिलीं। सुव्यवस्थित स्टाक मण्डियों के निम्न लाभ होते हैं :

(1) इससे निवेशकों के लिए प्रतिभूतियों की बिक्री सरल हो जाती है तथा उनके मूल्य की निरन्तरता सम्भव हो जाती है। स्टाक मण्डियों में प्रतिभूतियाँ लगातार

व्यवहार में आती रहती हैं। इसलिए निवेशक जब चाहे उन्हें बेच कर अपनी पूँजी वापिस ले सकते हैं तथा उसे अन्य प्रतिभूतियों में लगा सकते हैं। इससे व्यवसाय तथा उद्योगों में लगी हुई पूँजी की तरलता मिलती है। प्रतिभूतियों के मूल्य निरन्तर बने रहते हैं तथा निवेशक हानि से बच सकते हैं।

(2) इसके कारण प्रतिभूतियों के मूल्य उनकी वास्तविक स्थिति के अनुसार तय होते हैं, अर्थात् प्रतिभूतियों का उचित मूल्यांकन उनके निरन्तर क्रय विक्रय द्वारा सम्भव हो जाता है।

(3) स्टॉक मण्डी की व्यवस्था के कारण प्रतिभूतियों के सौदों में सुरक्षा तथा साम्या सम्भव हो जाती है। सदस्यों के व्यवहार का एक मान्यता प्राप्त स्तर बन जाता है तथा व्यापार तथा व्यवसाय के सुदृढ़ ढंग स्थापित हो जाते हैं। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि इनमें सट्टे के कार्य को रोका जाय तथा नैतिक मान स्थापित किये जायें जिनसे इनमें व्यवहारों के ढंग सुदृढ़ हो सकें। इसलिए स्टॉक मण्डियों के नियमन के लिए कानून बनाकर उनके दोषों को रोकने का प्रयास किया जाता है।

(4) स्टॉक एक्सचेंजों द्वारा बचे हुए धन का अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिए लाभकारी स्रोतों में निवेशन सम्भव होता है। इनके द्वारा उद्योगों में पर्याप्त मात्रा में धन प्राप्त होता है जिससे पूँजी का प्रवाह लाभकारी स्तर से नीचे जाने से रक जाता है, क्योंकि उस स्थिति से पहले ही वहाँ से पूँजी दूसरे उद्योगों में जाने लगती है।

ऋण की व्यवस्था पर मुद्रा मण्डी का प्रभाव केन्द्रीय बैंक द्वारा नियन्त्रित तथा सुदृढ़ रूप में पड़ा है।

निवेशक सरकारी तथा सस्थागत प्रतिभूतियों का क्रय विक्रय सरलता से कर सकते हैं। लोक ऋण का प्रबन्ध केन्द्रीय बैंक द्वारा होता है जो सरकारी प्रतिभूतियों की कीमतों का उचित समर्थन भी करता है। उदाहरण के लिए 14 नवम्बर 1951 तक रिजर्व बैंक सरकारी प्रतिभूतियों को खरीदता था जिससे उनकी कीमतें स्थिर रहती थी। इसका फल यह हुआ कि लोक ऋण का मुद्राकरण हुआ जिसके फलस्वरूप मुद्रा स्फीति प्रारम्भ हुई। इसको रोकने के लिए 15 नवम्बर 1951 से आपत्तकालीन अवस्था को छोड़ खुले बाजार में सरकारी प्रतिभूतियों की रिजर्व बैंक द्वारा खरीद रोक दी गई। साथ-साथ बैंक दर 3 प्रतिशत से बढ़ाकर 3½ प्रतिशत कर दी गई। इसमें परिवर्तन होते रहे हैं तथा जनवरी 1971 में बैंक दर 6% कर दी गई।

बढ़ती हुई राजकीय लागत का प्रभाव—आधुनिक मुद्रा मण्डी के कारण लगातार राजकीय ऋण प्रसार के लिए पर्याप्त कार्यप्रणाली बनती है। किन्तु ऋण प्रसार के लिए प्रेरक शक्ति चाहिए जिसे मुद्रा मण्डी प्रदान नहीं करती। ऋण के लिए राज्य की माँग होनी चाहिए तथा पर्याप्त मात्रा में उसकी पूर्ति के लिए मुद्रा उपलब्ध होनी चाहिए। आधुनिक काल में ऋण की माँग इसलिए बढ़ रही है कि

शासन का व्यय बढ़ रहा है। लोक निर्माण कार्यों तथा लोक उद्योगों के लिए पूंजी आवश्यक है। कराधान द्वारा इस माँग की पूर्ति सम्भव नहीं है। इसलिए राज्य की ऋणों के लिए माँग निरन्तर बढ़ रही है।

राज्य की साख का प्रभाव—वित्त का प्रदाय उधार लेने वाली सरकार की साख तथा उसके मुनाफे पर भी निर्भर है। इस सम्बन्ध में वेस्टेवेल का कहना है कि प्रतिनिधिक शासन के विकास तथा प्रशासन पर उसके नियन्त्रण द्वारा ऋण प्राप्त होने में बहुत सहायता मिली है। वास्तव में आधुनिक ऋण प्रणाली साख प्रणाली का परिणाम है। सार्वजनिक व्यय की वृद्धि के कारण तथा शासनिक साख में विश्वास होने से इसका विकास सम्भव हुआ है।

सार्वजनिक साख तथा सार्वजनिक ऋण—सार्वजनिक साख सामान्य साख का ही एक रूप है तथा इसका नियमन भी उन्हीं मुख्य सिद्धान्तों पर होना चाहिए। सही वित्त के हित में यह आवश्यक है कि शासन को भी ऋण लेने में उन्हीं सिद्धान्तों का पालन करना चाहिए जो एक व्यक्ति के लिए आवश्यक है। राष्ट्रीय ऋण में धन उत्पन्न नहीं होता। इससे धन के उत्पादन की प्रोत्साहन मिलता है। यदि ऋण ऐसे कार्य में इस्तेमाल होता है जिससे अधिक वृद्धि नहीं होती तब ऋण लेने वाला व्यक्ति हो अथवा शासन, उससे भौतिक शक्ति की हानि होती है। ऐसे ऋण से भावी आम तब तक घटती है जब तक ऋण चुका नहीं जाता।

इसके अतिरिक्त शासन तथा व्यक्ति की ऋण लेने की सामर्थ्य एक से ही सिद्धान्तों पर निर्धारित है। जैसे एक व्यक्ति अपनी प्रयोग्य (disposable) आय के आधार पर ऋण उधार ले सकता है, वैसे ही शासन की ऋण उधार लेने की क्षमता कर आय पर निर्भर रहती है। इसके साथ-साथ एक व्यक्ति की भाँति राज्य की साख भी इस बात पर निर्भर है कि व्याज बितना देना होता है। जिस व्यक्ति की साख कम है उसे लंबी व्याज दर पर धन उधार मिलता है। इसी प्रकार राज्य के साथ भी यही बात लागू होती है।

सार्वजनिक अर्थ-व्यवस्था के कुछ विशेष लक्षण हैं जो सार्वजनिक ऋण को एक विशेष महत्त्व देने हैं। शासन की आय जनता से करों द्वारा प्राप्त होती है। राज्य अनिवार्य रूप से जनता से कर वसूल कर सकता है, जिससे राज्य को धन प्राप्त हो जाये। इसलिए राज्य को धन उस समय उधार लेना चाहिए जब भारी कराधान सम्भव नहीं हो। व्यक्ति की आय का खर्च श्रम अथवा सम्पत्ति है।

सार्वजनिक अर्थ-व्यवस्था की एक दूसरी विशेषता यह है कि उसके व्यय में अकस्मात् कमी सम्भव नहीं होती। आय घटने में प्रारम्भिक खर्च कम नहीं हो सकते। इसलिए कर आय कम होने पर राज्य को ऋण उधार लेने होते हैं। किन्तु एक व्यक्ति तथा व्यवसाय आय एक सीमा से कम होने पर अपना खर्च घटा देता है।

ऋणी राष्ट्र की कानूनी स्थिति भी सार्वजनिक अर्थ-व्यवस्था का एक विशेष

लक्षण है। वह यह है कि राज्य वैधानिक प्रक्रिया द्वारा ऋण अस्वीकार कर सकता है। सामान्यतया ऐसा नहीं होता, क्योंकि यदि ऋण दाता विदेशी नागरिक है तो इसके परिणाम कड़े तथा भीषण हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त ऐसे राज्य की साख गिर जाती है।

सार्वजनिक ऋण पर पहले लेखकों के विचार

ह्यूम, एडम स्मिथ, हैमिल्टन, चामर्स, रिकार्डों आदि अर्थशास्त्रियों ने लोक ऋण की निन्दा की है। ह्यूम तथा एडम स्मिथ ने कहा कि लगातार ऋण उधार लेते रहने से इंग्लैण्ड दिवालिया हो जायेगा, किन्तु यह बात सम्भव नहीं हुई।

हैमिल्टन के राज्य द्वारा ऋण उधार लेने के निम्न विचार हैं : यदि युद्ध काल में व्यय आगामी शान्ति काल की बचत में अधिक होता है तथा प्रत्येक युद्ध काल में आगामी शान्ति काल की बचत की तुलना में अधिक ऋण लिया जाता है तो इसका अन्तिम परिणाम यह होगा कि ऋण इतना बढ़ जायेगा कि राष्ट्र उसका भार सहन नहीं कर सकेगा। हैमिल्टन के विचार में दो कारणों से कर ऋण में अधिक उपयुक्त हैं : प्रथम, भारी कराधान से अविवेकी (imprudent) व्यय रुक जाता है जिसको ऋण द्वारा प्रोत्साहन मिलता है। दूसरे, कराधान आय से प्राप्त होता है, किन्तु ऋण का घन बचत से मिलता है, अर्थात् जनता के पास बचत कम रह जाती है।

चामर्स के अनुसार ऋण प्रणाली श्रमिकों के लिए असुविधाजनक तथा कष्टकर है। कर का भार सारे समाज पर रहता है, किन्तु ऋण मचारी (circulating) पूँजी के उस भाग से प्राप्त होता है जो श्रमिकों को पारिश्रमिक के रूप में जाता है। इसलिए श्रम का पारिश्रमिक घटता है तथा पूँजीपतियों को लाभ होता है। उनके अनुसार ऋण का ऋणी देश पर दुहरा भार होता है। प्रथम, उस देश पर ऋण लेते समय भार पड़ता है जो व्याज के रूप में ऋण की अदायगी तक रहता है। दूसरे, जब ऋण का भुगतान होता है तब भी उस देश पर भार पड़ता है, क्योंकि जो सामान बाहर जाता है उससे देश की आर्थिक उन्नति हो सकती थी। मिल के अनुसार भी ऋण का भार श्रमिकों ही पर पड़ता है, क्योंकि यह पूँजी के उस भाग से नहीं आ सकता जो मशीनों आदि में लगा रहता है।

इन विचारों की आलोचना—ऋण सम्बन्धी उपर्युक्त विचार उपयुक्त नहीं हैं। ऋण का घन चालू पूँजी से आता है जो अन्यथा स्थिर पूँजी, कच्चा माल तथा श्रमिकों के भुगतान में इस्तेमाल होता। इसलिए यह कहना उचित नहीं है कि ऋण का भार श्रमिकों पर ही पड़ता है। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त विचारों में ऋण के इस्तेमाल के प्रभाव को ध्यान में नहीं रखा गया। उधार लिए घन का इस्तेमाल आर्थिक उन्नति के लिए हो सकता है, जिसके फलस्वरूप वेतन तथा रोजगार की वृद्धि हाँती है, जिससे श्रमिकों को लाभ होता है।

ऋण का असाधारण व्यय के लिए उपभोग—कुछ लेखकों का कहना है कि राज्य को ऋण उधार असाधारण व्यय की पूर्ति के लिए लेना चाहिए। निःसन्देह

राज्य का व्यय प्रतिवर्ष घटता बढ़ता रहता है और यदि उराको आकस्मिक वृद्धि की पूर्ति कराधान द्वारा ही की गई तो इनका भार बहुत हो जायेगा, किन्तु असाधारण व्यय आवृत्ति भी हो सकता है। सब नई माँगों को असाधारण नहीं कहा जा सकता। राज्य की सम्पन्नता के लिए यह आवश्यक है कि कर तथा कर निषेध आय मिलकर पर्याप्त होनी चाहिए। अन्त में ऋण की अदायगी के लिए भी करों की आय पर्याप्त होनी चाहिए। यदि आय तथा व्यय में दीर्घ काल में सन्तुलन रहना आवश्यक है तो साधारणतया उनमें प्रत्येक वर्ष में भी सन्तुलन रहना आवश्यक है। हाँ, बिशेष परिस्थितियों की बात ही दूसरी है जबकि बजट में घाटा रह सकता है, जिसकी पूर्ति ऋण लेकर की जा सकती है। कराधान में आकस्मिक परिवर्तनों से बहुत कष्ट होता है। इससे बचने के लिए आय के माधन लोचदार होने चाहिए।

उत्पादन के लिए लागत की पूर्ति के लिए ऋण—उत्पादन के लिए लागत की पूर्ति के लिए ऋण लिए जा सकते हैं। उद्यमों के प्रारम्भ करने के लिए पूँजी के लिए ऋण लिए जाने चाहिए। ऐसे कार्यों के लिए जिनसे लाभ न हो राज्य को ऋण नहीं लेने चाहिए। ऐसे व्यय की पूर्ति जिससे आय प्राप्त न हो साधारणतया करों की वार्षिक आय से ही होनी चाहिए। शिक्षा, समाज सुरक्षा, राष्ट्रीय मस्कृति, स्पाई तथा जन साधारण के कल्याण के लिए कार्य बहुत वाछनीय है। इनकी पूर्ति ऋणों से नहीं होनी चाहिए। शिक्षा के प्रसार में तथा धर्मिकों के गृह निर्माण कार्यों के लिए ऋण से जनता को निपुणता बढ़ती है, जिससे राष्ट्रीय आय की वृद्धि होती है। किन्तु इससे होने वाली राष्ट्रीय आय की वृद्धि को नापा नहीं जा सकता, किन्तु ऋण के लिए धन प्राप्त करने का सर्व तो निश्चित रूप में भाग्य है। इससे समाज के साधनों पर वास्तविक भार है तथा विवेक का यह तर्कजग है कि ऋण केवल ऐसे व्यय की पूर्ति के लिए लेने चाहिए जो आर्थिक दृष्टि से उपयुक्त हो।

ऋण तथा कर—सार्वजनिक ऋणों के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठता है कि विन परिस्थितियों में व्यय की पूर्ति के लिए ऋण लेने चाहिए तथा कब व्यय की पूर्ति करों की आय से होनी चाहिए। जैसा ऊपर कहा जा चुका है सामान्यतया चालू व्यय की पूर्ति करों की आय से होनी चाहिए, क्योंकि करों की वापसी नहीं होती। ऋणों के सम्बन्ध में व्याज तथा मूल धन की अदायगी चाहिए। इसलिए आर्थिक तथा उत्पादन सम्बन्धी व्यय के लिए ऋण लिए जाने चाहिए तथा अनुत्पादक व्यय की पूर्ति के लिए करों द्वारा धन प्राप्त करना चाहिए।

कराधान का भार चालू आय पर होता है, किन्तु ऋणों के कारण भविष्य में व्यय के लिए धन कम रहता है। ऋण के लिए धन बचत से प्राप्त होता है। यदि वर्षों तक लगातार भारी ऋण लिए जायें तो आय इतनी कम हो जायेगी कि या तो खर्च में कमी करनी होगी, अन्यथा ऐसी भारी घातों पर ऋण लेने होंगे कि देश की सम्पन्नता की सीमा का उल्लंघन हो जायगा।

ऋण के कारण व्यक्तिगत तथा सस्थागत धन का हस्तान्तरण राज्य को होता

है। ऋण का प्रभाव धन के उत्पादन, उपभोग तथा वितरण पर होता है। करो के भी यही प्रभाव होते हैं। करो के प्रभाव का अनुमान लगाने में राज्य की व्यय नीति पर विचार करना आवश्यक है, क्योंकि राज्य करो द्वारा प्राप्त धन का कैसे व्यय करता है यह महत्वपूर्ण है। ऐसे ही ऋणों के प्रभावों का अनुमान करने के लिए यह देखना चाहिए कि उन धन का उपयोग किन कार्यों के लिए किया जाता है। ऋण उद्योगों के लिए उपयुक्त समझे जायेंगे। अतः ऋण तब लेने चाहिए जब राज्य सार्वजनिक उद्योगों के निर्माण अथवा विकास के लिए धन चाहता है, जैसी भारत की पञ्चवर्षीय योजनाओं में व्यवस्था की गई है।

अनुत्पादक (unproductive) ऋणों का प्रभाव—अनुत्पादक ऋणों से पूँजी कम होती है तथा धन की हानि होती है। युद्ध के लिए वित्त प्राप्त करने का यही फल होता है। इन ऋणों का धन अनुत्पादक कार्यों के लिए वस्तुएँ तथा सेवाओं के क्रय के लिए इस्तेमाल होता है। इसका उपयोग विध्वसात्मक कार्यों के लिए भी किया जाता है। यह परिणाम ऋण का नहीं बल्कि उन परिस्थितियों का है जिनके कारण ऋण लिया जाता है। यह फल अतिरिक्त व्यय का है। किस श्रोत अथवा साधन से उसकी पूर्ति होती है उसका यह फल नहीं है। किन्तु व्यय की पूर्ति करो से न होकर ऋण लेकर की जाती है इसका फल देश की आर्थिक स्थिति पर पड़ता है।

सार्वजनिक ऋण के आर्थिक स्थिति पर प्रभाव

(1) उत्पादन के लिए निजी क्षेत्र में धन का कम होना—ऋण का एक तो यह प्रभाव होता है कि निजी क्षेत्र के लिए धन कम उपलब्ध होता है, क्योंकि व्यक्ति तथा बैंक आदि अन्य वित्तीय कारपोरेशन अपना धन सरकारी वीन्डो में लगा देते हैं। उसका फल यह होता है कि निजी क्षेत्र के उद्योगों के लिए धन कम हो जाता है। इसके विपरीत करो का धन वार्षिक आय से आता है जिसका फल यह होता है कि कर दाता चाबू उपभोग में कमी कर देते हैं। किन्तु ऋण से बचत को प्रोत्साहन मिलता है तथा इससे कुछ सीमा तक उपभोग सम्बन्धी व्यय में कमी होती है। इसके अलावा, भारी कराधान से भी पूँजी के संचय में बाधा आती है, क्योंकि प्रतिभूतियों को बेच कर कर दिये जाते हैं। इसलिए इस सम्बन्ध में आय तथा पूँजी के अन्तर को बड़ा चढ़ा कर नहीं कहना चाहिए। अनुत्पादक कार्यों के लिए ऋण के भी कुछ पूरक गुण होते हैं।

(2) दूसरे, ऋण एच्छिक होते हैं, अर्थात् ऋण देने वाले अपनी इच्छा से वीन्डो खरीदते हैं, किन्तु कर अनिवार्य होते हैं तथा इनसे असन्तोष होता है। ऋण के लिए भविष्य में व्याज तथा मूल धन की अदायगी के लिए व्यवस्था आवश्यक है, जिसके लिए भविष्य में व्यय अनिवार्य हो जाता है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि ऋण सदा एच्छिक नहीं होते। वे अनिवार्य भी होते हैं। युद्ध काल में प्रायः ऋण अनिवार्य रूप से ही लिए जाते हैं।

(3) तीसरे, भारी कराधान के भार का व्यापकित वितरण सरल नहीं होता। भारी करों के कारण कुछ वर्गों पर भार बहुत अधिक होता है। ऋणों का व्यय दीर्घकालीन होता है। इसलिए उसके लिए व्यवस्था आवश्यक है। इस व्यय के भार का उपयुक्त वितरण अधिक सरल है क्योंकि इसके लिए समय लम्बा होता है। इससे विपरीत कराधान में आकस्मिक तथा भारी परिवर्तन दोषपूर्ण होते हैं। उनसे बहुत असुविधा होती है। कर के सम्पात को बँटाने के लिए लम्बा समय चाहिए। इसलिए गड़बड़ी से बचने के लिए कर लम्बे समय तक एक निश्चित स्तर पर रहने चाहिए जिससे औसत लागत की पूर्ति हो सके। ऋणों का भार लम्बे समय तक रहता है, किन्तु करों का भार तत्कालीन होता है। इसलिए ऋणों तथा करों की व्यवस्था करने में इस पहलु पर ध्यान रखना चाहिए।

(4) चौथे, कर के कारण अनावश्यक तथा प्रदर्शनीय व्यय पर रोकथाम लगती है। इसलिए वर्तमान को भविष्य की तुलना में सरल बनाने के लिए ऋण द्वारा वित्त प्राप्त करना बुद्धिमानी नहीं कही जा सकती। यह आपत्ति विशेषकर युद्ध के लिए ऋणों के सम्बन्ध में लागू होती है। इसीलिए लिडस्टन ने ऋणों की निन्दा की थी। युद्ध के लिए करों द्वारा धन प्राप्त करने के प्रयास से युद्ध पर कुछ रोकथाम सम्भव हो सकेगी, क्योंकि जनता भारी करों का विरोध करेगी तथा शासन की सामरिक नीति की आलोचना होगी, किन्तु ऐसी बात गणतन्त्र में ही सम्भव है, तानाशाही तथा कम्युनिस्ट शासन में नहीं। शासन के दृष्टिकोण से ऋण को तरजीह दी जानी चाहिए, क्योंकि इसे धनी वर्ग के व्यक्ति पसन्द करेंगे। इसके साथ साथ भारी व्यय के लिए अन्य वर्ग के व्यक्तियों पर भी तत्काल अधिक कर नहीं लगेंगे। किन्तु यदि भारी कर लगाने आवश्यक है तो व्यय में कमी करनी ही होगी। दीर्घकालीन दृष्टि से ऋण द्वारा युद्ध के लिए वित्त प्राप्त करना सन्देहास्पद है, क्योंकि इसके लिए भविष्य में भारी कर लगाने होंगे।

इसलिए अमाधारण व्यय की पूर्ति के लिए कुछ बातों को देखते हुए कराधान का उपयोग अधिक उपयुक्त है। कुछ अन्य बातों को देखते हुए ऋण का उपयोग मामूली सीमा तक आवश्यक है, किन्तु वास्तव में राज्य के लिए कोई स्वतन्त्र रूप से विकल्प नहीं रहता। जब व्यय एक सीमा से ऊपर हो जाता है, ऋण लेना उचित तथा आवश्यक हो जाता है। पूर्ण कर प्रणाली तथा प्रत्येक कर की उत्पादकता की सीमा होती है। करों की प्राप्ति के साथ भी घटती हुई उपयोगिता का नियम लागू होता है तथा ऋण का सहारा लेना आवश्यक हो जाता है। कुछ लेखकों के अनुसार सामान्यतया राज्य राष्ट्रीय आय का अधिक से अधिक 15 प्रतिशत भाग ले सकता है, यद्यपि सकट काल में सीमा बढ सकती है।²

कर तथा ऋण दोनों ही का उपयोग सतुलित रूप में होना चाहिए। अच्छी

कर प्रणाली में विशेष लोच होनी चाहिए तथा पहले आय करो द्वारा ही प्राप्त होनी चाहिए ।

व्यय के लिए धन बरों से प्राप्त किया जाये अथवा ऋण द्वारा यह इस पर निर्भर है कि असाधारण व्यय कितने समय तक चलता है । यदि किसी वर्ष व्यय की माँग आकस्मिक रूप से बढ़ जाय, तब कर रचना को ज्यों का त्यों छोड़ कर ऋण द्वारा वित्त की व्यवस्था होनी चाहिए, किन्तु जब बढ़ा हुआ व्यय कुछ वर्षों तक चले तब कराधान में फेर बदल करना उपयुक्त होगा ।

विकासात्मक वित्त में क्यों तथा ऋणों का कर्तव्य

अब हम विकासात्मक वित्त में क्यों तथा ऋणों के कर्तव्य पर विचार करेंगे । सामान्यतया कराधान का प्रयोग आयगत बजट में सन्तुलन लाने के लिए होना चाहिए । पूँजीगत बजट में सन्तुलन ऋण द्वारा किया जाना चाहिए । इनके भी कुछ अपवाद हैं । चानू व्यय तथा पूँजीगत व्यय में सीमांकन करना हर समय सम्भव नहीं होता । कभी कभी पूँजीगत व्यय की पूर्ति कराधान द्वारा बजट में बचत करने से सम्भव होती है, जिससे आर्थिक स्थायित्व को बढ़ावा मिलता है । आयगत व्यय का घाटा भी ऋणों द्वारा पूरा किया जा सकता है । आर्थिक स्थायित्व में इन दोनों साधनों का एक निश्चित कर्तव्य है ।

बजट की बचत का सार्वजनिक निवेश के लिए धन प्राप्त करने के लिए उपयोग हो सकता है । भारत को पंचवर्षीय योजनाओं में बजट की बचत द्वारा धन प्राप्त करने की विशेष महत्त्व दिया गया है । दूसरे देशों में भी ऐसा होता है । यदि आर्थिक पुनर्गठन के लिए करो द्वारा बजट को इस्तेमाल न किया जाता तो विभिन्न देशों की अर्थ-व्यवस्था को भारी क्षति होती । बजट में बचत के कारण निवेश तथा उपभोग व्यय में बहुत कमी की गई । आयगत बजट में उपयुक्त मात्रा में बचत द्वारा मुद्रा स्फीति की स्थिति को रोका गया ।

आय तथा पूँजीगत खाते में अन्तर हमेशा स्पष्ट नहीं होता । पूँजीगत खाते का उपयोग सदा वित्तीय दृष्टि से उपयोगी योजनाओं तक ही सीमित नहीं रहता । विकासात्मक व्यय के कार्यक्रमों में, शिक्षा, चिकित्सा आदि सामाजिक सेवाओं पर व्यय भी सम्मिलित होता है । यह व्यय पूँजीगत बजट में शामिल होता है । इसमें शामिल आर्थिक विकास सम्बन्धी प्रोग्राम भी वित्तीय दृष्टि से सही रूप में उत्पादक नहीं होते । निश्चित ही वे बहुत ही आवश्यक होते हैं । ऐसे कार्यक्रमों के लिए आंशिक रूप में कराधान द्वारा अवश्य वित्त प्राप्त करना चाहिए ।

कराधान द्वारा पूँजीगत व्यय के विरुद्ध एक यह तर्क दिया जाता है कि विकासात्मक कार्यक्रम भावी पीढ़ी के हित में होते हैं । उनकी पूरी लागत की पूर्ति क्यों द्वारा करने से भार वर्तमान पीढ़ी पर पड़ेगा, यह उपयुक्त नहीं है । विकासात्मक कार्यक्रमों के लिए साधनों की आवश्यकता तुरन्त होती है । इससे समाज के

चालू उपयोग के लिए उपलब्ध धन कम हो जाता है। कराधान तथा ऋण के सम्बन्ध में प्रश्न वर्तमान तथा भविष्य में भार के वितरण का नहीं है। प्रश्न यह है कि जब साधन वर्तमान काल में निकाम कार्यों के लिए निवेश कार्यक्रमों की लागत के लिए उपलब्ध करने हैं तो उनके प्राप्त करने का उपयुक्त साधन कराधान है अथवा ऋण अथवा इन दोनों का मिश्रण। वर्तमान में इस भार को सारे समाज को बरदाश्त करना है। ऋण के विरुद्ध करों का प्रश्न समाज में केवल निवेश कार्यक्रम के भार के वितरण से ही सम्बन्ध रखता है।

इस प्रकार विकासात्मक कार्यक्रम के लिए वित्त करों तथा ऋण दोनों ही साधनों से प्राप्त हो सकता है। ऋणों का विकास कार्यक्रम में निस्संदेह एक महत्त्वपूर्ण स्थान है, किन्तु इस कार्यक्रम के लिए धन बजट में बचत द्वारा भी प्राप्त करना उपयुक्त होगा। इससे समाज के चालू उपभोग के लिए ऋण की तुलना में अधिक वास्तविक भार नहीं होगा।³

मन्दी काल में ऋण—कभी-कभी वर्तमान तथा भविष्य में आय के वितरण में परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है। लोग बहुत कम व्यय करते हैं तथा धन बचाते हैं। मन्दी काल में ऐसा होता है। उपभोग कम करने से कीमतेँ और गिरती हैं, जिसके फलस्वरूप बेरोजगारी बढ़ती है। ऐसी स्थिति में आय का भाग भविष्य में वर्तमान में ऋणों द्वारा लाया जा सकता है। राज्य ऋणों के धन को अनेक कार्यों में व्यय करता है। इससे समाज में श्रमिकों के पास वेतन के रूप में आय पहुँचती है जिसका व्यय होता है। इससे वस्तुओं की माँग बढ़ती है तथा अर्थ-व्यवस्था में कुछ तेजी आती है। जिससे चलन में मुद्रा के प्रदाय में वृद्धि होती है। इससे उत्पादन प्रक्रिया को प्रोत्साहन मिलता है तथा अर्थ-व्यवस्था मन्दी से समुत्थान (recovery) की ओर उठती है।

सार्वजनिक ऋणों के प्रभाव—जब राज्य ऋण लेता है तब जनता व्यय में कमी नहीं करती, बल्कि जो व्यक्ति बाण्डों को खरीदते हैं वे बचे हुए धन का प्रयोग करते हैं। कुछ लोग अधिक धन बचा कर ऋण पत्र खरीदते हैं। उधार लिए हुए धन के व्यय से जनता को लाभ पहुँचता है। व्यय उत्पादक होने से राष्ट्रीय लाभांश की वृद्धि होती है। इससे जनता की आर्थिक समृद्धि बढ़ती है। अनुत्पादक व्यय भी लाभदायक होता है। इससे जनता की कुशलता बढ़ती है। गरीब वर्ग के व्यक्तियों के गृह निर्माण कर्मों तथा शिक्षा आदि पर व्यय का यही प्रभाव होता है। ऐसे व्यय के लिए वित्त कराधान द्वारा प्राप्त किया जाता है। कराधान तथा ऋणों के धन के व्यय के प्रभाव समान होते हैं। कर धन शिक्षकों के वेतन पर खर्च हो सकता है तथा ऋण के

3 For a detailed discussion, read Chapter VIII, Vol. I, Report of the Taxation Enquiry Commission, 1953-54.

धन का व्यय विद्यालयों के भवन निर्माण पर व्यय हो सकता है। कुछ स्थितियों में अन्तर स्पष्ट होता है। उधार लिए हुए धन का उपयोग पूँजीगत व्यय के लिए होता है, किन्तु करो से प्राप्त धन का उपयोग चालु अथवा आयगत व्यय के लिए होता है।

उपभोग पर प्रभाव—लोक ऋणों के कारण जनता के उपभोग के प्रतिरूपों में परिवर्तन होते हैं। वर्तमान व्यय में कमी करके आय का ऋण पत्र खरीद कर उपयोग किया जाता है, जिससे आय का कुछ भाग वर्तमान में व्यय न होकर भविष्य के लिए जमा हो जाता है। भारत में पञ्चवर्षीय योजनाओं के लिए छोटी बचतों द्वारा प्राप्त धन इसी प्रकार का है। राष्ट्रीय योजना सर्टीफिकेटों में सगे धन से वर्तमान व्यय में कमी होती है। यदि लोग वर्तमान व्यय ज्यों की त्यों रखते हैं तब सरकारी ऋण पत्र बचत से खरीदे जाते हैं। ऐसी स्थिति में निजी क्षेत्र में निवेश पर कोई प्रभाव नहीं होता।

उत्पादन पर प्रभाव—जब उद्योगों में धन निकाल कर अथवा उद्यमों के हिस्से तथा डिबेंचरों को बेच कर सरकारी ऋण पत्र खरीदे जाने हैं इसमें निजी निवेश पर हानिकर प्रभाव पड़ता है। निवेश पर इसका नेट प्रभाव इस बात पर निर्भर होगा कि सरकार इस धन का कैसे उपयोग करती है। सरकार इस धन से लोक क्षेत्र में उद्योग खोल सकती है अथवा इस धन को अनुत्पादक कार्यों में लगा सकती है। पहली स्थिति में उत्पादन के लिए निवेश में कमी नहीं आती। सरकारी ऋण पत्रों के खरीदने के लिए बेकार पड़े धन का उपयोग हो सकता है अथवा यह धन बैंको से निकाला जा सकता है। पहली स्थिति में निजी निवेश पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, किन्तु बैंको से निकाले गये धन का प्रभाव निजी क्षेत्र पर प्रतिकूल पड़ता है, क्योंकि बैंक इस धन को उद्योगों के लिए उधार देते जिसमें कमी आ सकती है।

बैंको के ऋण लोचदार होते हैं बैंक अपने शेष धन को निजी क्षेत्र में उधार देने के लिए इस्तेमाल कर सकते हैं। सरकार ऋणों के धन को ठेकेदारों से माल खरीदने तथा उन्हें मजदूरों की मजदूरी देने के लिए इस्तेमाल करेगी। इससे त्रय शक्ति निर्मुक्त होगी। बैंको में अधिक धन जमा होगा जो निजी उद्योगों में लगाया जा सकता है। बैंको की ऋण उत्पन्न करने की शक्ति उनके साधनों तथा केन्द्रीय बैंक की नीति पर निर्भर रहती है। केन्द्रीय बैंक जब धन उधार देने की प्रोत्साहन देता है तब साख का प्रसार होता है यह तदर्थ (ad hoc) प्रतिभूतियों के आधार पर भी साख का प्रसार कर सकता है। ऐसी स्थिति में सरकारी ऋण से निजी क्षेत्र में निवेश में कमी नहीं आती। इसके लिए दो बातें आवश्यक हैं। बाजार में मुद्रा पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो तथा सरकार उधार लिए ऋण को उत्पादक कार्यों में इस्तेमाल करे।

जब सरकार उधार लिए धन का उपयोग अनुत्पादक कार्यों के लिए करेगी, तब इस पर ब्याज तथा मूल धन की अदायगी के लिए धन भविष्य में करो से प्राप्त

किया जायेगा। जो व्यक्ति व्याज प्राप्त करते हैं वे ही कर भी देते हैं। अनुत्पादक ऋणों से उपभोग में कमी आती है, किन्तु सब अनुत्पादक ऋणों का यह प्रभाव नहीं होता। जो धन कल्याणकारी योजनाओं में व्यय होता है उससे उत्पादन की निपुणता बढ़ती है। इससे राज्य की कर आय बढ़ती है। यदि ऋण उत्पादक कार्यों में इस्तेमाल होते हैं तब राष्ट्रीय लाभांश की वृद्धि होती है जिससे उस कोष की वृद्धि होती है जिससे ऋण पर व्याज का भुगतान हो सकता है। अतः जिन ऋणों का धन उत्पादक कार्यों में लगता है उसमें भविष्य में उपभोग तथा उत्पादन की वृद्धि होती है।

वितरण जगता में राष्ट्रीय आय के बटवारे को कहते हैं। किन्तु सिद्धान्तों पर राष्ट्रीय आय का बटवारा उत्पादन के विभिन्न घटकों में होता है यह वितरण के अध्ययन का विषय है। इसके अतिरिक्त वर्तमान तथा भविष्य में राष्ट्रीय आय अथवा साधनों का बटवारा कैसे होता है यह भी वितरण के अन्तर्गत आता है। ऋण तथा कराधान दोनों ही का वितरण पर प्रभाव पड़ता है। शासकीय व्यय पिछड़े वर्गों तथा पिछड़े उद्योगों की उन्नति पर होता है, जिससे जन साधारण के जीवन स्तरों की उन्नति होती है।

किस प्रकार राज्य की आय प्राप्त होती है तथा कैसे उसका व्यय होता है इन दोनों बातों का धन तथा आय के वितरण पर प्रभाव पड़ता है। प्रगामी करो द्वारा प्राप्त धन से वितरण प्रणाली में सुधार होता है, क्योंकि करो का भार ज़ंबी वामी पर पड़ता है। ऋण द्वारा प्राप्त धन उत्पादक तथा अनुत्पादक कार्यों पर व्यय होता है। यह छोटे छोटे उद्योगों की उन्नति पर तथा जन कल्याण सम्बन्धी बातों पर व्यय होता है। ऋण पत्रधारियों की आय पर कर लगते हैं, जिनसे व्याज तथा मूल धन की अदायगी होती है।

प्रो० पीगू के अनुसार राज्य की आय का बड़ा भाग कराधान द्वारा धनी व्यक्तियों से प्राप्त होता है। इससे वितरण में उन्नति होती है। ऋण का प्रभाव कराधान के भार को आगामी वर्षों में फैलाने का है। कराधान का प्रभाव ऋणों की तुलना में वितरण के लिए अधिक लाभदायक है।

निजी क्षेत्र पर प्रभाव—मिली जुली अर्थ-व्यवस्था में लोक तथा निजी उद्यम साथ-साथ चलते हैं। राज्य ऋण द्वारा प्राप्त धन निजी क्षेत्र में उत्पादित वस्तुओं के खरीदने में व्यय करता है। इसके प्रभाव निजी उद्यम पर अनुकूल होने हैं। लोक व्यय से वस्तुओं की माँग बढ़ती है। जनता की क्रय शक्ति बढ़ने के कारण मुद्रा चलन में आती है। व्यय के लिए बित्त जब कराधान द्वारा प्राप्त होता है तब चालू उपभोग कम हो जाता है, क्योंकि आय का कुछ भाग करो में राज्य के पास चला जाता है, किन्तु जब यह धन ऋणों द्वारा प्राप्त होता है, तब बेकार पड़ी वस्तु का उपयोग होता है। इससे चालू उपभोग में कमी नहीं आती। राज्य इस धन का

उपयोग निजी क्षेत्र से सामग्री खरीदने में लगाता है। इसलिए निजी क्षेत्र में माल की माँग बढ़ती है।

लोक व्यय तथा उत्पादन लागत—उत्पादन लागत कच्चे माल तथा उत्पादन में काम आने वाले घटकों की कीमतों पर निर्भर रहती है। राज्य कच्चे माल की आपूर्ति सस्ते दामों पर कर सकता है। राज्य करों से प्राप्त वित्त को निजी उद्योग को आर्थिक सहायता देने में अथवा औद्योगिक अनुसंधान पर इस्तेमाल कर सकता है। इन प्रक्रियाओं से उत्पादन लागत घटती है।

मजदूरी पर प्रभाव—उधार लिए गए धन से श्रम तथा पूँजी की माँग बढ़ती है। जब श्रम की आपूर्ति कम होती है तो मजदूरी की दर बढ़ती है। फलस्वरूप लागत खर्च भी बढ़ता है, किन्तु श्रम की आपूर्ति सदा कम नहीं होती। मजदूर बेकार भी होते हैं। ऐसी स्थिति में राज्य द्वारा श्रम की माँग बढ़ने से उत्पादन व्यय में वृद्धि नहीं होती। अब पूर्ण रोजगार की स्थिति रहती है तथा राज्य को माँग श्रम के लिए बढ़ती है तब अत्यधिक रोजगार (overfull employment) की स्थिति आ जाती है, जिससे श्रम वर्तमान कार्यों से नए कार्यों में आती है। फलस्वरूप मजदूरी में वृद्धि होती है। इसलिए उत्पादन व्यय भी बढ़ता है। ऐसी स्थिति युद्ध काल में प्रायः आती है, शान्ति काल में नहीं। अल्प विकसित देशों में सदा बेरोजगारी रहती है, किन्तु कुछ तकनीकी श्रम की आपूर्ति माँग से कम हो सकती है। ऐसे श्रम की मजदूरी बढ़ सकती है। कभी कभी राज्य को ऐसे श्रम की आवश्यकता हो सकती है, जिसकी आपूर्ति माँग से कम है। ऐसे श्रम की मजदूरी बढ़ सकती है, किन्तु उसके प्रशिक्षण की व्यवस्था होनी चाहिए तथा राज्य को श्रम शक्ति की योजना बनानी चाहिए जिससे प्रत्येक प्रकार की श्रम की आपूर्ति तथा उसकी माँग में सतुलन बना रहे।

लोक ऋण का भार—ऋण देश के अन्दर तथा दूसरे देशों से भी लिया जा सकता है। विदेशी ऋण का प्रत्यक्ष मौद्रिक भार व्याज तथा मूल धन की राशि के बराबर होता है जिसका भुगतान विदेशी ऋण दाताओं को किया जाता है। इसका प्रत्यक्ष वास्तविक भार भी होता है। व्याज तथा मूल धन की किस्त विदेशी ऋण दाताओं को दी जाती है। इससे ऋणी देश को आर्थिक कल्याण की हानि होती है, क्योंकि जो सामग्री विदेशों को जाती है वह देश में इस्तेमाल होती, जिससे ऋणी देश की जनता को आर्थिक लाभ होता। इस आर्थिक कल्याण की हानि विदेशी ऋण का प्रत्यक्ष वास्तविक भार होता है। ऋण दाताओं को जो भुगतान किए जाते हैं उनका धन कर लगाकर प्राप्त किया जाता है। यदि इस कराधान का बड़ा भाग धनी व्यक्तियों ने प्राप्त होता है तब ऋण का प्रत्यक्ष वास्तविक भार उससे कम होगा जब कि यह भाग गरीब व्यक्तियों से वसूल किया जाए। जो सामग्री दूसरे देशों को व्याज तथा ऋण की किस्त के भुगतान में बाहर भेजी जाती है। उसका उपभोग देश में हो सकता था। इसलिए देशी नागरिक उससे वंचित रह जाते हैं तथा उन्हें आर्थिक

कल्याण की हानि होती है। इस हानि के वितरण पर ऋण का प्रत्यक्ष वास्तविक भार निर्भर है।

विदेशी ऋण का अप्रत्यक्ष भार (Indirect Burden of Foreign Debt)—
विदेशी ऋण के भुगतान के लिए कर लगते हैं। यह धन बाहर जाता है। इसके कारण देश में राज्य का व्यय कम होता है। ऋणी राष्ट्र के उत्पादन में रुकावट होती है। यह रुकावट तथा हम धन के कारण सरकारी व्यय में कमी विदेशी ऋण का अप्रत्यक्ष भार होता है। देशी ऋण का स्वभाव इससे भिन्न होता है। इस सम्बन्ध में ऋणी तथा ऋण दाता एक ही देश के निवासी होते हैं। व्याज तथा ऋण को किराया का भुगतान एक वर्ग के व्यक्तियों से दूसरे वर्ग के व्यक्तियों को उसी देश में होता है। इसलिए धन का यह हस्तान्तरण उस देश में ही सीमित रहता है। इसका कोई प्रत्यक्ष मौद्रिक भार अथवा लाभ नहीं होता, क्योंकि दोनों ही देशों में सीमित रहते हैं। प्रत्यक्ष वास्तविक भार उस समय अवश्य होगा जब कि ऋण भुगतान के कारण कराधान द्वारा आय की असमानता बढ़ती है, किन्तु यदि यह असमानता कम होती है तब प्रत्यक्ष वास्तविक भार कम होगा। समाज के विभिन्न वर्गों में कराधान तथा ऋण पत्रों के वितरण का परीक्षण आवश्यक है। यदि धनी वर्ग उनके स्वामित्व में ऋण पत्रों के अनुपात में कर कम देते हैं तब ऋण का प्रत्यक्ष वास्तविक भार होगा। इस स्थिति में अमीरों को व्याज अधिक मिलेगा, किन्तु कर कम देने होंगे। डा० टाल्टन के अनुसार ऋण के फलस्वरूप प्रत्यक्ष वास्तविक भार तब होगा जब कर दाताओं से सामाजिक माहूकारों को धन के हस्तान्तरण से आय की असमानता की वृद्धि हो जाय तथा वास्तविक लाभ तब होगा जब इन हस्तान्तरणों के कारण आय की असमानता कम हो जाए।

देशी ऋण का समाज पर एक अतिरिक्त तथा अप्रत्यक्ष भार होता है। ऋण के भुगतान के लिए कर लगने के कारण कर दाताओं को कार्य करने की तथा धन बचाने की शक्ति तथा इच्छा कम होती है। इसके अतिरिक्त वाछनीय सामाजिक व्यय में कमी होती है। इससे उत्पादन में रुकावट होती है। कर देने वालों की कार्य करने तथा धन बचाने की क्षमता तथा इच्छा तो बढ़ेगी, लेकिन ऋण दाताओं की क्षमता बढ़ेगी, क्योंकि उनको व्याज तथा मूल धन की किस्तों के भुगतान मिलेंगे। इसलिए यह भी तर्क दिया जा सकता है कि एक प्रकार से सतृप्तता की स्थिति आ जायेगी। कर दाताओं की क्षमता गिरेगी तो व्याज पाने वालों की बढ़ेगी, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता। समाज को नेट हानि होती है। जब ऋण का प्रत्यक्ष वास्तविक भार होता है तो कराधान के कारण कर देने वालों की व्यक्तिगत निपुणता घटेगी। व्याज पाने वालों की निपुणता बढ़ेगी। कर देने वालों की निपुणता की कमी व्याज प्राप्त करने वालों की निपुणता की वृद्धि से अधिक होगी। ऐसी स्थिति में समाज को नेट हानि होगी।

ऋण के प्रभाव व्यक्तियों की योग्यता पर ही नहीं होता, बल्कि उनकी कार्य करने तथा धन बचाने की इच्छा पर भी होते हैं। इस दृष्टि से स्थिति अधिक अमनोपजनक होगी। सब बातों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि कराधान कार्य करने तथा धन बचाने की इच्छा पर रकबट डालता है। देश के अन्दर ऋण दाताओं की काम करने तथा धन बचाने की इच्छा में उन्हें वार्षिक आय मिलने की सम्भावना के कारण वृद्धि नहीं होगी। सम्भवतया यह इच्छा घट भी सकती है। इसने उत्पादन को हानि होगी। इसलिए ऋण का अप्रत्यक्ष भार बढ़ेगा।

सार्वजनिक ऋण के भार के अनुमान की विधि

ऋण के भार का अनुमान कई प्रकार से किया जाता है। एक विधि यह है कि विभिन्न देशों के ऋण का मूल धन मालूम किया जाय। जिसके ऋण की धन राशि अधिक है वह देश बहुत ऋणी है। दूसरी विधि प्रति व्यक्ति ऋण मालूम करने की है, अर्थात् प्रति व्यक्ति ऋण कितना है। इस बात का पता कुल ऋण राशि को जनसंख्या के अंक से भाग देकर मालूम हो जायेगा। वार्षिक ऋण व्यय तथा राष्ट्रीय आय के अनुपात से भी ऋण के भार का ज्ञान हो सकता है। यदि इन दोनों का अनुपात अधिक है तब ऋण का भार अधिक होगा। बाह्य ऋण का भार देश के निर्यात मूल्य तथा ऋण सम्बन्धी वार्षिक व्यय के अनुपात से लगाया जाता है। अल्प विकसित देशों के सम्बन्ध में यह अनुपात लगभग 12 प्रतिशत है। इसका अर्थ है कि निर्यात मूल्य का 12 प्रतिशत भाग ऋण की लागत में व्यय हो जाता है। भारत में यह अनुपात लगभग 28 प्रतिशत है।

सारांश में किसी देश का ऋण भार निकालने की तीन मुख्य विधियाँ हैं :
 (1) देश के धन तथा आय तथा राष्ट्रीय ऋण का अनुपात, (2) देश में ऋण व्यय तथा कुल साधारण व्यय का अनुपात, (3) देश की निर्यात तथा ऋण व्यय का अनुपात।

ऋण के रूप तथा ऋण शोधन

(FORMS AND REPAYMENT OF PUBLIC DEBTS)

ऋण का कई प्रकार से वर्गीकरण किया जाता है। इस वर्गीकरण का आधार ऋण ऋोधन काल, व्याज दर, ऋण प्राप्ति का स्थान तथा ऋण का उद्देश्य आदि हो सकते हैं। ऋण की प्रकृति भी इसके वर्गीकरण का आधार होती है, अर्थात् ऋण ऐच्छिक है अथवा अनिवार्य। लोक ऋण के निम्न मुख्य वर्गीकरण हैं :

(1) अनिवार्य तथा ऐच्छिक—राज्य जनता को ऋण देने के लिए बाध्य करे तब ऋण अनिवार्य कहा जायेगा। मध्यकाल में शानक देण के नागरिकों को राज्य को ऋण देने को बाध्य करते थे। इंग्लैण्ड में प्रथम चार्ल्स के शासन काल तक तथा अन्य देशों में भी ऋण जबरदस्ती लिए जाते थे। 1796 में इंग्लैण्ड में पिट ने अनिवार्य रूप से ऋण लेने का सुझाव दिया था। गुद्ध काल में ऋण अनिवार्य रूप में लिए जाते हैं। अनिवार्य ऋण का यह अर्थ है कि जनता को राज्य की ऋण वापिस करने की सामर्थ्य में विश्वास नहीं है। ऐसा तभी होगा जब देश के वित्त की व्यवस्था अच्छी नहीं होगी। आपत काल में शासन जनता पर नैतिक दबाव द्वारा उन्हें ऋण पत्र खरीदने को बाध्य करता है। अनिवार्य ऋण एक प्रकार का कर कहा जाना चाहिए, जिससे बहुत असुविधा होती है। बैस्टेब्ल के अनुसार इस प्रकार के ऋण को वित्तीय पुक्ति अथवा योजना से हटा देना चाहिए। ऐच्छिक ऋण व्यावहारिक सिद्धान्तों पर निर्धारित होते हैं तथा आवश्यकतानुसार लिए जाते हैं। आधुनिक काल में प्रत्येक देश में प्रति वर्ष ऋण लेने का एक निश्चित कार्यक्रम रहता है तथा इसकी पूर्णगीत वजह में व्यवस्था रहती है। राज्य की साख तथा व्याज दर के प्रोत्साहन से जनता तथा वित्तीय संस्थाएँ राजकीय ऋण पत्र खरीदते रहते हैं। इन ऋण पत्रों में बराबर स्टॉक मण्डियों में सौदे चलते रहते हैं। भारत में राजकीय ऋण की व्यवस्था तथा प्रबन्ध रिजर्व बैंक आफ इण्डिया करता है। प्रायः प्रत्येक देश में यह कार्य केन्द्रीय बैंक ही करता है।

(2) मोच्य तथा अमोच्य ऋण (Redeemable and Irredeemable Loans)—जिन ऋणों की वापसी की तिथि निश्चित रहती है वे मोच्य कहलाते हैं। इन पर प्रति वर्ष व्याज दिया जाता है। इनके व्याज की व्यवस्था प्रति वर्ष बजट में दी रहती है। ऋण के धन का उपयोग उत्पादक कार्यों के लिए भी किया जाता है। राज्य बहुत से उद्योग प्रारम्भ करता है। इनमें बहुत मात्रा में पूँजी की आवश्यकता होती है तथा मुनाफा बहुत वर्षों बाद शुरू होता है। इसलिए पूँजीपति इन उद्योगों को शुरू करने में सकोच करते हैं। इसलिए देश के हित में यह कार्य राज्य द्वारा किया जाता है।

(3) निधिबद्ध तथा अनिधिबद्ध ऋण (Funded and Unfunded Debt)—निधिबद्ध ऋण वह ऋण होता है जिसकी भुगतान तिथि एक वर्ष के पश्चात् होती है अथवा भुगतान तिथि होती ही नहीं है। जिसकी भुगतान तिथि एक वर्ष से कम समय में होती है वह अनिधिबद्ध ऋण कहलाता है। भारत सरकार ट्रेजरी बिलों की जमानत पर जिनकी अवधि तीन महीने की होती है, ऋण उधार लेती है। इसे अनिधिबद्ध ऋण कहते हैं। ये ऋण आय की आशा में लिए जाते हैं। करो की आय धीरे-धीरे वसूल होती है। आय प्राप्त होने पर इन ऋणों का भुगतान हो जाता है। पर्याप्त धन न होने पर इनको निधिबद्ध ऋणों में परिवर्तित कर दिया जाता है। भारत में रेलों, सड़कों, नहरों, तथा विद्युत योजनाओं के लिए बहुत धन लिया गया है। जो निधिबद्ध ऋण कहलाता है। 1970-71 में भारत का अनिधिबद्ध ऋण 3824 87 करोड़ रुपये था।

(4) उत्पादक अनुउत्पादक ऋण (Productive and Unproductive Debt)—जो ऋण उत्पादक कार्यों के लिए जाते हैं तथा जिनसे इतनी आय होती है कि व्याज तथा मूल धन के भुगतान के लिए पर्याप्त हो वे उत्पादक ऋण की श्रेणी में आते हैं। ऐसे ऋणों से देश की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होती है। भारत का सार्वजनिक ऋण मुख्यतया उत्पादक ऋण की श्रेणी में ही आता है। जो ऋण बजट के घाटे को ढकाने के लिए अथवा अकाल पीड़ितों की सहायता के लिए निर्माण कार्यों पर उन्हें रोजगार देने के लिये लिए जाते हैं, वे उत्पादक नहीं कहलाते।

(5) देशी तथा विदेशी ऋण (Internal and External Debt)—जो ऋण देश के नागरिकों तथा देश की वित्तीय संस्थाओं से लिए जाते हैं उन्हें देशी ऋण कहते हैं। उनसे प्राप्त व्याज देश के नागरिकों को मिलता है। विदेशों में उधार लिया ऋण विदेशी ऋण कहलाता है। 1970-71 में भारत का देशी ऋण 7,760.65 करोड़ रुपये था, तथा विदेशी ऋण 6,659.37 करोड़ रुपये था। इस वर्ष में भारत सरकार की नेट देनदारी 18,854.82 करोड़ रुपये थी। भारत का विदेशी ऋण इंग्लैंड, अमेरिका, जर्मनी, फ्रान्स आदि देशों से तथा विश्व बैंक आदि वित्तीय संस्थाओं से लिया गया है।

(6) स्थायी तथा अस्थायी ऋण—स्थायी ऋण दीर्घ काल के लिए लिया जाता है। यह वर्गीकरण भारत सरकार की देनदारी की सूची में दिया हुआ है। 1970-71 में भारत सरकार का स्थायी ऋण 4,322.29 करोड़ रुपये तथा अस्थायी ऋण 3,438.36 करोड़ रुपये था।¹

लोक ऋण का विमोचन (Redemption)—यह आवश्यक है कि लोक ऋण का विमोचन होना चाहिए, क्योंकि जब तक ऋण चलता है उस पर व्याज देना होता है। इसकी अदायगी की व्यवस्था प्रति वर्ष सरकारी बजट में होती है। लोक ऋण के निपटारे की कई विधियाँ हैं।

(1) भुगतान—लोक ऋण की अवधि आने पर उसका भुगतान हो जाता है। उमके बाद उम ऋण पर व्याज आदि नहीं देना होता। इसलिए उसका भार समाप्त हो जाता है। ऋण पत्र रद्द कर दिये जाते हैं। ऋण पत्रों को गरीबों के लिए बजट में व्यवस्था की जाती है। इस सब व्यवस्था को केन्द्रीय बैंक करता है, क्योंकि देशों तथा विदेशी मुद्रा मण्डियों की परिस्थितियों का ज्ञान इस बैंक के विनोदों को होता है।

(2) अस्वीकृति (Repudiation)—ऋण के निपटारे का एक उपाय उसकी अस्वीकृति है अर्थात् सरकार ऋण अदा करने से इन्कार कर देती है। यह कदम अनुचित अथवा साम्याहीन है। इस विधि का सरकार की साज पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। भविष्य में ऋण प्राप्त करना कठिन हो जाता है। यदि ऋण विदेशी है तो इसके परिणाम भयंकर हो सकते हैं। फिर भी विभिन्न राष्ट्रों के वित्तीय इतिहास से इस बात के बहुत उदाहरण मिलते हैं। इंग्लैण्ड के एक भूत पूर्व प्रधान मन्त्री मिस्टर चर्चिल ने स्टर्लिंग ऋण को अस्वीकार करने का सुझाव दिया था। द्वितीय महा समर के पश्चात् इंग्लैण्ड की सरकार को स्टर्लिंग प्रतिभूतियों की अदायगी करनी थी। चर्चिल महोदय ने इन को सामरिक ऋण मानने का सुझाव दिया था तथा इस ऋण की समाप्ति का सुझाव दिया था।

(3) रूपान्तरण (Conversion)—इसके अनुसार पुरानी प्रतिभूतियों के बदले में ऋण पत्र अधिकारियों को नई प्रतिभूतियाँ दी जाती हैं। ऐसा तब किया जाता है जब (1) व्याज दर पटी हो, तथा (2) ऋण पत्रों में सरकार को ऐसा करने का अधिकार दिया गया हो। इससे पहले ऋण के स्थान पर दूसरा ऋण आ जाता है, जिस पर व्याज कम होता है। इसके लिए व्याज दरों की गति, कराधान तथा कोमतों की गतिविधियों पर ध्यान रखना आवश्यक है। रूपान्तरण सरल होना चाहिए। व्याज दर में कमी की घोषणा के साथ यह भी घोषणा आवश्यक है कि कुछ समय तक भविष्य में व्याज दर कम नहीं की जायेगी। विभिन्न ऋण जिन पर व्याज दर अलग है समान व्याज दर पर एक ऋण में परिवर्तित किये जा सकते हैं जैसा कि इंग्लैण्ड

¹ These figures relating to the debt position of the Government of India have been taken from the Reserve Bank Bulletin, May 1970, Statement 11.

मे 1757 मे किया गया था। उस समय कई ऋणों को जिन पर भिन्न भिन्न व्याज दर थी मिलाकर एक कर दिया गया था जिन्हे कोन्सल कहा गया।

(4) पूँजी उगाही—ऋण के निपटारे की एक विधि यह है कि पूँजीपतियों पर भारी पूँजी कर लगाकर धन प्राप्त किया जाय जो ऋण को अदा करने के लिए इस्तेमाल किया जाय। लोक ऋणों की वृद्धि तथा भारी व्याज व्यय के कारण युद्ध कालीन ऋणों की अदायगी का प्रश्न महत्वपूर्ण हो गया। प्रथम विश्व युद्ध के बाद ब्रिटेन के कुछ अर्थशास्त्रियों ने पूँजी उगाह कर ऋण अदा करने का सुझाव दिया था। 1927 मे काल्विन समिति की रिपोर्ट के पश्चात् तथा 1929 मे मन्दी आने के कारण यह मामला पीछे हट गया। इसका सुझाव रिकार्डों ने भी दिया था।

पूँजी उगाही के पक्ष में तर्क—इसके पक्ष में निम्न तर्क हैं :

(1) कुछ व्यक्ति युद्ध मे काम आये, किन्तु कुछो ने धन कमाया। जिन्होंने धन कमाया उन्हें भी त्याग करना चाहिए। उन्हें अपने धन का कुछ भाग राज्य कोष मे अशदान के रूप मे देना चाहिए। इस भुगतान की एक अल्पकालीन अवधि निश्चित हो जानी चाहिए।

(2) इससे देश का उत्पादन कम नहीं होगा, क्योंकि इसकी किश्तें थोड़े समय तक ही चलेंगी। देश पर व्याज का भार घट जायेगा।

(3) यह ऋण अनुत्पादक है। अतः जब तक यह रहेगा, देश की आर्थिक स्थिति पर भार ही रहेगा। इसलिए इसे जल्दी समाप्त कर देना चाहिए।

इसके कई दोष हैं। इसके विरुद्ध मुख्य आपत्ति इसका पूँजी तथा साख पर प्रतिकूल प्रभाव है। प्रो० फिन्डले शिराज ने इसके विरुद्ध अपने विचार इन शब्दों मे व्यक्त किये हैं : व्यापार सामरिक ऋण का अपने व्यवसाय के लिए धन प्राप्त करने मे उपयोग करत है। यदि सामरिक ऋण सरकार के पास आ जाय तो व्यवसायी इससे वंचित हो जायेगे। इस प्रकार पूँजी उगाही मे साख की भारी अपस्फीति होगी। ट्रेजरी बिलों के रूप मे बैंको के पास प्रतिभूतियाँ उद्योगों के लिए इसलिए उपलब्ध नहीं होगी क्योंकि उनका अस्तित्व ही नहीं रहेगा। बैंको मे जमा धन कम हो जायेगा तथा बैंको के लिए ऋण उधार देने मे कमी करना आवश्यक हो जायेगा। साख की इस भारी अपस्फीति के कारण कीमतें गिरेंगी जिससे उद्योगों का विस्थापन होगा तथा उन्हें हानि होगी तथा सम्भवतया बेरोजगारी बढ़ेगी। देश के व्यापार का संचालन नागरिकों के पास पूँजी द्वारा होता है। इस पूँजी के सामरिक ऋण भुगतान के रूप मे समाप्त होने से व्यवसायी समाज के पास साख मे कमी आयेगी। उगाही का भुगतान अन्य प्रतिभूतियों मे होने से सरकार इन्हें बेचने के लिए रखेगी, क्योंकि उनपर लाभान्व तथा व्याज सामरिक ऋण पर व्याज की अदायगी के लिए स्तेमाल होंगे।²

व्यवस्थित मुद्रा मण्डी पर इसका एक अन्य प्रभाव भी होगा तत्पक्ष जैसी सुव्यवस्थित मुद्रा मण्डी में विदेशों से पूँजी आने में रुकावट होगी। इससे बड़े उद्योगों तथा वाणिज्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। इसलिए इस ऋण के भुगतान के लिए प्रति वर्ष आय में से व्यवस्था की जाय। देशी ऋण देश में ही लगता है। इससे मजदूरी तथा रोजगार की वृद्धि होती है। इसलिए इस ऋण पर व्याज देना पूर्ण रूप से हानिकार नहीं जा सकता, क्योंकि उसके पूरक लाभ भी उपलब्ध है।

पूँजी उगाही के विरुद्ध यह भी कहा जा सकता है कि इससे वचत कम होती है। जो धन नहीं बचाते उन पर तो कर नहीं लगते तथा वर्तमान काल में मितव्ययता समृद्धि को बढ़ाने के लिए अत्यावश्यक है। इन अनिश्चित उगाहियों की छाया में पूँजी संचय हतोत्साहित होता है तथा औद्योगिक प्रसार में रुकावट होती है।

वसूली की ऊँची लागत—इस कर के विरुद्ध यह भी तर्क है कि इसकी वसूली की लागत बहुत अधिक होगी तथा इस कर का निर्धारण आय कर विवरण के परिकलन द्वारा ही सम्भव हो सकेगा, अन्यथा नहीं।

इसका एक अन्य दोष भी है कि जनता में यह भय उत्पन्न हो जायेगा कि सरकार इस कर को आवश्यकता पड़ने पर फिर लगायेगी। इससे सरकार देखभाल कर व्यय न करेगी, बल्कि अनावधानी से व्यय करेगी।

इसके विरुद्ध एक और तर्क यह है कि इस कर द्वारा आय का भविष्य से वर्तमान में हस्तान्तरण होगा। एक छोटा कर तो आय से दिया जाता है लेकिन भारी कर प्रतिभूतियों को बंध कर ही दिया जा सकता है। इससे पूँजी निर्माण में रुकावट होती है तथा भविष्य की आय कम होती है सरकार के पास से यह धन फिर उन व्यक्तियों के पास आ जायेगा, जिन्होंने सरकारी साख पत्र खरीदे हैं, क्योंकि यह ऋण उन्हें वापिस मिलेगा। इस प्रक्रिया से वचत पर दो प्रभाव पड़ते हैं। ऋण की अदायगी से पूर्व वचत सरकारी प्रतिभूतियों के रूप में रहती है तथा भुगतान के पश्चात् निजी प्रतिभूतियों में बदल जाती है। बैंक ऋण के आधार के रूप में निजी प्रतिभूतियों की तुलना में सरकारी प्रतिभूतियों को अधिक पसन्द करते हैं। इसलिए पूँजी की उगाही द्वारा सार्वजनिक ऋण की अदायगी के पश्चात् नाख घटती है। दूसरे, जब एक ऋण का भुगतान निक्षेप निधि द्वारा होता है तब वचत की वृद्धि होती है। निक्षेप निधि का संचयन थोड़ा-थोड़ा मात्रा में आवधिक करों द्वारा होता है। व्यक्तियों को जो ऋण के भुगतान में वापिस धन मिलता है उसे वे बचाते हैं। इस में पूँजी की वृद्धि होती है। पूँजी उगाही द्वारा ऋण भुगतान में पूँजी उतनी ही रहती है। पूँजीपतियों से जो धन उगाही में मिलता है वह उनके पास वापिस आता है। इसलिए पूँजी की वृद्धि नहीं होती यदि कर द्वारा विदेशी ऋण का भुगतान होता है तो दोष स्पष्ट ही है। पूँजी बहुत कम हो जाएगी।

इसके अतिरिक्त धन वमूल करना कठिन होगा । इससे सम्पत्ति तथा प्रतिभूतियों की भारी विक्री होगी जिससे सम्पत्ति तथा प्रतिभूतियों के मूल्य गिरेंगे ।

डा० डाल्टन ने इसके पक्ष में निम्न तर्क दिए —

(1) इस कर के उत्पादन तथा व्यवसायों पर प्रतिकूल प्रभावों को बढ़ा-चढ़ा कर कहा गया है ।

(2) युद्ध के पश्चात् पूँजी उगाही की सहायता के बिना वाषििक कराधान कम हो गया था, जिससे वाछनीय लोक व्यय में कमी हुई । 1920 के पश्चात् उत्तर युद्ध काल में इस व्यय की कमी को ऋण का अप्रत्यक्ष भार कहा जाये, जो बहुत बढ़ा ।

(3) इस तर्क के विरुद्ध कि कर प्रगामनिक दृष्टि से अव्यावहारिक होगा क्योंकि बैंक इसका विरोध करेंगे, डा० डाल्टन ने कहा कि इसका विरोध बैंक नहीं करेंगे । उन थोड़े से धनी व्यक्तियों तथा सम्पत्ति स्वामियों के विरोध को जो इस कर के विरुद्ध होगा सरकार के अधिकारों द्वारा रोका जा सकता है । उनके अनुसार इस धमकी के सामने एक उपयुक्त प्रस्ताव को वापिस नहीं लेनी चाहिए । 1920 के पश्चात् वस्तुओं के रूप में ऋण का वास्तविक बहुत बढ़ गया था तथा जब तक पूँजी के द्वारा इस ऋण में कमी नहीं की जाती जब तक यही कहना चाहिए कि यह कर ही ऋण को तथा उसके उसके भार को कम करने का मुख्य उपाय है ।

भारत जैसे अल्प विकसित देशों में जहाँ विदेशी ऋण बहुत बढ़ गया है इसका भार या तो भुगतान की शर्तों में परिवर्तन द्वारा कम हो सकता है या उसके भुगतान का समय बढ़ाया जाये तथा व्याज दर कम की जाय । भारत में निर्यात का लगभग 28 प्रतिशत भाग विदेशी ऋण के व्याज तथा उसकी किस्तों के भुगतान में प्रतिवर्ष लगता है । इसलिए विदेशी ऋण के भारत की आर्थिक स्थिति पर दबाव कम करने के लिए ऋण की शर्तों में सुधार आवश्यक है ।

तीसवा अध्याय मूल्य वृद्धि कर (VAT)¹ (VALUE ADDED TAX)

यह कर एक प्रकार का विधी कर है जो किसी वस्तु अथवा सेवा के उस मूल्य पर लगता है जो उसमें प्रत्येक समय वस्तु अथवा सेवा के उत्पादन से वितरण मंजिल तक आने में जुड़ती है। वस्तु अथवा सेवा की उत्पत्ति की अवस्था से अन्तिम उपभोग तक पहुँचने में कई चरण होते हैं। प्रत्येक चरण पर उसमें मूल्य की वृद्धि होती है उस वृद्धि पर कर लगता है। उस कर को मूल्य वृद्धि कर कहते हैं। इस कर को एक उदाहरण लेकर समझाया जा सकता है। खान से कच्चा लोहा निकलता है। उसमें कई प्रक्रियाएँ होती हैं। अंत में वह उपभोग के लिए तैयार वस्तु के रूप में उपभोक्ता तक पहुँचता है। इस उदाहरण में कर लगने से पहली कीमत पर 10 प्रतिशत कर लगता है। खनिज कम्पनी खान से लोहा निकालती है तथा उसे स्टील मिल को 50 डालर में बेच देती है। उदाहरण को सरल बनाने के लिए हम यह मान लेते हैं कि खनिज कम्पनी को कच्चा लोहा निशुल्क प्राप्त हुआ तथा पूँजी सम्बन्धी उपकरणों के लिए उसे कुछ नहीं व्यय करना पड़ा। कच्चे लोहे के स्टील मिल तक आने में मूल्य में 50 डालर की वृद्धि हुई। स्टील मिल खनिज कम्पनी को कर के रूप में 5 डालर देगी जो बड़े हुए मूल्य का 10 प्रतिशत है। खनिज कम्पनी इस कर को राज्य कोष में कर के रूप में देगी।

सम्पर्क स्टील मिल इस कच्चे लोहे को भट्टियों में डालकर साफ करेगी तथा इसकी चहरे बनाकर 150 डालर कीमत पर इन चहरो को किसी निर्माता को देवेगी। निर्माता मूल्य वृद्धि पर कर के रूप में 15 डालर मिल को देगा, किन्तु मिल केवल 10 डालर ही राज्य कोष में कर जमा करेगी। अन्य 5 डालर जो उसे निर्माता से अधिक मिले अपने पास उस कर के मुआवजे के रूप में रखेगी जो कच्चे लोहे पर कर के रूप में राज्य कोष में पहले दे दिये थे।

निर्माता स्टील के उपकरण बनाकर उन्हें 300 डालर कीमत पर फुटकर व्यापारी को बेच देगा। उस पर उसे 30 डालर मूल्य वृद्धि कर मिलेगा। जिसमें

¹ For Details, consult Finance and Development, *Economic Times*, April 15, 1970.

से 15 डालर राज्य कोष को कर के रूप में मिलेगा तथा 15 डालर निर्माता के पास रह जायेगा जो उसने स्टील मिल को दिया था।

फुटकर व्यापारी इन उपकरणों को 500 डालर में उपभोक्ताओं को बेच देगा तथा उपभोक्ताओं से 50 डालर मूल्य वृद्धि कर के रूप में वसूल करेगा, जिसमें से 20 डालर ट्रेजरी में जमा होगा तथा 30 डालर जो उसने निर्माता को दिये थे अपने पास मुआवजे के रूप में रखेगा।

इस सरल विवरण में यह ज्ञात होता है कि उस उत्पादन वितरण प्रक्रिया में प्रत्येक सम्पर्क बिन्दु पर राज्य कोष के लिए कर वसूल किया जाता है तथा प्रत्येक सन्धि (junction) पर दिया गया कर वस्तु के हस्तान्तरण के साथ आगे हस्तान्तरित किया जाता है। अन्त में सब कर उपभोक्ता पर पड़ता है। इसलिए यह उत्पादक पर कर नहीं माना गया, बल्कि वस्तु पर माना गया है जो अन्त में उपभोक्ता पर ठहरता है। राज्य कोष में 500 डालर पर 50 डालर कर जमा होता है जो अन्तिम नेट कीमत का 10 प्रतिशत है।

उपर्युक्त उदाहरण में इसकी एक सरल काल्पनिक रूपरेखा प्रस्तुत की गई है, किन्तु व्यवहार में मामला पेचीदा है। उदाहरण में यह परिकल्पना की गई है कि खनिज कम्पनी को कच्चा लोहा मुफ्त मिला। इसलिए कच्चे लोहे की विप्रेषण कीमत सब मूल्य वृद्धि मानी गई। वास्तव में इस परिकल्पना को त्यागना होगा। कम्पनी की मूल्य वृद्धि कर देनदारी वसूल किये गये मूल्य वृद्धि कर तथा कम्पनी द्वारा दूसरों को दिये गये मूल्य वृद्धि कर के अन्तर के बराबर है। इस प्रकार यदि एक कर वर्ष में अपनी विक्री पर कम्पनी को मूल्य वृद्धि कर के रूप में 100,000 डालर मिले तथा कम्पनी ने अपने खनिज उपग्रम आदि पर कर के रूप में 40,000 डालर दिये, तब इस काल में कम्पनी की कर देनदारी 40,000 डालर होगी।

यह कर देशी व्यापार में सभी वस्तुओं तथा सेवाओं पर लगता है। इस कर में बहुत कम वस्तुएँ मुक्त होती हैं तथा इनकी सूची भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न है। अधिकोपण तथा बीमा, चिकित्सा सेवाएँ, समाचार पत्र तथा केवल शासन के उपयोग की वस्तुओं को इस कर से मुक्त किया जाता है। कभी कभी किसी वस्तु अथवा सेवा पर एक विशेष उत्पादन कर लगता है, लेकिन साथ साथ उस पर मूल्य वृद्धि कर नहीं लगता। उदाहरण के लिए फ्रान्स में नाटको तथा मिनेमाओ पर मनोरंजन कर लगता है, किन्तु मूल्य वृद्धि कर नहीं लगता।

निर्यात पर मूल्य वृद्धि कर नहीं लगता। मिडान्त रूप में निर्यातक पर अपनी कर योग्य मध्यवर्ती वस्तुओं तथा सेवाओं पर मूल्य वृद्धि कर देती है, किन्तु उसे कर अधिकारियों से इसकी वापसी मिल जाती है। फ्रान्स को इस कर का सबसे अधिक अनुभव है पहले पहल वहाँ यह कर 1955 में लगाया गया था। उस देश में निर्यातकों को यह कर नहीं देना पड़ता। वे निर्यात के लिए निर्मित तथा निर्यात-सुपुर्तगो की वस्तुओं तथा सेवाओं को कर मुक्त प्राप्त करते हैं। इसलिए इन वस्तुओं

के प्रदायकों को इस मुपुर्दगी पर वृद्धि मूल्य कर राज क्रोप में जमा नहीं करना पड़ता ।

ऐतिहासिक सिंहावलोकन—सर्वप्रथम यह कर 1955 में फ्रान्स में लगा, किन्तु हाल के वर्षों में यह यूरोप के बहुत से देशों में लगाया जा रहा है । आंशिक रूप में यह इन देशों में लगाया गया है : डेनमार्क (1967, 12.50 प्रतिशत दर), पश्चिमी जर्मनी (1968, दर 11.00 प्रतिशत), स्वीडन (1969, दर 11.17 प्रतिशत) तथा नेदरलैंड्स (1969, दर 12 प्रतिशत) लक्जेंबर्ग 8 प्रतिशत, तथा नार्वे में 20 प्रतिशत, की दर पर यह कर लगा रहे हैं । इटली में इसे 1972 में लगाने का आयोजन है । डा० मैथियेंशन के अनुसार, एक दशक में यूरोप के देशों में यह कराधान एक सर्वोत्तम साधन हो जाएगा ।

इसके लाभ—जिन देशों में भी यह कर लगा है यह बित्री कर के स्थान पर लगा है इनके मुख्य लाभ यह हैं कि इससे बहुत सी बेचोदा समस्याएँ हट जाती हैं जैसे दुष्परवारा (mal-distribution), दुहरा कराधान, अनुचित कर मुक्ति (Inappropriate tax exemption) । इनके कारण अन्य बित्री करों की सफलता में रुकावट हुई है ।

इनका दूसरा लाभ यह है कि साधनों के बटवारे तथा वस्तुओं तथा सेवाओं के व्यवहारों के सम्बन्ध में यह कर तटस्थ है । जर्मनी में वृद्धि कर लगने से पूर्व सकल हेर फेर कर प्रणाली (gross turnover tax system) के कारण फर्मों का एकीकरण होने की तीव्र प्रवृत्ति थी । उदाहरण के लिए एक स्टील मिल का तथा स्टील इस्तेमाल करने वाले निर्माता का कर से बचने के लिए विलयन हो जाता था । इससे प्रक्रियाओं की संख्या, जिन पर सकल हेर फेर कर (turnover tax) लगता था, घट जाती थी । जर्मनी में एक जाँच के अनुसार यह अनुमान किया गया कि जिस उत्पादन-वितरण प्रक्रिया का एकीकरण नहीं किया गया था उसमें फौलाद की छड़ों पर कर संघटित की गई प्रक्रिया प्रणाली की तुलना में दुगुना था ।

इस संघटित प्रवृत्तियों का विरोध करने के लिए जर्मनी में ऐसे उपाय किये गये जिनके अनुसार कर उद्देश्यों के लिए एक फर्म के अन्दर क्रियम सौदा किया गया जिसका उद्देश्य संघटन के लाभों को काटना था । इसके साथ उन सम्बद्धित कम्पनियों के सौदों पर जिनका समान हित था कर से इसलिए मुक्त किया गया जिससे उन्हें संघटन करने का प्रोत्साहन न मिले । ब्रिटेन में भी बित्री कर प्रणाली का सिंहावलोकन इसी दृष्टि से किया गया । वहाँ इसे बच कर प्रणाली कहते हैं, किन्तु इसकी कठिनाइयाँ हटी नहीं हैं ।

मूल्य वृद्धि कर में यह उत्पन्न नहीं होती । इस कर का तथा अन्तिम बित्री कीमत का अनुपात कर दर उतनी ही रहने पर सदा एक ही रहता है । वस्तु उत्पादन की प्रक्रियाएँ घटने पर कर में कमी नहीं आती, किन्तु यदि संघटन से निपुणता बढ़े जिससे उपभोक्ताओं को वस्तु कम कीमत पर मिले तब बात दूसरी होगी । इसमें

कर आधार उद्देश्य सम्बन्धी समस्या भी नहीं उठती जैसाकि थोक निर्माण स्तर पर कर में होता है।

कर अनुपालन सम्बन्धी इस कर का एक और गुण होता है। एकाकी विन्दु विक्री कर में कर से बचने का भारी प्रोत्साहन होता है, विशेषतया जबकि कर की दर ऊँची हो। ऊँचे फुटकर विक्री कर में ऐसा विशेष रूप में होता है। ऐसी स्थिति में कर प्रशासन की समस्या इसलिए भी बढ़ जाती है क्योंकि कर दाताओं की सख्या उसमें वही अधिक होती है जबकि कर थोक विक्री अथवा निर्माण स्तर पर लगे। इसमें लेखा प्रणाली की भी कठिनाई आती है, क्योंकि फुटकर स्तर पर हिसाब रखने का ढंग सुव्यवस्थित नहीं होता। इसमें एक स्वरक (built in) लाभ भी होता है। इससे स्वतः ही त्रास चेंबिंग के अवसर आते हैं, क्योंकि प्रत्येक कर दाता कर की पूर्ण धन राशि देने के लिए उत्तरदायी है तथा उसमें तभी बमी कर सकता है जब वह इस बात को सिद्ध कर सके कि उसके द्वारा कुल माल पर कर दिया जा चुका है। इस बात को सिद्ध करने का दायित्व कर दाता पर ही है। इसलिए अपने खरीदे माल का हिसाब ठीक रखना उसके हित में है तथा उसकी खरीद का हिसाब विक्रेता की विक्री का हिसाब होगा, जिससे वह यह सिद्ध कर नकेगा कि उस पर विन्रेता कर दे चुका है।

इसके दोष—इस कर के दोष भी हैं। छोटे-छोटे व्यवसायियों को नियमित हिसाब रखना बहुत खलता है। जो देश एक विन्दु विक्री कर प्रणाली को छोड़कर मूल्य वृद्धि कर प्रणाली पर आना चाहता है उसमें कर दाताओं की सख्या कई गुनी हो जायेगी इससे कर प्रशासन व्यय बढ़ेगा तथा कर प्रणाली बोझिल हो जाएगी।

वास्तव में ब्रिटेन में इसी कारण शासकीय आयोग ने इसकी स्थापना के लिए सिफारिश नहीं की, किन्तु जर्मनी तथा फ्रान्स में कर प्रशासन प्रणाली इस कर के प्रारम्भ में बहुत व्यापक थी। इसलिए इसको अपनाने में व्यय कम हुआ। स्वीडन तथा डेनमार्क में इससे पहले एकाकी स्तर विक्री कर प्रणाली थी। इसलिए इन्होंने प्रशासनिक व्यय की वृद्धि को बड़ी समस्या नहीं समझा।

वृद्धि मूल्य कर की एक मुख्य विशेषता यह है कि इसमें विशेष वस्तुओं अथवा सेवाओं को कर में मुक्त नहीं किया जाता। यह प्रणाली तभी अच्छी तरह कार्यान्वित होती है जब देशी व्यापार में सभी वस्तुओं पर यह कर लगे। इसलिए यह अधिक व्यापक होता है तथा इसमें छूट विक्री अथवा हेर फेर कर की तुलना में कम मिलती है।

वृद्धि मूल्य कर तथा आर्थिक वृद्धि—इस बात की जाँच करना कि इस कर का आर्थिक वृद्धि पर क्या प्रभाव होता है बहुत महत्वपूर्ण है। जो देश कर को अपनायेंगे उनमें यह शासन की आय का मुख्य स्रोत होगा। मुख्य बात यह है कि मूल्य प्रक्रिया तथा वास्तविक साधनों के बटवारे पर किसी प्रकार इससे आर्थिक वृद्धि में रुकावट नहीं आनी चाहिए। इसकी सरलता के कारण ऊपरी अवलोकन से ऐसा नतीजा निकाला जा सकता है कि इससे आर्थिक वृद्धि पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं होगा। मूल्य वृद्धि कर सम्बन्धी साहित्य के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि यह

प्रश्न बहुत ही विवादास्पद है तथा इसके दोनों ही पक्षों में व्यौरेवार तर्क प्रस्तुत किये गए हैं।

इसके पक्ष में तर्क—इस कर के पक्ष में दो मुख्य तर्क हैं : (1) निर्यातों को कर से मुक्ति देने से तथा आयात पर कर लगाने से भुगतान सन्तुलन को लाभ होगा, तथा (2) उत्पादन के लिए निवेश को कर मुक्त करने से तथा उपभोग पर कराधान द्वारा आर्थिक वृद्धि को प्रोत्साहन मिलेगा।

आलोचना—आलोचकों ने इस कर के विरुद्ध कई तर्क दिये हैं। मूल्य स्तर पर इसके प्रतिकूल प्रभाव होंगे। यदि इसके लगाने से कीमतें बहुत बढ़ेंगी तो विशेष-तया उन देशों में जहाँ आप सम्बन्धी नीति कमजोर है, मजदूरी कीमत में एक सर्वांगीण गति आजायेगी, अर्थात् कीमतें लगातार बढ़ेंगी। निर्यातों को कर से मुक्त करने के लाभ शीघ्र ही समाप्त हो जायेंगे, क्योंकि मजदूरी बढ़ने से निर्यात उद्योगों को कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। मुद्रा आय बढ़ने से आयात बढ़ेगी, जिससे भुगतान सन्तुलन स्थिति बिगड़ेगी। इससे वस्तुओं तथा सेवाओं की परेचू माँग पर रोकथाम आवश्यक होगी। इसके फलस्वरूप वृद्धि दर (growth rate) धीमी हो जायेगी।

जहाँ तक निवेश पर प्रभाव का प्रश्न है स्थिति इस प्रकार होगी। व्याज दरों में परिवर्तनों की निवेश पर बड़ी ही अस्थिर अथवा दुस्तुल प्रतिक्रिया होती है। इसलिए यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इस कर के अन्तर्गत निवेश में वृद्धि होगी। किन्तु यदि हमें वृद्धि हो अर्थात् सम्भव है तभी निवेश के प्रसार पर एक भारी परीक्षा होगी। वह यह है कि इस कर के कारण उपभोग कम हो जायेगा। इसके कारण नये निवेश में कमी आयेगी। इसलिए अर्थ-व्यवस्था में अति निवेश (over-investment) तथा अप उपभोग (under-consumption) की स्थिति पैदा हो जायेगी।

उपर्युक्त विश्लेषण से सदा ऐसा प्रतीत होता है कि मूल्य वृद्धि कर अपनाने से अधिक वृद्धि तथा भुगतान शेष स्थिति को होने वाले लाभ निम्न तथ्यों पर निर्भर है : (1) इस कर के अपनाने से मजदूरी कीमत में सर्वांगीण गति न शुरू हो जाये जिसका भुगतान शेष स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़े, तथा (2) उपभोग घटने तथा निवेश बढ़ने से उत्पादन क्षमता के लिए द्वार मिल जायेगा।

वृद्धि मूल्य कर तथा अल्प विकसित देश—यह कर औद्योगिक दृष्टि से विकसित देशों के लिए ही उपयुक्त है, अल्प विकसित देशों के लिए नहीं। अल्प विकसित देशों में इसके अपनाने में प्रशासनिक कठिनाइयाँ उपस्थित होंगी, क्योंकि छोटे-छोटे व्यवसायी हिसाब खाते अच्छे प्रकार से नहीं रख सकते।

इक्कीसवाँ अध्याय

आय, रोजगार तथा राजकोषीय नीति (INCOME, EMPLOYMENT AND FISCAL POLICY)

आय तथा रोजगार के सम्बन्ध में प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के विचार

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री इस बात को मान्यता देते थे कि साधारणतया अर्थ-व्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति रहेगी तथा इसमें उत्पादन तथा आय पूर्ण रोजगार के स्तर के अनुरूप रहेंगे। यह भी सम्भव है कि अल्प काल में यह स्थिति कायम न रहे। इसलिए कुछ हद तक बेरोजगारी हो जाये, किन्तु साधारणतया बेरोजगारी नहीं रहेगी।

इन अर्थशास्त्रियों में जे० बी० से का कथन था कि आपूर्ति अथवा प्रदाय से माँग पैदा होती है, अर्थात् उत्पादन की प्रक्रिया के कारण इतनी आवश्यक आय पैदा होती है जिसमें उत्पादित वस्तुओं की माँग का सृजन (creation) हो जाये। इस आय से उत्पादित वस्तुओं का बच सम्भव होता है। किसी वस्तु के उत्पादन तथा प्रदाय से उसकी माँग उत्पन्न होती है। माँग का स्रोत उत्पादन के घटकों की आय से उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिए मान लिया जाय कि वस्तुओं का उत्पादन 100 करोड़ रुपये है। इसलिए वस्तुओं का प्रदाय 100 करोड़ रुपये होगा। इसका फल यह होगा कि समाज में मजदूरी, व्याज, लाभ आदि के रूप में आय पैदा होगी, जिससे वस्तुएँ खरीदी जायेंगी, अर्थात् वस्तुओं की 100 करोड़ रुपये की माँग होगी।

वस्तुओं के उत्पादन से दो बातें पैदा होगी। एक ओर उत्पादन के घटकों की आय होगी तथा दूसरी ओर जनता के लिए माल उपलब्ध होगा। जो आय जनता को प्राप्त होगी उसका उपयोग वस्तुओं के क्रय के लिए किया जायेगा। ये वस्तुएँ बाजार में बिक्री के लिए उपलब्ध होगी। इसलिए प्रदाय के कारण ही वस्तुओं की माँग उत्पन्न होगी। इसलिए स्थायी रूप में अत्यधिक प्रदाय सम्भव नहीं है और बाजार में वस्तुओं की माँग की कमी हो होगी। किन्तु यदि ऐसी सामग्री तथा श्रम हो, जो उपयोग में आयेंगे, उनके उपयोग में आने से उत्पादित सामग्री को

खरीदने के लिए आवश्यक आय होगी। अतः उत्पादन उस स्तर तक हो जायेगा जब तक सब घटक इकाइयों (factor units) का पूरा उपयोग हो सके।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार जो भी आय अर्थ-व्यवस्था में उत्पन्न होगी उसका स्वतः व्यय हो जायेगा। इसका कुछ भाग उपभोग पर व्यय होगा तथा कुछ भाग भविष्य के लिए बचाकर रखा जायेगा। बचत निवेश के लिए होती है। अतः यह पूँजीगत सामग्री पर व्यय होगी। इसलिए आय उपभोग तथा पूँजीगत उपकरणों पर व्यय होगी। इस प्रकार आय का लगातार स्रोत चलता है। आय व्यय में परणित होती है, य व्यय से आय उत्पन्न होती है तथा यही क्रम चलता रहता है।

इस प्रकार प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार, प्रदाय से स्वतः माँग उत्पन्न होती है। उत्पादन अविक्तत सीमा तथा अर्थात् पूर्ण रोजगार की सीमा तक होगा। इससे पूर्ण रोजगार सम्भव होगा तथा राष्ट्रीय आय पूर्ण रोजगार के स्तर के अनुरूप होगी।

प्रो० पीगू के विचार—जे० बी० से के नियम में बाद के अर्थशास्त्रियों ने सुधार प्रस्तुत किये। प्रो० पीगू के अनुसार, अर्थ-व्यवस्था स्वतः ही पूर्ण रोजगार के स्तर के अनुसार व्यवस्थित हो जाती है, किन्तु ऐसा तभी सम्भव होता है जब मजदूरी तथा मूल्य पूर्णतया नम्य अथवा लचकदार (elastic) हों। देश में बेरोजगारी से मजदूरी कम होगी, जिसके कारण श्रम की माँग बढ़ेगी। इसलिए स्थिति स्वतः ठीक हो जायेगी।

उदाहरण के लिए मान लो कि अर्थ-व्यवस्था में बेरोजगारी है जिससे प्रचलित मजदूरी पर सब व्यक्तियों को रोजगार नहीं मिल पाता। बेरोजगार व्यक्तियों में रोजगार के लिए स्पर्धा के कारण मजदूरी गिरेगी। फलस्वरूप वस्तुओं की माँग बढ़ेगी जिससे उत्पादन तथा रोजगार में वृद्धि होगी। अतः नम्य मजदूरी (flexible wage) तथा मूल्यों की प्रतियोगी अर्थ-व्यवस्था में बेरोजगारी नहीं रह सकती। घर्षणात्मक (frictional) बेरोजगारी तो सम्भव है, क्योंकि कुछ व्यक्ति रोजगार छोड़ेंगे तथा उन्हें दूसरा रोजगार मिलने में कुछ समय लगेगा। इसके साथ-साथ यदि मजदूर संघों के कारण मजदूरी कृत्रिम रूप में ऊँची रखी जायेंगी तब अनैच्छिक (involuntary) बेरोजगारी होगी।

अतः उपर्युक्त विवेचन से तीन परिणाम निकलते हैं : प्रथम, प्रत्येक अर्थ-व्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति रहेगी तथा इसमें पूर्ण रोजगार के स्तर के अनुरूप अविक्तत आय भी उत्पन्न होगी। दूसरे, यदि अर्थ-व्यवस्था पूर्ण रोजगार के स्तर से नीचे रहती है तब इसमें स्वतः ही उपयुक्त रूप में मजदूरी घटकर स्थिति ठीक हो जायेगी तथा पूर्ण रोजगार की स्थिति आजायेगी। तीसरे, घर्षणात्मक तथा अनैच्छिक बेरोजगारी तो बनी ही रहेगी।

जे० वी० से के वाजार नियम का आदाय—

ये आगम्य प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के आय तथा रोजगार के सिद्धान्त की मुख्य विशेषता के सम्बन्ध में हैं जिनको संक्षेप में नीचे लिखा गया है :

(i) उत्पादन तथा उपभोग में स्वत. ही समजन होता है, अर्थात् जो वस्तु बनती है उसका उपभोग होता है। इसलिए शासन को आर्थिक तथा व्यवसायिक मामलों में हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं है।

(ii) जब तक अर्थ-व्यवस्था में साधन व्यर्थ पड़े हैं उन्हें उपयोग में लाना लाभदायक होगा। व्यर्थ पड़े साधनों के उपयोग में आने से उत्पादन की वृद्धि होगी तथा उन साधनों की लागत निकल आयेगी। इसलिए अर्थ-व्यवस्था पूर्ण रोजगार के स्तर पर सम्पन्न होगी।

(iii) अर्थ-व्यवस्था में बेरोजगारी अस्थायी होगी तथा मुद्रा में व्यक्त मजदूरी (*wage expressed in money*) घटने से यह हट सकेगी। मजदूरी घटने पर श्रम की माँग बढ़ेगी, क्योंकि उसका उपयोग लाभदायक सिद्ध होगा। इसलिए रोजगार बढ़ेगा। मजदूरी घटने पर अर्थ व्यवस्था पूर्ण-रोजगार के स्तर पर आ जायेगी।

(iv) वचत निवेश का ही रूप है, अर्थात् जो धन बचाया जाता है उसका निवेश होता है। वचत तथा निवेश में व्याज दर के कारण समता आती है। इन दोनों के बराबर न होने पर व्याज दर में परिवर्तनों से समता स्थापित हो जायेगी। उदाहरण के लिए यदि वचत निवेश से अधिक है व्याज दर घटेगी। इसमें वचत कम होगी तथा निवेश अधिक होगा। इसका फल यह होगा कि व्याज दर में उपयुक्त परिवर्तनों से वचत निवेश के बराबर हो जायेगी।

ऐसे ही जब निवेश वचन से अधिक होगा, व्याज दर बढ़ेगी। फलस्वरूप वचत बढ़ेगी तथा निवेश कम होगा। इसलिए फिर दोनों समान हो जायेंगे।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार एक स्वतन्त्र पूँजीवाद अर्थ-व्यवस्था में पूर्ण रोजगार का सदा आश्वासन रहेगा तथा आय भी पूर्ण रोजगार स्थिति के अनुकूल होगी। इन अर्थशास्त्रियों का यह भी विचार है कि अर्थ-व्यवस्था स्थायी रहेगी। उतार-चढ़ाव कम तथा अस्थायी होंगे, क्योंकि उत्पादन, आय तथा रोजगार में उतार-चढ़ाव व्याज दर तथा मजदूरी में परिवर्तनों द्वारा फिर ठीक हो जायेंगे।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के सिद्धान्त का अलोचनात्मक मूल्यांकन

आय तथा रोजगार के इस सिद्धान्त की प्रो० कीन्स ने कड़ी आलोचना की। कीन्स के अनुसार सब आय का खर्च होना आवश्यक नहीं है। इसलिए सम्पूर्ण माँग की कमी भी हो सकती है। कीन्स ने इस कमी को इस प्रकार समझाया है।

जो आय उत्पादन के कारकों को प्राप्त होनी है उसे वे उपयोग पर व्यय करते हैं तथा उस आय का कुछ भाग बचाया जाता है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री तो इस बात को मानते हैं कि जो भी धन बचता है वह पूँजी में लगा दिया जाता

है, किन्तु कीन्स के अनुसार यह आवश्यक नहीं है। वचत एक वर्ग द्वारा होती है वह पूँजी में लगनी चाहिए तब तक कुल व्यय, अर्थात् प्रभावी माँग उन सब वस्तुओं के मूल्य के बराबर नहीं होगी जो विक्री के लिए उपलब्ध हैं। ऐसी दशा में उत्पादकों के भण्डार में माल बच जायेगा। इसलिए वे उत्पादन घटा देंगे। इससे बेरोजगारी आ जायेगी।

इसी बात को दूसरे ढंग से इस प्रकार रखा जा सकता है। एक आर उपभोक्ता अपनी आय का कुछ भाग बचाते हैं। यह वचत उनकी आय, चालू व्यय तथा उनके धन बचाते के इरादों पर निर्भर है। दूसरी ओर पूँजी लगाने वाले व्यक्ति नये भवनों तथा उपकरणों में धन लगाने का आयोजन करते हैं। निवेश की मात्रा भविष्य में लाभ की प्रत्याशा पर निर्भर होगी। धन बचाने वाले तथा पूँजी लगाने वाले व्यक्ति अलग-अलग हैं। उनकी प्रेरणा के स्रोत भी भिन्न हैं। इसलिए यह आवश्यक नहीं है कि वचत तथा विनियोग बिल्कुल बराबर हो। यदि निवेश की मात्रा वचत से कम है तो प्रभावी माँग कम होगी। ऐसी स्थिति में सब वस्तुएँ चालू कीमतों पर नहीं बिक सकेंगी। इसलिए वचत स्वतः ही निवेश नहीं हो जाती तथा ऐसी कोई निधि नहीं रहती जिससे वचत तथा निवेश समान रहे। इसलिए इन दोनों में अन्तर होगा, जिससे आय तथा रोजगार पर प्रभाव पड़ेगा। यह आवश्यक नहीं है कि कुल वचत पूँजी में लगे। इसका अपसंचय (hoarding) भी हो सकता है।

कीन्स प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के इस विचार को नहीं मानते कि वचत तथा निवेश में समता ब्याज दर द्वारा स्थापित होती है। इसके विपरीत कीन्स का कहना है कि वचत तथा विनियोग ब्याज दर के परिवर्तनों से उदासीन हैं। उदाहरण के लिए धनी व्यक्ति उस समय भी धन बचायेंगे जब ब्याज दर न्यून हो तथा मध्यवर्गीय व्यक्ति मुरादा तथा भविष्य के लिए बचावेंगे। ब्याज दर चाहे कितनी भी हो। कीन्स का यह भी बचन है कि विनियोग जैसी अवस्था नीची ब्याज दर पर निर्भर नहीं है। यह पूँजी की सीमान्त निपुणता पर निर्भर होता है। इसलिए वचत तथा निवेश ब्याज दर पर निर्भर न होकर देश के आय के स्तर पर निर्भर रहते हैं। इसके अतिरिक्त वचत तथा निवेश में अन्तर आय के स्तर के परिवर्तनों पर निर्भर होगा।

कीन्स इस बात को नहीं मानते कि मजदूरी घटने से बेरोजगारी हट जायेगी। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार तो सामान्य बेरोजगारी असम्भव है तथा बेरोजगारी मजदूरी घटाने से हट जायेगी। कीन्स इस तर्क को सत्य नहीं मानते। यदि मुद्रा मजदूरी घटती है तो वस्तुओं की माँग भी घटेगी, क्योंकि मजदूरी घटने से आय घटेगी। इसलिए मजदूरी घटने पर आय तथा रोजगार बढ़ेंगे नहीं, बल्कि घटेंगे। इन दोनों में मूल अन्तर यह है।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का मत—आय तथा रोजगार की मात्रा मजदूरी के स्तर पर निर्भर है। मजदूरी में उपयुक्त परिवर्तनों द्वारा आय तथा रोजगार में

परिवर्तन हो सकते हैं। सामान्यतया अर्थ-व्यवस्था पूर्ण रोजगार के स्तर पर चलेगी।

कीन्स का विचार—आय तथा रोजगार की मात्रा प्रभावी माँग पर निर्भर है। प्रभावी माँग के परिवर्तनों से रोजगार की मात्रा में परिवर्तन होंगे। सामान्यतया अर्थ-व्यवस्था पूर्ण रोजगार के स्तर पर रहे अथवा न रहे।

कीन्स के सिद्धान्त का सारांश

कीन्स के अनुसार किसी देश अथवा समाज में वस्तुओं तथा सेवाओं के लिए कुल माँग मुद्रा आय तथा मुद्रा व्यय के परिमाण द्वारा निर्धारित होती है। मुद्रा आय की वृद्धि से जनता की क्रय शक्ति बढ़ती है। इसका परिणाम यह होता है कि अन्य बातें समान रहने पर वस्तुओं तथा सेवाओं की माँग बढ़ती है। इससे कीमतें बढ़ती हैं। फलस्वरूप उत्पादन तथा रोजगार में वृद्धि होती है। अन्त में आय में वृद्धि होती है। इसके विपरीत जनता की मुद्रा आय घटने से वस्तुओं तथा सेवाओं की माँग घटती है। इससे उत्पादन में कमी होती है, जिसके फलस्वरूप आय तथा रोजगार में कमी आती है।

इस सिद्धान्त की तीन निम्न बातें हैं :—

(i) किसी देश में आय तथा रोजगार का स्तर प्रभावी माँग पर निर्भर होता है।

(ii) प्रभावी माँग की वृद्धि से उत्पादन, आय तथा रोजगार में वृद्धि होती है।

(iii) प्रभावी माँग घटने से उत्पादन, आय तथा रोजगार में कमी आती है।

कीन्स के सिद्धान्त में प्रभावी माँग का विशेष महत्त्व है। माँग का अर्थ है जनता वस्तुओं तथा सेवाओं को खरीदने की इच्छा है तथा इसके पास पर्याप्त क्रय शक्ति भी है। पहले लेखकों ने जिसे माँग कहा, और कीन्स उसे प्रभावी माँग कहते हैं। माँग शब्द में उपभोग की सामग्री तथा पूँजीगत वस्तुओं आदि की माँग शामिल है। इसका अभिप्राय उस लक्ष्य से है जिसका आयोजन उपभोक्ता तथा उत्पादक किसी काल के लिए कर रहे हैं। इसलिए समाज की प्रभावी माँग उसके व्यय से ही नापी जा सकती है। इसमें उपभोग सम्बन्धी व्यय तथा निवेश दोनों ही सम्मिलित हैं।

उपभोग तथा बचत

उपभोग तथा उपभोग व्यय का अर्थ—प्रत्येक कुटुम्ब अपनी आय का कुछ भाग उपभोग पर व्यय करता है। कुछ लोग तो सब आय उपभोग की वस्तुओं पर ही व्यय करते हैं। इसलिए समाज भी आय का कुछ भाग उपभोग पर व्यय करता है। आय का जो भाग इस प्रकार व्यय किया जाता है, उपभोग व्यय कहलाता है। इसे उपभोग की औसत प्रवृत्ति (average propensity to consume) कहते हैं। एक व्यक्ति अपनी आय का 80 प्रतिशत भाग उपभोग सम्बन्धी वस्तुओं पर व्यय

करता है। समाज भी राष्ट्रीय आय का 80 प्रतिशत अथवा अधिक भाग उपभोग पर व्यय करता है। समाज का उपभोग सम्बन्धी व्यय निम्न कारकों पर निर्भर होता है :

(1) समाज की कुल आय—समाज की जितनी अधिक आय होगी उनी अनुपात में आय का कम भाग उपभोग पर व्यय होगा।

(2) समाज की पिछली बचत—बचा हुआ धन भी चालू आय के साथ वस्तुओं तथा सेवाओं के क्रय में इस्तेमाल हो सकता है।

(3) व्याज दर—व्याज दर जितनी अधिक होगी बचत उतनी ही अधिक होगी तथा उपभोग उतना ही कम होगा।

इन कारकों में आय का प्रमुख स्थान है। समाज का चालू व्यय एक व्यक्ति की तरह उसकी चालू आय पर निर्भर होता है। आय कम होने पर बचत का भी उपयोग हम के लिए किया जा सकता है। सामान्यतया व्यक्ति बचत का उपयोग उपभोग व्यय के लिए नहीं करते। जीवन बीमा तथा प्रावीडेंट फंड आदि का धन निश्चित समय पर मिलता है। इसलिए बचत उपभोग के लिए इस्तेमाल नहीं होती। व्याज दर का चालू उपभोग पर बहुत प्रभाव नहीं होता। किन्तु व्याज दर बढ़ने पर बचत बढ़ती अवश्य है, क्योंकि कुछ व्यक्ति व्याज दर उँची होने पर अधिक धन बचाते हैं। वास्तव में आय का स्तर ही व्यय के स्तर को प्रभावित करता है। —

उपभोग करने की औसत तथा सीमान्त प्रवृत्ति—किमी व्यक्ति की आय का जो भाग उपभोग के रूप में व्यय किया जाता है उसके उपभोग करने की प्रवृत्ति कहलाता है। उपभोग करने की औसत प्रवृत्ति तथा सीमान्त प्रवृत्ति में अन्तर है। किसी समय की कुल आय के उपभोग सम्बन्धी कुल व्यय को उपभोग की औसत प्रवृत्ति कहते हैं। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति अपनी सब आय अथवा उसका कुछ भाग खर्च कर देता है। यदि वह अपनी 80 प्रतिशत आय उपभोग पर खर्च करता है तो उसकी उपभोग करने की औसत प्रवृत्ति 80 प्रतिशत है।

$$APC = \frac{\text{Total consumption}}{\text{Total income}} = \frac{C}{Y}$$

उपर्युक्त समीकरण में C उपभोग के लिए है तथा अक्षर Y आय का प्रतिनिधित्व करता है।

सीमान्त उपभोग की प्रवृत्ति से अभिप्राय है अतिरिक्त आय का अतिरिक्त उपभोग। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति की 10 रुपये अतिरिक्त आय है, जिसमें से 9 रुपये वह खर्च करता है तथा शेष बचाता है। उसकी व्यय करने की अतिरिक्त प्रवृत्ति 9 अर्थात् 9/10 है। उपभोग करने की सीमान्त प्रवृत्ति का सूत्र यह है

$$MPC = \frac{\text{Change in consumption}}{\text{Change in income}} = \frac{\Delta C}{\Delta Y}$$

इसमें ΔC उपभोग के अतिरिक्त व्यय को व्यक्त करता है तथा ΔY अतिरिक्त आय को व्यक्त करता है। इसलिए

$$APC = \frac{C}{Y}$$

$$MPC = \frac{\Delta C}{\Delta Y}$$

बचत की औसत तथा सीमान्त प्रवृत्ति—सामान्यतः एक कुटुम्ब की आय का कुछ भाग व्यय होता है तथा कुछ बचता है। इसलिए आय = उपभोग + बचत

$$Y = C + S$$

साधारणतया बचत आय के बढ़ने के साथ बढ़ेगी। आय के कम स्तरों पर उपभोग कुल आय से अधिक भी हो सकता है, क्योंकि चालू आय न्यूनतम आवश्यकताओं के लिए भी पर्याप्त न हो। आय की वृद्धि से बचत बढ़ेगी।

बचत की औसत प्रवृत्ति से अभिप्राय आय के उस भाग से है जो बचाया जाता है, किन्तु बचत की सीमान्त प्रवृत्ति से अभिप्राय है अतिरिक्त आय में से अतिरिक्त बचत से।

$$APC = \frac{\text{Volume of saving}}{\text{Additional income}} = \frac{S}{Y}$$

$$MPC = \frac{\text{Additional saving}}{\text{Additional income}} = \frac{\Delta S}{\Delta Y}$$

उपभोग तथा बचत की औसत तथा सीमान्त प्रवृत्ति एक काल्पनिक आय-व्यय सूची की सहायता से नीचे व्यक्त की गई है

उपभोग तथा बचत की प्रवृत्ति

वास्तविक आय रूपों में	उपभोग र०	APC %	MPC	बचत र०	APS %	MPS
1,000	1,200	120	—	200	20	—
2,000	2,200	110	8	0	0	2
3,000	2,700	90	7	300	10	3
4,000	3,400	85	7	600	15	3
5,000	4,000	80	6	1,000	20	4
6,000	4,500	75	5	1,500	25	5
7,000	4,900	70	4	2,100	30	6

उपर्युक्त सूची में उपभोग करने की औसत प्रवृत्ति उपभोग सम्बन्धी व्यय की आय में भाग देकर निकाली गई है। उदाहरण के लिए, 6,000 रुपये की आय पर कल्पित उपभोक्ता 4,500 रुपये व्यय करता है। वह अपनी आय का 75 प्रतिशत भाग व्यय करता है। इसी प्रकार 7,000 रुपये की आय पर वह 70 प्रतिशत व्यय करता है। इस प्रकार वार्षिक आय की वृद्धि के साथ उपभोग सम्बन्धी व्यय बढ़ता है लेकिन उपभोग सम्बन्धी व्यय में वृद्धि आय की वृद्धि के बराबर नहीं होती। उदाहरण के लिए, 2,000 रुपये तथा 3,000 रुपये के बीच की आय में 1,000 रुपये की वृद्धि हुई, किन्तु अतिरिक्त उपभोग 700 रुपये है। इसलिए उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति $\frac{700}{1000} = 0.7$ है। इसी प्रकार 3,000 से 4,000 तक आय की वृद्धि 1,000 है, किन्तु अतिरिक्त उपभोग सम्बन्धी व्यय केवल 600 रुपये है। इसलिए उपभोग करने की सीमान्त प्रवृत्ति $\frac{600}{1000} = 0.6$ है।

उपभोग का मनोवैज्ञानिक नियम

उपर्युक्त विवेचन से निम्न निष्कर्ष निकलते हैं

(1) उपभोग सम्बन्धी व्यय की वृद्धि आय की वृद्धि से कम होगी। उपर्युक्त तालिका से यह सिद्ध होता है कि आय की वृद्धि के साथ उपभोग पर आय का अनुपात घटता जाता है। उदाहरण के लिए 2,000 रुपये की आय सब खर्च हो जाती है, किन्तु जब आय बढ़कर 3,000 रुपये होती है तब 90 प्रतिशत ही व्यय होता है। उपभोग पर यह अनुपात 7,000 रुपये की आय पर 70 प्रतिशत रह जाता है। कारण समझना सरल है। थोड़ी आय के व्यक्ति की आय उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं होती। इसलिए वह कुछ नहीं बचा सके तथा सब आय खर्च हो जाय। आय इतनी कम हो सकती है कि या तो उसे पिछली वचत, यदि हो, व्यय करनी पड़े या ऋण लेना पड़े। लेकिन जैसे जैसे आय बढ़ेगी उसकी अधिकाधिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो जायेगी। इसलिए उपभोग पर बढ़ती हुई आय का भाग घटेगा तथा वचत का अनुपात बढ़ेगा।

(2) अतिरिक्त आय का कुछ भाग उपभोग पर खर्च होगा तथा कुछ बचेगा। उपभोग पर बढ़ती आय का भाग घटेगा, वचत पर अनुपात बढ़ेगा। इसलिए आय बढ़ने पर वचत तथा उपभोग दोनों बढ़ेंगे, किन्तु उपभोग पर अनुपात घटेगा तथा वचत पर बढ़ेगा जैसा कि उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है।

(3) आय बढ़ने पर व्यय अथवा उपभोग तथा वचत दोनों ही बढ़ेंगे। इन तीनों बातों को कोन्स का उपभोग सम्बन्धी मनोवैज्ञानिक नियम कहते हैं। इसमें तीन मान्यताएँ हैं —

(1) अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा स्थिति तथा अपस्फीति आदि अमाधारण स्थिति नहीं हो।

(2) अल्पाविधि में उपभोग की प्रवृत्ति ज्यों की त्यों बनी रहेगी, क्योंकि व्यक्तियों के खर्च करने की आदत में परिवर्तन नहीं होगा, आय को छोड़कर उपभोग सम्बन्धी अन्य बातों में अल्प काल में परिवर्तन नहीं होगा। आय के वितरण का प्रतिरूप, मूल्य स्तर, जन सख्या आदि में अल्प काल में विशेष परिवर्तनों की सम्भावना नहीं है। किन्तु यदि ऐसा हुआ तब उपभोग की प्रवृत्ति भी अल्प काल में बदल सकती है।

(3) अर्थ-व्यवस्था शासनिक नियन्त्रण से मुक्त होनी चाहिए। उदाहरण के लिए, यह सम्भव है कि आय बढ़ने के साथ शासन उपभोग पर कुछ प्रतिबन्ध लगा दे।

(4) सामान्यतः यह नियम उन्नतिशील अर्थ-व्यवस्थाओं में लागू होता है, जहाँ प्रति व्यक्ति आय अधिक होती है। पिछड़ी अर्थ-व्यवस्था में यह लागू न भी हो, क्योंकि वहाँ जन साधारण की आय बहुत कम होती है, जिससे वे अपना जीवन निर्वाह भी कठिनाई से कर पाते हैं। हो सकता है कि वे अपनी कुल आय उपभोग पर व्यय करें। पिछड़ी अर्थ-व्यवस्था में कुछ वर्ग के व्यक्ति ही बचत कर सकते हैं। इसलिए अल्प विकसित देशों में बचत आय का प्रतिशत ही होती है। इसकी वृद्धि के लिए अल्प विकसित देशों में आर्थिक नियोजन की व्यवस्था हो रही है।

उपभोग तथा बचत के कारक

उपभोग की प्रवृत्ति अथवा उपभोग कार्य तथा बचत निम्न कारकों पर निर्भर होती है

(1) प्रति व्यक्ति आय का स्तर—आय जितनी अधिक होगी उसका उतना ही कम अनुपात व्यय होगा तथा अधिक अनुपात बचाया जायेगा।

(2) राष्ट्रीय आय का स्तर—राष्ट्रीय आय के स्तर का प्रभाव भी व्यय तथा बचत पर सामूहिक रूप में होता है। राष्ट्रीय आय के बढ़ने से उपभोग की प्रवृत्ति घटेगी तथा बचत की प्रवृत्ति बढ़ेगी।

(3) राष्ट्रीय आय का वितरण—आय के वितरण के प्रतिरूप का भी प्रभाव उपभोग तथा बचत की प्रवृत्ति पर होता है। धनी व्यक्तियों से गरीबों में आय के हस्तान्तर से बचत की प्रवृत्ति बढ़ेगी।

(4) आय की प्रकृति—आय स्थिर है अथवा बदलती रहती है इसका भी प्रभाव उपभोग की प्रवृत्ति पर होता है। स्थिर आय के व्यक्तियों में बचत की प्रवृत्ति कम तथा व्यय की अधिक होगी।

(5) वस्तुओं की उपलब्धता—उपभोग सम्बन्धी आय वस्तुओं तथा सेवाओं की उपलब्धता पर निर्भर होता है। यदि आवश्यक वस्तुएँ सरलता से उपलब्ध नहीं हों तो व्यय कम होगा अथवा उन्हीं पर अधिक व्यय करना होगा, लेकिन बचत अधिक होने की सम्भावना हो सकती है, क्योंकि जब वस्तुएँ कम उपलब्ध होंगी तो बहुत ही आवश्यक वस्तुएँ खरीदी जायेंगी।

(6) कराधान नीति—शासन की कराधान नीति का उपभोग काय पर बहुत प्रभाव होता है। करो में कमी होने से उपभोग पर व्यय बढ़ सकता है, किन्तु करों की वृद्धि का इसके विरुद्ध प्रभाव होगा। वस्तुओं पर करों की वृद्धि के कारण उनकी कीमतें बढ़ेंगी जिससे बचत की प्रवृत्ति घटेगी।

बचत
बचतें तीन प्रकार की होती हैं : (1) व्यक्तिगत बचत जो आय तथा व्यय का अन्तर होता है, (2) सकल व्यवसायों की बचत जिसमें कम्पनियों आदि की सुरक्षित रखी मूल्य ह्रास की छूट तथा अतिरिक्त मुनाफे के रूप में आय होती है, तथा (3) शासकीय बचत जो आय में से व्यय घटाने के पश्चात् होती है। प्रतिष्ठित अर्थ-शास्त्रियों के अनुसार उपभोग कम करके धन बचाना एक गुण है। इसके अतिरिक्त जे० बी० से के अनुसार बचत निवेश ही है, क्योंकि बचाया गया धन व्यवसाय में पूँजी के रूप में लगाया जायेगा।

इसकी आलोचना कीन्स से पहले भी कई अर्थशास्त्रियों ने की थी, जिनके अनुसार बचत माँग की कमी से होती है जिसके फलस्वरूप अति उत्पादन तथा आर्थिक मन्दी होती है जिससे राष्ट्रीय आय घटती है तथा बेरोजगारी बढ़ती है।

कीन्स के अनुसार बचत न तो वाछनीय है न अव्यावहारिक है। यदि बचाया हुआ धन पूँजी के रूप में लगाया जाता है तब माँग की कमी का प्रश्न नहीं उठता। बचत के कारण प्रभावी माँग की कमी होती है जबकि वह व्यवसाय में न लगाई जाये। कीन्स के अनुसार यह भी आवश्यक नहीं है कि व्यक्ति की बचत से समाज में बचत बढ़े। समाज में एक व्यक्ति का व्यय दूसरे की आय है। इसलिए यदि एक व्यक्ति अपना व्यय घटाता है, तो अन्य कुछ व्यक्तियों की आय घटती है, जिससे उनकी बचत कम होती है। इसलिए कीन्स के अनुसार यदि एक व्यक्ति व्यय घटाकर बचत बढ़ाता है तो समाज की सकल बचत पहले स्तर पर ही रहेगी।

कीन्स यह भी कहते हैं कि यदि सब व्यक्ति अपना खर्च घटाकर धन जमा करते हैं तब वस्तुओं की माँग घट जायेगी तथा उत्पादन स्तर तथा रोजगार घटेगा। अन्त में आय भी कम हो जायेगी। आय कम होने पर बचत भी कम होगी। इससे मन्दी आ सकती है। एक व्यक्ति के लिए बचत सद्गुण हो सकता है, किन्तु समाज के यह हित में नहीं होगा। यह ध्यान रहे कि बचत से अभिप्राय केवल ऐसे धन से है जो न खर्च किया जाता है, न पूँजी के रूप में लगाया जाता है।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों तथा कीन्स में एक यह भी अन्तर है कि उन अर्थ-शास्त्रियों के अनुसार बचत व्याज दर पर निर्भर रहती है। जितनी ऊँची व्याज दर होयों बचत उतनी ही अधिक होगी। कीन्स के अनुसार बचत व्याज दर पर नहीं, बल्कि आय के स्तर पर निर्भर होती है। आय जितनी अधिक होगी, बचत उतनी ही अधिक होगी। कीन्स के अनुसार बचत आय का ही कार्य है यद्यपि व्याज दर से इसका सम्बन्ध रहता ही है।

निवेश—नेट निवेश का अर्थ है प्रचलित पूँजी में व्यावसायिक भवनो, कच्चा माल आदि के रूप में नेट वृद्धि होना। वित्तीय तथा वास्तविक निवेश में अन्तर है। एक व्यक्ति उपभोग में कमी द्वारा आय बचा कर बैंक में जमा करता है अथवा सम्पत्ति खरीदता है। वह पूँजी लगाता है, किन्तु यह सम्भव है कि यह वित्तीय निवेश ही हो। उसे इससे व्याज मिल जाय, किन्तु इससे अर्थ-व्यवस्था में पूँजी की वृद्धि नहीं होती। वास्तविक वित्त तब होता है जब कोई व्यक्ति केवल फैक्टरी अथवा वर्कशाप खोलता है। इससे अर्थ-व्यवस्था में उत्पादन शक्ति बढ़ती है। इसलिए वास्तविक निवेश का अर्थ-व्यवस्था की दृष्टि से महत्त्व है।

निवेश के कारक—निवेश दो बातों पर निर्भर होता है : (1) पूँजी की सीमान्त निपुणता, तथा (2) व्याज दर। निवेश का उद्देश्य लाभ अर्जित करना है। लाभ निवेश का प्रतिफल है। किसी भी निवेश से लाभ की प्रत्याशित दर पूँजी की सीमान्त निपुणता कहलाती है। यह अनिश्चित निवेश की उत्पादकता है। इससे अभिप्राय नई पूँजीगत सम्पत्ति पर लाभ की प्रत्याशित दर से है। यहाँ निपुणता का अर्थ नये निवेश की लागत पर मुनाफे की दर में है। सीमान्त कर का अर्थ अतिरिक्त इकाई से है। व्यवसायी तभी पूँजी लगायेंगे जब वे निवेश को लाभदायक समझेंगे।

जब कोई व्यवसायी नई पूँजी लगाता है तब या तो वह धन उधार लेगा या अपने पास के साधन लगायेगा। उधार लेकर लगाने में उसे व्याज देना होगा। अपने पास की पूँजी लगाने में उसे व्याज की हानि होगी, जो उसे दूसरों को उधार देने में मिलता। व्याज निवेश की कीमत है। इसलिए जब उद्यमी पूँजी लगाने का निणय लेता है तो उसे व्याज दर तथा प्रत्याशी मुनाफे का ध्यान रखना होगा। फर्म पूँजीगत उपकरण तभी खरीदेगी जब उसे यह आशा होगी कि उस पर आय अथवा लाभ की दर उधार लिए गये धन पर व्याज दर से अधिक है।

पूँजी निवेश की वृद्धि से उसकी सीमान्त निपुणता कम होगी। इसके दो विरोधी प्रभाव होंगे। प्रथम, निवेश बढ़ाने से उपकरण की माँग तथा उसकी कीमत बढ़ेगी। दूसरे, इससे उत्पादन बढ़ेगा तथा वस्तुओं की कीमतें बढ़ेंगी तथा दूसरी ओर मशीन की कीमत बढ़ेगी तथा दूसरी ओर वस्तु की कीमत घटती है। इन दो शक्तियों के कारण अतिरिक्त निवेश के प्रभाव के कारण मुनाफे की प्रत्याशित दर घटेगी।

वचन तथा निवेश

कॉन्स ने अपनी सुविख्यात रचना रोजगार, व्याज तथा मुद्रा के सामान्य मिद्धान्त में यह बताया है कि वचन तथा निवेश मदा किस तरह समान रहते हैं। आर्थिक प्रक्रिया से प्राप्त सब आयों का योग राष्ट्रीय आय कहलाता है। इस आय का कुछ भाग उपभोग सम्बन्धी वस्तुओं पर व्यय होता है तथा कुछ भाग बचाया जाता है। इस प्रकार

वचन = आय — उपभोग

$$S = Y - C$$

दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि राष्ट्रीय आय उत्पादन के परिमाण का मुद्रा मूल्य है। उत्पादन में उपभोग की तथा पूँजीगत वस्तुएँ सम्मिलित हैं।

निवेश = आय — उपभोग

$$I = Y - C$$

इस प्रकार वचत तथा निवेश आय से उपभोग निकाल कर आते हैं। इसलिए दोनों बराबर हैं।

वचत तथा निवेश की समानता पर विवाद

वचत तथा निवेश बराबर है, किन्तु व्यवहार में ऐसा होना आवश्यक नहीं है, क्योंकि इन दोनों की व्यवस्था भिन्न-भिन्न व्यक्तियों अथवा संस्थाओं द्वारा भिन्न भिन्न कारणों से की जाती है। हो सकता है धन बचाने वाले व्यक्ति धन निवेश के लिए ही बचाएँ। कम्पनी अपनी अर्जित आय का कुछ भाग व्यवसाय के प्रसार में लगायेगी। वचत भविष्य के लिए भी की जाती है, जिससे कुटुम्बियों के लिए व्यवस्था हो जाये। इस सम्बन्ध में वचत का निवेश से कोई प्रयोजन नहीं है। दूसरी ओर व्यवसायी, व्यापारी तथा उत्पादक धन व्यवसायों तथा उद्योगों में लगाते हैं। निवेश दो बातों पर निर्भर होता है : (1) अतिरिक्त निवेश से प्रत्याशित आय पर, तथा (2) धन उधार लेने की लागत पर। इस प्रकार वचत तथा निवेश भिन्न भिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न-भिन्न उद्देश्यों से किये जाते हैं। इसलिए दोनों समान न हो यह भी सम्भव है। इन दोनों में भिन्नता भी हो सकती है जिससे व्यवसायिक उतार चढ़ाव होते हैं। वचत निवेश से अधिक होने पर मन्दो तथा कम होने पर तेजी होती है।

इस प्रकार दो विरोधी परिस्थितियाँ हैं : (1) परिभाषा के अनुसार वचत तथा निवेश बराबर होते चाहिए, किन्तु (2) यह दोनों भिन्न भी हो सकते हैं। पहली स्थिति समाज में योजनावद्ध वचत तथा योजनावद्ध निवेश दोनों में समानता के कारण होती है, किन्तु कितनी वचत होगी तथा कितना निवेश होगा इन दोनों बातों के निर्णय अलग अलग व्यक्ति वर्ग करते हैं। उनके उद्देश्य भी अलग अलग होते हैं। (3) इन दोनों में अन्तर इसलिए हो सकता है कि वास्तविक व्यावसायिक परिस्थिति प्रत्याशित परिस्थिति से भिन्न हो सकती है।

वचत का निवेश से अधिक होना—उदाहरण के लिए मान लें कि योजनावद्ध वचत योजनावद्ध निवेश से अधिक है। ऐसा तभी हो सकता है जब समाज में अधिक वचत करने का निर्णय लिया जाय अथवा उद्यमी धन कम लगाने का निर्णय लें। मान लो, समाज की मौद्रिक आय 100 करोड़ रुपये है, जिसका 75 प्रतिशत उपभोग पर लागू जाता है तथा शेष 25 प्रतिशत भाग वचता है। समाज में 25 करोड़ की वचत होती है। इसका तत्काल यह फल होगा कि उपभोग में 25 करोड़ रुपये की कमी होगी। यदि विनियोग भी उतना ही बढ़ जाये, अर्थात् 25 करोड़ रुपये हो जाय तब

आय का सकल परिमाण 75 करोड़ उपभोग + 25 करोड़ निवेश = 100 करोड़ होगा।

किन्तु यह भी हो सकता है कि निवेश पहले जितना ही रहे अथवा घट भी जाय। यह देखकर कि उपभोग में कमी हो रही है उत्पादक निवेश बढ़ाने के इच्छुक न हो। ऐसा होने पर भविष्य में राष्ट्रीय आय पहले की तुलना में घट जायेगी। स्थिति इस प्रकार होगी।

उपभोग	विनियोग	आय
75 करोड़ रु०	+ 20 करोड़ रु०	= 95 करोड़ रु०

इसका फल यह होगा कि आगे वचत कम हो जायेगी तथा इस प्रकार वचत तथा निवेश फिर समान हो जायेंगे।

विनियोग बचत से अधिक—मान लो, विनियोग वचत से अधिक है। ऐसा तभी होगा जब उद्योगपति उस धन से अधिक लगायें जिसे समाज में बचाने का निर्णय लिया गया है। धन लगाने वाले व्यक्ति पिछली वचत का उपभोग कर सकते हैं अथवा बैंको तथा विनीय मस्थाओं से दीर्घकालीन ऋण लेकर उद्योगों में लगा सकते हैं। इससे पूँजीगत मामूरी तथा उत्पादन के कारकों की माँग बढ़ेगी। साथ साथ समाज की आय भी बढ़ेगी जिसके कारण उपभोग वस्तुओं की प्रभावी माँग में वृद्धि होगी। इसका फल यह होगा कि राष्ट्रीय आय, वस्तुओं की कीमतों तथा रोजगार के अवसरों में वृद्धि होगी। राष्ट्रीय आय की वृद्धि से योजनाबद्ध वचत बढ़ेगी जो अन्त में निवेश के बराबर आ जायेगी।

इस प्रकार अर्थ-व्यवस्था की तीन स्थितियाँ सम्भव हैं :

(1) योजनाबद्ध वचत तथा योजनाबद्ध निवेश समान हो सकते हैं। इस स्थिति में मूल्य स्तर तथा राष्ट्रीय आय उद्योगों के हथों रहेंगे।

(2) योजनाबद्ध वचत योजनाबद्ध निवेश से अधिक हो सकती है। इस स्थिति में आय, उत्पादन, रोजगार तथा मूल्य स्तर घटेंगे।

(3) योजनाबद्ध निवेश योजनाबद्ध वचत से अधिक हो सकता है। इस स्थिति में आय, उत्पादन, रोजगार तथा मूल्य स्तर बढ़ेंगे ✓

कीन्स ने इस सन्दर्भ में राजकोषीय अथवा राज्य द्वारा कराधान तथा सार्वजनिक व्यय नीति के उपयोग का सुझाव दिया है जिससे वचत तथा निवेश में समता बनी रहे। निजी निवेश के वचत में कम होने पर आय, रोजगार आदि घटेंगे। ऐसी दशा में राज्य अपना व्यय बढ़ा कर इस कमी की पूर्ति कर सकता है। नये उद्योग राजकीय क्षेत्र में प्रारम्भ किये जा सकते हैं, जिन्हें निवेश तथा रोजगार बढ़ें। यदि पूर्ण रोजगार की स्थिति के पश्चात् निजी निवेश वचत से बढ़ जाता है, तब शासन कर बढ़ा कर तथा व्यय घटाकर स्थिति पर नियन्त्रण कर सकता है। इसे पूरक वित्त (compensatory finance) स्थिति कहते हैं। इसका उद्देश्य पूर्ण रोजगार के स्तर पर वचत तथा निवेश में समता लाना है।

कीन्स के आय तथा रोजगार के सिद्धान्त में निवेश का महत्त्व

कीन्स के आय तथा रोजगार के सिद्धान्त में निवेश का विशेष महत्त्व है। यदि प्रभावी माँग अपर्याप्त है जैसा मन्दी काल में होता है तथा अथवा निवेश वचत से कम है तब अर्थ-व्यवस्था में आय तथा रोजगार घटेंगे। प्रभावी माँग दो प्रकार से बढ़ सकती है। उपभोग व्यय में वृद्धि अथवा निवेश में वृद्धि द्वारा यदि उपभोग व्यय ज्यों का त्यों रहता है तब निवेश की वृद्धि से ही प्रभावी माँग बढ़ सकती है। निवेश पूँजी की सीमान्त निपुणता तथा व्याज दर पर निर्भर है। व्याज दर का महत्त्व पूँजी की सीमान्त निपुणता के बराबर नहीं है। इसलिए कीन्स के अनुसार निजी निवेश लाभ की प्रत्याशा तथा पूँजी की सीमान्त निपुणता पर निर्भर है। मन्दी काल में यह घट जाता है। इसलिए कीन्स का कहना है कि ऐसे समय में राज्य को मार्बेजिनिक व्यय की योजनाएँ बनानी चाहिए। इनमें निवेश का उद्देश्य मुनाफा नहीं होगा। यह निवेश लाभ पर निर्भर नहीं होगा, बल्कि जनता के कल्याण की वृद्धि के लिए होगा। इस प्रकार मन्दी काल में घटती हुई आय तथा रोजगार के जब्तारों की वृद्धि मार्बेजिनिक निवेश बढ़ाकर सम्भव हो सकती है।

दाल रोटी खाओ
लूटो के गुण जाओ



'बाईसवां अध्याय
कार्यात्मक वित्त
(FUNCTIONAL FINANCE)

पहले अर्थशास्त्रियों के अनुसार सार्वजनिक वित्त में उन सिद्धान्तों का विवेचन किया जाता है जिनके अनुसार शासन सार्वजनिक प्रक्रियाओं के अनुपालन के लिए आय प्राप्त करता है तथा उसका व्यय करता है सार्वजनिक प्रक्रियाओं का अर्थ देश में शान्ति स्थापित रखना, विदेशी आक्रमण से बचाव करना तथा लोक चिकित्सा सम्बन्धी सुविधायें देना है। इन कर्तव्यों के अनुपालन के लिए धन की आवश्यकता होती है जिसे राज्य सुचारू रूप में जनता से प्राप्त करता है तथा उसे निपुणता से व्यय करता है। लोक आय, लोक व्यय, ऋण व्यवस्था तथा वित्तीय संचालन ऐसे परम्परागत मुद्दे थे जिनके अन्तर्गत लोक वित्त का विवेचन होता था।

धीरे-धीरे जब राज्य के कर्तव्यों का प्रसार हुआ तथा यह धारणा हुई कि साधनों का उपयोग जनता की अन्म इच्छाओं की पूर्ति के लिए भी किया जा सकता है। फिर भी लोक वित्त का क्षेत्र उन्हीं सिद्धान्तों के अध्ययन तक सीमित रहा जिनके अनुसार सार्वजनिक कर्तव्यों की पूर्ति के लिए धन की प्राप्ति तथा उसका व्यय होता है। लोक वित्त के क्षेत्र के इस प्रकार परिसीमन को कुछ लेखकों ने अ-कार्यात्मक वित्त की संज्ञा दी है।

इन सीमित उद्देश्यों के अतिरिक्त शासन आज अन्य कार्य भी कर सकता है तथा करता है। उदाहरण के लिए राज्य बेरोजगारी को घटाने का प्रयास करता है। यदि रोजगार की कमी यातायात के साधनों की कमी के कारण है तो सबको तथा रेलें बनाई जा सकती हैं। बेरोजगारी को यदि निजी उद्यम प्रणाली की क्षमता बढ़ाने के लिए सहायता करने से घटाया जा सकता है तब यह प्रयास भा राज्य को करना चाहिए। धन तथा आय के वितरण की असमानता भी घटाई जा सकती है। ये सब कार्य लोक वित्त के परम्परागत उद्देश्यों में आते हैं। आधुनिक तथा परम्परागत

लोक वित्त में अन्तर उद्देश्यों का नहीं, बल्कि इस बात का है कि इन उद्देश्यों की पूर्ति किन साधनों से की जाये।

आधुनिक लोक वित्त के उद्देश्य

आधुनिक लोक वित्त का मूल उद्देश्य अधिकतम सामाजिक कल्याण है।

इसमें सभी उद्देश्यों का समावेश होता है। शासन की उन सब प्रक्रियाओं का समावेश जो लोक वित्त के अन्तर्गत आती हैं इसी उद्देश्य में निहित है। किन्तु प्रयासक वर्ग यह नहीं समझते कि सामाजिक कल्याण किन मुख्य बातों में निहित है, तथा उसकी अधिकतम सीमा क्या है। व्यक्ति तो अपने हित में इस सम्बन्ध में समझ सकता है कि विशेष परिस्थिति में उनका अधिकतम कल्याण किन बातों पर निर्भर है।

इस सम्बन्ध में बहुत सी बातें हैं जिन पर ध्यान दिया जाना चाहिए। इन उद्देश्यों में एक आय का उद्देश्य है। एक साधारण नागरिक को आय अधिकतम होनी चाहिए, अर्थात् प्रति व्यक्ति आय अधिकतम होनी चाहिए जिससे जनता का जीवन स्तर बढ़े। आय में उतार चढ़ाव भी कम हो। यदि प्रति व्यक्ति आय बराबर बढनी रहे तो बहुत अच्छा हो, किन्तु अस्थिर आय की तुलना में स्थिर आय को तरजोह दी जानी चाहिए। जहाँ तक हो आय में भारी असमानता नहीं होनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि राष्ट्रीय आय कुछ कम भी हो लेकिन उसका वितरण अच्छा हो तो यह स्थिति उससे अच्छी है जबकि राष्ट्रीय आय अधिक है, किन्तु उसका वितरण बहुत असमान है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि आय में असमानता की कमी करना लोक वित्त का एक उपयुक्त उद्देश्य है।

दूसरे, रोजगार का प्रश्न है। रोजगार की तुलना में आय अधिक मौलिक उद्देश्य है, क्योंकि रोजगार तो आय प्राप्त करने का एक माधन ही है, फिर भी रोजगार लोक वित्त का एक मुख्य उद्देश्य है। बेरोजगारी के कारण मौद्रिक आय तों घटती ही है, इससे नैराश्य भी वृद्धि होती है तथा इससे चयन भग होता है। यह हो सकता है कि कुछ बेरोजगारी के साथ राष्ट्रीय आय अधिकतम हो जाये, किन्तु रोजगार की वृद्धि बांछनीय हो जाती है, जिससे जनता का जीवन अधिक सुखमय हो तथा उन्हें यह आभास न हो कि वे सार्वजनिक दानशीलता पर निर्भर हैं। उत्पादन के अन्य साधनों का उपयोग भी आवश्यक है, किन्तु इसका उद्देश्य आय को अधिकतम सीमा तक ले जाना है। इसलिए सार्वजनिक वित्त के उपकरणों का उपयोग देश की अर्थ-व्यवस्था में ऐसे परिवर्तन करने का होना चाहिए जिससे जनता में बेरोजगारी पड़े।

अल्प रोजगार के कारण

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का विश्वास था कि आर्थिक शक्तियों को मुक्त छोड़ने से साधनों का स्वतः ही अधिकतम उपयोग होगा, किन्तु वास्तव में ऐसा हो नहीं

पाता। इसके बहुत से कारण हैं। मानलो एक कारक का पूर्ण उपयोग होता है तथा अन्य कारकों का पूर्ण उपयोग इसलिए नहीं हो पाता क्योंकि उत्पादन के अन्य साधनों का प्रदाय पर्याप्त मात्रा में लचीला नहीं है। अन्य साधनों की वृद्धि की कुछ प्रौद्योगिक सीमायें (technological limits) भी हैं। इसलिए पूँजी का पूरा उपयोग होने पर भी श्रम के लिए पूर्ण रोजगार न मिले यह भी सम्भव है।

अल्प रोजगारी के अन्य कारण भी हैं, किन्तु यहाँ उन्हीं बातों का विवेचन होगा जो सार्वजनिक वित्त के उपकरणों के अन्तर्गत आते हैं। जे० बी० से के मण्डी के नियम को ले लीजिए। इस नियम के अनुसार, सामान्य बेरोजगारी नहीं हो सकती, क्योंकि उत्पादन के कारण माँग उत्पन्न होती है और हो सकती है। अन्य बातें समान रहने पर प्रदाय के कारण माँग उत्पन्न हो सकती है। उदाहरण के लिए, एक किमान एक श्रमिक को कार्य में लगाता है, उसे मजदूरी मिलती है। इससे उसकी क्रय शक्ति बढ़ती है। उधर अन्नोत्पादन भी बढ़ता है। अन्नोत्पादन बढ़ने से क्रय शक्ति बढ़ती है तथा उसके फलस्वरूप अन्न की माँग बढ़ती है। इसलिए साधारण बेरोजगारी हो ही नहीं सकती। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के इस तर्क में बहुत नुटिया हैं। अर्जिन आय तुरन्त ही व्यय नहीं की जाती। मुद्रा जमा की जा सकती है।

केन्स का तर्क—इस सम्बन्ध में केन्स ने यह तर्क दिया कि अर्थ-व्यवस्था में संतुलन की स्थिति तब भी हो सकती है जबकि उत्पादन के सब कारकों का पूरा उपयोग न हो। इसका कारण यह है कि कुछ लोग मुद्रा को जमा करेंगे। इससे वस्तुओं की माँग नहीं बढ़ेगी। उत्पादन प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न सब आय वस्तुओं के क्रय में व्यय नहीं होगी। पुराने उपकरणों का प्रतिस्थापन (replacement) न हो। आवश्यकता इस बात की है कि मुद्रा का प्रवाह उत्पादकों से उपभोक्ताओं तथा बचत करने वालों तक तथा वापिस उत्पादकों तक बराबर चलना चाहिए। ऐसा न होने से उत्पादन में कमी होगी, जिससे श्रम तथा उत्पादन के अन्य कारकों का उपयोग कम होगा, जिससे बेरोजगारी बढ़ेगी। मुद्रा जमा करने से यह प्रवाह कम हो जाता है। जो आय उत्पन्न करते हैं उन्हें उस सकल आय को व्यय करना चाहिए। मुद्रा का उपयोग उपभोग वस्तुओं तथा उत्पादन वस्तुओं के क्रय के लिए होना चाहिए। सकल आय का व्यय हो अथवा बचत का अन्त में विनियोग हो। बचाया गया धन जमा न रहे। यदि इस धन का विनियोग नहीं होता तब यह जमा रखा जाता है।

प्रश्न यह है कि जो धन जमा है उसका निवेश क्यों नहीं होता। निवेश वस्तु-उत्पादन के लिए आवश्यक है और यदि वस्तुओं की विन्नी नहीं होती तब निवेश निरर्थक है। इसलिए बचाई गई मुद्रा का निवेश तभी होगा जब सकल उत्पादन की विक्री लाभकारी कीमत पर हो जाये। यदि इतनी क्रय शक्ति नहीं है कि वस्तुएँ लाभकारी कीमतों पर खरीदी जायें तब पूरा माल नहीं बिकेगा, उत्पादन घटेगा तथा बेरोजगारी बढ़ेगी।

इसलिए यह आवश्यक है कि अर्जित आय का कुछ ही अनुपात बचना चाहिए। माराज यह है कि केन्स के अनुसार बेरोजगारी तथा अपरोजगारी का कारण अत्यधिक बचत तथा व्यय की कमी है। इस कारण वस्तुओं की प्रभावी माँग की कमी होती है। बेरोजगारी के अन्य कारण भी होते हैं, किन्तु यहाँ हम सार्वजनिक व्यय से सम्बन्धित बातों पर ही बल देते हैं। द्वितीय उपायों से प्रभावी माँग की कमी कैसे सुलभ सकती है यही इस सम्बन्ध में मुख्य प्रश्न है।

माँग की कमी का कारण

वस्तुओं की माँग की कमी दो बातों से होती है : बचत अधिक हो अथवा व्यय कम हो। आय का कितना अनुपात व्यय होना चाहिए जिससे माँग पर्याप्त रहे इसका उल्लेख आगे होगा। इसलिए पहले हम यह देखें कि पर्याप्त आय से व्यय कम क्यों होता है। एक व्यक्ति अपनी चालू आय को पूरा खर्च करे अथवा इसका कुछ भाग खर्च करे। यह उसकी इच्छा पर निर्भर है। या यों कहें कि व्यक्ति के समक्ष दो विकल्प हैं : सकल आय का व्यय अथवा उसके कुछ भाग का व्यय। उसके लिए एक यह भी विकल्प है कि वह अपने पिछले बचे धन को खर्च करे। वह ऋण भी उधार ले सकता है। माधारणतया एक व्यक्ति अपनी चालू आय का कुछ भाग बचाता है। वह कितना भाग बचाता है इसके बहुत कारण हैं। लेकिन अन्य बातें वैसी हो रहे तो हम यह कह सकते हैं कि व्यक्ति की जितनी अधिक आय होगी उसका उतना ही अधिक भाग वह बचायेगा। एक गरीब आदमी अमीर की तुलना में अपनी आय का कम भाग बचाता है। उसका कारण यह है कि गरीब व्यक्ति के लिए बड़ा काटकर बचत की सीमान्त उपयोगिता (discounted marginal utility) एक अमीर व्यक्ति की तुलना में व्यय की सीमान्त उपयोगिता से कम होती है। यह उपयोगिता अमीर व्यक्ति के लिए तुलनात्मक रूप में अधिक होती है। इसलिए यदि सकल राष्ट्रीय आय का अधिक अनुपात अमीर व्यक्तियों के पास जाता है, तो उसका अधिक भाग बचाया जायेगा। इसलिए जब राष्ट्रीय आय का अधिक भाग अमीर व्यक्ति अर्जित करते हैं तब बचत तथा व्यय का पूर्ण रोजगार अनुपात अधिक हो जाता है। लेकिन जब आय का अधिक भाग गरीबों के हाथों में आता है तब बचत तथा व्यय का पूर्ण रोजगार अनुपात नहीं पहुँच पाता। इसका अर्थ यह है जितना धन पूर्ण रोजगार की सीमा के लिए चाहिए उतना नहीं बचता। इसलिए अर्थ-व्यवस्था की इस स्थिति को मुधारने के लिए जिसमें माँग की कमी है ऐसे उपाय आवश्यक हो जाते हैं जिनसे राष्ट्रीय आय का अधिक अनुपात गरीबों के हाथों में आना चाहिए। यदि उससे अधिक भाग गरीबों के पास जाता है तो अर्थ-व्यवस्था में तेजी आती है तथा पूर्ण रोजगार का स्तर पहुँचने के पश्चात् कीमते बढ़ने लगती हैं, किन्तु वास्तविक आय नहीं बढ़ती। इसलिए माँग की कमी का कारण यह है कि राष्ट्रीय आय का बड़ा भाग उनके हाथों में केन्द्रित हो जाता है जिनकी उपभोग की प्रवृत्ति कम होती है।

आय के वितरित का अमीरों के पक्ष में झुकना

जब अर्थ-व्यवस्था सुपरती है तथा राष्ट्रीय आय बढ़ती है तब कौमते भी बढ़ती है। इस स्थिति में व्यवस्थापकों तथा मगठन करताओं की आय श्रमिकों की आय की अपेक्षा अधिक बढ़ती है। इसका फल यह होता है कि ऋय शक्ति श्रमिकों की अपेक्षा अन्य उत्पादकों के हाथों में अधिक जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि प्रभावी माँग राष्ट्रीय आय के बढ़ने पर कुछ समय पश्चात् वृष्टिपूर्ण हो जाती है। हो सकता है कि आय की यह वृद्धि व्यापार चक्र का ही एक पहलू हो तथा बाद में आय कुछ कम हो जाये जैसा कि व्यापार चक्र में होता है। यह भी हो सकता है कि यह वृद्धि आर्थिक प्रक्रिया की वृद्धि की प्रवृत्ति की एक अभिव्यक्ति (manifestation) हो। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि आय की वृद्धि दो प्रकार की होती है - (1) व्यापार चक्र में, तथा (2) अर्थ-व्यवस्था की वृद्धि के कारण।

अल्प रोजगार सहित संतुलन

Equilibrium with Under-employment

साधनों का बेकार रह जाना अपर्याप्त व्यय के कारण होता है। ऐसी स्थिति में श्रमिकों को रोजगार कम मिलता है। यदि धन की बचत एक निश्चित स्तर से अधिक होती है तो वस्तुओं की विनी नहीं हो पाती। ऐसी अवस्था में उत्पादन लाभकारी नहीं रहता। इसलिए इसमें कमी आ जाती है, जिसके फलस्वरूप बेरोजगारी होती है। ऐसी स्थिति भी आ जाती है जब ऋय शक्ति अमीर वर्ग में केन्द्रित हो जाती है। इनकी उपभोग की प्रवृत्ति तुलनात्मक दृष्टि से कम होती है। राष्ट्रीय आय की वृद्धि में ऐसा होता ही है। हो सकता है कि आय इसलिए बढ़ रही है क्योंकि अर्थ-व्यवस्था व्यापार चक्र की वृद्धि के पहले के दौर में है। ऐसी अवस्था में अपर्याप्त व्यय के प्रतिकूल प्रभाव आर्थिक प्रक्रियाओं की गति की वृद्धि के कारण निष्प्रभाव हो जाते हैं। उसका कारण यह है कि ऐसी स्थिति में ऋय शक्ति लगातार व्यक्तियों के हाथों में आती रहती है। इसके अतिरिक्त अमीर वर्ग के हाथों में आय का केन्द्रीकरण इस कारण भी हो सकता है कि उत्पादन में नवीन प्रविधियों के आविष्कार से अर्थ-व्यवस्था की माधारण वृद्धि हो रही है। इस दशा में भी अपर्याप्त व्यय के प्रतिकूल प्रभाव इसलिए व्यर्थ हो जाते हैं कि अर्थ-व्यवस्था में नवीन ऋय शक्ति बराबर आ रही है।

इन परिस्थितियों में अल्प रोजगार उन्ही शक्तियों के कारण बढ़ जाता है जो मुद्रा व्यय को कम भी करती हैं। वे ही शक्तियाँ इस व्यय को बढ़ाती भी हैं। इसलिए रोजगार कम नहीं होता। लेकिन यदि अल्प रोजगारी होती ही है और साथ साथ अर्थ-व्यवस्था में संतुलन रहता है, तब व्यय की कमी बढ़ती हुई राष्ट्रीय आय के कारण नहीं होती।

ऐसा क्यों होता है कि अल्प रोजगारी के साथ-साथ अर्थ-व्यवस्था संतुलित हो। अर्थ-व्यवस्था नीचे स्तर पर टिक जाती है। तब स्थिति अग्रान्ति की वही जायेगी। इनको सुधारना आवश्यक हो जाता है।

ऐसी स्थिति में अर्थ-व्यवस्था में सार्वजनिक वित्त सहायक हो सकता है। मान लो व्यय अपर्याप्त है तथा वचत बढ़ती है। इसके साथ निवेश बढ़ता है। ऐसी स्थिति में अब रोजगार की संतुलित स्थिति उत्पन्न होती है। संतुलन के लिए यह आवश्यक है कि वचत तथा निवेश बराबर हो। प्रभावी माँग की कमी के कारण निवेश घटेगा, इससे आय भी घटेगी। अन्त में वचत तथा निवेश बराबर हो जायेंगे। किन्तु दोनों का स्तर कम रहेगा। इससे अर्थ-व्यवस्था मन्द हो जायेगी। श्रमिक काम करने के इच्छुक होंगे, किन्तु व्यवस्थापकों के लिए उन्हें रोजगार देना सम्भव नहीं होगा, क्योंकि उनका माल गोदामों में डकड़ा रहेगा।

इस स्थिति को सुधारने के दो उपाय हैं। (1) मजदूरी घटाना तथा व्याज दर कम करना। इन उपायों द्वारा साधनों का उपयोग बढ़ेगा। मजदूरी घटने से व्यवस्थापकों के लिए उत्पादन बढ़ाना सम्भव होगा, जिससे श्रमिकों को अधिक रोजगार मिलेगा। इसी प्रकार व्याज दर घटने से निवेश बढ़ेगा तथा रोजगार भी बढ़ेगा। किन्तु हो सकता है कि इन परिवर्तनों के अनुकूल प्रभाव अर्थ-व्यवस्था में अन्य परिवर्तनों द्वारा निष्क्रिय (ineffective) हो जायें।

कम उत्पादन व्यय से रोजगार न बढ़े

श्रमिकों को रोजगार उत्पादक देते हैं। इसलिए प्रेरणा उत्पादकों को मिलनी चाहिए। यह प्रेरणा उत्पादन आगत घटने से मिल सकती है, जो मजदूरी तथा व्याज दर घटाने से सम्भव है, किन्तु ये उपाय उत्पादकों को प्रेरणा देने में निष्फल रहते हैं। व्याज कम होने से द्रवता जाल (liquidity trap) के कारण उत्पादकों को उत्पादन बढ़ाने का प्रोत्साहन नहीं मिलता। उत्पादन आगत तो अवश्य घटती है, किन्तु यह इतनी सीमा तक नहीं घटती कि अतिरिक्त निवेश आकर्षक हो जाये। इसके अतिरिक्त जनता मुद्रा की नकद रूप में रखना कम व्याज पर लगाने की अपेक्षा अधिक पसन्द करती है। जब द्रवता (liquidity) की इच्छा प्रबल होती है तब जनता द्रव सम्पत्ति को अधिक पसन्द करती है। इसलिए धन निवेश के लिए उपलब्ध न होकर द्रवता जाल में फँस जाता है। इसलिए जब तक उत्पादक भविष्य के सम्बन्ध में आशावादी न हो जायें तब तक स्थिति में विशेष सुधार नहीं हो सकते।

मुद्रा अधिकारी व्याज दर घटाकर मुद्रा प्रदाय बढ़ा सकते हैं, किन्तु व्याज दर माँग तथा प्रदाय के नियम पर निर्भर रहती है। इसलिए मुद्रा प्रदाय बढ़ने पर व्याज दर कम हो सकती है, किन्तु उसकी माँग वैसी ही रहनी चाहिए। प्रायः ऐसा होता है कि जब मुद्रा प्रदाय बढ़ती है उसकी माँग भी बढ़ती है। वे शक्तियाँ जो मुद्रा के प्रदाय को बढ़ाती हैं उसकी माँग पर भी प्रभाव डालती हैं। मन्दी काल में

व्याज दर घटाकर आर्थिक प्रक्रिया को बढ़ावा दिया जाता है, परन्तु ऐसी स्थिति में व्ययित्त नकद रूप में अपना धन रखना अधिक पसन्द करते हैं। वे निवेश के लिए इच्छुक नहीं होते। निवेश के मुकाबले में द्रवता को अधिक पसन्द किया जाता है। इस पसन्दगी के कारण मुद्रा की माँग बढ़ती है व्यक्ति द्रवता चाहते हैं इसलिए व्याज दर अधिक नहीं घटती। द्रवता का जाल त्रियाशील रहता है।

मजदूरी कम होने से भी स्थिति नहीं सुधरती। उत्पादन की लागत तो घटती है, लेकिन अन्य स्थितियों भी बदल जाती हैं। वह ज्यों की त्यों नहीं रहती। लागत घटने के साथ माँग भी घटती है। जो मजदूरी घटाने का तर्क देते हैं वे इस बात को मानकर चलते हैं कि अन्य बातें वैसी ही रहेगी, लेकिन ऐसा नहीं होता। वेन्स का कहना है कि यदि श्रम की माँग की लोच बहुत नहीं है तो मजदूरी घटने से वस्तुओं की माँग घट जायेगी, क्योंकि श्रमिकों की सकल आय कम हो जायेगी। मजदूरी घटने का फल यह होगा कि रोजगार कम हो जायेगा। इसलिए श्रम की माँग की मजदूरी लोच (wage-elasticity) अन्तिम प्रभाव को तय करेगी।

राजकोपीय उपायों का उद्देश्य श्रमिकों के लिए प्रत्यक्ष रोजगार देना है। श्रम के रोजगार के साथ अन्य साधनों का भी उपयोग बढ़ता है। इसके लिए राज्य को रपया चाहिए। यह धन करो, ऋणों अथवा बजट में घाटा रखकर प्राप्त हो सकता है। बजट के घाटे का अर्थ है कि राज्य केन्द्रीय बैंक से अल्पकालीन ऋण लेता है तथा बैंक मुद्रा प्रकाशन द्वारा राज्य की इस माँग की पूर्ति करता है। अंग्रेजों में इसे (created money) कहते हैं। इसलिए राज्य द्वारा रोजगार दिये जाने को राजकोपीय उपाय कहते हैं। इससे बेरोजगारी कम की जाती है। ऐसा निजी व्यक्ति भी कर सकते हैं, लेकिन मन्दी काल में ऐसा करने की उनकी हिम्मत नहीं होती। निजी व्ययित्त ऋण ही ले सकते हैं, वे कर नहीं लगा सकते तथा राज्य की भाँति मुद्रा भी उत्पन्न नहीं कर सकते। इसलिए व्यक्ति अथवा निजी क्षेत्र के उत्पादक राजकोपीय उपायों को नहीं अपना सकते।

इसलिए राजकोपीय उपाय राज्य द्वारा ही अपनाये जाते हैं। इन उपायों का आपेक्षिक महत्त्व अलग-अलग होता है। पहले हम यह देखें कि राजकोपीय उपायों से श्रम का रोजगार कैसे बढ़ता है। राज्य कोई योजना चलाता है। मान लो राज्य विद्युत शक्ति की योजना बनाता है। उस पर धन व्यय होगा। यह जनता के पास चलन में आयेगा। इससे वस्तुएँ खरीदी जायेंगी। इसका अन्तिम परिणाम यह होगा कि कीमतें बढ़ेंगी। यह माँग तथा प्रदाय के कारकों पर निर्भर होगा। यदि मुद्रा का अधिक भाग गरीब व्यक्तियों के पास आता है अथवा उनके पास आता है जिनके उपभोग की वृत्ति अधिक है तब कीमतें बहुत बढ़ेंगी। उन वस्तुओं की कीमतें अधिक बढ़ेंगी। जो उन व्यक्तियों के उपभोग में आती हैं जिनके पास ऋण शक्ति आयी है। उत्पादकों तथा विक्रेताओं पर इस माँग की वृद्धि की वजह

प्रतिप्रिया होती है इस पर कीमतों का बढ़ना निर्भर होगा। यदि वे अपनी इन्वेंटरी घटावेंगे तो कीमतें कम बढ़ेंगी। इनके अतिरिक्त और भी बातें हैं जिनका कीमतों पर प्रभाव होगा।

अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा के बढ़ने का प्रभाव यह होगा कि कुछ वस्तुओं की कीमतें तो तत्काल बढ़ेंगी तथा कुछों की कुछ समय पश्चात्। लोक निवेश का यह प्रारम्भिक प्रभाव होता है। निवेश पहले दौर में ही श्रमिकों को रोजगार नहीं देता। इससे जो वस्तुएँ बन रही हैं उनकी भी माँग बढ़ती है। इससे दूसरे दौर में उन उद्योगों में श्रमिकों को रोजगार मिलेगा जहाँ वे वस्तुएँ पैदा होती हैं। यह सार्वजनिक निवेश का द्वितीय प्रभाव होता है। इस प्रकार रोजगार तथा राष्ट्रीय आय बढ़ती रहती है। इसका तृतीय प्रभाव भी होता है। उस समय उत्पादक उन वस्तुओं को पैदा करते हैं जिनकी माँग उन श्रमिकों से आती है जिनको पहले दौर में शासन ने रोजगार दिया था तथा जो अपनी आय को खर्च करना चाहते हैं। पहले आय अर्जित होती है। उसके पश्चात् वह उन वस्तुओं पर व्यय होती है जो उपलब्ध हैं। इसके उत्पादकों का मुनाफा बढ़ता है। इसका फल यह होता है कि उत्पादन आगे बढ़ता है, क्योंकि रोजगार की वृद्धि होती है। इससे राष्ट्रीय आय बढ़ती है। इस प्रक्रिया में जो समय लगता है उससे धीरे-धीरे आय तथा रोजगार की वृद्धि होती है। अन्त में यह दोनों उस समय तक बढ़ते रहते हैं जब तक उत्पादन के साधन घटें। एक सीमा से ऊपर उत्पादन के सहकारी कारणों से सोच न होने के कारण एक ही समय या कभी भी सभी उत्पादन के साधनों का पूर्ण उपयोग सम्भव नहीं हो पाता, किन्तु यदि बेरोजगारी न्यूनतम हो जाती है तब सार्वजनिक वित्त के उद्देश्य की पूर्ति होती है। निवेश तथा रोजगार की प्रारम्भिक मात्रा के कारण धीरे-धीरे निवेश तथा रोजगार की वृद्धि होती है। इसको गुणाक (multiplier) प्रक्रिया कहते हैं। प्रारम्भिक निवेश के अर्थ-व्यवस्था में गुणाक प्रभाव होने है जिनसे अर्थ-व्यवस्था सुधरती है तथा रोजगार तथा उत्पादन की वृद्धि होती है।

वृद्धि गुणाक

गुणाक प्रभाव द्वारा सार्वजनिक निवेश से रोजगार की वृद्धि होती है। यह बात ऊपर बताई गई है। बेरोजगार का कारण व्यय की कमी होती है। इसलिए आवश्यकता व्यय बढ़ाने की होती है। अर्थ-व्यवस्था में ऐसा क्रय शक्ति के बढ़ने से होता है। इससे वस्तुओं की कीमतें तथा उत्पादकों के मुनाफे की वृद्धि होगी है। कीमतों के बढ़ने के दो कारण होते हैं : (1) चलन में अधिक मुद्रा का आना, तथा (2) वस्तुओं के प्रदाय का न बदलना। इससे उत्पादन बढ़ता है तथा उसके साथ रोजगार की वृद्धि होती है। प्रारम्भिक प्रभाव के पश्चात् द्वितीय प्रभाव का दौर आता है तथा फिर तृतीय प्रभाव का दौर आता है तथा तब तक ऐसा ही होता रहता है जब तक श्रम तथा अन्य साधनों का पूर्ण रोजगार हो जाता है।

ऐसा होने के लिए यह आवश्यक है कि अर्थ-व्यवस्था में अतिरिक्त क्रय शक्ति डाली जाये। इसलिए केन्द्रीय बैंक नोट छापता है जो नई योजनाओं में उत्पादन में लगे कारकों को परिश्रमिक के रूप में दिये जाते हैं। इसे सार्वजनिक वित्त में घाटे का वित्त कहते हैं। घाटे के वित्त की यह विशेषता है कि जो मुद्रा चलन में आती है वह जनता से नहीं प्राप्त की जाती। कराधान द्वारा भी धन प्राप्त होता है, किन्तु इससे क्रय शक्ति नहीं बढ़ती, क्योंकि यह धन जनता के स्थान पर शासन व्यय करता है। इसलिए क्रय शक्ति ज्यों की त्यों रहती है। इसलिए सतुलित बजट से रोजगार में वृद्धि नहीं हो पाती, इसमें कुछ हद तक ही क्रय शक्ति बढ़ती है।

जब लोक कार्य अथवा योजनाएँ नई मुद्रा छाप कर चलाई जाती हैं, रोजगार तब तक नहीं बढ़ेगा जब तक कुछ शर्तें पूरी न हो जायें। यदि मुद्रा प्रदाय भरसता से नहीं बढ़ता तब गुणांक प्रभाव पूर्णतया कार्यान्वित नहीं होगा। पहले दौर में शासन पत्र मुद्रा प्रकाशित करता है तथा इस से योजनाओं के लिए धन प्राप्त करता है। रोजगार में प्रारम्भिक वृद्धि के लिए यह पर्याप्त है। किन्तु आगामी प्रभावों के लिए यह आवश्यक है कि मुद्रा तथा बैंक अविकारियों को माँग की पूर्ति के लिए मुद्रा प्रदाय बढ़ने देना चाहिए। यदि बैंक आवश्यक साख की वृद्धि नहीं करेंगे तब उत्पादन तथा रोजगार गुणांक के अनुसार नहीं बढ़ पायेंगे।

इसके अतिरिक्त उपभोग की प्रवृत्ति भी नहीं घटनी चाहिए। यदि अर्जित आय का व्यय नहीं होगा अथवा जनता पहले जैसा व्यय नहीं करेगी तब वस्तुओं की माँग प्रस्थानित रूप में नहीं बढ़ेगी। इसलिए उत्पादन की वृद्धि की दर तथा रोजगार में बाधा पहुँचेगी। कुछ अन्य बातें भी आवश्यक हैं, अन्यथा गुणांक स्वतन्त्र रूप में कार्य नहीं करेगा। हम यहाँ रोजगार की वृद्धि की केवल दो बातों पर ही ध्यान देते हैं : (1) साख का आवश्यक माना में बढ़ता, तथा (2) उपभोग की प्रवृत्ति का न घटना।

गुणांक का मूल्यांकन

शासकीय व्यवसायों के लिए पत्र मुद्रा छाप कर धन प्राप्त होता है। इससे आय की प्राथमिक वृद्धि होती है। अन्त में आय कई गुनी बढ़ती है। यदि आय की अन्तिम वृद्धि प्राथमिक वृद्धि की चौगुनी होती है तब गुणांक 4 होगा। इसके फलस्वरूप रोजगार भी चौगुना बढ़ना चाहिए। ऐसा तभी होगा जब मममीमान्त आय की वृद्धि का नियम लागू होगा। ऐसी स्थिति में आय तथा रोजगार बराबर बढ़ेंगे। आय गुणांक तथा रोजगार गुणांक बराबर होंगे।

अब यह देखें कि गुणांक का परिकलन कैसे होता है। R बिन्दु को आय मानते हैं। ΔR = आय की वृद्धि, I = निवेश, निवेश की वृद्धि = ΔI , वचत = S तथा वचत की वृद्धि (increment) = ΔS । यदि ΔI के निवेश आय की वृद्धि = ΔR है तब गुणांक = $\Delta R / \Delta I$ । गुणांक को K कहेंगे। गत्यात्मक

संतुलन में बचत तथा निवेश बराबर होते हैं। इसलिए ΔS को ΔI के लिए प्रतिस्थापित करने पर K का परिकलन हो सकता है। अतः $K = \Delta R / \Delta S$ अथवा $K = \Delta R / (\Delta R - \Delta C)$ । ΔC उपभोग की वृद्धि का चिह्न है। हम यह भी कह सकते हैं कि $K = \frac{I}{I - \Delta C / \Delta I}$

$$\frac{I}{I - \Delta C / \Delta I}$$

I —उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति (Marginal propensity to consume)

$$\frac{I}{I - \Delta C / \Delta I}$$

बचत की सीमान्त प्रवृत्ति (Marginal propensity to save)

गुणांक बचत की सीमान्त प्रवृत्ति के प्रतिलोम (inverse) के बराबर होता है, अर्थात् बचत की सीमान्त प्रवृत्ति जितनी कम होगी, गुणांक का मूल्य उतना ही अधिक होगा। दूसरे शब्दों में, लोग आय का जितना अधिक अनुपात व्यय करेंगे, गुणांक उतना ही अधिक होगा। इसलिए आय तथा रोजगार की तेज वृद्धि के लिए शासन को यह देखना चाहिए कि निवेशित मुद्रा का अधिकाधिक भाग ऐसे व्यक्तियों के पास जाये जिनकी बचत कम है, किन्तु जो व्यय अधिक करें। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रारम्भिक दौर में रोजगार ऐसे व्यक्तियों को मिले जिनकी बचत की सीमान्त प्रवृत्ति कम होती है।

गुणांक प्रक्रिया के प्रयोग से शासन ऐसे राजकोपीय उपाय कर सकता है जिनमें बेरोजगारी हटे अथवा उत्पादक की तकनीक के अनुसार कम हो जाये। वास्तव में गुणांक का मूल्य बहुत सी बातों पर निर्भर होता है। उपभोग अथवा बचत की सीमान्त प्रवृत्ति आय के साथ निश्चर (invariant) मानी गई है। यह ठीक नहीं है। आय के बढ़ने के साथ उपभोग की प्रवृत्ति घटती है। गुणांक अपना प्रभाव दिखाये, इसके लिए यह आवश्यक है कि साथ लचीली होनी चाहिए। दूसरे, वस्तुओं की कीमत बढ़नी भी चाहिए, किन्तु इतनी तेजी से नहीं कि वस्तुओं की माँग न बढ़े। जब माँग बढ़ने से कीमतें बढ़ती हैं तब कोई कठिनाई नहीं होती। कीमतें प्रदाय, धन अथवा पूँजीगत वस्तुओं की कमी के कारण भी बढ़ सकती हैं। बेसट्टे अथवा श्रम की कमी के कारण भी बढ़ सकती हैं। गुणांक का मूल्य आय के वितरण पर भी निर्भर होता है, आय के वितरण में परिवर्तन गुणांक प्रक्रिया के प्रचालन में भी हो सकते हैं। आय के अर्जन की प्रक्रिया में मजदूरी तथा आय में वृद्धि होती है। आय का वितरण उत्पादन के कारकों के प्रदाय की ओर भी निर्भर होता है।

सबसे मुख्य बात देखनी यह है कि क्या शक्ति बढ़नी चाहिए। जब शासन किसी योजना में धन लगाता है तो यदि क्रय शक्ति बढ़ती है तो किस हद तक। इसलिए हमें शासकीय व्यवसायों के लिए कर द्वारा धन प्राप्त करने तथा पत्र मुद्रा प्रकाशित करके धन प्राप्त करने के गुणांक प्रभाव का अलग-अलग अध्ययन करना आवश्यक है।

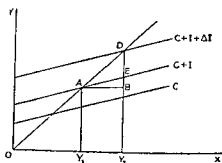
घाटे के वजट का गुणाक

(DEFICIT BUDGET MULTIPLIER)

पत्र मुद्रा छाप कर वित्त प्राप्त करने का उद्देश्य वस्तुओं की माँग बढ़ाकर रोजगार बढ़ाना है। इसलिए शासन को ऐसी योजनाएँ बनानी चाहिएं जिनसे जनता की कय शक्ति बढ़े। मुद्रा की बढ़ती सप्लाई वस्तुओं को खरीदने में काम आनी चाहिए, जिससे उनकी कीमतें बढ़ें तथा उत्पादन बढ़े। इसलिए हम ऐसी योजनाओं पर विचार करें जिनकी लागत नोट छाप कर धन प्राप्त करने से पूरी होती है। इसके लिए ऋण उधार नहीं लिए जाते अथवा कर भी नहीं लगाये जाते। इसलिए वजट का घाटा नोट छाप कर पूरा किया जाता है।

गुणाक प्रक्रिया को नीचे रेखा चित्र में दिखाया गया है। वचन तथा निवेश की वक्र रेखाएँ विभिन्न आय के स्तरों पर दी गई हैं। निवेश की वक्र रेखा उपभोग के साथ जोड़ दी गई है। व्यय-निवेश को सकल आय के बराबर माना है।

आय पड़ी रेखा OX पर दिखाई गई है तथा खर्च रेखा OY पर उपभोग तथा निवेश दिखाये गये हैं। C उपभोग की वक्र रेखा है जो यह दिखाती है कि कितनी आय खर्च हुई है। $C+I$ वक्र रेखा यह दिखाती है कि आय कितनी व्यय हुई है तथा कितनी निवेश में आई है। OD रेखा पड़ी रेखा OX पर 45° डिग्री का कोण बनानी है। जब सकल आय फिर से उत्पादन प्रणाली में आ जाती है तब सतुलन की स्थिति हो जाती है। ऐसा तभी होता है जब आय या तो उपभोग वस्तुओं पर व्यय की जाये, जिसे उपभोग कहते हैं, या पूँजीगत माल पर, तब इसे निवेश कहते हैं। जब



आय OX^1 है, उपभोग+निवेश AY^1 है जिसे $C+I$ रेखा दिखाती है। यह OY^1 के बराबर है, क्योंकि OD रेखा पड़ी रेखा OX पर 45° डिग्री का कोण बनानी है। इसका तात्पर्य यह है कि अर्थ-व्यवस्था में OY^1 आय पर सतुलन होगा, क्योंकि तब सकल आय अर्थ-व्यवस्था में वापिस आ जायेगी।

OY^1 राष्ट्रीय आय पर कुछ साधन बिना उपयोग के रह सकते हैं तथा हम यह मानें कि यह हो भी रहा है। अब रोजगार बढ़ाने के लिए कार्यात्मक वित्त

का सहाय्य लिया जाता है। शासन पत्र मुद्रा प्रवाहन करके वस्तुएँ उत्पन्न करेगा। यह शासकीय निवेश है, जिसमें मुद्रा संभरण की वृद्धि होती है। शासकीय निवेश के बराबर ऋण शक्ति की वृद्धि होगी। यह $C+I$ है। उपभोग + निवेश अब बढ़कर $C+I+\Delta I$ हो जाता है इस रेखा तथा पहली रेखा में सीधा फासला ΔI के बराबर है। यह शासकीय निवेश है। OY^2 आय पर अब नया संतुलन होगा। आय अब अधिक है। इसका अभिप्राय है कि रोजगार बढ़ा है। यदि कुछ माधन बिन उपयोग रह जायें, शासकीय निवेश बढ़ सकता है। $C+I+\Delta I$ रेखा ऐसी दशा में और ऊँची हो जायेगी। आय के संतुलन का स्तर पहले से अधिक होगा। इसलिए बेरोजगारी घटेगी।

इस रेखा में गुणांक 1.5 है। DE मुद्रा के निवेश से आय Y^1Y^2 से बढ़ी है। यह DB के बराबर है, क्योंकि OD रेखा 45 का कोण बनाती है। प्रत्येक मुद्रा इकाई के निवेश से आय 1.5 गुना बढ़ती है।

मरम्मत के लिए यह मान लिया गया है कि उपभोग तथा निवेश बच रेखाएँ सीधी रेखाएँ हैं। इसका अर्थ है कि कुछ अर्थ में उपयुक्त धन राशि आय के साथ निश्चर है। किन्तु ऐसा किमो अर्थ-व्यवस्था में होता नहीं है। माधारणतया आय की वृद्धि के साथ उपभोग बढ़ता तो है, किन्तु वह आय का कम अनुपात होता है। इस बात को यदि रेखा निच में दिखाया जाये तो $C+I$ रेखा गोलाई में होगी, जिसकी उपतलता नीचे की ओर होगी। रेखा चित्र में हम ऐसी वक्र रेखा मोड़ सकते हैं जिसके अनुसार आय की वृद्धि कम होगी। गुणांक छोटा अंक होगा। ऐसी स्थिति में शासन को रोजगार बढ़ाने के लिए अधिक निवेश करना होगा।

रेखा चित्र यह दिखाता है कि $C+I$ उद्गम से प्रारम्भ होती, किन्तु OX रेखा पर कुछ ऊँचाई से शुरू होती है। इसका अर्थ है कि जब चालू आय कुछ भी नहीं है तब भी उपभोग होता है, क्योंकि ऐसी दशा में बचत का इस्तेमाल होगा। जनता इस अवस्था में अपने पास नकद राशि कम रखेगी।

सन्तुलित बजट का गुणांक

अब हमें यह देखना है कि जब बजट संतुलित रहता है तब नई योजनाओं के लिए धन कौन द्वारा प्राप्त किया जाता है। ऐसी दशा में रोजगार अथवा आय की वृद्धि नहीं होगी, क्योंकि मुद्रा संभरण की वृद्धि नहीं होती। इसलिए ऋण शक्ति नहीं बढ़ती। जो धन करों के रूप में शासन के पास आता है वह जनता के पास नहीं रहता, किन्तु यह तर्क ठीक नहीं है क्योंकि कर आय को गमन व्यय करता है वह मुद्रा जनता के पास जाती है, जिसे लोग खर्च कर सकते हैं। मानलो पहले दौर में वह आय श्रमिकों के पास मजदूरी के रूप में आती है या ऐसे व्यक्तियों के पास आती है जो अपनी सब आय खर्च करते हैं। ऐसी स्थिति में जनता की क्रय शक्ति शासकीय निवेश के अनुसार बढ़ती है, किन्तु कौन से ऋण शक्ति उनी सीमा तक

नहीं घटती। उसका कारण यह है कि खर्च उस धन के बराबर कम नहीं होता जो करो के रूप में शासन के पास जाता है। इसलिए शासकीय निवेश से उपभोग की वृद्धि होती है।

ऐसी दशा में गुणांक क्या होगा ?

Y अक्ष पर उपभोग तथा निवेश मान लिये जायें तथा X अक्ष पर आय मान ली जाये। इसलिये उपभोग को Y कहें तथा आय को X, निवेश को I, शासकीय निवेश को I_g , आय के अनुपात के उपभोग को M कहें, शून्य आय पर उपभोग को K कहें। उपभोग रेखा तथा उस रेखा की जो अक्षों पर 45 डिग्री का कोण बनाती है निम्न समीकरण होंगे

$$Y = M(X - I_g) + K$$

$$\text{तथा } X = Y + I_g + I$$

यह समीकरण है जो यह दिखाता है कि सकल आय उपभोग तथा निवेश को मिला कर आती है। उपभोग की रेखा के समीकरण से यह सिद्ध होगा कि कराधान के कारण, जो I_g है, उपभोग की रेखा गिरती है। X घटकर $X - I_g$ हो जाता है, क्योंकि प्रयोज्य आय (disposable income) घट जाती है। दो रेखायें, अर्थात् उपभोग रेखा तथा 45 डिग्री के कोण की रेखा उस बिन्दु को काटती है जहाँ

$$X = \frac{K + I + I_g (I - M)}{(I - M)}$$

जब जनता पर I_g के बराबर कर नहीं लगते तथा शासन द्वारा निवेश नहीं होता, तब X आय $= \frac{K + I}{(I - M)}$

X के मूल्य की उपर्युक्त मूल्य से तुलना करने पर पता चलता है कि आय I_g के बराबर बढ़ी है। यह शासकीय निवेश के बराबर है। गुणांक I के बराबर है। यह समुचित बजट का गुणांक है।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि आय तथा रोजगार के गुणांक भिन्न हैं। यह तभी एक से होंगे जब आय तथा रोजगार एक ही अनुपात में बढ़ें। ऐसा तभी होगा जब उत्पादन के गुणांक ऐसे हों जिनसे आय तथा रोजगार की वृद्धि एक ही अनुपात में बढ़े। साधारण भाषा में हम यह कह सकते हैं कि जब दोनों गुणांक एक से हों तभी रोजगार की वृद्धि समान होगी।

दोनों गुणांक समान होंगे यह दो बातों पर निर्भर होगा : (1) उत्पादन की तकनीक, तथा (2) श्रम तथा पूँजी का अनुपात। एक बात निश्चित है कि मन्दी काल में बेरोजगारी अर्थ-व्यवस्था में त्रय शक्ति बढ़ाने से घट सकती है, क्योंकि यह बेरोजगारी माँग की कमी से होती है। माँग त्रय शक्ति बढ़ाने में बढ़ती है।

क्षय शक्ति की वृद्धि करो के मुराखले में पत्र मुटा छाप कर अधिक सफलता से हो सकती है। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि बेरोजगारी घटाने का यह उपाय तभी उचित होगा जब बेरोजगारी का कारण अपर्याप्त व्यय हो, अर्थात् जब उपलब्ध उत्पादन शक्ति की अधिकता हो, किन्तु यह उपाय तब उचित नहीं होगा जब बेरोजगारी पूँजी की कमी के कारण हो।

पूँजी की कमी

कुछ विकसित देशों में कुछ पूँजी तथा संगठन की उपलब्धता के कारण आय बढ़ती गई, किन्तु उतनी ही सीमा तक उपभोग की वृद्धि नहीं हुई। ऐसा उस स्थिति में होता भी है जबकि अधिक उत्पादन करने का निर्णय उन्हीं व्यक्तियों के हाथ में नहीं होता जो उपभोग का निर्णय लेते हैं। इसलिए उत्पादन की जो वृद्धि हुई उसकी विकासी नहीं हो सकी। वचत तथा निवेश का सतुलन बिगड़ गया। वचत निवेश से अधिक हो गई। भंडारों में माल जमा हो गया। इस माल को निवेश का भाग तो कह सकते हैं किन्तु यह ऐसा निवेश है जिससे वस्तुओं का उत्पादन नहीं बढ़ता। इसलिए बेरोजगारी का एक कारण उपभोग की कमी अथवा पूँजी (निवेश) अथवा उत्पादन शक्ति की अधिकता है। बेरोजगारी का एक और भी कारण है और वह है उत्पादन के सहयोगी घटकों की कमी। अल्प विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में श्रम की बेरोजगारी का यही कारण होता है। यहाँ व्यय अधिक होता है, वचन कम होती है। इसलिए पूँजी निर्माण की कमी होती है। अर्थ-व्यवस्था में इतना उत्पादन नहीं हो पाता कि सब श्रमिकों को रोजगार मिल सके। जहाँ पूँजी अधिक होती है, वहाँ बिना पर्याप्त भाग में नहीं होना। इसलिए श्रमिक बेरोजगार रहते हैं। एक स्थिति में पर्याप्त पूँजी नहीं होती तथा दूसरी में पर्याप्त पूँजी उपयोग में नहीं होती। बेरोजगारी दोनों परिस्थितियों में होती है।

पिछड़ी अर्थ-व्यवस्थाओं में जहाँ बेरोजगारी पूँजी की कमी के कारण होती है, रोजगार बढ़ाने के लिए उपभोग घटाकर वचन बढ़नी चाहिए, जिससे पूँजी निर्माण बढ़े। विकास की प्रक्रिया के प्रारम्भ में जितना जनता स्वाभाविक रूप में बचाये वचत उससे अधिक होनी चाहिए। विकास की आगे की श्रेणियों में यह आवश्यक है कि उपभोग अधिक बढ़े, उससे अधिक जितना जनता स्वाभाविक रूप से करे।

वचन बढ़ाने के लिए दबाव नहीं डाला जा सकता। निर्धन व्यक्तियों की धन बचाने की शक्ति ही नहीं होती। अतः वचत अपर्याप्त रहती है। ऐसी अवस्था में ही वचत की वृद्धि आवश्यक हो जाती है, किन्तु जो मुश्किल से जीवन निर्वाह कर पाते हैं उनके लिए धन बचाने का एक सीमा होती है। इस दोषपूर्ण चक्र को हटाने के दो उपाय हैं :

प्रथम, जो सापेक्षिक दृष्टि में धनी है उन्हें अधिक धन बचाने के लिए बाध्य

किया जाना चाहिए। ऐसे कर लगाने चाहिए, जिनसे धन अधिक लुप्तहाल व्यक्तियों से वसूल किया जाय। इसके लिए व्यय कर लग सकता है अथवा उन वस्तुओं पर कर लगाये जा सकते हैं जिनका केवल धनी व्यक्ति उपभोग करते हैं। इससे बचत की वृद्धि हो सकती है। प्रारम्भ में इससे निवेश बढ़ सकता है और यदि यह निवेश ठीक-ठीक किया जाये तो इससे जनता की आय बढ़ सकती है, जिससे बचत बढ़ सकती है।

दूसरा उपाय यह है कि विदेशियों से ऋण उधार लिया जाय जिसे आय बढ़ा कर वापिस किया जाय। इसका अर्थ यह है कि जनता को कुछ वर्षों तक उपभोग कम करना होगा।

रोजगार बढ़ाने के लिए पिछड़ी हुई अर्थ-व्यवस्थाओं में दोनों उपायों का उपयोग किया जाता है। इस बात का ध्यान रहे कि विदेशी ऋण अथवा विदेशी महायता इतनी न बढ़ जाय कि उसके वापिस देने में निर्यात मूल्य 10 प्रतिशत से अधिक व्यय हो। बचत बढ़ाने के लिए कुछ अन्य राजकोपीय उपाय भी हैं, अर्थात् उन व्यक्तियों की आय अथवा व्यय पर कर लगने चाहिए, जिनकी आय अधिक है। दूसरा उपाय यह है कि उनसे ऊँची व्याज दर पर ऋण लिए जायें। अर्थशास्त्री इस बात को जानते हैं कि व्याज दर का बचत पर कम प्रभाव होता है। जो व्यक्ति ऐसे है कि यह सोच रहे हैं कि धन बचायें या खर्च करें, ऊँची व्याज दर के कारण वे शासन को धन उधार दे सकते हैं। इसका फल यह होता है कि बचत सरकारी ऋण पत्रों द्वारा निजी निवेश से शासन के पास आती है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब देश की अर्थ-व्यवस्था अल्प विकसित रहती है तब अपने ही साधनों से पूँजी निर्माण कठिन होता है इसलिए अल्प विकसित देशों में अपने आर्थिक विकास के लिए तथा बेरोजगारी की समस्या को हटाने के लिए विदेशी ऋण अथवा आर्थिक सहायता लेनी होती है, किन्तु यदि कोई अल्प विकसित देश विदेशी ऋण न प्राप्त कर सके अथवा न प्राप्त करना चाहे तब उसकी वृद्धि की प्रक्रिया बड़ी धीमी होगी और बेरोजगारी दूर करने में अधिक समय लगेगा।

धन की असमानता तथा कार्यात्मक वित्त

धन के वितरण में बहुत असमानता नहीं होनी चाहिए। कुछ सीमा तक यह असमानता सहन हो सकती है तथा वाछनीय भी है। असमानता को राजकोपीय उपायों से कम किया जा सकता है। इसके दो उपाय हैं

- (1) धन का हस्तान्तरण अमीरों से गरीबों को किया जाय।
- (2) ऐसी स्थिति पैदा की जाय कि गरीब व्यक्तियों की आय बढ़े।

दूसरे उपाय के लिए कानून का सहारा लेना होगा। उदाहरण के लिए, कानून द्वारा न्यूनतम मजदूरी निश्चित की जाय, अथवा श्रमिकों को अन्य सुविधायें दी जायें। दीर्घ काल में इन उपायों से धन की असमानता कम होगी।

अमीरों से गरीबों को धन हस्तान्तरण करने का एक प्रत्यक्ष उपाय भी है। अमीर व्यक्तियों पर कर लगाए जायें। उनसे जो धन प्राप्त हो वह गरीबों को भलाई के लिए व्यय किया जाय। यह धन गरीबों को नकद मुद्रा के रूप में दिया जा सकता है अथवा कर आय का उपयोग गरीबों के लिए वस्तुएँ तथा सेवाएँ देने में किया जाय। इससे भी गुणांक के परिचालन से जनता की आय की वृद्धि होगी। गरीबों के लिए धन के उपयुक्त हस्तान्तरण से त्रय शक्ति उनके हाथों में आयेगी जिनकी उपभोग करने की प्रवृत्ति बहुत अधिक है। उन अर्थ-व्यवस्थाओं में जहाँ उन्नति प्रभावी माँग की कमी के कारण नहीं हो पाती, इस हस्तान्तरण का दुहरा लक्ष्य होगा।

इससे धन के वितरण की असमानता कम होगी तथा राष्ट्रीय आय की वृद्धि होने में व्यक्ति को अधिक रोजगार मिलेगा। इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि जो धन करा द्वारा प्राप्त किया जाय उसका उचित उपयोग होना चाहिए। ऐसे कार्यों में वह धन लगाया जाय, जिससे उत्पादन की वृद्धि हो तथा व्यक्ति को अधिक रोजगार मिले। इसलिए उस धन का व्यय शासकीय उपभोग की वृद्धि में ही नहीं लगना चाहिए बल्कि उसमें बहुत कम लगना चाहिए।

तेईसवाँ अध्याय

सामाजिक लेखा विधि

(SOCIAL ACCOUNTING)

सामाजिक लेखा विज्ञान किसी समाज अथवा राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था के विषय में सूचना प्रस्तुत करने की प्रविधि है। इसके अध्ययन के दो मुख्य उद्देश्य हैं : (1) अर्थ-व्यवस्था की स्थिति का ज्ञान प्राप्त करना तथा यह मालूम करना कि देश की अर्थ-व्यवस्था में सुधार हो रहा है अथवा उसमें अवनति हो रही है, (2) इसका दूसरा उद्देश्य अर्थ-व्यवस्था के नियमन की नीति के विषय में मार्ग दर्शन प्राप्त करना है जिससे अर्थ-व्यवस्था प्रभावित हो सके। इसका सम्बन्ध मानव समाज तथा मानव समस्याओं की प्रक्रियाओं के प्रस्तुतीकरण तथा वर्गीकरण से है, जिससे अर्थ-व्यवस्था के परिपालन के नये तरीके मालूम हो सके। इसकी विशिष्टता का महत्त्व 1930 के दशक के पश्चात् हुआ। मुख्य रूप में इसका प्रयोग द्वितीय महासमर में तथा उसके पश्चात् हुआ। आज सभी देशों में इस विज्ञान का नियोजित आर्थिक विकास के लिए इस्तेमाल आवश्यक हो गया है। इसके अन्तर्गत सकलित सूचना का केवल वर्गीकरण ही नहीं, बल्कि उसका प्रयोग भी होता है, जिससे यह मालूम हो जाय कि अर्थ-व्यवस्था कैसे चल रही है तथा भविष्य में इसका परिचालन कैसे किया जाये जिससे देश की आर्थिक समृद्धि में उन्नति हो सके। सामाजिक लेखा विधि के अध्ययन क्षेत्र में अर्थ-व्यवस्था की सांख्यिकी अथवा आँकड़े तथा उसके मॉडल भी आते हैं। अर्थशास्त्र के कुछ विद्यार्थी इसका विशेष रूप से अध्ययन करते हैं तथा निम्न भविष्य में इसके विभिन्न अंगों का विशिष्ट अध्ययन होना प्रारम्भ हो जायेगा।

दोहरी प्रविष्टि लेखा प्रणाली

(DOUBLE ENTRY SYSTEM)

इस शब्द की उत्पत्ति निजी लेखा प्रणाली के दोहरी प्रविष्टि विधि के अनुरूपता के आधार पर हुई। विद्यालयों में लेखा विज्ञान विषय के पाठ्यक्रमों में सकल प्रविष्टि (single entry) तथा दोहरी प्रविष्टि प्रणालियों का अध्ययन चला

आ रहा है। उसी अनुरूपता के अनुसार सामाजिक लेखा विज्ञान का प्रयोग शुरू हुआ। प्रत्येक व्यापारी अपने व्यापार का लेखा दोहरी लेखा प्रणाली के आधार पर रखता है। इस बात को एक उदाहरण लेकर समझाया जा सकता है। किसी व्यापारी ने अपने दो ग्राहकों क तथा ख को क्रमशः 500 रुपये तथा 400 रुपये का माल बेचा है। इसमें क ने 390 रु० का तथा ख ने 260 रु० का नकद भुगतान किया है। इस सम्बन्ध में व्यापारी की लेखा पुस्तकी में प्रत्येक सौदे में दो प्रविष्टियाँ की जायेगी।

क का लेखा		
माल बेचा	500 रु०	नकद वसूली 390 रु०
ख का लेखा		
माल बेचा	400 रु०	नकद वसूली 290 रु०
नकद लेखा		
क को	390 रु०	
ख को	290 रु०	
स्टाक लेखा		
को	X	क में 500 रु० ख से 400 रु०

इन चारों लेखों के दोनों ओर की प्रविष्टियों को जोड़कर दोनों ओर एक ही जोड़ आयेगा जो 1580 रु० होगा। व्यापारी एक जाँच शेष (trial balance) बनाकर अपने लेखों की यथार्थता की परीक्षा लेगा।

प्रत्येक सौदा लिख लिया जाता है, किन्तु तुरन्त ही नकद भुगतान नहीं होता। इसलिए सौदे संभूति (accrual) आधार पर होते हैं। संभूति प्रविष्टियाँ वार्षिक लेखों के बन्द करने के समय की जाती हैं। उदाहरण के लिए देय व्याज तथा पूँजीगत माल पर मूल्य ह्रास (depreciation) की प्रविष्टि वर्ष के अन्त में की जाती है। उदाहरण के लिए एक व्यापारी क से 1 लाख रुपए का ऋण लेता है जिस पर 6% व्याज दर है। इससे वह वर्ष के प्रारम्भ में एक मशीन खरीदता है। वर्ष में व्याज 6,000 रु० होगा। किन्तु भुगतान 1,000 रु० का ही होता है। मशीन पर मूल्य ह्रास 5% लगाया जाता है। ऐसी स्थिति में व्यापारी की लेखा पुस्तकी में निम्न प्रविष्टियाँ मिलेंगी।

व्याज का लेखा		
क को (व्याज)	6,000 रु०	लाभ तथा हानि में 6,000
मूल्य ह्रास लेखा		
मशीन पर	5,000 रु०	लाभ तथा हानि में 5,000
क का लेखा		
नकद को	1000 रु०	नकद से 1,00,00 व्याज से 6,000

बाईं ओर की प्रविष्टियां वर्ष के अन्त में होगी। लाभ तथा हानि लेखा वर्ष के अन्त में पूरा किया जाता है। इसका शेष स्थिति विवरण में लिखा जाता है। इस प्रणाली को दोहरी प्रविष्टि प्रणाली कहते हैं। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि कुछ बानों की प्रविष्टि भुगतान के आधार पर तथा कुछ की सभूति के आधार पर होती है। इसी प्रकार सामाजिक लेखा विधि में भी ऐसा ही होता है।

निजी बातों की भाँति हम अर्थ-व्यवस्था के सामाजिक लेखे दोहरी प्रविष्टि प्रणाली पर तैयार कर सकते हैं। निम्न तालिका में एक अर्थ-व्यवस्था के फर्मों, ग्रहस्थों, शासनो तथा पूँजी के लेखे दिये गये हैं।

प्राप्ति		भुगतान	
फर्म का लेखा			
फर्म	400	फर्म	400
ग्रहस्थ (माल)	230	ग्रहस्थ (धर्म)	190
शासन (माल)	37	शासन (अप्रत्यक्ष कर)	70
शासन (परिदान)	2	पूँजी	12
पूँजी	3		
	<hr/> 672		<hr/> 672
ग्रहस्थों का लेखा			
फर्म	190	फर्म (माल)	230
ग्रहस्थ (सेवा)	10	ग्रहस्थ (सेवा)	10
ग्रहस्थ (उपहार)	3	ग्रहस्थ (उपहार)	3
शासन (हस्तान्तर		शासन (प्रत्यक्ष कर)	29
भुगतान)	60	पूँजी (ऋण)	2
पूँजी (व्याज)	11		
	<hr/> 274		<hr/> 274
सरकारी खाते			
फर्म (अप्रत्यक्ष कर)	70	फर्म (माल)	37
ग्रहस्थ (प्रत्यक्ष कर)	29	फर्म (परिदान)	2
		ग्रहस्थ (हस्तान्तर	
		भुगतान)	60
	<hr/> 99		<hr/> 99
पूँजी खाता			
फर्म	12	फर्म	3
ग्रहस्थ	2	ग्रहस्थ	11
	<hr/> 14		<hr/> 14

उपर्युक्त चारों खातों में प्रत्येक प्रविष्टि 2 बार होती है, एक दाई ओर तथा दूसरे बार दाई ओर। दाई ओर प्राप्ति के रूप में होती है तथा दाई ओर व्यय के रूप में। इनमें से प्रत्येक खाते की दोनों ओर की प्रविष्टियों का योग बराबर है। व्यय तथा आय समान हैं।

सामाजिक खातों की सूचना तालिका के रूप में नीचे दी जाती है।

प्राप्ति	भुगतान				
	फर्मों द्वारा	ग्रहस्थों द्वारा	शासन द्वारा	पूँजी	योग
कर्म	400	230	37+2	3	672
ग्रहस्थ	190	10+3	60	11	274
शासन	70✓	28	—	—	99
पूँजी	12	2	—	—	14
योग	672	274	99	14	

सामाजिक खातों में वर्ष में भुगतान होते हैं तथा प्रत्येक क्षेत्र में दोनों ओर का योग बराबर है। इसमें वर्ष के अन्त में समंजन की आवश्यकता नहीं होती।

अन्य कई वर्गीकरण भी हो सकते हैं। एक वर्ग का क्षेत्र तथा वर्गों की संख्या भी बदल सकती है। नीचे तीन प्रकार के सामाजिक खातों की तालिका दी गई है, जिनमें दो में आँकड़े भी दिये गये हैं।

I

द्वारा	द्वारा भुगतान			
प्राप्त	फर्मों	ग्रहस्थों	माल	योग
फर्मों	50	20	30	100
ग्रहस्थों	30	5	—	35
माल	20	10	—	30
योग	100	35	30	

II

द्वारा प्राप्त	द्वारा भुगतान				
	फर्मों	ग्रहस्थों	शासन	पूँजी	योग
		संसार	अन्य		
फर्मों
ग्रहस्थों
अन्य संसार

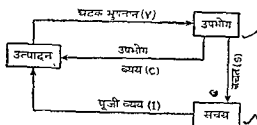
शासन
पूँजी
योग

III

द्वारा प्राप्त	द्वारा भुगतान				
	उत्पादन	उपभोग	संचय	क्षेप संसार	योग
उत्पादन	..	11324	1,431	870	13,625
उपभोग	11,973	592	12,565
संचय	593	1040	...	549	2,183
क्षेप संसार	1,059	200	752	...	2,011
योग	13,625	12,565	2,183	2,011	

प्रवाह चित्र

कुछ हद तक सामाजिक लेखा विधि सम्बन्धी सूचना चित्र द्वारा भी दी जा सकती है। इन चित्रों में चिन्ह यह प्रदर्शित करते हैं कि मुद्रा मूल्य कहाँ से आये हैं तथा उनका प्रवाह (flow) किन क्षेत्रों में होता है। यह बात आयतों (rectangles) द्वारा दिखाई गयी है।



चित्र में प्रवाहों (flows) के लिए कोष्ठों में चिन्हों के प्रयोग द्वारा प्रत्येक आयत पर सतुलन के लिए निम्न मॉडल हो सकते हैं ✓

उत्पादन छोर .

$$Y = C + I$$

उपभोग छोर .

$$Y = C + S$$

संचय छोर :

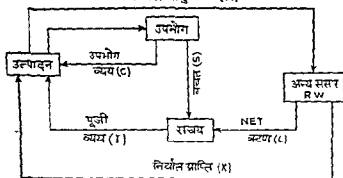
$$S = I$$

$$C = Y - S$$

यदि अन्य संसार के स्रोतों का लेखा तैयार करें, तब निम्न प्रवाह चित्र बनेगा: ✓

यहूले की भाँति चिन्ही के प्रयोग द्वारा समीकरण निम्न होगा :

आयात के भुगतान (14)



Production end $Y - M = C + I + X$

Consumption end $Y = C + S$

Accumulation end $I = S + L$

Rest of World end $M = X + L$

तथा यह भी हो सकता है $Y = C + I - L$

सामाजिक लेखा विधि का वर्गीकरण करने में निम्न बातें ध्यान में रखनी चाहिए :

- (1) आर्थिक प्रक्रिया के रूप जैसे उत्पादन, उपभोग तथा धन की वृद्धि (Addition to Wealth),
- (2) अर्थ-व्यवस्था के संस्थागत अथवा क्षेत्रीय उप विभाजन जैसे फर्मों, ग्रहस्थ, शासन तथा अन्य संसार तथा;
- (3) मौदे जैसे क्रय तथा बालू हस्तान्तरण।

इसलिए जब हम एक प्रवाह चित्र (flow diagram) में ये वर्ग प्रयोग में लायें Production (P) Consumption (C) तथा Accumulation (A), तब हम आर्थिक प्रक्रिया के रूपों को ध्यान में रखते हैं।

	P	C	A	Total
P		
C	
A	
Total

जब हम फर्मों, ग्रहस्थों, शेयर संसार तथा भासनों को लेकर तालिका बनाते हैं तब हम संस्थाओं का भी ध्यान रखते हैं। प्रसंगवश, इसी प्रकार मौदों के लिए भी तालिका बन सकती है।

उत्पादन क्षेत्र के बहुत से भाग हो सकते हैं। इसका एक भाग 'अन्य उत्पादन तथा व्यापार' कहलाता है, जिसमें यातायात, संचार वितरणात्मक व्यापार, बीमा, बैंकिंग, वित्त तथा अन्य सेवाएँ आती हैं। इसमें उनके तथा उनकी सेवाओं से सम्बन्धित चालू व्यय शामिल रहते हैं। उनसे सम्बन्धित सकल ऋय तथा विक्रय मूल्य नहीं रहते।

उपभोग क्षेत्र में व्यवसाय तथा ग्रहस्थ तथा शासन सम्बन्धी क्षेत्र आते हैं। शासन क्षेत्र में शासन सम्बन्धी ऐसे खण्डों के भुगतान आते हैं जैसे लोक प्रशासन, प्रतिरक्षा, लोक आरोग्यता, शिक्षा, ग्रहस्थों के लिए घरेलू सेवाएँ तथा ऐसी संस्थाओं के लिए सेवाएँ जिनमें लाभ अथवा मुनाफा नहीं होता। किसी भी शासकीय औद्योगिक व्यवसाय का स्थान सम्बद्ध उत्पादन क्षेत्र में आता है।

सचय क्षेत्र (Accumulation sector) को पूँजीगत सौदे भी कहते हैं। इसी प्रकार बाह्य क्षेत्र शेष ससार (ROW) कहलाता है।

जब हम यह देखते हैं कि विभिन्न वर्ग किस प्रकार भुगतान प्राप्त करते हैं तब व्यवसाय तथा ग्रहस्थ क्षेत्र का निम्न में विभाजन होता है। (क) श्रम तथा वेतन, (ख) मुनाफा, ब्याज तथा लागत, (ग) लोक ऋण पर अर्जित व्याज तथा अन्य प्राप्ति।

इसी प्रकार सचय क्षेत्र का उप विभाजन मूल्य, ह्रास, बचत तथा पूँजीगत अन्तरण (नेट) में होता है।

बाह्य क्षेत्र का उप विभाजन आयात माल तथा सेवाएँ, चालू अन्तरण (नेट) जिसमें नागरिकों का विदेशों में अर्जन शामिल है तथा विदेशों को दिए गए ऋणों में होता है।

सामाजिक लेखा विधि तथा निवेश-उत्पादन साँचा

Input-output matrix

निवेश उत्पादन साँचा वह तालिका है जिसमें अर्थ-व्यवस्था उत्पादकों को तथा उत्पादकों से उत्पादन की विभिन्न शाखाओं के अनुरूप प्रवाह दिखाये जाते हैं। उदाहरण के लिए यदि एक फर्म खाद तथा प्लास्टिक दोनों पदार्थ बनाती है तो सदा यह सम्भव न हो सके कि कृषि के लिए खाद के अंक ज्ञात हो जायें। इससे तकनीकी गुणाओं के स्थायित्व की संकल्पना पर प्रभाव होता है। किन्तु व्यवहार में यदि किसी संस्था के तेल तथा खिलौनों के कारखाने अलग-अलग हैं तथा उनके अलग अंक उपलब्ध हैं तब कारखानों का वस्तु मही के उत्पादन के अनुसार वर्गीकरण हो सकता है। जब फर्म किसी सहायक वस्तु का उत्पादन करते हैं तब सहायक उत्पादन के व्यौरेवार आकड़े तत्सम्बन्धी उत्पादन वर्ग में आयेंगे। इसके लिए बहुत संकल्पनाओं को ध्यान में रखना होता है।

कुछ समस्याएँ—इस सम्बन्ध में कुछ बातें हैं जिन पर ध्यान देना आवश्यक है।

सामाजिक लेखा विधि की तालिका से हम निवेश उत्पादन साचा तैयार कर सकते हैं, किन्तु इससे देश अथवा संस्था की आर्थिक स्थिति का पूर्वानुमान नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें स्थायी सामग्री तथा कच्चा माल प्रयुक्त होते ही सर्व में दिखाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त संचय सम्बन्धी प्रविष्टि तैयार माल के सम्बन्ध की ही नहीं, बल्कि हर प्रकार के कच्चे माल की भी है।

दूसरी समस्या कीमतों से सम्बन्धित है जिन पर विभिन्न मर्हों का मूल्यांकन होता है। कुछ क्षेत्रों को माल की बिन्नी धोक कीमतों पर होती है, किन्तु वस्तुओं अन्तिम उपभोक्ताओं की फुटकर कीमतों पर बंची जाती है। इसलिए सभी वस्तुओं का मूल्यांकन समान कीमतों पर नहीं होता। यदि सब वस्तुओं उत्पादकों की कीमतों पर दिखाई जाये तथा वितरण कीमत अन्तिम उपभोक्ताओं के लिए बची हो जो अन्य उत्पादन तथा व्यापार क्षेत्र को दी गई है तो अच्छा हो।

एक अन्य पहलू पर भी प्रकाश आवश्यक है। उदाहरण के लिए एक उद्योग के लिए रासायनिक पदार्थों की आयात होती है। वे देश में भी बनने हैं तथा उस उद्योग में इस्तेमाल भी होते हैं। तब आयाती रसायन केवल उस उद्योग में ही आने चाहिए जिसमें उनका उपयोग होता है। वे रासायनिक उद्योग में नहीं आने चाहिए। अन्यथा उस उद्योग में परिवर्तनों के प्रभाव का अनुमान उस रसायन के उपयोग पर नहीं जात हो सकेगा। इसका एक हल यह होगा कि यह आयात रसायन के स्थानीय सभरण में जोड़ी जाय तथा उस रसायन की निर्यात में से यदि सम्भव हो सके तो वह राशि घटा दी जाए।

सामाजिक लेखा विधि तथा राष्ट्रीय आय का लेखा।

वृत्ता आर्थिक लेखा विधि, राष्ट्रीय आय का लेखा तथा सामाजिक लेखा विधि शब्द पर्यायवाची (Synonyms) मान लिए जाते हैं। राष्ट्रीय आय की लेखा विधि के बजाय राष्ट्रीय लेखा विधि शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त होगा। राष्ट्रीय आय का लेखा किसी वर्ष में राष्ट्रीय घन की वृद्धि का अनुमान है। या यों कहें कि लेखा शब्द का अर्थ सकल उत्पादन व्यय से भूत हुआ घटाकर जो राशि आती है उससे होता है। यह उत्पादन क्षेत्र का सकल योग है।

इस सम्बन्ध में कुछ शब्दों का स्पष्टीकरण आवश्यक है।

राष्ट्रीय भाग अथवा व्यय—इसमें शासकीय उत्पादन में सम्बन्धित प्रक्रियाओं जैसे विद्युत कारखाने तथा स्टील मिलों का अध्ययन आता है। इसके अतिरिक्त सेवाओं पर शासकीय व्यय जैसे प्रशासन सम्बन्धी तथा पुलिस सेवाओं पर व्यय भी सम्मिलित है। इसमें एक प्रश्न यह है कि इन सेवाओं की सामाजिक टांच की, जिसमें आर्थिक प्रक्रियाओं का उदय होता है, पूर्वापेक्ष नहीं कहा जा सकता। ऐसा होने पर इन सेवाओं की लागत को राष्ट्रीय आय में शामिल नहीं किया जा सकता। अन्यथा राष्ट्रीय आय के उद्देश्यों के लिए उत्पादक क्षेत्र में आयेंगे। व्यवहार में ऐसा ही होता भी है, क्योंकि ऐसा करने से राष्ट्रीय साधनों का ठीक ठीक अनुमान हो जाता है।

इस सम्बन्ध में एक यह भी प्रश्न है कि स्थायी सेवाओं आदि पर ऐसे शासकीय व्यय का, जिसका प्रभाव कुछ वर्षों तक अथवा दीर्घ काल में होता है, कितना भाग इसमें शामिल न किया जाये।

सकल राष्ट्रीय व्यय—इसे बाजार की कीमतों पर राष्ट्रीय आय भी कहते हैं। इसमें अप्रत्यक्ष कर सम्मिलित हैं।

सामाजिक लेखा विधि का अर्थशास्त्र में अनुप्रयोग

अर्थशास्त्र में सामाजिक लेखा विधि का उपयोग तथा विकास कई प्रगतियों का फल है। लघु अर्थशास्त्र (micro-Economics) से बृहत् अर्थशास्त्र (macro-Economics) की ओर अभिरूचि वही है। इसलिए बृहत् अर्थशास्त्र के प्रभावों को समझने का अध्ययन किया गया है। व्यवहार में बृहत् अर्थशास्त्र सम्बन्धी मॉडल तैयार करने की सार्वजनिक विधियों का प्रयोग भी इसके लिए उत्तरदायी है। इससे राष्ट्रीय स्तर पर पूर्ण रोजगार की शासकीय नीतियों में, राष्ट्र के वजट तैयार करने में तथा राष्ट्रीय समृद्धि का अनुमान लगाने में सुविधाएँ मिली हैं। आज सभी देशों में आर्थिक नियोजन चल रहा है। इसलिए देश में विभिन्न वर्गों तथा आर्थिक क्षेत्रों की आर्थिक स्थिति का ज्ञान आवश्यक हो गया है। इसलिए आर्थिक वृद्धि के अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन मॉडल तैयार करना आवश्यक हो गया है। इनके लिए सामाजिक लेखा विधि का प्रयोग आवश्यक है। इन मॉडलों से हमें आर्थिक वृद्धि की प्रगति का ज्ञान होता है तथा यह भी मालूम होता है कि भूतकाल में स्थिति कैसी रही है।

इसके अनिर्विक्त सामाजिक लेखा विधि से सम्बन्धित आंकड़े अर्थशास्त्रियों को उत्पादन, निवेश, रोजगार आदि के अध्ययन में सहायक होते हैं। वे उन विद्यार्थियों के लिए भी सहायक हैं जो वित्तीय बातों का जैसे आय, बचत तथा धन के प्रवाह का अध्ययन करते हैं।

अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक समस्याओं के अध्ययन के लिए सांसारिक लेखा विधि का ज्ञान बहुत ही आवश्यक है। सामान्य सेन्य समस्याओं के सम्बन्ध में आंकड़े आवश्यक हैं तथा विदेशी व्यापार के मामलों में समझौतों में भी यह सामग्री उपयोगी होती है। बहुत सी अन्तरराष्ट्रीय समस्याओं जैसे अन्तरराष्ट्रीय संध, अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, यूरोप का साम्राज्य व्यापार, विश्व बैंक के निर्माण के कारण राष्ट्रीय आय के आंकड़ों की आवश्यकता बढ़ी है। इसलिए सामाजिक लेखा विधि का महत्त्व बढ़ गया है।

परिसीमाएँ—इसकी निम्न परिमीमाओं को ध्यान में रखना चाहिए। भौतिक विज्ञानों में नियन्त्रित परीक्षण सम्भव है तथा इनमें व्यक्तियों की उपेक्षा की जा सकती है, किन्तु अर्थशास्त्र में ऐसा नहीं हो सकता। यहाँ इस बात का पूर्व ज्ञान रखना कठिन है कि सामान्यीकरण से किस प्रकार अशुभ निर्णय होंगे। यहाँ व्यक्तियों की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती तथा विशेष को भुलाया नहीं जा सकता।

उदाहरण के लिए यह सामान्य बात कहना कि अयुक्त स्थान में सामान्यतया भूख से व्यक्ति नहीं मेरे उपयुक्त नहीं होगा यदि यह तथ्य छिपाया जाये कि 2 प्रतिशत व्यक्ति भूख से मर गये। माल के निर्माण में तो 2 प्रतिशत विचरण (variation) उपयुक्त हो सकता है, किन्तु जहाँ मानव जीवन का प्रश्न है वहाँ यह विचरण सहन नहीं होगा।

दूसरी सीमा यह है कि अर्थ-व्यवस्था का कोई ऐसा लेखा नहीं है जैसा स्थिति विवरण में उपलब्ध होता है जिसमें अर्थ-व्यवस्था की सम्पत्ति तथा देनदारी का पता चले। सामाजिक लेखा विधि से यह तो ज्ञान होता है कि किसी काल में अर्थात् एक वर्ष की अवधि में धन के प्रवाह की क्या रूपरेखा है तथा यह भी ज्ञात हो जाता है कि इस प्रवाह के क्या स्रोत (sources) हैं तथा किन क्षेत्रों में यह होता है। इनसे निवेशकों (investors) को इस बात में सहायता मिलती है कि साधनों के उपयोग में क्या निर्णय लेना चाहिए। कर लगाने चाहिए अथवा ऋण लेने चाहिए या दोनों साधनों का उपयोग होना चाहिए तथा किस सीमा तक होना चाहिए, किन्तु विभिन्न क्षेत्रों के स्टॉक की स्थिति का वर्ष के अन्त का विवरण उपलब्ध नहीं होता। यह दो बातों के कारण आवश्यक है। इन प्रवाहों के फलों के परिवर्तनों का सापेक्षिक महत्त्व जानने के लिए स्टॉक की स्थिति का वर्ष के अन्त का विवरण नितान्त आवश्यक है। इनके अनिश्चित भविष्य में क्या परिवर्तन होने चाहिए इसके लिए भी यह आवश्यक है। राष्ट्रीय धन के अनुमान के सम्बन्ध में भी यह सूचना आवश्यक है, यद्यपि बहुत सी ऐसी वस्तुएँ हैं जो प्रवाह के राष्ट्रीय खाते तथा स्थिति विवरण के नये राष्ट्रीय खाते में मुद्रा में नापी नहीं जा सकती।

भारत के नेट राष्ट्रीय उत्पादन के अनुमान¹

1958-69 तथा 1973-74

वर्ग	1968-69 की कीमतों पर (करोड़ रुपये में)	
	1968-69	1973-74
1. कृषि तथा सम्बन्धित क्रियाएँ	14864	18951
2. कृषि	14220	18212
3. वन लट्ट तथा लॉगिंग (forestry and logging)	449	539
4. मछुवाही (fishing)	165	200
5. खनन, निर्माण तथा लघु उद्यम	5497	8058
6. खनन तथा उत्खनन	317	465
7. बड़े पैमाने का निर्माण	2242	3490

8.	छोटे पैमाने का निर्माण	1559	2011
9.	रचना (construction)	1142	1722
10.	बिजली, गैस तथा जल सभरण (water supply)	237	370
11.	यातायात तथा संचार	1309	1785
12.	रेल	469	595
13.	संचारण (communication)	181	265
14.	अन्य साधनों द्वारा यातायात	659	925
15.	व्यापार, भण्डार, होटल	3105	4357
16.	उपयोग (sub-total)	4414	6142
17.	बैंकिंग तथा बीमा	440	554
18.	जायदाद तथा ग्रह स्वामित्व (real estate and ownership of dwellings)	675	797
19.	लोक प्रशासन तथा प्रतिरक्षा	1308	1444
20.	अन्य सेवाएँ	1873	2360
21.	उपयोग (sub-total)	4296	5155
22.	नेट देशीय उत्पादन (net domestic product)	29071	38306
23.	बाहर से नेट घटक आय (net factor income from abroad)	(—) 270	(—) 408
24.	घटक लागत पर नेट राष्ट्रीय उत्पादन (net national product at factor cost)	28801	37898
	अथवा	अथवा	
	राष्ट्रीय आय	28800	3 7900

चीबोसवा अध्याय

वित्तीय प्रशासन

(FINANCIAL ADMINISTRATION)

सारांश तथा महत्त्व—वित्तीय प्रशासन का अभिप्राय राष्ट्र, प्रदेश अथवा लोक सत्ता के वित्तीय प्रबन्ध से है। वास्तव में शासन के वित्तीय प्रबन्ध को ही वित्तीय प्रशासन की सज्ञा दी गई है। इसके अन्तर्गत बजट बनाना, आय के स्रोतों के प्रबन्धन की विधि, लोक वित्त की अभिरक्षा, मुद्रा व्यय की कार्य विधि, वित्तीय लेखों का प्रबन्धन आदि बातों का समावेश होता है। प्रशासन सम्बन्धी शासन की प्रत्येक क्रिया के वित्तीय आशय होते हैं। इसमें राज्य कोष की आय अथवा व्यय सम्बन्धी बातों का समावेश होता है। शासन की प्रशासनिक क्रिया की सीमा वित्तीय साधनों पर निर्भर होती है। यदि शासकीय आय बहुत है तो बहुत से ऐसे कार्य राज्य द्वारा किये जा सकते हैं जो धन के अभाव में नहीं किये जाते। शासकीय कार्यों तथा दायित्वों के कुशलता से परिपालन के लिए निपुण वित्तीय प्रशासन बहुत आवश्यक है। इसके अन्तर्गत प्रशासन की आय तथा व्यय सम्बन्धी आवश्यकताएँ आती हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति इस बात पर निर्भर है कि आय की प्राप्ति तथा उसके उपयोग के लिए नियम बनाये जायें तथा लेखा विधि का उचित निर्माण किया जायें जिससे आय का उपयोग उचित रूप में हो सके तथा जनता को अधिक-धिक लाभ प्राप्त हो सके। नियन्त्रण तथा निरीक्षण सम्बन्धी प्रशासन की निपुणता के लिए यह आवश्यक है कि शासन की एक ठोस बजट सम्बन्धी नीति होनी चाहिए। वास्तव में बजट वित्तीय प्रशासन की मुरी है जिसकी उपयुक्तता पर ही वित्तीय प्रशासन निर्भर है। जनता के आर्थिक कल्याण की दृष्टि इस बात पर निर्भर है कि शासन की वित्त व्यवस्था का सुयोग्य रूप में प्रबन्ध होता रहे।

वित्तीय प्रशासन के अन्तर्गत बजट का तथा विभिन्न समितियों तथा विधियों द्वारा देश के वित्त पर नियन्त्रण के अध्ययन का समावेश होता है। इसलिए वित्तीय प्रशासन का ज्ञान प्राप्त करने के लिए बजट प्रक्रिया तथा समद के वित्तीय नियन्त्रण का अध्ययन आवश्यक है।

बजट क्या है ? बजट शब्द की उत्पत्ति फ्रान्च भाषा के शब्द 'BOUGETTE' से हुई है जिसका अर्थ एक छोटे चमड़े का बना थैला अथवा भोला है। बजट शब्द का प्रयोग 1733 ई० में हुआ। बजट के अन्तर्गत वे प्रलेख अथवा पुस्तिकाएँ आती हैं जिनमें वे वित्तीय प्रस्ताव उल्लिखित रहते हैं जो प्रति वर्ष वित्त मन्त्री लोक सभा तथा राज्य सभा में प्रस्तुत करते हैं। भारतीय विधान के अन्तर्गत लोक सभा तथा राज्य सभा में वार्षिक वित्तीय विवरण प्रस्तुत होना आवश्यक है। इस विवरण में 1 अप्रैल से आगामी 31 मार्च तक की अनुमानित आय तथा व्यय का विवरण दिया रहता है। विभिन्न राज्यों में भी विधान सभाओं में ऐसे ही विवरण प्रतिवर्ष प्रस्तुत होते हैं।

भारत में बजट प्रति वर्ष फरवरी की अन्तिम तिथि को ससद में प्रस्तुत होता है। किन्तु अन्तिम बजट 25 मई 1971 को मन्त्रीमण्डल के गठन के पश्चात् प्रस्तुत हुआ। इसमें 3 वर्षों की आय तथा व्यय के अंक सम्मिलित रहते हैं। 1971-72 के अन्तरिम बजट में जो फरवरी 28 को प्रस्तुत हुआ था। इसमें 1 अप्रैल 1971 से 31 मार्च 1972 तक के आय तथा व्यय के अनुमानित अंक प्रस्तुत हैं। ये अंक 1 मार्च 1971 के दैनिक पत्रों में टिप्पणी सहित प्रकाशित होते हैं। जिस वर्ष के बजट के ये अनुमानित अंक हैं वह वर्ष बजट प्रस्तुत होने के 1 माह पश्चात् प्रारम्भ होता है। इसलिये ये अंक अनुमानित अंक कहलाते हैं। दूसरे, बजट में चालू वर्ष के अनुमानित तथा मशोघित अंक दिये रहते हैं। जब 1971-72 का बजट प्रस्तुत हुआ तब चालू वर्ष 1970-71 था। यह बजट 28 फरवरी को प्रस्तुत हुआ था। इसमें 31 मार्च 1971 तक के अनुमानित अंक तथा मशोघित अंक प्रस्तुत थे। लगभग 8 या 10 मास के वास्तविक अंकों के आधार पर शेप 2 या 3 महीने के अंकों का अनुमान लगाकर वर्ष के मशोघित अंक तैयार कर लिए जाते हैं। इसलिए प्रत्येक वर्ष के बजट में चालू वर्ष के ये दो प्रकार के अंक उपलब्ध रहते हैं। तीसरे, उन वर्ष के जो बजट प्रस्तुत होने से 11 महीने पहले धीन गया अर्थात् 1969-70 के वास्तविक अंक उपलब्ध होते हैं। आय कितनी हुई, व्यय कितना हुआ, बजट में घाटा रहा अथवा बचत तथा कितना घाटा है ये वास्तविक अंक भी प्रत्येक वर्ष के बजट में उपलब्ध रहते हैं।

आयगत तथा पूँजीगत बजट—बजट के दो भाग होते हैं : आयगत बजट तथा पूँजीगत बजट। आयगत बजट में वर्ष की आय तथा व्यय के अंक उपलब्ध होते हैं, किन्तु पूँजीगत बजट में पूँजी सम्बन्धी आय तथा व्यय के अंक प्रस्तुत रहते हैं।

बजट की विशेषताएँ—वित्त की परम्परागत प्रणाली के अनुसार बजट की निम्न विशेषताएँ हैं :

1. बजट संतुलित होना चाहिए—सामान्यतया वित्त वर्ष का व्यय आय से अधिक होना चाहिए। ठोस वित्त पर ग्लेडस्टोन के विचारों के अनुसार आकस्मिक

स्थितियों का सामना करने के लिए वजट में थोड़ी बचत होनी आवश्यक है। वजट में संतुलन होना वित्तीय स्थायित्व की मुख्य विशेषता है। कुछ वर्षों तक वजट में घाटा भी रह सकता है, परन्तु उसका पता यह होगा कि मुद्रा स्फीति हो जायेगी, जिससे शासन की साख को हानि पहुँचेगी इस घाटे की पूर्ति करो अथवा ऋणों द्वारा होनी चाहिए और व्यय में भी आवश्यकतानुसार कमी होनी चाहिए। राजकोपीय नीति ऐसी होनी चाहिए, जिससे करो की आय द्वारा आर्थिक-व्यवस्था में निवेश को तथा सामाजिक न्याय की वृत्ति को भी प्रोत्साहन मिले।

वजट में संतुलन लाने के प्रयास में यह देखना आवश्यक है कि आय तथा व्यय में कौन से मद शामिल किए जायें। ऋण लेकर खरीदी सम्पत्ति की बिक्री की आय अथवा ऋण की वित्त की प्राप्ति की आय आयगत आय में शामिल नहीं होनी चाहिए। ऋण की अदायगी से सम्बन्धित आयगत व्यय में न दिखाकर पूँजीगत व्यय में ही इसकी प्रविष्टि होनी चाहिए। सेप निधि अथवा अन्य स्रोतों के लिए धन पूँजीगत व्यय में ही सम्मिलित होना चाहिए।

पूँजीगत व्यय की पूर्ति आयगत आय से करना उचित हो सकता है तथा इसे विश्वस्त वित्त का मार्ग कह सकते हैं, किन्तु चालू व्यय की पूर्ति ऋण लेकर नहीं करनी चाहिए।

पूँजीगत आय तथा पूँजीगत व्यय में भी संतुलन रखना आवश्यक है। केन्द्र तथा राज्यों में इसीलिए पूँजीगत वजट तथा आयगत वजट के लिए अंक अलग दिये रहते हैं, जिससे तत्सम्बन्धी स्थिति का व्योरा सरलता से प्राप्त हो जायें। पूँजीगत वजट में ट्रेजरी बिलों तथा विशेष जमा धन की आय तथा डाकखानों के खातों में जमा धन की आय शामिल रहती है। आयगत तथा पूँजीगत वजट दोनों को मिलाकर कुल वजट में घाटा अथवा बचत का पता लगाया जाता है। घाटे का आर्थिक स्थिति पर एकसा ही प्रभाव पड़ता है, घाटा कोई से वजट में भी हो। घाटे के कारण देश अथवा समाज में मुद्रा प्रदाय की वृद्धि होती है, जिससे मुद्रा स्फीति होती है।

घाटे को आय बढ़ाकर अथवा व्यय घटाकर पूरा किया जा सकता है। कभी-कभी घाटा ज्यों का त्यों रखा जाता है। उसकी पूर्ति तुरन्त सम्भव नहीं होती। न व्यय कम हो सकता है तथा न एक सीमा से ऊपर कर लगकर आय बढ़ सकती है। मन्दी काल में वजट में घाटा रखना चाहिए, क्योंकि निजी क्षेत्र में व्यय को स्थगित करने से कीमतेँ गिरती हैं, जिनको रोकने के लिए निजी क्षेत्र में माँग की कमी की पूर्ति सार्वजनिक क्षेत्र में माँग बढ़ा कर करनी चाहिए। यह आवश्यक नहीं है कि वजट प्रतिवर्ष संतुलित रहे। प्रो० वीन्स ने सुझाव दिया था कि राज्य को ऋणों द्वारा विकास सम्बन्धी व्यय की पूर्ति करनी चाहिए तथा मन्दी काल में वजट में घाटा रखा जा सकता है, किन्तु दीर्घ काल में वजट संतुलित रहना चाहिए।

(2) वजट के अनुमान नकद आधार पर होने चाहिए जिसमें वर्ष में नकद आय तथा नकद व्यय का ही अनुमान आना चाहिए।

(3) बजट में आय तथा व्यय नेट आधार पर न होकर सकल (gross) आधार पर ही होने चाहिए। आय के अनुमान आय को वसूल करने का व्यय घटा कर नहीं होने चाहिए, बल्कि यह व्यय अलग दिखाया जाना चाहिए। इसी प्रकार पुलिस आदि व्यय सम्बन्धी विभाग होते हैं। इनका व्यय प्राप्ति घटा कर नेट नहीं दिखाना चाहिए, बल्कि व्यय सकल दिखाना चाहिए, तथा प्राप्ति की राशि अलग दिखाई जानी चाहिए। इसका उद्देश्य विधान सभा को कार्यकारणी पर नियन्त्रण देने का है, जिससे कार्यकारणी प्रति वर्ष सकल व्यय की मांग प्रस्तुत करे तथा विधान सभा में उस पर अच्छी तरह वृहत् हो सके।

(4) शासन के वर्ष के सभी वित्तीय मामलों से सम्बन्धित एक ही बजट होना चाहिए। भारत में रेलों का बजट माधारण बजट से अलग प्रस्तुत किया जाता है, किन्तु लोक व्यवसायों के अश्वदान की आय सामान्य बजट में उल्लिखित रहती है। इनका वार्षिक विवरण प्रथक दिया रहता है। तथा इनकी कार्य प्रणाली का निरीक्षण एक अलग समिति द्वारा किया जाता है, जिसे लोक उद्योग समिति (Public Enterprises Committee) कहते हैं।

(5) बजट के अनुमान ऐसे होने चाहिए कि इनमें तथा वास्तविक अकों में अधिक से अधिक साम्य (closeness) होना चाहिए। इसके बिना आय को कम दिखाने तथा व्यय को अधिक दिखाने की वृत्ति हो सकती है। अनुमानित तथा वास्तविक अक जितने निकटतम हो बजट उतना ही निपुण कहा जायेगा। बहुत अधिक अंतर होने पर बजट वैज्ञानिक आधार पर तैयार किया गया नहीं कहा जा सकता। बजट का अभिप्राय यह भी है कि इकट्टी ग्रांट तथा भुगतानों की मांग नहीं होनी चाहिए। इसके सम्बन्ध में व्योरेवार अनुमान उपलब्ध होने चाहिए जिससे सदन में उनकी उपयुक्त छान बीन हो सके। कभी-कभी इकट्टी ग्रांट अनिवार्य हो जाती है। उदाहरण के लिए अलग अलग भवनों की मरम्मत के अनुमान इकट्टे ही प्रस्तुत होंगे। फिर भी बजट में अनुमानित तथा वास्तविक अकों में बहुत अंतर रहता है तथा भारत जैसे देश में, जहाँ कृषि आय राष्ट्रीय आय का लगभग 46 प्रतिशत भाग है, यह अंतर अनिवार्य ही है। इस प्रकार के अंतर का उदाहरण निम्न तालिका में दिया गया है—

निम्न तालिका में केन्द्र के 1970-71 के बजट की आय के अनुमानित तथा संशोधित अक प्रस्तुत हैं—संशोधित अकों में भी अंतर रहा। उदाहरण के लिए इस वर्ष के अनुमानित बजट में 227 करोड़ रुपये का घाटा था, जो संशोधित बजट में 230 करोड़ रुपये हो गया। 1970-71 के अनुमानित बजट में करो की आय 3,134 करोड़ रुपये थी, जो संशोधित बजट में 3,198 करोड़ रुपये हो गई। इसी प्रकार अन्य मदों में भी अकों में परिवर्तन हुए।

1970-71¹

करोड़ रुपयों में

	अ० अ०	सं० अंक
कर आय	2,201	2,390
अ-कर आय	839	838

1969-70

आय करोड़ रु० में

व्यय करोड़ रुपयों में

बजट	संशोधित बजट	बजट	संशोधित बजट
2,957.75	2,923.76	2,921.39	2,934.70

इस प्रकार अनुमानित बजट में 36.36 करोड़ रुपये की वचत का अनुमान था, किन्तु संशोधित बजट में 10.94 करोड़ रु० का घाटा हो गया।

पूँजीगत बजट की यह स्थिति रही कि घाटा इसी प्रकार 1970-71 के अनुमानित बजट में 277.83 करोड़ या जो संशोधित बजट में घट कर 265.94 करोड़ रु० रह गया। आयगत तथा पूँजीगत बजट को मिलाकर 1969-70 में 253.68 करोड़ घाटे का अनुमान किया गया था, जो संशोधित बजट में घटकर 290.11 करोड़ रुपये हो गया।²

(6) बजट वार्षिक आधार पर बनना चाहिए। शासन की वित्तीय नीति का पुनरीक्षण बजट द्वारा ही हो सकता है। पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत बजट दोषकाजीन आधार पर बन सकता है, किन्तु फिर भी एक वार्षिक वित्तीय विवरण आवश्यक है।

(7) बजट में समाप्ति का नियम (Rule of lapse) लागू होता है। जितना धन व्यय करने की स्वीकृति संसद ने दी है। यदि वर्ष में वह व्यय न हो सके तो वह आगामी वर्ष में व्यय के लिए उपलब्ध नहीं रहता। जो धन व्यय नहीं हुआ वह वर्ष के अन्त में समाप्त हो जाता है। इसका उद्देश्य यह है कि शासन को आय तथा व्यय का अनुमान सोच समझ कर करना चाहिए तथा मसद सरकार की नीति पर नियन्त्रण इसी नियम द्वारा करती है, क्योंकि यदि वही धन राशि दूसरे वर्ष में उपलब्ध हो सके, तो संसद का सरकार पर नियन्त्रण कम हो जायेगा।

(8) अनुमान विभागीय आधार पर होते हैं। भारत में प्रत्येक विभाग सकल आय तथा व्यय का अनुमान करता है। यदि लोक निर्माण विभाग को एक शिक्षालय का भवन बनाना है तो इसका अनुमान लोक निर्माण विभाग करेगा, शिक्षा विभाग

1 Reserve Bank of India Bulletin, May 1970 Statement I, p 703.

2 An Economic Survey, 1970-71 Table ix p. 27.

नहीं करेगा। वाणिज्यिक विभागों में यह व्यय उस विभाग के अनुमान में आता है जिसके लिए सेवा की व्यवस्था की गई है।

बजट का उद्देश्य तथा महत्त्व—बजट सुव्यवस्थित वित्त का आधार है। इसी के द्वारा समद तथा प्रदेशीय विधान सभाएँ शासन पर नियन्त्रण रखती हैं तथा उसकी नीति का नियमन करती हैं। शासन तभी व्यय कर सकता है जब संसद द्वारा अनुदान की मांगों को स्वीकृति मिल जाती है। बजट नीति द्वारा ही शासन उत्पादन वृद्धि में सहायक हो सकता है। यह कृषि तथा उद्योगों को आर्थिक सहायता दे सकता है तथा औद्योगिक अनुसंधान की व्यवस्था कर सकता है। शासन उन संस्थानों के लिए वित्त प्रदान कर सकता है जिनकी स्थापना उद्योगों तथा कृषि उद्योग में निवेश की वृद्धि के लिए की गई है। कराधान नीति द्वारा भी उद्योगों की उन्नति में सहायता दी जा सकती है, जिससे बचाव धन तथा लाभ उद्योगों में निजी क्षेत्र में पुनः निवेश के लिए उपलब्ध हो सके।

बजट नीति का प्रयोग धन तथा आय के वितरण की विषमता को कम करने के लिए भी किया जा सकता है। वर्तमान कराधान, मृत्यु कर, सम्पत्ति कर, आदि द्वारा राज्य वित्त उपलब्ध कर सकता है, जिसका उपयोग शासकीय उद्योगों में निवेश के लिए तथा जन साधारण को सामाजिक तथा सांस्कृतिक सुविधाएँ प्रदान करने के लिए किया जा सकता है। गरीब वर्ग के व्यक्तियों के लिए अन्य प्रकार की सुविधाएँ भी प्रदान की जा सकती हैं।

बजट नीति का उपयोग रोजगार को स्थिर करने तथा राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था को दृढ़ करने के लिए भी किया जा सकता है। मन्दी काल में घाटे के वित्त द्वारा लोक व्यय की वृद्धि से वस्तुओं की माँग बढ़ाकर अर्थ-व्यवस्था की उन्नति की जा सकती है। कारपोरेशनों के निवेश के वितरण को भी आर्थिक दृढ़ता के हित में प्रभावित किया जा सकता है। यह जनता की आर्थिक समृद्धि बढ़ाने के लिए किया जाता है।

राज्य रोजगार की सुविधाएँ बढ़ाने का प्रयास भी करता है। प्रो० ए० एस० हेन्सन³ तथा विलियम बेवरिज⁴ के अनुसार अतिरिक्त शासकीय व्यय द्वारा आय तथा रोजगार का एक ऊँचा स्तर प्राप्त किया जा सकता है। दीर्घ काल में आय तथा रोजगार की वृद्धि के लिए... घाटे के बजट की अपेक्षा कराधान को बरीयता देते हैं। आय तथा रोजगार बढ़ाने के लिए अन्य लेखक निजी उद्योगों को प्रेरणा देने के लिए कराधान में कमी की तरजीह देते हैं।

अल्प विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में बेरोजगारी तथा अल्प रोजगारी दूर होनी चाहिए। मन्दी काल में विवेकपूर्ण ढंग से रियायत से उद्योगों में निवेश को प्रोत्साहन

मिल सकती है। ऐसी अवस्था में राज्य को ऋण द्वारा व्यय के लिए वित्त प्राप्त करना चाहिए। निजी माँग की कमी की पूर्ति लोक क्षेत्रीय व्यय द्वारा माँग बढ़ा कर रोजगार में वृद्धि हो सकती है। इसके अतिरिक्त राज्य द्वारा कम लागत पर पूँजी का निवेश बढ़ाया जा सकता है जिससे देश को स्थायी लाभ हो सकता है।

भारत में बजट की प्रक्रिया—हमारे विधान के अनुसार ग्रामन की कई परतें हैं। इनमें से प्रत्येक परत के लिए प्रथक बजट होता है। मध्य के लिए बजट अलग है। इसी प्रकार राज्यों के लिए तथा स्थानीय सत्ताओं के लिए भी अलग-अलग बजट हैं।

केन्द्र में बजट के कई चरण होते हैं तथा राज्यों में भी ऐसा ही होता है। अब हम संघीय बजट की प्रक्रिया का विवरण देंगे। इसमें निम्न चरण हैं—

(1) **बजट की तैयारी**—केन्द्र में स्थानीय कर्मचारी सितम्बर में अपने विभागों के लिए अनुमान तैयार करना शुरू कर देते हैं। दो भागों में भरने के लिए उन्हें प्रपत्र के प्रतिरूप दिये जाते हैं। भाग I में आय के वर्तमान साधनों के लिए व्यवस्था रहती है। इस भाग की आय तथा व्यय के अनुमानों में पिछले वर्ष के वास्तविक अंक, वर्तमान वर्ष के लिए स्वीकृत अनुमान तथा चालू वर्ष के संशोधित अनुमान दिये रहते हैं। आगामी वर्ष के अनुमान तथा चालू वर्ष के अनुमान तैयार करने के समय तक के वास्तविक अंक भी इसी में लिखे जाते हैं। चालू वर्ष के स्वीकृत अंक तथा गत वर्ष के वास्तविक अंक इन प्रपत्रों में वित्तीय विभाग द्वारा दिये जाते हैं। शेष कालों में सूचना स्थानीय अफसर देते हैं।

चालू वित्तीय वर्ष के संशोधित अनुमान अब तक के वास्तविक अंकों के आधार पर तैयार किये जाते हैं। वर्ष के शेष भाग के अंकों का अनुमान लगा दिया जाता है। यह ध्यान रहे कि संशोधित अनुमान स्वीकृत अनुमान का स्थान नहीं ले सकते। उदाहरण के लिए यदि पुलिस विभाग के स्वीकृत बजट का अनुमान 2 करोड़ रुपये है तथा संशोधित अनुमान 2.5 करोड़ रुपये है तब इसका यह अर्थ नहीं है कि विभागाध्यक्ष 2.5 करोड़ रु० व्यय कर सकता है। ठीक इसी प्रकार यदि संशोधित अनुमान $1\frac{1}{2}$ करोड़ हो जाता है, तो भी ग्रांट 2 करोड़ रुपये ही रहेगी। हाँ, यदि पूर्वानुमानित (anticipated) व्यय स्वीकृत व्यय से अधिक हो जाये तब उपयुक्त समय तक पूरक ग्रांट आवश्यक होगी, किन्तु पूर्वानुमानित बचत वित्तीय विभाग को समर्पण की जायेगी।

भाग II में व्यय की नई योजनाएँ रहती हैं जिन्हें लिए धन की आवश्यकता नहीं की गई है। आय के किसी वर्तमान साधन को छोड़ने के प्रस्ताव भाग II में अलग दिये जाते हैं जब तक ये अधिकृत नियमों के अनुकूल न हों। स्थानीय कर्मचारियों से प्राप्त अनुमान विभागाध्यक्ष द्वारा सफटित तथा संशोधित किये जाते हैं। भाग I के व्यय तथा आय के अनुमान नवम्बर तक विभागाध्यक्ष सरकार के समक्ष प्रस्तुत कर देते हैं। इनकी एक प्रति प्रशासन विभाग को तथा दूसरी वित्तीय विभाग को भेजी

जाती है। जनवरी में वित्तीय विभाग प्रशासन विभाग के सुझावों के अनुसार अनुमानों का सघटन करता है। इसके पश्चात् इनका पुनरीक्षण एकाउन्टेन्ट जनरल द्वारा किया जाता है।

(2) बजट का प्रस्तुतीकरण—वित्त मंत्री फरवरी में बजट को लोक सभा में प्रस्तुत करता है। उसी समय बजट राज्य सभा में भी प्रस्तुत होता है। ससद में बजट फरवरी की अन्तिम तिथि को प्रस्तुत होता है। तथा 1 मार्च को पत्रों में प्रकाशित हो जाता है।¹ इसकी मुख्य बातें तथा उन पर टिप्पणियाँ 28 फरवरी को सायंकाल ही आकाशवाणी से प्रसारित हो जाती हैं। राज्यों के बजट भी फरवरी में प्रस्तुत होते हैं। ये 10 या 12 फरवरी से लगा कर फरवरी के अन्तिम सप्ताह तक प्रस्तुत हो जाते हैं। राज्यों में भी जहाँ दो सदन हैं बजट दोनों सदनो में प्रस्तुत होता है।

जिस दिन संसद में बजट प्रस्तुत होता है उस दिन प्रत्येक सदस्य को निम्न सामग्री मिलती है : (1) वित्त मन्त्री के व्याख्यान की मुद्रित प्रति, (2) वित्त सचिव का जापन-पत्र, (3) ग्रान्ट्स की मांगें, (4) प्राप्तियों तथा भुगतानों के अनुमान, (5) एक श्वेत पत्र जिसमें अनुमानों की पृष्ठभूमि उल्लिखित रहती है, तथा (6) इकनामिक सर्वे जिसमें देश की आर्थिक स्थिति का वर्णन दिया रहता है। यह पुस्तक 1957-58 से केन्द्रीय बजट के साथ प्रस्तुत होती रही है।

जिस दिन बजट प्रस्तुत होता है उस दिन वित्त मन्त्री अपना मुद्रित भाषण पढ़ते हैं। उस पर उस दिन बहस नहीं होती। इस भाषण में देश तथा विदेशों की आर्थिक स्थिति का विवरण रहता है। इससे बजट के प्रस्तावों की पृष्ठभूमि मिलती है। इसमें शासन के बजट प्रस्ताव भी दिये रहते हैं। वर्ष में देश में उत्पादन को प्रभावित करने के घटकों का विवरण भी रहता है। इसमें देश विदेशों की वित्तीय, मीट्रिक तथा राजकोपीय वृत्तियाँ भी उल्लिखित रहती हैं। इनका बजट प्रस्तावों से सम्बन्ध रहता है। इसमें बजट में घाटे अथवा बचत का विवरण भी रहता है तथा उस पर टिप्पणी भी रहती है।

वित्त मन्त्री के भाषण पर पत्र, पत्रिकाओं में टिप्पणी भी प्रकाशित होती हैं। इन प्रस्तावों का ऋण पत्रों तथा व्यापारिक सिक्यूरिटियों की तथा वस्तुओं की कीमतों पर विशेष प्रभाव पड़ता है। उसका कारण यह है कि बजट में करो से सम्बन्धित सुझाव तथा प्रस्ताव दिये रहते हैं।

(3) सामान्य बहस—बजट के प्रस्तुतीकरण के कुछ दिन पश्चात् उस पर सामान्य बहस प्रारम्भ होती है जो लगभग 3 दिन तक चलती है। इस अवसर पर सरकारी नीतियों पर टिप्पणियाँ होती हैं। प्रस्ताव अथवा मनदान नहीं होता।

5 1971-72 का बजट मध्यावधि निर्वाचन के कारण संसद में 28 फरवरी को प्रस्तुत नहीं हुआ।

इसका उद्देश्य आय तथा नान वोटेबल व्यय तथा शासन के वेज एण्ड मीम प्रोग्राम पर बहस करना है।

(4) माँगों पर मतदान—इसका सम्बन्ध उन मर्दों से ही होता है जिन पर मतदान हो सकता है। इन पर मतदान लोक सभा में ही होता है। राज्यों में विधान सभा में होता है। प्रत्येक माँग मन्त्री द्वारा अथवा उनकी ओर से किसी अन्य अधिकारी द्वारा प्रस्तुत की जाती है। सदन के नेता की सहमति से स्वीकर इस बहस के लिए कुछ दिन निश्चित कर देता है तथा किसी एक माँग के लिए समय निश्चित कर दिया जाता है। माँग ग्रान्ट में तभी परिणित होती है जब उस पर मतदान हो जाता है तथा वह पारित हो जाती है। निर्धारित दिनों के अंतिम दिवस पर ग्रान्ट की माँगों के प्रत्येक प्रश्न की समाप्ति हो जाती है। इसे गिलोटिन कहते हैं। सदन में ग्रान्ट में कमी के प्रस्ताव हो सकते हैं, किन्तु इनमें संशोधन नहीं हो सकते। जब एक ही माँग से सम्बन्धित कई प्रस्ताव हो तब वे उसी क्रम में बहस के लिए जाते हैं जिस क्रम में बजट में सम्बन्धित शीर्षक रहता है।

पहले हमारे देश में 8 या 10 दिन माँगों के मतदान के लिए निश्चित रहते थे जबकि यू० के० में 26 दिन इस कार्य के लिए रहते थे। अम्ब्यायी क्रूण के लिए कोई व्यवस्था नहीं थी तथा बजट सूत्र शीघ्र ही समाप्त होता था।

लेखानुदान (Vote on Account)—अब व्यय पर मतदान कुछ महीनों तक चलता है। यह आवश्यक है कि 1 अप्रैल से जब वित्तीय वर्ष प्रारम्भ होता है व्यय के लिए ग्रान्ट उपलब्ध होनी चाहिए। इसलिए एक विशेष अनुमान जिसे लेखानुदान कहते हैं प्रस्तुत किया जाता है जिसमें एक विभाग की लगभग 4 महीनों की आवश्यकताओं के अनुमान के अनुसार धन दिया जाता है। यह प्रणाली 1950 में प्रारम्भ हुई जब नया शासन विधान लागू हुआ।

वोट आन एकाउण्ट के प्रस्ताव में आवश्यक सकल धन का प्राविधान रहता है। इसमें प्रत्येक मन्त्रालय की आवश्यकताओं को ध्यान में रखा जाता है। व्यय के मद एक सिङ्गल में दिये रहते हैं जो प्रस्ताव के साथ सलग्न रहता है। सकल ग्रान्ट में कमी के अथवा ग्रान्ट मर्दों को हटाने अथवा उनमें कमी के संशोधन प्रस्तुत हो सकते हैं। इस अवसर पर साधारण बहस हो सकती है। सदन के नेता तथा विभिन्न दलों के नेताओं में बात चीत के बाद माँगों की ग्रान्ट की वरीयता तय हो जाती है। पहले मुख्य माँग ली जाती है तथा अन्य माँगें समग्र उपलब्ध होने पर ही ली जा सकती हैं। अन्यथा वे गिलोटिन के अन्तर्गत आ जाती है।

केन्द्र में बिना राष्ट्रपति की अनुमति के तथा राज्यों में बिना राज्यपाल की अनुमति के कोई ग्रान्ट नहीं दी जा सकती। यह एक अदूरदर्शी व्यय के विरुद्ध वचाव है जिसके लिए शासन दायित्व लेने को तैयार नहीं होता। इसमें सदस्यों को भी ऐसे मर्दों पर व्यय के लिए अपने निर्वाचन क्षेत्रों की ओर से दबाव से रक्षा होती है जिनकी देश की दृष्टि से आवश्यकता नहीं है।

ग्रान्ट की माँग में कमी का प्रस्ताव प्रस्तुत करने का उद्देश्य मितव्ययता की दृष्टि से किया जा सकता है अथवा शासन से अनुमानों के सम्बन्ध में किसी बात पर सूचना प्राप्त करने के उद्देश्य से भी किया जा सकता है। ग्रान्ट कम करने के प्रस्ताव राजनीतिक बातों को उठाने की दृष्टि से किए जाते हैं। जब ग्रान्ट को कम करने का प्रस्ताव मितव्ययता के उद्देश्य से किया जाता है तब धन राशि प्रस्ताव में खोल दी जाती है।

विनियोग बिल (Appropriation Bill)—इसका प्रस्ताव तब किया जाता है जब ग्रान्ट की सब माँगों पर मतदान हो जाता है। सदन द्वारा पारित माँगों को इससे बंध घोषित किया जाता है। इसके द्वारा समाहित कोष (consolidated fund) से धन निकालने का अधिकार प्राप्त होता है। यह मूल माँग, पूरक माँग तथा वोट आन एकाउण्ट के सम्बन्ध में प्रस्तुत किया जाता है। इससे अतिरिक्त ग्रान्टों को नियमित अथवा बंध किया जाता है। इसमें सशोधन प्रस्तुत नहीं हो सकते, क्योंकि इनका प्रभाव ग्रान्ट के अनुमानों में परिवर्तन करना होगा। इस बिल के पारित होने पर शासन को समाहित कोष से धन प्राप्त करने का अधिकार मिल जाता है।

उपयुक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि सदन को शासन के वित्त पर बहस करने के कई अवसर मिलते हैं। पहला अवसर सदन में बजट प्रस्तुत होने के दो या तीन दिन पश्चात् मिलता है जबकि केवल साधारण विवेचन होता है। दूसरा वह अवसर होता है जब ग्रान्ट की माँगों पर बहस होती है तथा उनमें कमी के प्रस्ताव प्रस्तुत होते हैं। तीसरा अवसर तब होता है जब वित्त बिल पर बहस होती है। इस अवसर पर किसी भी विषय को लेकर बहस हो सकती है। अन्त में समाहित बिल पर विचार करते समय बहस हो सकती है।

बजट का कार्यान्वयन

EXECUTION

समाहित बिल पारित होने के पश्चात् ग्रान्टों का धन वितरित होता है। इन कार्य को वितरण करने वाले कर्मचारी करते हैं। एस्टीमेट्स कमेटी से परामर्श के पश्चात् ग्रान्ट का क्षेत्र वित्त मन्त्री तय करते हैं। नियन्त्रक कर्मचारियों को यह देखना होता है कि ग्रान्ट के प्रत्येक उपशीर्षक के अन्तर्गत व्यय विनियोग के अन्तर्गत ही है। व्यय की प्रगति इस दृष्टि से देखी जाती है कि ग्रान्ट से अधिक व्यय न हो जाये।

एप्रोप्रिएशन का अभिप्राय उस धन राशि से है जो बजट की एप्रोप्रिएशन इकाई में उल्लिखित है। वित्तीय वर्ष की समाप्ति से पूर्व एप्रोप्रिएशन अधिकृत हो जाता है। जो धन व्यय नहीं हो पाता वह समाप्त हो जाता है। ग्रान्ट के अन्तर्गत एक शीर्षक से दूसरे को धन का तबादला सम्भव है। ऐसा तभी होता है जब यह निश्चित हो जाता है कि एक शीर्षक का धन उस पर व्यय नहीं हो सकेगा।

व्यय करने से पहले दो शर्तें पूरी होनी चाहिए। उपयुक्त अधिकारी की स्वीकृति होनी चाहिए। दूसरे, एप्रोप्रिएशन एक्ट में अथवा उपयुक्त अधिकारी द्वारा पुनः एप्रोप्रिएशन से व्यय के लिए पर्याप्त कोष उपलब्ध होना चाहिए।

जो व्यक्ति लोक निधि से धन व्यय करता है उसे निम्न सिद्धान्त ध्यान में रखने चाहिए :

(१) लोक निधि व्यय करने में वैसी ही सावधानी बरतनी चाहिए जैसी कि एक सूक्ष्मका व्यक्ति अपना निजी धन व्यय करने में करेगा।

(२) लोक धन किसी व्यक्ति विशेष अथवा समाज के खण्ड के लिए व्यय नहीं किया जाता चाहिए जब तक कि व्यय बहुत ही थोड़ा न हो अथवा उसके लिए यावा न्यायालय में लागू हो सके या व्यय किसी गान्धिता प्राप्त नीति अथवा प्रथा के अनुकूल न हो।

(३) व्यय सम्बन्धी स्वीकृति की सब आज्ञायें आडिटर के पास प्रेषित होनी चाहिए।

व्यय पर उचित नियन्त्रण होना चाहिए तथा वास्तविक अनुमानों की प्रगति पर निगाह रखनी चाहिए। एकाउण्टेण्ट जनरल वित्त विभाग को मासिक विवरण भेजता है जिसमें प्राप्त तथा भुगतान से सम्बन्धित वर्धमान अंक प्रस्तुत रहते हैं। एकाउण्टेण्ट जनरल को यह देखना होता है कि व्यय की गति ऐसी तीव्र न हो कि वर्ष समाप्त होने से पूर्व ही धन व्यय हो जाये। ऐसी स्थिति की सूचना नियन्त्रक अधिकारी को मिलनी चाहिए।

समाहित कोष CONSOLIDATED FUND

केन्द्र तथा प्रत्येक राज्य में समाहित कोष होता है जिसमें सब प्राप्त धन जमा होता है तथा उसी से सब अधिकृत व्यय होता है। व्यय के कुछ मद मतयोग होते हैं तथा कुछ मतयोग नहीं होते। इन दूसरों को चार्जेंबल कहते हैं।

भारत के समाहित कोष में निम्न मद मतयोग नहीं होते :

(क) राष्ट्रपति की आय तथा भत्ते तथा उनके कार्यालय का अन्य व्यय;

(ख) राज्य सभा के चेयरमैन तथा उपाध्यक्ष का तथा लोक सभा के स्पीकर तथा उप-स्पीकर का वेतन तथा भत्ता;

(ग) भारत सरकार के ऋण से सम्बन्धित व्यय जिसमें व्याज तथा मूल धन की अदायगी कोष भी शामिल है,

(घ) (i) सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन, भत्ते तथा पेन्शन;

(ii) संघीय न्यायालय के न्यायाधीशों की पेन्शन;

(iii) उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की पेन्शन जिनका अधिकार भारत के किसी ऐसे स्टेट में रहा जो प्रथम शिड्यूल के भाग A में स्थित थी;

- (ड) भारत के कण्ट्रोलर तथा आडिटर जनरल का वेतन, भत्ता तथा पेन्शन;
- (घ) किसी न्यायालय के निर्णय की डिग्री सम्बन्धी धन;
- (छ) ऐसा अन्य व्यय जिसे ससद अथवा विधान ने कानून द्वारा नान वोटेबल घोषित किया है।

निम्न व्यय भी केन्द्र के समायोजन कोष में चार्जबल है :

- (१) सधीय तथा राजकीय सेवा आयोगों के सदस्यों के वेतन, भत्ते तथा पेन्शन सम्बन्धी व्यय;
- (२) राज्यों के लिये अनुदान,
- (३) देशी राज्यों के राजाओं के प्रीवी पर्सों सम्बन्धी व्यय जो अब समाप्त कर दिये गये हैं।

निम्न मद स्टेट के समाहित कोष में चार्जड घोषित हैं जिन पर मतदान नहीं होता :

- (i) राज्यपाल की आय, भत्ते तथा उनके कार्यालय का अन्य व्यय,
- (ii) राज्य की विधान सभा के स्पीकर तथा डिप्टी-स्पीकर का वेतन तथा भत्ता तथा विधान परिषद् के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष का वेतन तथा भत्ता,
- (iii) राज्य के ऋण पर व्याज तथा मूल धन के भुगतान से सम्बन्धित किश्त का व्यय,
- (iv) उच्च न्यायालय के जजों के वेतन तथा भत्ते सम्बन्धी व्यय,
- (v) किसी न्यायालय के निर्णय की पूर्ति के लिए धन राशि।

समाहित कोष के लाभ

समाहित कोष के निम्न लाभ हैं

(१) कुछ मदों पर वर्तमान सूत्र में मतदान कराना वाछनीय नहीं होता। इन मदों के लिए धन सीधे समाहित कोष से लिया जा सकता है। ये मद ऊपर लिखे गये हैं।

(२) विभागों का व्यय लोक जमा के अन्तर्गत रिजर्व बैंक आफ इण्डिया में एक खाते में जमा रहता है। इसका फल यह है कि शासकीय शेष धन की स्थिति तथा उसके मौद्रिक प्रभावों का पता लग जाता है।

(३) कण्ट्रोलर तथा ऑडिटर जनरल ऐसी राशि के भुगतान को रोक देगा जो संसद में पारित नहीं हुई है। इसलिए ससद बजट को समय पर पारित करेगी। इस प्राविधान से कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होती क्योंकि अस्थायी ऋण के लिए उपाय उपलब्ध है।

पूरक मांग (Supplementary Demands)—शासन ससद की अनुमति के बिना नया व्यय नहीं कर सकता। इसलिए यदि स्वीकृत धन राशि पर्याप्त

नहीं है तो पूरक माँग प्रस्तुत होनी चाहिए, जिसकी स्वीकृति संसद से प्राप्त होनी चाहिए।

सांकेतिक अनुदान (Token Grants)—बहुत थोड़ी धन राशि की माँग को सदन में मतदान के लिए प्रस्तुत करने को सांकेतिक अनुदान करते हैं। ऐसा किसी नई सविस्स के मद के सम्बन्ध में होता है।

अतिरिक्त अनुदान (Additional Grants)—अन्तिम स्थिति तैयार होने पर ऐसा पता चलता है कि व्यय अनुदान से अधिक हो गया है। ऐसा व्यय अतिरिक्त अनुदान द्वारा नियमित किया जाता है। सदन में प्रस्तुत होने से पहले अतिरिक्त अनुदान की माँगों की स्वीकृति लोक सेवा समिति द्वारा होनी चाहिए।

वित्त बिल (Finance Bill)—यह वह बिल है जो आगामी वित्त वर्ष के लिए भारत सरकार के वित्तीय प्रस्तावों को कार्यान्वित करने के लिए प्रस्तुत किया जाता है। वह बिल भी इसी श्रेणी में आता है जो किसी काल के लिए पूरक वित्तीय प्रस्तावों को कार्यान्वित करने के लिए प्रस्तुत होता है। इस बिल पर राष्ट्रपति की संसद के लिए सिफारिश होती है तथा इस पर पार्लमेण्ट के सचिव के हस्ताक्षर होते हैं। इस पर वित्त मन्त्री के प्रस्ताव पर बहस प्रारम्भ होती है। इस अवसर पर शासन की व्यय तथा वसूली नीति पर बहस होती है। जब सदन प्रस्ताव स्वीकार कर लेता है तब बिल सदन की चयन समिति में जाता है, जिसकी मस्तुति होने पर इसकी धाराओं पर विचार होता है। प्रत्येक धारा पर संशोधन प्रस्तुत हो सकते हैं। सदन में कर को हटाने अथवा घटाने के प्रस्ताव नियमानुसार होते हैं, किन्तु कर बढ़ाने अथवा नया कर लगाने के प्रस्ताव नियम विरुद्ध हैं। बिल पारित होने पर राज्य सभा में जाता है तथा जब दोनों सदनों में स्वीकार हो जाता है तब राष्ट्रपति की स्वीकृति के पश्चात् कानून हो जाता है।

मौद्रिक बिल (Money Bill)—यह बिल कर, ऋण तथा ऐसे व्यय से सम्बन्धित होता है जो समाहित कोष में चार्ज होता है। कोई बिल मनी बिल है अथवा नहीं उसकी कसौटी यह नहीं है कि वह कर से सम्बन्धित है, बल्कि उस पर स्पीकर का निर्णय होने पर ही वह मनी बिल की श्रेणी में आ सकता है।

मनी तथा वित्त बिल में अन्तर—

(१) मनी बिल कर ऋण तथा व्यय से सम्बन्धित होता है, किन्तु वित्त बिल में अन्य प्रस्ताव भी हो सकते हैं।

(२) किसी बिल पर स्पीकर का इस आशय का निर्णय कि यह मनी बिल है अन्तिम होता है। इसलिए मनी बिल की श्रेणी में आने के लिए लोक सभा के स्पीकर का प्रमाण पत्र आवश्यक है जो वित्त बिल के लिए आवश्यक नहीं है। प्रमाण पत्र देने के लिए भारत में स्पीकर को किसी से परामर्श करने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु इंग्लैण्ड में स्पीकर चयन समिति के चेयरमैन के पैन्ल से परामर्श लेने के

लिए बाध्य है। व्यवहार में लोक सभा के स्पीकर अपना निर्णय देने से पहले कानून मन्त्रालय से परामर्श करते हैं। ऐसी प्रथा 1950 के विधान के प्रारम्भ से चली आ रही है।

(३) राज्य सभा लोक सभा से प्राप्त होने के १४ दिन के अन्दर इस बिल को लोक सभा में भेजने के लिए बाध्य है। लोक सभा राज्य सभा की संस्तुति को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं है।

वित्त बिल की प्रक्रिया भिन्न है। मतभेद होने पर दोनों सदनों की सम्मिलित बैठक आवश्यक है, जिसमें बहुमत का निर्णय अन्तिम होता है। दो सदन वाले राज्यों में भी यही प्रथा है।

पञ्चोत्तरा अध्याय
वित्तीय नियन्त्रण
(FINANCIAL CONTROL)

पार्लमेटरी प्रणालियों में वित्तीय नियन्त्रण मसद, शासन, वित्त मन्त्रालय तथा लेखा परीक्षण विभाग द्वारा सम्पन्न होता है। मसद आय की प्राप्ति, व्यय, ऋण तथा हिमाय पर नियन्त्रण रखती है। नये कर लगाने अथवा करों की दर बढ़ाने, व्यय करने तथा ऋण लेने के लिए वैधानिक प्राधिकरण (legislative authorisation) आवश्यक है। लोक लेखों का परीक्षण एक कानूनी सत्ता द्वारा होता है जो कार्य-कारिणी सरकार से स्वतन्त्र होती है।

भारत में अंग्रेजी प्रणाली प्रचलित है जिसमें पार्लमेट के वित्तीय नियन्त्रण के चार सिद्धान्त अथवा नियम हैं।

(1) पहले नियम के अनुसार, पार्लमेट के अधिकार बिना सम्राट, मन्त्रियों द्वारा कराधान, ऋण अथवा अन्य साधनों में धन प्राप्त नहीं कर सकता। भारत में भी ऐसा ही होता है। यहाँ केन्द्र में राष्ट्रपति की अथवा राज्यों में राज्यपाल की संस्तुति के बिना अनुदान की माँग का प्रस्ताव सदन में नहीं रखा जा सकता। इंग्लैण्ड में अतिरिक्त धन के व्यय के प्रस्ताव क्राउन अथवा सम्राट के मन्त्रियों से ही आने चाहिए। इससे बहस के दौरान विपक्षी दल यजठ योजना विफल नहीं कर सकते। भारत में अतिरिक्त धन के व्यय की माँग राष्ट्रपति अथवा उनके मन्त्रियों द्वारा आनी चाहिए।

(2) दूसरे नियम के अनुसार, धन के अनुदान का अधिकार जिसमें कर आय तथा ऋण शामिल हैं तथा व्यय का प्राधिकरण पूर्णतया लोक सभा में निहित है। केन्द्र में राज्य सभा तथा राज्यों में विधान परिषद अनुदान को अस्वीकार कर सकते हैं, किन्तु प्रारम्भ नहीं कर सकते।

(3) तीसरे नियम के अनुसार, लोक सभा अथवा विधान सभा शासन की ओर माँग आने पर ही धन की माँग पर मत दे सकते हैं।

(4) चौथे नियम के अनुसार, कराधान के सम्बन्ध में भी यही रोक है। नये कर का या कर की दर की वृद्धि का प्रस्ताव सरकार से आना चाहिए।

इंग्लैण्ड में वित्त सम्बन्धी तीन पार्लमेण्टरी रोक है। पहली रोक यह है कि वित्तीय बजट सदन में तब होती है जब सदन समिति का रूप ले लेता है। अनुमान आपूर्ति अथवा सप्लाइ बजेटों में रखे जाते हैं जो सम्पूर्ण सदन की बजेटों होती हैं। इसी प्रकार वेज एण्ड मीन्स की बजेटों होती हैं। इस बजेटों में पार्लमेण्ट के सब सदस्य होते हैं, किन्तु स्पीकर इसकी अध्यक्षता नहीं करते। यह बजट का एक अनुपचारिक ढङ्ग है, जिससे सब बातों पर पूरी बहस सम्भव है।

अमेरिका में कांग्रेस सरकार के वित्तीय प्रस्तावों को बदलने के लिए अधिकार रखती है। यह प्रस्तावित व्यय अथवा करो को कम कर सकती है। ऐसा होने पर भी गवर्नमेण्ट त्याग पत्र देने की बाध्य नहीं होती। किन्तु इंग्लैण्ड तथा भारत में सदन में अनुदान की माँग में कमी का प्रस्ताव पारित होने पर गवर्नमेण्ट को त्याग पत्र देना होता है। अमेरिका में इंग्लैण्ड की अपेक्षा लोक वित्त पर ससदीय नियन्त्रण अधिक वास्तविक तथा पूर्ण है।

दूसरी रुकावट यह है कि कण्ट्रोलर तथा ऑडिटर जनरल व्यय पर अपनी रिपोर्ट गवर्नमेण्ट के बजाय सीधे सदन के समक्ष प्रस्तुत करता है। उसके द्वारा निरीक्षित हिसाब का निरीक्षण लोक लेखा समिति (Public Accounts Committee) द्वारा होता है। यह सम्पूर्ण सदन की चयन समिति है।

व्यय पर तीसरी पार्लमेण्ट की रोक अनुमानों से सम्बन्धित चयन बजेटों है जिसका 1945 में पुनर्गठन हुआ था। इसका उद्देश्य विधान मण्डल द्वारा पारित अनुमानों के सम्बन्ध में स्वीकृत मितव्ययता सम्बन्धी नीति को व्यवहार में लाना है, किन्तु लोक लेखा समिति का मुख्य उद्देश्य व्यय का नियमन करना है। कुछ सीमा तक इन दोनों समितियों के कार्य समान हैं। भारत में भी अनुमान समिति तथा लोक लेखा समिति हैं। इनके अतिरिक्त लोक उद्योगों के लिए एक अलग समिति है।

भारत में वित्तीय बजट पूरे सदन की समिति में नहीं होती, किन्तु अनुमान समिति तथा लोक लेखा समिति ही ऐसे माध्यम हैं जिनके द्वारा व्यय पर पार्लमेण्ट का नियन्त्रण होता है।

एस्टीमेट्स समिति—यह समिति सूत्र के प्रारम्भ में प्रत्येक राज्य तथा केन्द्र में ऐसे अनुमानों की जाँच करने के लिए बनती है जिन्हें समिति उठाती है। इनमें व्यय घटाने का सुभाव भी दिया जा सकता है। पार्लमेण्ट में एस्टीमेट्स के रूपों के सम्बन्ध में सुभाव दिया जा सकता है।

समिति के सदस्यों का निर्वाचन एक वर्ष के लिए होता है। इनकी संख्या 25 तक हो सकती है तथा इनका वार्षिक निर्वाचन सदन के सदस्यों में से एकल हस्तान्तर मत तथा आनुपातिक प्रदर्शन प्रणाली द्वारा होता है। स्पीकर सदस्यों में से ही समिति के अध्यक्ष की नियुक्ति करता है, किन्तु यदि उप-स्पीकर समिति का सदस्य होता है तब वही समिति का अध्यक्ष बनता है। बजेटों के कोरम की संख्या 6 होती है। समिति कई उप-समितियों का गठन कर सकती है। ये उपसमितियाँ उन मामलों की

जाँच करता है जो इनके सुपुर्द किये जाये। इनकी रिपोर्ट की सम्पूर्ण समिति की बैठक में स्वीकृति होने पर सम्पूर्ण समिति को ही रिपोर्ट समझी जाती है। समिति गवाही भी ले सकती है। यह बराबर बर्ष भर एस्टीमेट्स की जाँच करती रहती है तथा सदन को रिपोर्ट प्रस्तुत करती रहती है। इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि बर्ष के कुल एस्टीमेट्स को जाँचे। अनुदान की माँगें तब भी पारित हो सकती हैं जब समिति ने कोई भी रिपोर्ट न दी हो।

पार्लियामेंट द्वारा स्वीकृति नीतियों को व्यवहार में लाने के लिए समिति मितव्ययता के सुझाव देती है। प्रति बर्ष समिति मन्त्रालय के मामलों का पूर्णतया अध्ययन करती है। यह गवाही को तलब कर सकती है तथा प्रश्नोत्तरों की माँग कर सकती है जिससे इसे मितव्ययता के लिए सन्तुष्टि देने में सहायता मिले। हाल के वर्षों में विभागों का प्रसार हुआ है तथा नये विभाग बने हैं। इसलिए सरकार के व्यय की जाँच की माँग हुई है जिससे विकासशील क्रियाओं के लिए धन उपलब्ध हो सके। इसलिए विभिन्न मन्त्रालयों के व्यय की समिति अच्छी तरह जाँच करती है। समय-समय पर समिति ने मितव्ययता सम्बन्धी सिफारिशें की हैं। 1953 में लोक सभा ने प्रणिया के नियमों में परिवर्तन किए, जिनके अनुसार समिति मितव्ययता, सचठन में सुधार तथा प्रशासनिक मुद्दों का सुझाव दे सकती है।

स्थायी वित्त समिति (Standing Finance Committee)—1950 के विधान से पूर्व एक स्थायी वित्त समिति होती थी जिसमें निर्वाचित सदस्यों का बहुमत होता था तथा वित्त मन्त्री उसका अध्यक्ष होता था। विदेशी, राजनीतिक तथा प्रतिरक्षा विभागों के अनिवारित यह समिति अन्य सभी विभागों की व्यय नीति की जाँच कर सकती थी। विधान मण्डल में प्रस्तुत होने से पूर्व यह समिति व्यय सम्बन्धी सभी नये प्रस्तावों की जाँच करती थी। इसका कार्यालय सम्बन्धी प्रस्तावों से कोई सम्बन्ध नहीं था। यह केवल व्यय के अनुमानों की ही जाँच करती थी।

लोक लेखा समिति—1950 के विधान से पूर्व भी लोक लेखा समिति होती थी जिसका अध्यक्ष अर्थ मन्त्री होता था। ये समितियाँ केन्द्र तथा राज्यों में भी थी तथा अब भी हैं। इस समिति के सदस्यों की संख्या 15 तक होती है तथा इसके अध्यक्ष की नियुक्ति सदस्यों में से वित्त मन्त्री करते हैं। उपस्थित यदि इसके सदस्य हों तो वे ही इसके अध्यक्ष होते हैं। समिति एक स्वतन्त्र वातावरण में कार्य करती है तथा यह आलोचना कर सकती है तथा सुझाव दे सकती है।

केन्द्र में यह सरकार के एग्जोशिएशन एकाउण्ट्स की तथा बजटोत्तर और ऑडिटर जनरल की रिपोर्टों की भी जाँच करती है। इस सम्बन्ध में यह निम्न बातें देखती है :

(क) जो धन खातों में वितरित किया दिखाया गया है वह वैधानिक रूप में उपलब्ध था तथा उसी कार्य में लगाया गया जिसके लिए दिया गया था।

(ख) व्यय उसी अधिकारी का है जिसके अन्तर्गत किया गया है।

(ग) धन का पुनर्वितरण उपयुक्त अधिकारी द्वारा बनाए गए नियमों के अनुसार है।

यह समिति राजकीय कारपोरेशनों की आय तथा व्यय के लेखों की भी जाँच करती है। यह स्वायत्त तथा अर्ध-स्वायत्त संस्थाओं के आय तथा व्यय के लेखों की भी जाँच पड़ताल करती है। इनका ऑडिट कंट्रोलर तथा ऑडिटर जनरल द्वारा राष्ट्रपति अथवा पार्लमेन्ट के स्टेट्यूट द्वारा हुआ है। इस प्रकार समिति कंट्रोलर तथा ऑडिटर जनरल द्वारा निरीक्षित खातों की जाँच करती है। जो भी अनियमितता हो वह विधान मण्डल के समक्ष लाई जाती है जिससे लोक व्यय पर विधान मण्डल का प्रभावी नियन्त्रण हो सके।

इस प्रकार इस समिति के तीन मुख्य उद्देश्य हैं प्रथम, यह समिति इस बात को देखती है कि कार्यकारिणी पार्लमेन्ट द्वारा स्वीकृत दृढ व्यय करती है। इस कार्य में इसे कंट्रोलर तथा ऑडिटर जनरल की रिपोर्टों से सहायता मिलती है। दूसरे, कमेटी का लक्ष्य मितव्ययता लाने का भी है तथा यह अपव्यय के मामलों का भी सकेत करती है। ये मामले कंट्रोलर तथा ऑडिटर जनरल की रिपोर्ट में दिए रहते हैं। इस समिति की रिपोर्टों में इस प्रकार के बहुत उदाहरण दिये हुए हैं। तीसरे, यह समिति वित्तीय मामलों में लोक सदाचार का ऊँचा स्तर रखने की कोशिश करती है। कार्यकारिणी द्वारा की गई सन्देहास्पद वित्तीय प्रथाओं को समिति अस्वीकार करती है तथा उपयुक्त लोक वित्त के सिद्धान्तों को अपनी स्वीकृति देती है। लोक उद्योग समिति (Public Enterprises Committee) यह समिति लोक उद्योगों से सम्बन्धित मामलों की देखभाल करती है।

सरकार का नियन्त्रण—वित्त पर सरकार भी नियन्त्रण रखती है। प्रत्येक प्रशासनिक अधिकारी को वेतन आदि अधिकारों से सम्बन्धित वित्तीय समस्याओं का क्षेत्र सरकार तय करती है। कैबिनेट की एक आर्थिक समिति भी है जो यह निर्णय लेती है कि कौन वित्तीय मामला कैबिनेट में प्रस्तुत किया जाये अथवा नहीं। इस समिति के वित्त मन्त्री सहित पाँच सदस्य होते हैं। प्रत्येक मन्त्रालय अपने प्रस्ताव समिति के सचिव को प्रस्तुत करते हैं। सचिव धन की उपलब्धता के दृष्टिकोण से उन पर सम्बन्धित मन्त्रालय से बातचीत करते हैं और तब समिति उन पर निर्णय लेती है। अनुमानों के सम्बन्ध में इस समिति की आज्ञा अन्तिम होती है। कैबिनेट की आर्थिक समिति के निम्न कार्य हैं।

(1) आर्थिक क्षेत्र में सरकार की क्रियाओं का निर्देशन तथा समन्वय (co-ordination) तथा राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के कार्य का नियमन।

(2) केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की विकास योजनाओं के सम्बन्ध में वरी-यताओं को निर्धारण करना, तथा

(3) कम प्रदायों के साधनों का विभिन्न योजनाओं में वितरण करना तथा उनके प्रदाय की वृद्धि को देखना।

वित्त मन्त्रालय

(1) इस मन्त्रालय का एक मुख्य कार्य प्रशासनिक विभागों के व्यय में मितव्यता लागू करना है। यह लोक कर्मचारियों को मितव्यता में प्रशमन का चराने का निर्देशन देता है।

(2) यह मन्त्रालय यह देखता है कि प्रशासनिक विभागों की आवश्यकता में अधिक रुपया न मिल पाये तथा उनका व्यय अनुदान के अन्तर्गत ही सीमित रहे। वे वर्ष के अन्त तक अपनी वचन उसे भौप दें। विभिन्न विभाग अपनी प्रगति का रिपोर्ट वित्त मन्त्रालय में भेजते रहे जिसमें उनकी क्रियाओं का उसी दृष्टि में नियन्त्रण होता रहे।

(3) यह मन्त्रालय एक समन्वयी अधिकारी के रूप में कार्य करता है तथा परिणामों का पुनरीक्षण करता है और मकल सामग्रीय व्यय का परीक्षण करता है।

राज्यों में वित्त मन्त्रालय के अन्तर्गत कुछ प्रशासनिक विभाग भी रहते हैं। वित्त मन्त्री दल का एक प्रभावशाली व्यक्ति होना चाहिए। वित्त मन्त्री तथा प्रशासनिक विभागों में मतभेद होने पर उसे प्रधानमन्त्री का समर्थन प्राप्त होना चाहिए। वित्त मन्त्री प्रभावशाली होने पर विभागों की माँगों पर उचित नियन्त्रण रख सकता है। जब तक इसकी किसी व्यय के सम्बन्ध में अस्वीकृति का महत्त्व न समझा जायेगा, वित्त मन्त्री व्यय का उचित नियन्त्रण नहीं कर सकेगा। इसलिए वित्त मन्त्रालय बहुत योग्य तथा प्रभावशाली व्यक्ति को ही भौपा जाता है।

यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि वित्तोय मामलों में नीति निहित रहनी है। इसलिए इस सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय मकल सरकार पर ही निर्भर रहता है। वित्त विभाग नीति के वित्तोय पहलुओं को ही सरकार के समक्ष प्रस्तुत कर सकता है जिसे कि अन्तिम निर्णय देने का अधिकार है।

केन्द्र में वित्त मन्त्रालय के दो विभाग हैं।

(1) आय तथा व्यय का विभाग, तथा (2) अर्थ-सम्बन्धी मामलों का विभाग। पहला विभाग आय तथा व्यय के नियन्त्रण से सम्बन्ध रखता है तथा दूसरा विभाग वचन अनुमान के बनाने तथा उनके पालन से सम्बन्ध रखता है। इसका सम्बन्ध पार्लमेण्ट के वित्तीय नियन्त्रण में है। ये दोन एन्ड मीन्स प्रोग्राम बनाना है, पूर्वागत व्यय के लिए वित्त तय करना है तथा समय-समय पर आर्थिक नीति का पुनरीक्षण करता है। कैबिनेट की आर्थिक समिति की स्वीकृति के परवान् प्रसिद्धी माँगों में धन के वितरण का कार्य भार इसी विभाग पर रहता है।

ऑडिट विभाग—हमारे देश में ब्रिटिश माडल पर ऑडिटर की स्वाधीनता रखी गई है। उचित वित्त व्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि व्यय का स्वतन्त्र रूप में ऑडिट होना चाहिए। भारतीय विधान में भी पहले गवर्नमेण्ट आफ इण्डिया के कानूनों की तरह यही सिद्धान्त कार्यान्वित किया गया है।

पार्लमेण्ट के वित्तीय नियन्त्रण के दो मुख्य तथ्य हैं . प्रथम, जो धन एक विशेष कार्य के लिए दिया गया है उसका व्यय किसी दूसरे कार्य पर न किया जाय । दूसरे, किसी कार्य के लिए दिया गया धन एक अधिकतम राशि है जो व्यय भर के लिए है ।

कार्यकारिणी का यह दायित्व है कि वह विधान मण्डल की इच्छा अथवा नीति का पालन करे । ऑडिट विभाग का कर्तव्य यह देखना है कि कार्यकारिणी ने व्यय करते समय विधान मण्डल की नीति का पालन किया है । इसलिए कण्ट्रोलर तथा ऑडिटर जनरल धन के बटवारे से सम्बन्धित खानों पर सीधे विधान मण्डल अथवा मसद को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करता है । लोक लेखा समिति इन रिपोर्टों का अध्ययन करती है तथा अपने सुझाव देती है ।

कण्ट्रोलर तथा ऑडिटर जनरल सरकार की ओर से भी कार्य करता है कर्मचारियों के वित्तीय अधिकार गवर्नमेंट तय करती है । वित्तीय कार्य चलाने तथा धन व्यय करने के नियम सरकार ही बनाती है । ऑडिट विभाग इन नियमों के आधार पर अनियमितताएँ बनाता है । नियमितता का अर्थ है कि धन स्वीकृत कार्यों पर ही व्यय किया जाना चाहिए । इसी प्रकार मितव्ययता का अर्थ है कि जो धन व्यय किया जाय उसका पूरा मूल्य अथवा उपयोग मिलना चाहिए । अनियमितता का फल अपव्यय होता है । ऐसा भी हो सकता है कि अनियमितता भी न हो, किन्तु फिर भी व्यय किये गये धन का पूर्ण मूल्य प्राप्त न हो । मितव्ययता की देख भाल वित्त मन्त्रालय करता है । नियमितता अर्थात् सरकार स्वीकृत कार्यों पर तथा निश्चित सीमा के अन्दर ही धन व्यय करती है यह बात पार्लमेण्ट के वित्तीय नियन्त्रण से ही आवश्यक हो सकती है । ऑडिट मितव्ययता तथा नियमितता दोनों ही बातों को देखता है ।

छद्मबीसवाँ अध्याय

भारत में संघीय वित्त का विकास (EVOLUTION OF FINANCE IN INDIA)

भारत में केन्द्रीय वित्त का प्रारम्भ 1833 में हुआ। देश की समस्त आय भारत सरकार के नाम वसूल की जाती थी तथा उसी की ओर से सब व्यय भी होता था। प्रान्तों को किसी पद पर भी किसी कर्मचारी की नियुक्ति करने का अधिकार नहीं था, तथा प्रान्तीय शासन पर केन्द्रीय सरकार का ही नियन्त्रण था।¹

प्रणाली के दोष—इस प्रकार के केन्द्रित प्रशासनिक तथा वित्तीय नियन्त्रण के बहुत दोष थे। प्रथम, इसके अन्तर्गत प्रान्तों को कोई पहल करने की शक्ति नहीं थी, क्योंकि छोटे से छोटे व्यय का भी केन्द्रीय सरकार ही नियन्त्रण करती थी। स्थानीय सुधार के लिए धन की स्वीकृति केन्द्रीय सरकार ही देती थी। इसका दूसरा दोष यह था कि इससे अपव्यय तथा असावधानी को प्रोत्साहन मिलता था, क्योंकि प्रान्तीय सरकारें बजट तैयार करके केन्द्र के पास भेज देती थी जिसका कर्तव्य साधन प्राप्त करता था। भारत सरकार स्थानीय परिस्थिति से परिचित नहीं थी। इसलिए प्रान्तों की मांगों की वास्तविकता का उसे ज्ञान नहीं हो पाता था। अतः वैधानिक तथा प्रशासनिक दायित्व में मेल नहीं हो पाता था। कानून के अन्तर्गत भारत सरकार प्रशासन के लिए उत्तरदायी थी, किन्तु वास्तविक प्रशासन प्रान्तीय सरकारें करती थी, किन्तु उनका वित्त के लिए कोई कानूनी दायित्व नहीं था।

तीसरे, गरीबों पर करापात बहुत भारी था। अमीर व्यक्तियों पर कर हलके थे, किन्तु गरीब उनके भार से पिसे जा रहे थे। भारत सरकार के बजट में हर वर्ष घाटा रहता था। 1850 तथा 1883 के बीच 17 वर्षों में घाटे के बजट रहे।

एक अन्तिम दोष यह था कि प्रान्तों में पारस्परिक वैमनस्य तथा झगड़े रहते थे। जिन प्रान्तों के बजटों में घाटे थे तथा जो ओर से आवाज उठाते थे उन्हें अन्य

1 Report of the Royal Committee on Decentralisation in British India, p. 24.

प्रान्तों की अपेक्षा अधिक धन मिल जाता था। इस प्रकार केन्द्रीय वित्त प्रणाली द्वारा अपव्यय को प्रोत्साहन मिलता था तथा मितव्ययता में बाधा पहुँचती थी।

1858 में देश के शासन की डोर त्राउन के हाथों में आ गई। इसनिए वित्तीय प्रशासन में कुछ उन्नति हुई। विल्सन महोदय ने एक से हिसाब की प्रणाली स्थापित की तथा व्यय में मितव्ययता की व्यवस्था कराई। स्टाम्प शुल्क की दरें बढ़ाई गई। सीमा शुल्क भी बढ़ाये गये तथा आय कर लगाया गया। इसके साथ पत्र मुद्रा चलाई गई। इन परिवर्तनों के होने पर भी देश की वित्त व्यवस्था नहीं सुधरी तथा बजट में सन्तुलन नहीं आया। इसका मुख्य कारण यह था कि प्रान्तीय सरकारों को मितव्ययता के लिए कोई प्रोत्साहन ही नहीं था।

आबंटन द्वारा बजट (Budget by Assignment)—1870 में तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड मेयो के सुझाव के अनुसार स्थानीय मामलों का प्रशासन तथा उनकी आय प्रान्तीय सरकारों को सौंप दिये गये, किन्तु यह आय प्रशासन की लागत की पूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं थी। इसलिये केन्द्रीय सरकार से उनकी सहायता के लिए एक मुश्त वार्षिक अनुदान देने की व्यवस्था की गई। इसके अन्तर्गत जेल, रजिस्ट्रेशन, पुलिस, शिक्षा, सड़कें, मेडिकल सेवाएँ आदि का प्रशासन तथा इन विभागों से प्राप्त आय प्रान्तों को मिली। इन शीर्षकों की आय के अतिरिक्त, प्रान्तों के लिए एक मुश्त वार्षिक अनुदानों की व्यवस्था भी की गई। प्रान्तों में अनुदानों का वितरण उनकी आवश्यकताओं के अनुसार किया गया। प्रान्तों की अतिरिक्त आवश्यकताओं की पूर्ति स्थानीय करों द्वारा की गई। इससे केन्द्रीय सरकार को कुछ बचत हुई तथा प्रान्तों को उनके प्रशासनिक प्रबन्ध में कुछ दायित्व दिया गया।

इस योजना का मुख्य दोष यह था कि प्रान्तों में अनुदान का वितरण 1870-71 के व्यय के आधार पर किया गया, किन्तु उस वर्ष की आय तथा व्यय प्रान्तों की वित्तीय व्यवस्था का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे। इसके अतिरिक्त इस प्रणाली से मितव्ययता को प्रोत्साहन नहीं मिला, क्योंकि जो भी बचत होती थी प्रान्त उसे केन्द्र को देने को बाध्य थे। तीसरे, इसके अन्तर्गत प्रान्तों को पर्याप्त आय नहीं होती थी। अनुदान केन्द्रीय सरकार की आय तथा उसकी आवश्यकता पर निर्भर होते थे। वास्तव में कुछ लेखकों का कहना है कि यह प्रणाली प्रान्तों की आय बढ़ाने के बजाय केन्द्र को राहत देने के लिए प्रारम्भ की गई थी।² इससे केन्द्र को कुछ बचत तो हुई, किन्तु प्रान्तों में मितव्ययता के लिए इससे कोई प्रोत्साहन नहीं मिला।

समायोजन द्वारा आबंटन की बजट प्रणाली

Budget by Adjusting Assignment 1877-82

1870 की मेयो की योजना को प्रान्तों ने पसन्द नहीं किया। उनका व्यय बढ़ रहा था, किन्तु उनके अनुदान स्थिर थे। इसलिये 1877 में लार्ड लिटन ने कुछ

स्थानीय महत्त्व की अतिरिक्त सेवाएँ प्रान्तों को सौंप दी। अतः मादक वस्तुओं की आय, स्टाम्प, वानून तथा न्याय, सामान्य प्रशासन तथा मालगुजारी शीर्षकों की आय प्रान्तों को दे दी गई। इन अतिरिक्त साधनों की सहायता से भी प्रान्तों के बजटों में सन्तुलन नहीं आ सका। इसलिए 1877 की योजना के अन्तर्गत प्रान्तों की आय में वह आय शामिल थी जो उन शीर्षकों से होती थी जिनका प्रशासन प्रान्तों को मेयो की योजना में सौंपा गया था तथा उन साधनों की आय भी शामिल थी जिनका हस्तान्तरण 1877 में लार्ड लिटन ने किया था।

सरकार इन सेवाओं से होने वाली प्रान्तों की आय तथा तत्सम्बन्धी व्यय का अनुमान करती थी। व्यय तथा आय का बन्तर बटवारे में फेर बदल द्वारा पूरा किया जाता था। प्रान्तों की जैसे-जैसे आय बढ़ती तैसे-तैसे समायोजित बटवारे की आय में कमी होती थी। इस योजना में केन्द्र तथा प्रान्त दोनों को ही लाभ हुआ, केन्द्र को इसलिए कि प्रशासन में सुधार हुआ तथा प्रान्तों को इसलिए कि उनको कुछ बचत हुई।

बाँटी गई आय का बजट (budget by divided heads of revenue) 1882-1921 लिटन की योजना में प्रान्तों के व्यय में पहले की अपेक्षा मितव्यता आई। उन्हें रास्ते निर्माण विभागों के व्यय के लिए पर्याप्त धन नहीं मिला। मद्रास ने योजना को स्वीकार नहीं किया तथा यह असम तथा बरमा में लागू नहीं की गई। बरमा का व्यय विशेष वित्तीय समस्याओं के कारण आय से अधिक होता था। यह घाटा केन्द्रीय सरकार एक मुश्त अनुदान दे कर पूरा करती थी। 1879 में बरमा के लिए एक नई योजना बनाई गई, जिसमें आय के कुछ भागन केन्द्र को सौंपे गये, कुछ प्रान्तों को तथा कुछ केन्द्र तथा प्रान्तों को सम्मिलित रूप में सौंपे गये। इस सम्मिलित थैणी में मालगुजारी, वन, चावल की निर्यात पर कर तथा नमक कर शामिल थे। इन सम्मिलित साधनों का प्रशासन बरमा को सौंपा गया। इनकी आय केन्द्र तथा बरमा में बटनी थी। केन्द्र को 5/6 भाग तथा बरमा को 1/6 भाग मिलता था। इन साधनों से आय बढ़ रही थी। 1877 की लिटन योजना में प्रान्तों की सूची की आय के साधन लचीले नहीं थे। यह योजना 1877 में असम में लागू हुई। किन्तु इसमें केवल मालगुजारी की आय का ही बटवारा हुआ। जिसका 4/5 केन्द्र को तथा 1/5 असम को मिला।

1882 में लार्ड रिपन के काल में उपर्युक्त योजना के अनुसार अन्य प्रान्तों के साथ भी समझौते किये गये। योजना सब प्रान्तों पर एक ही समय एक ही काल के लिए समानता लाने के लिए लागू की गई। प्रति पाँच वर्ष में इसमें सुधार होते रहे। इसके अन्तर्गत कुछ साधन प्रान्तों को दिये गए कुछ केन्द्र को तथा अन्य साधनों का केन्द्र तथा प्रान्तों में बटवारा हो गया। इन्हें बटे अथवा सम्मिलित साधन कह सकते हैं। केन्द्र में प्राप्त होने वाली प्रान्तों को सहायता बन्द कर दी गई। प्रत्येक थैणी में प्रत्येक प्रान्त के एक से मद रहे गये।

1882 की योजना में मालगुजारी, सीमा शुल्क, नमक, अफीम, व्याज, रेवो की आय, तथा केन्द्रीय सौदों पर विनिमय से लाभ, इन शीर्षको की आय केन्द्र को दी गई। वाणिज्यिक विभागों का कुल लाभ भारत सरकार के पास रहा। आय के ऐसे सब साधन जिनके स्थान का उनके वास्तविक सम्पात से कोई सम्बन्ध नहीं था भारत सरकार के पास रहे। चिकित्सा, पुलिस, कानून तथा न्याय तथा प्रान्तीय कर प्रान्तों के साधन रहे। वन, स्टाम्प, मादक वस्तुओं की आय, कर, रजिस्ट्रेशन आदि शीर्षको से आय के साधनों की आय केन्द्र तथा प्रान्तों में बटने लगी। ये आय के विभाजित शीर्षक रखे गये। इनसे आय केन्द्र तथा प्रान्तों में बराबर बराबर बटती थी।

इस योजना में प्रथम बार सशोधन 1887-88 में हुआ जब स्टाम्प तथा मादक वस्तुओं पर करों की आय का भाग $3/4$ केन्द्र को तथा $1/4$ प्रान्तों को दिया गया। केन्द्र में बराबर घाटे होते रहे, तथा प्रान्तों में बचत। इसके पश्चात् इसमें सशोधन 1892-93 में हुआ, जिसके अन्तर्गत केन्द्र का अनुमान था कि विभाजित शीर्षको से प्रान्तों को 20 लाख रु० आय मिलेगी, जिसमें से 5 लाख रुपये केन्द्र रख लेगा। इससे प्रान्तीय वित्त स्थिति को धक्का पहुँचा तथा केन्द्र प्रान्तों को अनुदान देने के लिए बाध्य हुआ।

तीसरा परिवर्तन 1896-97 में हुआ जब प्रान्तों के लिए विभाजित शीर्षको की आय का हिस्सा बढ़ाया गया। प्रान्तों में इसका बठवारा साम्या (equity) के अनुसार हुआ तथा प्रान्तों में आवश्यकतानुसार बटवारा हुआ। इसलिए असम, मध्य प्रदेश जैसे पिछड़े प्रान्तों को अधिक भाग मिला।

1904 में चौथा परिवर्तन हुआ जब व्यवस्था अर्धस्थायी (quasi-remnant) कर दी गई। पाँच वर्ष के काल में पहले २ वर्षों में प्रान्तों ने व्यय में मितव्यता की, किन्तु बाद में अपव्यय किया। 1904 तथा 1907 के बीच यह व्यवस्था सब प्रान्तों में लागू कर दी गई। मद्रास तथा उत्तर प्रदेश को छोड़ कर जिन्हे विभाजित शीर्षको का 25 प्रतिशत भाग ही मिल रहा था, अन्य प्रान्तों को 50 प्रतिशत दिया जाता था। 1907 के पश्चात् इन दोनों प्रान्तों को भी मालगुजारी, सिंचाई तथा रजिस्ट्रेशन की आय के अलावा अन्य शीर्षको का 50 प्रतिशत भाग दिया जाने लगा। केन्द्र ने मद्रास तथा उत्तर प्रदेश को एक निश्चित धन राशि देनी प्रारम्भ कर दी।

1907 की व्यवस्था पहली व्यवस्थाओं की अपेक्षा प्रान्तों के लिए अधिक उदार थी, किन्तु इसमें भी दोष थे। केन्द्रीय सरकार प्रान्तों की वित्त-व्यवस्था का नियन्त्रण करती थी तथा प्रान्तीय करों की दरों को तय करती थी। व्यय के सम्बन्ध में प्रान्त कुछ सीमा तक स्वतंत्र थे तथा उन्हें खुले बाजार में ऋण उधार लेने का अधिकार नहीं था। अनुदान तथा निश्चित आवंटन का निर्णय केन्द्रीय सरकार द्वारा होता था।

1912 में व्यवस्था स्थायी कर दी गई। कुछ थोड़े परिवर्तनों के साथ आय के शीर्षक पहले जैसे ही रहे। फेर बदल का आवंटन समाप्त हो गया तथा कुछ विभाजित शीर्षकों से प्राप्त प्राप्ति की आय का भाग बढ़ा दिया गया। अनुदान प्रणाली चलती रही। स्थायी व्यवस्था 1912 से 1919 तक रही।

इस प्रणाली में केन्द्रीय सरकार के आय के मुख्य साधन वे थे जो किसी प्रान्त को नहीं दिये जा सकते थे, जैसे अपीम, रेल, सीमा शुल्क, नमक, टकसाल तथा विदेशी विनिमय, डाक तथा तार तथा देशी राजाओं से प्राप्त ट्रिब्यूट्स (tributes) आदि। कुछ अन्य शीर्षकों की आय पूर्णतया प्रान्तों को दी गई, जैसे बम्बई तथा बंगाल को वनों तथा मादक वस्तुओं की आय, रजिस्ट्रेशन, शिक्षा तथा कानून तथा न्याय विभागों की आय। विभाजित आय के शीर्षक थे मालगुजारी, आय कर, बम्बई तथा बंगाल को छोड़ मादक वस्तुओं की आय, सिंचाई तथा स्टाम्प। इन शीर्षकों की आय का बटवारा केन्द्र तथा प्रान्तों में बराबर बराबर होता था, किन्तु प्रान्तों की आय के भाग का उनमें बटवारा अलग होता था।

इस प्रणाली के निम्न मुख्य दोष थे :

(1) केन्द्रीय सरकार समय-समय पर विभाजित शीर्षकों में बराबर हस्तक्षेप करती थी, जिससे प्रान्तों में असंतोष रहता था। (2) केन्द्र से प्रान्तों को अवसरिक (occasional) अनुदान से प्रान्तीय वित्तीय स्थिति अव्यवस्थित हो जाती थी, क्योंकि प्रान्तों को केन्द्र से सहायता निश्चित नहीं रहनी थी। (3) भारी अंतर-प्रान्तीय विषमताएँ थी, जिनसे प्रान्तों की भारी हानि होती थी। (4) प्रान्तों को ऋण लेने तथा कर लगाने के स्वतंत्र अधिकार नहीं थे। (5) व्यय तथा आय दोनों ही के सम्बन्ध में केन्द्र का प्रान्तों पर बहुत भारी नियंत्रण था। वे अपने शेष कोष को इच्छा-नुसार व्यय नहीं कर सकते थे तथा वे घाटे का बजट भी नहीं बना सकते थे।

1919 के रबर्नमेंट आफ इण्डिया एक्ट के अनुसार वित्त

1919 का कानून मान्टेग्यु चेम्सफोर्ड रिपोर्ट पर आधारित था, जिसकी संस्तुति के अनुसार केन्द्र तथा प्रान्तों की आय प्रथक होनी चाहिएँ थी। प्रान्त उन शीर्षकों के लिए जिम्मेदार थे जो उनको दिये गये थे तथा उनके लिए उन्हें प्रथक साधन दिये गये थे। मालगुजारी, स्टाम्प, मादक वस्तुओं पर कर, आय कर तथा सिंचाई जो पहले विभाजित आय के साधन थे उनमें से आय कर को छोड़कर सब प्रान्तों को दिये गये थे। केन्द्र को सीमा शुल्क, मादक वस्तुओं पर कर, नमक आय कर, साधारण स्टाम्प शुल्क, रेलों तथा डाक तथा तार की आय के शीर्षक दिये गये थे। प्रान्तों को मालगुजारी, सिंचाई, मादक वस्तुओं पर कर, वन, बोर्ड शुल्क, न्यायिक तथा वाणिज्यिक स्टाम्प शुल्क, रजिस्ट्रेशन शुल्क आदि साधन दिये गये थे।

प्रान्तीय अंशदान (Provincial Contribution)—आय के विभाजित साधनों की समाप्ति के कारण केन्द्र के बजट के घाटे को प्रान्तों से अंशदान द्वारा

पूरा करने की सिफारिश की गई थी। अतः प्रान्त केन्द्र को अंशदान देते थे। मद्रास को 4.28 करोड़ रुपये, उत्तर प्रदेश को 3.74 करोड़ रुपये प्रति वर्ष देने होते थे, किन्तु बम्बई को 38 लाख रु० तथा बंगाल को 69 लाख रु० ही देने होते थे। इस योजना की बहुत आलोचना हुई। प्रान्तों में अंशदानों के विरुद्ध शिकायत थी तथा कृपि प्रान्तों को यह शिकायत थी कि उन्हें अंशदान औद्योगिक प्रान्तों से कहीं अधिक देने होते थे। 1920 में मेस्टन कमेटी ने यह सिफारिश की कि प्रान्तों को उनकी व्यय करने की शक्ति के आधार पर प्रारम्भिक अंशदान देने होंगे। ये अंशदान 7 वर्षों में घटाये अथवा बढ़ाये जायेंगे। तथा यह बात प्रान्तों की वर देय क्षमता पर निर्भर होगी। अन्त में ये मानक होंगे जो स्थायी हो जायेंगे। 1928 में केन्द्र की वित्तीय स्थिति में सुधार होने पर ये अंशदान समाप्त कर दिये गये। 1919 के कानून के अन्तर्गत प्रान्त भारत में तथा विदेशों में अपनी आय को जमानत पर ऋण उधार ले सकते थे।

भारतीय वित्त प्रणाली में भावी विकास

1935 के कानून से पूर्व भारतीय वित्त-व्यवस्था पर नर वास्टर लेटन जो साइमन आयोग के वित्त सलाहकार थे, परसी, डेविडसन तथा संयुक्त पार्लमेंट समितियों ने विचार किया तथा अपनी सिफारिशें कीं। इन सिफारिशों के फलस्वरूप 1935 के कानून के अंग लागू किये गये। लेटन ने केन्द्र तथा प्रान्तों में आय के वितरण के तीन मुख्य सिद्धान्तों पर विचार किया।

(1) उद्भव का सिद्धान्त (Principle of Origin)—प्रान्तों को वह सब आय जो उनकी सीमा के अन्तर्गत उत्पन्न हो दे दी जाये तथा केन्द्र की आवश्यकता के लिए वित्त प्रान्तीय अंशदानों द्वारा प्राप्त किया जाय। इस प्रस्ताव को तीन तर्कों के कारण अस्वीकार किया गया। प्रथम, सीमा शुल्क तथा अन्य करों को किसी केन्द्रीय संगठन द्वारा एकही दरों पर वसूल करना चाहिए। दूसरे, आवश्यकता के आधार पर आय के वितरण के अन्तर्गत केन्द्र को हस्तक्षेप करने तथा दोषी (defaulting) प्रान्त को अपना हिस्सा केन्द्र को देने के अधिकार रहेगे, जिससे प्रान्तों में असंतोष फिर रहेगा। तीसरे, योजना में यह तथ्य निहित है कि प्रान्तों को उनके क्षेत्र में प्राप्त आय का नैसर्गिक अधिकार है, जो वास्तविक तथ्य नहीं माना जा सकता। पत्तनों (ports) पर जो सीमा शुल्क की आय प्राप्त होती है उसका भार देश में सभी व्यक्तियों पर रहता है। इसका आयदात केवल प्रदेश के व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं रहता। मुनाफों पर आय कर के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि इन लाभों की उत्पत्ति उसी प्रान्त में अथवा नगर में होती है जहाँ कम्पनी का प्रधान कार्यालय स्थित रहता है। एक बड़े व्यवसाय की शाखाएँ कई राज्यों में हो सकती हैं, किन्तु कर वहीं वसूल होगा जहाँ उसका प्रधान कार्यालय स्थित है। इसलिए आय उसी प्रदेश में उत्पन्न हुई नहीं मानी जा सकती जहाँ वह प्राप्त की गयी है। बड़े नगरों की समृद्धि सम्पूर्ण देश की

समृद्धि पर निर्भर रहती है। बम्बई में आय कर की वृद्धि का कारण यह होगा कि माल की खपत देश के अन्य भागों में बढ़ी है।

(२) आवश्यकता के अनुसार वितरण—आय का वितरण विभिन्न प्रान्तों की आवश्यकता के अनुसार किया जाय। व्यापार तथा मुनाफे से आय उसी राज्य की आवश्यकता के लिए उद्दिष्ट नहीं की जा सकती जहाँ ये कर लगते हैं तथा आय प्राप्त होती है, क्योंकि यह आय समस्त देश की आर्थिक क्रियाओं के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। पिछड़े क्षेत्रों की आवश्यकताओं को मान्यता मिलनी चाहिए तथा उन्हें पर्याप्त आय मिलनी चाहिए। इस सिद्धान्त की परिसीमाएँ हैं। प्रथम, प्रान्त में यह भावना हो सकती है कि उसकी कर आय का भाग अन्य प्रान्तों के लिए उपयोग में लाया जाता है। ऐसी दशा में कराधान के विकास में उसे उपयुक्त प्रेरणा नहीं मिलेगी। दूसरे, प्रान्त उस आय के मिलने पर जहाँ वह प्राप्त नहीं होती अभावधानों से व्यथित करेगा। तीसरे, आर्थिक उन्नति से उन क्षेत्रों में दायित्व होता है जहाँ विकास होता है जिसके फलस्वरूप व्यय की वृद्धि होती है। ऐसे प्रान्तों को आय से वंचित नहीं रखा जाना चाहिए जहाँ आय उनकी आर्थिक उन्नति के कारण होती है।

(३) जन संख्या का आधार—आय जन संख्या के आधार पर वितरित की जाय। ऐसा जर्मनी, आस्ट्रेलिया तथा कनाडा में किया गया है। आयोग ने इस सिद्धान्त को अच्छा तथा मामूली नहीं माना, क्योंकि इससे प्रगतिशील प्रान्तों को हानि होगी। केन्द्र द्वारा प्राप्त आय इस आधार पर वितरित हो सकती थी। आयोग की सिफारिशों का सारांश नीचे दिया गया है। 1940 तक 40 करोड़ अथवा 50 करोड़ रुपयों के अनतिरिक्त व्यय की आवश्यकता बढ़ते हुए कार्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक होगी। ये कार्य प्रान्तीय क्षेत्रों में होंगे तथा इनके लिए वर्तमान आय पर्याप्त नहीं होगी। कुछ समय पश्चात् केन्द्र में वंचित सम्भव हो जायेगी जिसकी सीमा प्रतिरक्षा व्यय पर निर्भर होगी, किन्तु यह वंचित पर्याप्त नहीं होगी तथा प्रान्तीय आयों को नये करो द्वारा विकसित करना होगा। नये करो का दायित्व प्रान्तों पर ही रहना चाहिए जिससे आय तथा व्यय में वास्तविक सम्बन्ध स्थापित हो सके। प्रान्तों के व्यय का बहुत बड़ा भाग केन्द्र से अनुदान द्वारा पूरा नहीं हो सकेगा, क्योंकि इससे केन्द्र द्वारा समतार तथा विस्तृत प्रशासनिक नियन्त्रण आवश्यक होगा। इसलिए केन्द्र द्वारा प्राप्त करो का सरल आधार पर वितरण होना चाहिए। वितरण प्रणाली ऐसी होनी चाहिए जिससे प्रान्तों को आर्थिक विकास से तथा आय की वृद्धि से लाभ हो। आय का उद्गम के आधार पर वितरण करने के लिए प्रान्त उपयुक्त नहीं समझे गये। इसलिए आय के वितरण का आधार आवश्यकता तथा जन संख्या दोनों का सम्मिलन माना गया।

आयोग ने आय को 4 शीर्षकों में विभाजित किया, अर्थात् वह आय जिसे—

- (1) केन्द्रीय सरकार प्राप्त करे तथा वही उसका व्यय करे;
- (2) प्रान्त ही प्राप्त करें तथा वे ही उसका व्यय करें;

(3) केन्द्र प्राप्त करे तथा उद्गम के आधार पर केन्द्र ही उनका वितरण करे; तथा

(4) केन्द्र प्राप्त करे तथा जन सख्या के आधार पर उसका वितरण हो।

आयोग ने यह अनुमान लगाया कि 10 वर्ष के अंत में केन्द्र में वर्तमान करो के आधार पर 14½ करोड़ रुपये की वचत हो सकेगी। सीमा शुल्क से 10½ वर्ष में 7½ करोड़ रुपये प्राप्त होंगे तथा आय कर से 4 करोड़ रुपये प्रति वर्ष की वृद्धि होगी।

आयोग ने यह सिफारिश की कि आय कर केन्द्र द्वारा वसूल किया जाय तथा इनकी आधी आय प्रान्तों में उद्गम के आधार पर बाँटी जाये। नमक कर केन्द्र द्वारा वसूल किया जाय तथा उस आय का प्रान्तों में जन सख्या के आधार पर बटवारा किया जाय। वाणिज्यिक स्टाम्प शुल्को का वितरण केन्द्र करे जिससे दर एक सी रहे। केन्द्र विदेशी शराब पर 30 प्रतिशत कर लगाये तथा मालगुजारी पर स्थानीय कर समाप्त किया जाये।

केन्द्र के निम्न साधन रहे गये - नेट आय कर का 50 प्रतिशत तथा अधि कर, सीमा शुल्क, वाणिज्यिक स्टाम्प शुल्क, वाणिज्यिक उद्योगों से लाभ तथा हस्तान्तरण नियमों के अन्तर्गत अन्य केन्द्रीय मद।

प्रान्तों की आय के साधन रहे गये - नेट आय कर का अर्ध भाग तथा उस पर अतिरिक्त कर, अन्तर प्रान्तीय व्यापार पर टर्मिनल कर, कृषि आय कर, नमक कर, हस्तान्तरण नियमों के अन्तर्गत मदों पर कर तथा प्रान्तीय निधि जिसमें केन्द्र में वचत होने पर सीमा शुल्को की आय का भाग भी शामिल हो।

इसके पश्चात् परसी समिति ने केन्द्र तथा प्रान्तों में वित्तीय सम्बन्धों पर तथा डेविडसन समिति ने राज्यों तथा सघ के वित्तीय सम्बन्धों पर सिफारिशों की।

संयुक्त पार्लमेटरी समिति की सन्तुति

इस समिति ने उपर्युक्त सभी समितियों की सिफारिशों का परीक्षण किया तथा 1935 के गवर्नमेण्ट आफ इण्डिया कानून के अंश संयुक्त पार्लमेटरी समिति की सिफारिशों पर आधारित थे। इसकी सिफारिशों के अनुसार सघीय साधनों की आयों पर करो द्वारा आय फीडरेशन को दी गयी। कारपोरेशन कर के अतिरिक्त आयों पर शेष नारमल करो का 50 से 75 प्रतिशत भाग प्रान्तों को देने की सिफारिश की गयी। कारपोरेशन कर राज्यों में 10 वर्ष बाद लगाने की सिफारिश की। प्रान्तों को कृषि आय कर दिये जाने की सिफारिश की।

घाटे के बजट के प्रान्तों को केन्द्र से सहायता की सिफारिश की। सहायता कितनी मिलनी चाहिए यह जाँच के पश्चात् तय होना था। यह जाँच 1936 में सर ऑटो नीमेयर ने की। प्रान्तों तथा राज्यों को नमक कर तथा कैंडल उत्पादन करो

की आय का भाग देने की भी सिफारिश की। पटसन निर्यात कर आय का 50 प्रतिशत वग्राह, बिहार, असम तथा उड़ीसा को दिये जाने की सिफारिश की गयी।

टरमिनल तथा अन्य कर—इन करों को लगाने का अधिकार केन्द्र को दिये जाने की सिफारिश थी, किन्तु इन की आय प्रान्तों में बटनी थी। फेडरेशन को अपने उद्देश्यों के लिए अतिरिक्त कर लगाने के अधिकार की सिफारिश की गयी। ये कर मृत्यु के पश्चात् प्राप्त भूमि को छोड़ अन्य सम्पत्ति पर, खनिज अधिकारों, रेल सफर तथा माल के किराये, कृषि आय के अतिरिक्त अन्य आय पर थे। इस अन्य आय में सम्पत्तियों की आय शामिल नहीं थी।

भूमि सीमा शुल्क—बहुत से राज्य दूसरे राज्यों के साथ माल के व्यापार पर सीमा शुल्क लगाते थे। समिति ने इस सम्बन्ध में यह सिफारिश की कि इन शुल्कों के स्थान पर अन्य कर लगाये जायें क्योंकि इनसे माल के स्वतन्त्र आने जाने पर रुकावट होती थी। यह परिवर्तन धीरे धीरे आय के नये साधनों के विकास के साथ होने को था।

समुद्री सीमा शुल्क—कुछ राज्यों के निजी पत्तन थे जहाँ सीमा शुल्क वसूल होता था। इस सम्बन्ध में यह सिफारिश की गयी कि इन शुल्कों का वही भाग इन राज्यों को मिलना चाहिए जो इनमें इस्तेमाल आने वाले माल पर वसूल किया जाय।

ऋण लेने के अधिकार—फेडरल सरकार को अपनी आय की जमानत पर कानून द्वारा निश्चित सीमाओं के अन्तर्गत फेडरल उद्देश्यों के लिए ऋण लेने के अधिकारों की सिफारिश की गयी। ट्रस्टिंग ऋणों को व्याप्ती (trustee) प्रतिभूतियों का दर्जा दिये जाने की सिफारिश थी। फेडरल सरकार को फेडरल इकाइयों को ऋण देने की तथा उनके द्वारा लिये गये ऋणों का आश्वासन देने की सिफारिश की गयी। इन ऋणों की शर्तें फेडरल सरकार द्वारा तय होनी चाहिए।

प्रान्तीय सरकारों को अपनी आय की जमानत पर कानूनी सीमाओं के अन्तर्गत ऋण उधार लेने की इजाजत थी। फेडरल सरकार द्वारा दिये गये अथवा आपस्त ऋण के बाकी रहने पर अथवा किसी इकाई ने विदेश में ऋण लिया हो, इस बात का अन्तिम निर्णय कि फेडरल सरकार ने अनुमति इसके लिए नहीं दी यह बात उपयुक्त है या नहीं गवर्नर जनरल के विवेक पर छोड़ा गया। कमेट्री ने इस बात पर बल दिया कि प्रान्तीय आय अधिक लचीली होनी चाहिए तथा घाटे के प्रान्तों के लिए आर्थिक सहायता की सिफारिश भी की गयी।

सिफारिशों की मुख्य आलोचना

(1) वैधानिक योजना की लागत लगभग 8 करोड़ रुपये अनुमानित की गयी, जो देश में प्रति व्यक्ति आय को देखते हुए बहुत भारी थी।

(2) नये प्रान्तों के बनाने की सिफारिश अनुचित थी, क्योंकि वषों तक ये अपना व्यय बरदाश्त करने के योग्य नहीं होंगे। वित्तीय आधार पर ऐसे प्रान्तों के

लिए आर्थिक सहायता की सिफारिश अनुचित थी। अनुचित मांगों पर रोक लगाने के लिए ऋणों की सिफारिश जिन पर केन्द्र की गारन्टी होती अधिक उपयुक्त होती।

(3) भूमि सीमा शुल्क के स्थान पर अन्य वैकल्पिक साधनों की सिफारिश होनी चाहिए थी, क्योंकि भूमि सीमा शुल्क औद्योगिक विकास में बाधक होते हैं।

(4) पटसन उत्पादन करने वाले प्रान्तों के लिए पटसन निर्यात कर का 50 प्रतिशत भाग देने की सिफारिश साम्या अथवा वित्तीय दृष्टिकोण से अनुचित थी।

1935 के कानून के अन्तर्गत आय के साधन-संघीय सूची—संघीय सूची में निम्न विषय थे : सीमा शुल्क, जिनमें निर्यात कर शामिल थे, निम्न तीन श्रेणियों को छोड़ कर तम्बाकू तथा भारत में निर्मित अन्य वस्तुओं पर उत्पादन कर :

- (1) मानव उपभोग के लिए मादक शराब;
- (2) अफीम, भारतीय सन, तथा अन्य औषध;
- (3) औषधीय तथा सिगार की वस्तुएँ जिनमें एलकोहाल मिला हो :

कारपोरेशन कर, नमक कर, कृषि आय के अतिरिक्त अन्य आय कर, व्यक्तियों तथा कम्पनियों की कृषि भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति के पूर्ण मूल्य पर कर, कृषि भूमि के अतिरिक्त सम्पत्ति पर उत्तराधिकार कर, विपत्तों, वचन पत्रों, विलम्ब आफ सैडिंग साख पत्रों, बीमा पालिसी, प्राक्तीज तथा रबीदों पर स्टाम्प शुल्क, वायुयान अथवा रेलों से सफर करने वाले यात्रियों तथा माल पर कर, तथा रेल के भाड़े पर कर।

प्रान्तीय सूची—इसमें निम्न विषय थे मालगुजारी, प्रान्त में बने अथवा खरीदे निम्न माल पर कर तथा भारत में कहीं भी इस प्रकार के बने माल पर बराबर का कर

(i) मानव उपभोग के लिए एलकाहालिक शराब,

(ii) अफीम, भारतीय सन तथा अन्य औषध,

(iii) औषधीय तथा एलकाहाल सम्मिलित अन्य सिगार पदार्थ की सामग्री (toilet requirements), कृषि आय पर कर, भूमि तथा भवन कर; संघीय विधान मण्डल के कानून के अन्तर्गत लगी सीमाओं के अन्तर्गत खनिज अधिकारों पर कर; कृषि भूमि पर उत्तराधिकार कर; प्रति व्यक्ति कर; व्यवसाय, व्यापार तथा रोजगार पर कर; पशुओं तथा नौकाओं पर कर, माल की विक्री तथा विज्ञापनों पर कर, स्थानीय क्षेत्र में माल के प्रवेश पर कर; विलासिताओं पर कर, जिनमें मनोरंजन तथा जुआ कर शामिल थे, संघीय सूची के अतिरिक्त अन्य प्रलेखों पर स्टाम्प शुल्क; देश के अन्दर जल मार्गों से ले जाये गये माल तथा मुसाफिरो पर कर; मार्ग कर; कोर्ट शुल्क के अतिरिक्त अन्य शुल्क।

सर ऑटो नीमेयर की सिफारिशें—1935 के गवर्नमेण्ट आफ इण्डिया एक्ट के अन्तर्गत वित्तीय जाँच के लिए भारत मन्त्री ने सर ऑटो नीमेयर की नियुक्ति की,

जिनको रिपोर्टें अप्रैल 1936 में प्रकाशित हुईं। उनके अनुसार कानून का प्रान्तीय भाग एक वर्ष के अन्दर लागू हो सकता था। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि सम्पन्नता की दृष्टि से प्रान्तों को पर्याप्त वित्तीय साधन मिलने चाहिए। उन्होंने केन्द्रीय वित्त में स्थायित्व लाने पर अपनी सिफारिशों में बराबर ध्यान में रखा। उनके विचार में केन्द्रीय व्यय में सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए कमी की सम्भावना नहीं थी तथा प्रान्तों में भी व्यय की वृद्धि की आशा थी।

उनकी सिफारिशों को दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है : प्रथम, जिनका सम्बन्ध केन्द्र तथा प्रान्ती में आय कर के बटवारे से है, तथा दूसरे, जो प्रान्तीय सहायता से सम्बन्धित है।

आय कर की आय का बटवारा—उन्होंने यह सिफारिश की कि नेट आय कर आय का 50 प्रतिशत भाग केन्द्र से प्रान्तों को मिलना चाहिए। इस विभाजित कोष से (1) कारपोरेशन कर, (2) मधीय पारिश्रमिकों से प्राप्त कर, तथा (3) मद्य द्वारा प्रशासित क्षेत्रों में लगे करों की आय अलग रखी गयी। इन करों से प्राप्त आय का बटवारा नहीं होना था। ये केन्द्र की आय रखी गयी।

ऑटो नीमेयर के अनुसार नेट आय कर की आय 12 करोड़ रुपये अनुमानित की गयी जिसका आधा भाग प्रान्तों को दिये जाने की सिफारिश की गयी, किन्तु पहले पाँच वर्षों में अपनी स्थिति को सुरक्षित करने के लिए केन्द्र को प्रान्तीय भाग अपने पास रखने की व्यवस्था की गयी। यह भाग दूसरे पाँच वर्षों में धीरे-धीरे प्रान्तीय शासन लागू होने के छठे वर्ष से आगे प्रान्तों को दिया जाने को था। प्रान्तों को आय कर आय का अपना पूरा भाग 10 वर्ष पश्चात् मिलने को था। यदि वितरणीय आय तथा रेलों से अनुदान मिलाकर 13 करोड़ रुपये से अधिक हो जाती तब 13 करोड़ से ऊपर आय प्रान्तों को उसी वर्ष मिलने की सिफारिश की गयी थी। प्रान्तीय शासन लागू होने के पहले वर्ष में ही लगभग 1½ करोड़ रुपये प्रान्तों में बंट गये, क्योंकि इन दोनों प्रकार की आय लगभग 14½ करोड़ थी।

प्रान्तों की आर्थिक सहायता—केन्द्र से प्रान्तों को तीन प्रकार की आर्थिक सहायता की सिफारिश की गई। प्रथम 1 अप्रैल 1936 से पहले का बंगाल, बिहार, असम तथा उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त का सम्पूर्ण नेट ऋण समाप्त किया जाय। मध्य प्रान्त का 1936 से पहले का घाटे का ऋण समाप्त किया जाय।

दूसरे, कुछ प्रान्तों को निम्न वार्षिक नकद धन देने की सिफारिश की गयी :

असम	30 लाख रुपये,
उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त	100 लाख रुपये जिस पर
	पाँच वर्ष बाद पुन विचार किया जाय;
उड़ीसा	40 लाख रु०;
सिंध	106 लाख रु० जो दस वर्ष पश्चात् धीरे-धीरे
	घटाया जाय;
उत्तर प्रदेश	केवल 5 वर्ष तक 25 लाख रु०।

तीसरे, पटसन की पैदावार के प्रान्तों को पटसन निर्यात कर का $62\frac{1}{2}$ प्रतिशत भाग दिया जाय। यह आय प्रान्तों को इस प्रकार वितरित होने की सिफारिश थी :

असम	$2\frac{1}{4}$	लाख रु०;
बंगाल	42	लाख रु०;
बिहार	$2\frac{1}{2}$	लाख रु०;
उड़ीसा	$\frac{1}{4}$	लाख रु०,

बंगाल ने इस आधार पर कि इस कर का सम्पात उत्पादक पर पड़ता है नव पटसन निर्यात कर प्राप्त करने का दावा किया। यह दावा इस आधार पर अस्वीकार किया गया कि इस बात का कोई सांख्यिकीय प्रमाण नहीं था तथा लोक वित्त के आधार पर बंगाल वित्तीय सहायता माँग सकता था, किन्तु पटसन निर्यात कर की माँग नहीं कर सकता था।

आय कर विभाजन का आधार

इस आय की धन राजि के कर दाताओं के निवास तथा जन संख्या के आधार पर वितरण की सिफारिश की गयी। वितरण इस प्रकार होने को था :

असम	5	प्रतिशत;
बंगाल	20	प्रतिशत,
बिहार	10	प्रतिशत;
बम्बई	20	प्रतिशत;
मद्रास	15	प्रतिशत,
उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त		प्रतिशत
पंजाब	8	प्रतिशत;
उड़ीसा	2	प्रतिशत,
सिन्ध	2	प्रतिशत;
उत्तर प्रदेश	15	प्रतिशत,

प्रान्तों की वित्तीय आवश्यकताएँ तथा उनकी पूर्ति का ढग नीचे तालिका में दिखाये गये हैं।

(अब लाख रुपये में)

प्रान्त	कुल आवश्यकता	ऋण समाप्ति से वसूल	पटसन कर की आय का 1 भाग	आर्थिक सहायता
असम	45	$15\frac{1}{2}$	$2\frac{1}{2}$	30
बंगाल	75	33	42	—
बिहार	25	22	$2\frac{1}{2}$	—
म० प्र०	15	15	—	—
उ० प० सी० प्रा०	110	12	—	100
उड़ीसा	50	$9\frac{1}{2}$	$\frac{1}{2}$	40
सिन्ध	105	—	—	105
उ० प्र०	25	—	—	25

ऑटो नीमेयर सिफारिशों का आलोचनात्मक पुनरीक्षण

(A Critical Review of Automeyer's Recommendations)

कौउन्सिल की आज्ञा द्वारा जुलाई 1936 में सर ऑटो नीमेयर की सिफारिशों कुछ मसौदों के माध्य स्वीकार की गयी। नकद सहायता सिन्ध के लिए 105 लाख रु० में उड़ीसा के लिए 50 लाख रु० प्रति वर्ष तक तय की गयी। सुविधाओं का विवरण योग्यता के आधार पर किया गया। इसलिए प्रान्तों ने इसे स्वेच्छित (arbitrary) माना जिसमें उन प्रान्तों को हानि हुई जिन्होंने मितव्ययता बरती, जिन्होंने ऐसा नहीं किया उन्हें लाभ हुआ। बम्बई ने आय कर के अधिक भाग की इस आधार पर माँग की कि आय कर का अधिकांश भाग उसी प्रान्त में वसूल होता था तथा उस प्रान्त की औद्योगिक जन सह्यता (industrial population) के लिए अधिक व्यय करना पड़ता था। बम्बई का यह भी दावा था कि यदि बंगाल को पटसन निर्यात कर मिला तो बम्बई को कपास निर्यात कर मिलना चाहिए था। भिन्न-भिन्न प्रान्तों ने भिन्न-भिन्न आधारों पर उसमें अधिक माँग की जितने की सिफारिश ऑटो नीमेयर ने उनके लिए की थी। प्रान्तों में आय कर आय का वितरण रेलों के अनुदान पर निर्भर था जो एक अनिश्चित घटक (factor) था।

नीमेयर की सिफारिशों के पक्ष में यह कहा जा सकता था कि सध में आने से इकाइयों को लाभ थे। इसलिए उनके लिए वितरणात्मक न्याय के ही आधार को नहीं पकड़ना चाहिए था जिसका सैद्धान्तिक रूप में निर्धारण सम्भव नहीं था जिसकी व्यवहार में प्राप्त नहीं किया जा सकता था। कुछ प्रान्तों ने पहले व्यय में असावधानी दिखाई, किन्तु उन्हें मुख्यवस्थित वित्तीय सुविधा मिलनी चाहिए थी। वास्तव में जब वे सिफारिशों 1936 में स्वीकार की गयीं आय कर के वितरण में प्रान्तों को केवल सैद्धान्तिक रुचि ही रह गयी थी, क्योंकि यह आय उन्हें आगामी 10 वर्षों तक नहीं मिल सकती थी। इसलिए उस समय तक प्रान्तों को मितव्ययता तथा व्यय में कमी की नीति का अनुसरण करना आवश्यक था।

सर ऑटो नीमेयर ने वास्तव में केन्द्र तथा राज्यों की स्थिति तथा वित्तीय आवश्यकताओं का व्यवहारिक दृष्टिकोण रखा तथा केन्द्र तथा प्रान्त दोनों ही की वित्तीय मुख्यवस्था का ध्यान रखते हुए अपनी सिफारिशें प्रस्तुत की।

सत्ताईसवाँ अध्याय

नीमेयर निर्णय के पश्चात् भारतीय वित्त का विकास

DEVELOPMENTS IN INDIAN FINANCE AFTER THE NEIMEYER AWARD)

राजाशा द्वारा नीमेयर के निर्णय में 1940-41 में संशोधन हुए, जिनके अनुसार केन्द्र तथा प्रान्तों में आय कर की आय के वितरण के तथ्य करने में रेलों का अनुदान हटा दिया गया। केन्द्र प्रान्तों के भाग में से $4\frac{1}{2}$ करोड़ रुपये प्रति वर्ष रोक सकता था तथा 1941-42 के पश्चात् रोकें गये भाग में प्रति वर्ष $\frac{1}{2}$ की कमी होने की थी। इस संशोधन में प्रान्तों से नहीं छूड़ा गया तथा रेलों के अनुदान को शामिल न करने से केन्द्र को बहुत लाभ हुआ। यह बात इससे सिद्ध होती है कि 1943-44 में रेलों का अनुदान 38 करोड़ रु० था, जिसको यदि वितरणीय कोष में शामिल किया जाता तो प्रान्तों को बहुत लाभ होता। प्रान्तों को 1940-41 में ही उनके भाग का कुल धन मिल जाता।

उसके पश्चात् 1947 में भारत-पाक विभाजन के फलस्वरूप संशोधन हुआ। यह 15 अगस्त 1947 में केवल दो वर्ष के लिए लागू हुआ। इसके अनुसार आय कर आय का वितरण निम्न था।

राज्य	नीमेयर सूत्र	विभाजन के पश्चात् तदर्थ व्यवस्था
असम	2	3
बम्बई	20	21
बिहार	10	13
म० प्र०	5	5
पंजाब	8	5
प० बंगाल	20	12
मद्रास	15	18
उड़ीसा	2	3
उ० प्र०	15	19

इस आज्ञा के अन्तर्गत पटसन निर्यात कर का पटसन उत्पादक प्रान्तों को देश भाग 62½ प्रतिशत से घटाकर 50 प्रतिशत कर दिया गया। अयम तथा उड़ीसा के लिए निम्न महायता दी गयी :

	1947-48	1948-49
	(लाख रुपये)	
असम	18.50	30.00
उड़ीसा	25.00	40.00

आय कर की नेट आय का 1 प्रतिशत भाग चीफ कमिश्नर के प्रान्ती को दिया गया।

देशमुख निर्णय—जनवरी 1950 में श्री सी० डी० देशमुख के निर्णय के अनुसार आय कर की नेट आय केन्द्र तथा राज्यों में बराबर बराबर बंटने की सिफारिश की गई। इस निर्णय में पटसन तथा पटसन की बनी वस्तुओं के निर्यात के स्थान पर अयम, बिहार, पश्चिमी बंगाल तथा उड़ीसा के लिए आर्थिक महत्त्व भी निश्चित की गई। यह निर्णय वित्त आयोग की सिफारिशों के लागू होने में चलने को था। वित्त आयोग की स्थापना विधान की धारा 280 के अन्तर्गत की गई थी। देशमुख निर्णय विलय में पूर्व भाग ए राज्यों के लिए 1950-51 के लिए लागू हुआ था। इसमें किसी नये आधार पर राज्यों के भाग का विस्तृत रूप में पुनर्वितरण नहीं हुआ। इसमें केवल बटवारे के फलस्वरूप ही प्रतिशत भागों का पुनर्वितरण हुआ। बटवारे के कारण 14.5 इकाइयों का राज्यों में पुनर्वितरण प्रस्था के आधार पर किया गया जिसमें कुछ बल आर्थिक दृष्टि से पिछड़े राज्यों के लिए दिया गया।

राज्य	देशमुख निर्णय में प्रतिशत वितरण
मद्रास	17.5
बम्बई	21.0
पश्चिमी बंगाल	13.5
यू० पी०	18.0
पंजाब	5.5
बिहार	12.5
म० प्र०	6.0
असम	3.0
उड़ीसा	3.0

पटसन निर्यात कर—बटवारे के बाद इस कर का प्रांतीय भाग घटाकर प्रतिशत कर दिया गया। इसका कारण यह था कि पटसन की पैदावार—

का अधिक भाग पाकिस्तान में चला गया। प्रान्तों का भाग उन में पटसन की पैदावार के अनुपात में वितरित किया गया। विधान की धारा 273 में पटसन कर की आय केन्द्र को गई। पश्चिमी बंगाल, असम, बिहार तथा उड़ीसा को प्रतिशत भाग के स्थान पर 10 वर्ष तक अथवा कर जब तक रहे तब तक, इनमें जो भी पहले आ जाय, आर्थिक सहायता तब की गई। देशमुख निर्णय में इन प्रान्तों की आर्थिक सहायता यह थी, पश्चिमी बंगाल 105 लाख प्रतिवर्ष, असम 40 लाख रु०, बिहार 35 लाख रु० तथा उड़ीसा 5 लाख रु०।

1937-38 से 1950-51 तक केन्द्रीय सरकार से राज्यों को आय कर तथा अन्य सहायता की मात्रा इस प्रकार रही

भाग ए राज्यों के लिए कर आय तथा अन्य आर्थिक सहायता

(करोड़ रुपये में)

वर्ष	आय कर	पटसन कर	अनुदान	अन्य आर्थिक सहायता	योग
1937-38	1.25	2.65	3 12	—	7.02
1938-39	1.50	2.51	3 03	—	7 04
1939-40	2.79	2.56	3.03	—	8.38
1940-41	4.16	1.85	3 03	—	9.04
1941-42	7.39	1.95	3 03	—	12.37
1942-43	10 90	1 40	2.75	0 01	15.06
1943-44	19.50	1.38	2 75	3.00	26.63
1944-45	26.56	1.49	1 70	7 00	36.75
1945-46	28.75	1.57	1.70	8.00	40 02
1946-47	29 87	2 87	1.70	—	34.44
1947-48	29.74	1.28	0 44	1 40	32.86
1948-99	41 79	1.43	0.70	2 25	50 63
1949-50	45.74	1 94	0.70	2 25	46.17
सशोधित वजट	—	—	—	—	—
1950-51	46.07	—	6 09	—	53 06
(अ० व०)					

(ब) भाग के राज्यों तथा भारत सरकार में आय कर के भाग सहित वित्तीय मामले पर एक समझौते के अनुसार व तथा अ भाग के राज्यों को आय कर की आय के भाग का एकसा अनुपात मिला था। व राज्यों के वजटों में संघीय आय तथा धन्य के हटने से होने वाली हानि की पूर्ति के लिए जो केन्द्र के किसी राज्य को अनुदान मिलता था उसमें से उस राज्य का करो का भाग घटा दिया जाता

था। व राज्यों में जो आय कर वसूल होता था वह विभाजनीय कोष (divisible pool) में शामिल नहीं किया जाता था। प्रत्येक ऐसे राज्य की आय कर की नेट आय उसका भाग मान लिया जाता था। या तो वह धन उन राज्य को दे दिया था या जो अनुदान उसे मिलता था उसमें से वह घटा दिया जाता था। अपनी आय के घाटों की पूर्ति के लिए मैसूर, हैदराबाद, ट्रावनकोर कोचीम तथा सौराष्ट्र को अनुदान मिलते थे। ये अनुदान उनकी आय कर के अनुमानित भाग से अधिक थे। इसलिए इन राज्यों को आय कर का भाग नहीं मिलता था। मध्य भारत, राजस्थान तथा पेशवा को उनके आय कर का कुछ भाग मिलता था।

पहले वित्त आयोग की सिफारिशें—विधान की धारा 280 के अन्तर्गत प्रथम वित्त आयोग की नियुक्ति दिसम्बर 1951 में निम्न बातों पर सिफारिश करने के लिए हुई—(1) केन्द्र तथा राज्यों में करो की नेट आय का वितरण तथा राज्यों में उनके व्यक्तिगत भागों का बटवारा करना; (2) राज्यों को केन्द्र से किन सिद्धान्तों पर अनुदान दिए जायें; तथा (3) केन्द्र तथा राज्यों में आय तथा अनुदान के वितरण के करारों को चलाने तथा उनमें सुधार की आवश्यकता।

आय कर के सम्बन्ध में कमीशन ने सिफारिश की कि आय कर की नेट आय का राज्यों का भाग 50 प्रतिशत में बढ़ाकर 55 प्रतिशत कर दिया जाए। इसका 4/5 भाग जन सख्या के आधार पर तथा शेष वसूली के आधार पर उनमें बाँटा जाये। तम्बाकू, रियासतार्द तथा वनस्पति से बनी वस्तुओं पर केन्द्रीय उत्पादन करों की नेट आय का 40 प्रतिशत भाग जन सख्या के आधार पर उनमें बाँटा जाय। पटसन तथा पटसन से बनी वस्तुओं पर निर्णय करके भाग के बदले में अमम, बिहार, उड़ीसा तथा पश्चिमी बंगाल के अनुदान में वृद्धि की जाय। कुछ राज्यों को जिन्हे सहायता आवश्यक थी अतिरिक्त साधारण अनुदान दिए जायें।

अ भाग के राज्य	प्रतिशत	ब भाग के राज्य	प्रतिशत
असन	2.25	हैदराबाद	4.50
बिहार	5.75	मध्य भारत	1.75
बम्बई	17.50	मैसूर	2.25
मध्य प्रदेश	5.25	पेशवा	0.75
मद्रास	1.25	राजस्थान	3.50
उड़ीसा	3.50	सौराष्ट्र	1.00
पंजाब	3.25	ट्रावनकोर कोचीम	2.00
उत्तर प्रदेश	15.75		
पश्चिमी बंगाल	11.25		

अ तथा ब भागों के राज्यों के आय कर के प्रतिशत भाग ऊपर तालिका में दिये गये हैं :

वितरण सम्बन्धी सूत्र अ भाग के राज्यों में उनमें मिले क्षेत्रों को मिलाकर तथा ब राज्यों में एक सा लागू किया गया। देशमुख निर्णय में ब भागों से प्राप्त नेट आय तथा कर भागों में मिलाये गये क्षेत्रों में प्राप्त आय कर वितरणीय कोष में शामिल नहीं किया गया। कमीशन की सिफारिशों के अनुसार एक सामान्य वितरणीय कोष रखा गया। ब भागों के राज्यों के आय का भाग उसी आधार पर मिलता था जैसे अ भागों के राज्यों को अथवा आय के अन्तर का अनुदान मिलता था जिसकी गारन्टी संघीय वित्तीय योजना के अनुसार दी गई थी। इन दोनों में जो अधिक था वही मिलता था। बिहार, बम्बई, मध्य प्रदेश तथा पश्चिमी बंगाल को उनमें मिलाये गये क्षेत्रों के लिए जो आय सम्बन्धी अनुदान दिये जाते थे वे बन्द कर दिए गये।

केन्द्रीय उत्पादन कर—तम्बाकू, दियासलाई तथा वनस्पति पदार्थों पर उत्पादन करों की आय का केन्द्र तथा राज्यों में विभाजन होता था। राज्यों का भाग 40 प्रतिशत था। इन वस्तुओं का उपभोग जन साधारण करते हैं। इसीलिए इनको विभाजन के लिए चुना गया, क्योंकि इनसे आय अधिक होती है। राज्यों में इनके वितरण का निम्न आधार था :

अ भाग के राज्य	प्रतिशत	ब भाग के राज्य	प्रतिशत
असम	2.61	हैदराबाद	5.39
बिहार	11.60	मध्य भारत	2.29
बम्बई	10.37	मैसूर	2.62
मध्य प्रदेश	6.13	पेपसु	1.00
मद्रास	16.44	राजस्थान	4.41
उड़ीसा	4.22	सौराष्ट्र	1.19
पंजाब	3.66	ट्रावनकोर कोचीन	2.68
उत्तर प्रदेश	18.23		
पश्चिमी बंगाल	7.16		

अपनी सिफारिशों के फलस्वरूप 1 अप्रैल, 1953 से निम्न राज्यों का वार्षिक मुआवजा बन्द किया गया, क्योंकि इन्होंने तम्बाकू पर कर लगाना बन्द कर रखा था, जिसके लिए इन्हें मुआवजा केन्द्र से मिलता था। 1 अप्रैल 1953 से ये तम्बाकू पर कर लगाने के लिए स्वतन्त्र हो गए। ये राज्य थे बम्बई (54 लाख रुपये), मद्रास (56 लाख रुपये) तथा मध्य प्रदेश (1.5 लाख रुपये)।

बम्बई, पंजाब, मैसूर, ट्रावनकोर कोचीन तथा सौराष्ट्र को छोड़ अन्य सभी राज्यों को केन्द्रीय करों का पहले की अपेक्षा अधिक भाग मिलने लगा। मैसूर, ट्रावनकोर कोचीन तथा सौराष्ट्र की आय की कमी के अनुदान केन्द्रीय आय के भाग

के स्थान पर मिलते रहें क्योंकि यह राशि करें के केन्द्रीय आय के भाग से अधिक थी।

अनुदान—पश्चिमी बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा को विधान की धारा 273 के अन्तर्गत पटसन पदार्थों पर कर आय के भाग के स्थान पर अनुदान बढ़ाने की सिफारिश की। 1949-50 में जो इन राज्यों को पटसन कर आय का भाग दिया था उनके आधार पर ये अनुदान तय किये गये, जो इस प्रकार थे :

पश्चिमी बंगाल	150 लाख रुपये
बिहार	75 लाख रुपये
असम	75 लाख रुपये
उड़ीसा	15 लाख रुपये

विधान की धारा 275 के अन्तर्गत सात राज्यों को उनकी आवश्यकताएँ, सामाजिक सेवाओं के मान दण्ड तथा उन पर राष्ट्रीय हित के भार के दृष्टिकोण से निम्न अनुदानों की सिफारिश की गई :

राज्य	अनुदान की राशि लाख रुपये में
असम	100
मैसूर	40
उड़ीसा	75
पंजाब	125
सीराष्ट्र	40
द्राघनकोर कोचीम	45
पश्चिमी बंगाल	80

निम्न राज्यों को प्रारम्भिक शिक्षा के प्रसार के लिए स्कूल जाने वाले बच्चों की गणना के आधार पर जो पढ़ नहीं रहे थे निम्न विशेष आर्थिक राहायता (grant) की सिफारिश की :—

	1953-54	1954-55	1955-56	1956-57
	(लाख रुपये में)			
बिहार	41	55	69	83
मध्य प्रदेश	25	33	42	50
हैदराबाद	20	27	33	40
राजस्थान	20	26	33	40
उड़ीसा	16	22	27	32
पंजाब	14	19	23	28
मध्य भारत	9	12	15	18
पेपस	5	6	8	9
योग	150	200	250	300

शासन ने इन सिफारिशों को स्वीकार किया जिसके फलस्वरूप एक सामान्य वर्ष में राज्यों को कर आय तथा अनुदान मिलाकर 21 करोड़ रुपये अधिक मिले जबकि 1949-50 से 1951-52 तक प्रति वर्ष उन्हें 65 करोड़ रुपये मिलते थे। सिफारिशों की स्वीकृति के पश्चात् प्रति वर्ष 86 करोड़ रुपये मिले।

राज्यों को अनुदान तथा ऋण

राज्यों को ऋण तथा अनुदान भी अधिक देने की सिफारिश की गई, जिससे वे अपनी पञ्चवर्षीय योजनाओं को कार्यान्वित कर सकें। अतथा व राज्यों को विकास, शर्णाधियों के पुनर्स्थापन, अधिक अन्न उगाओ आन्दोलन, समाज योजनाओं आदि के लिए अनुदान तथा केन्द्रीय सड़क कोष से सहायता की राशि 1951-52 में 16 करोड़ रु० से बढ़कर 1953-54 में 32 करोड़ रुपये तक पहुँच गई। इसी काल में विभिन्न उद्देश्यों के लिए ऋणों की राशि 76 करोड़ रु० से बढ़कर 117 करोड़ रु० हो गई। 1953-1954 में राज्य सरकारों को 131 करोड़ रु० उधार दिये गये।

विधान के लागू होने के दो वर्षों के अन्दर तथा तत्पश्चात् प्रति पाँचवें वर्ष तथा आवश्यकतानुसार पहले भी राष्ट्रपति द्वारा वित्त आयोग की नियुक्ति की व्यवस्था हमारे विधान में है। यह आस्ट्रेलिया, कनाडा, स्विट्जरलैण्ड तथा अमेरिका में नहीं है। हमारे देश में यह एक नई व्यवस्था की गई है जो बहुत उपयुक्त है। पहले आयोग की नियुक्ति नवम्बर 1951 में हुई। इसकी दो रिपोर्टें प्रकाशित हुईं, पहली 15 दिसम्बर, 1951 को तथा दूसरी 31 दिसम्बर, 1952 को हुई।

वित्तीय आयोग के अनुसार वितरण की योजना द्वारा राज्यों में वित्तीय असमानता घटनी चाहिए। केन्द्र से आय तथा अनुदान द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति की गई है, किन्तु हस्तान्तरण के लिए मुख्य बल आय के अन्तरण पर रखा गया था। इसके लिए करो के भाज्य कोष का उपयोग किया गया। राज्यों में करो के हिस्से के बटने में आवश्यकता की कमीटी के विषय में आयोग ने कहा, "हमारी दृष्टि में जहाँ तक आवश्यकता वितरण की मुख्य कमीटी बन सकती है हम समझते हैं कि सम्मिलित करो के धन के बाँटने में आवश्यकता एक मोटे तौर पर ही राज्यों की पारस्परिक जन सख्या के आधार पर ही माप के मापन के रूप में उपयुक्त हो सकती है।" केवल जन संख्या का आधार आवश्यकता की सतोपजनक कमीटी नहीं हो सकती। जन सख्या के आधार पर साधनों के बँटवारे का अर्थ है कि विकसित तथा पिछड़े हुए दोनों ही प्रकार के राज्यों को प्रति व्यक्ति एकसा भाग मिलना चाहिए, किन्तु यदि हम आर्थिक समृद्धि को अधिकतम करना चाहते हैं तो हमें पिछड़े हुए क्षेत्रों पर अधिक व्यय करना चाहिए।

कमीशन ने बजट सम्बन्धी संतुलन पर बहुत ध्यान दिया। इसके अनुसार बजट की आवश्यकता किसी राज्य के लिए आर्थिक सहायता की उपयुक्तता तय करने तथा उसकी धन राशि के मूल्यांकन के लिए एक मुख्य कमीटी है। कमीशन ने केन्द्र में राज्यों को विशेष सहायता की सिफारिश करने में उनकी वित्तीय स्थिति को, जो

हाल के वर्षों में आय तथा व्यय की स्थिति से प्रतीत होती, मुख्य कसीटी स्वीकार किया। पिछड़े राज्यों में आवश्यक सेवाएँ अच्छे स्तर पर प्रदान नहीं की गईं तथा पिछले वर्ष की वास्तविक आय तथा व्यय सम्बन्धी स्थिति विशेष सहायता की आवश्यकता को उपयुक्त रूप में नहीं दर्शाती। व्यय के वर्तमान स्तर पर बल देने का अर्थ होगा क्षेत्रों के पिछड़ेपन को बराबर बना रहने देना। वहाँ व्यय की कमी का कारण धन की कमी है। इसलिए राज्यों को धन हस्तान्तर करने में वजह में वर्तमान व्यय के स्तर पर संतुलन लाना उपयुक्त नहीं होगा। यह आवश्यकता का आधार नहीं कहा जा सकता। उद्देश्य अथवा लक्ष्य आर्थिक संतुलन द्वारा आर्थिक समृद्धि को अधिकतम करने का होना चाहिए।

आयोग ने सभी राज्यों की आवश्यकताओं पर उचित विचार किया। इसके लिए राज्यों की बढ़ा कर प्रस्तुत की गई वित्तीय सहायता की माँगों की तुष्टि करना सम्भव नहीं था, किन्तु आयोग ने केन्द्र से राज्यों के लिए धन के हस्तान्तरण में उपयुक्त बातों को महत्व दिया।

दूसरा वित्तीय आयोग—इस आयोग की नियुक्ति निम्न बातों पर सिफारिश करने के लिए की गई—

(i) संघ तथा राज्यों में आय कर की नेट आय का वितरण तथा राज्यों के अलग-अलग भाग तय करना;

(ii) मधीय उत्पादन करो जैसे अन्य भाज्य केन्द्रीय करो का वितरण;

(iii) असम, बिहार, उड़ीसा तथा पश्चिमी बंगाल को पटसन निर्यात कर के स्थान पर अन्य सहायता देना;

(iv) भारत के समाहित कोष (consolidated fund) से राज्यों के लिए आर्थिक सहायता के सिद्धान्तों को तय करना,

(v) दूसरी पंचवर्षीय योजना की आवश्यकताओं के दृष्टिकोण से तथा अधिक धन प्राप्त करने के उनके प्रयासों को दृष्टि में रखकर यह घटाना कि किन राज्यों को तथा कितनी आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए,

(vi) कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति पर भू-राजस्व की नेट आय के वितरण के सिद्धान्तों को तय करना, तथा

(vii) भारत सरकार द्वारा राज्यों को 1 अगस्त, 1947 तथा 31 मार्च, 1956 के काल में दिये गये ऋणों की व्याज दर तथा भुगतान की शर्तों में परिवर्तन।

कमीशन को उपर्युक्त बातों पर दूसरी पंचवर्षीय योजना के संदर्भ में सिफारिशें करनी थी। इसको यह देखना था कि आय कर, उत्पादन करो तथा आर्थिक सहायता के रूप में केन्द्र राज्यों को कितना धन दे सकता था। इसे बंगाल, बिहार, असम तथा उड़ीसा के लिए आर्थिक सहायता की सिफारिश करनी थी तथा भू-कर की नेट आय के वितरण पर भी विचार करना था।

इस आयोग ने केन्द्र से राज्यों को प्रति वर्ष 140 करोड़ रुपयों के हस्तान्तरण की सिफारिश की जबकि 31 मार्च, 1957 तक पाँच वर्षों में प्रति वर्ष पहले वित्तीय आयोग की सिफारिशों के अनुसार उन्हें 93 करोड़ रुपये मिलते रहे। आयोग द्वारा सिफारिशों का उद्देश्य राज्य सरकारों को अपने आयगत बजटों को सन्तुलित करने के योग्य बनाना था। इस उद्देश्य की पूर्ति इस बात पर भी निर्भर थी कि राज्य हस्तान्तरित साधनों का उपयोग कैसे करें।

140 करोड़ रुपये की वार्षिक सहायता निम्न साधनों द्वारा की गई :

प्रथम, आय कर भाज्य कोष का राज्यों का भाग 55 प्रतिशत से बढ़ाकर 60 प्रतिशत कर देने की सिफारिश की गई। इसको 90 प्रतिशत जन सख्या के आधार पर तथा 10 प्रतिशत वसूली के आधार पर राज्यों में बाँटने की सिफारिश की गई।

दूसरे, कहवा, चाय, चीनी, कागज, वनस्पति तथा आवश्यक तेल, तम्बाकू दियासलाई तथा वनस्पति वस्तुओं पर करो की आय का 25 प्रतिशत भाग जन सख्या के आधार पर राज्यों को देने की सिफारिश की गई। 1951-52 तथा 1957-58 के बीच केन्द्रीय उत्पादन करो से राज्यों की आय 86 करोड़ ₹० से बढ़कर लगभग 259 करोड़ ₹० हो गई।

तीसरे, आयोग की सिफारिशों के अनुसार, विधान की धारा 273 में असम, बिहार, पश्चिमी बंगाल तथा उड़ीसा को पटसन निर्यात कर के स्थान पर अनुदान मार्च 1960 के अन्त तक चलने को थी। राज्यों के पुनर्गठन के कारण बिहार के अनुदान में से 2.69 लाख ₹० घटा कर पश्चिम बंगाल को दिये गये।

चौथे, आय कर भी नेट आय की तरह मृत्यु कर की आय प्रान्तों में बँटती थी। सघीय क्षेत्रों के भाग के अतिरिक्त सकल आय राज्यों को जाती है। कमीशन की सिफारिश के अनुसार 1957 मार्च के अंत तक काल के लिए अंतरिम वितरण औपचारिक रूप में कानून द्वारा स्वीकृत होना चाहिए। भविष्य के लिए सिफारिश यह थी कि सघीय क्षेत्रों की 1 प्रतिशत माँग घटाकर नेट आय का शेष भाग अचल तथा अन्य सम्पत्ति में उक्त सम्पत्ति के सकल मूल्य के अनुपात में वैचारिक रूप में (notionally) बँट जाना चाहिए। वितरण से पूर्व सघीय क्षेत्रों के लिए नेट आय का 1 प्रतिशत भाग केन्द्र के पास रहना था तथा $1\frac{1}{4}$ प्रतिशत भाग जम्मू तथा काश्मीर को दिया जाना था।

बिना ब्याज के ऋणों में कोई परिवर्तन नहीं किया गया। विस्थापित व्यक्तियों को दिये गये ऋणों के विषय में यह सुझाव दिया गया कि 1 अप्रैल, 1957 से राज्य सरकारें केन्द्र को बकाया मिला कर वह धन राशि देगी जो मूल धन तथा ब्याज मिलाकर वे विस्थापित व्यक्तियों से वसूल कर पायेंगी।

वृण समेकन योजना (debt consolidated scheme) से राज्यों को ५ करोड़ ६० वार्षिक राहत मिलने की आशा थी। कमिशन की सिफारिशों का नार निम्न नातिमा में दिया गया है :

	आय कर का भाग प्रतिशत	केन्द्रीय उत्पादन करों का भाग प्रतिशत	धारा 273 के अन्तर्गत अनुदान (लाख रु० में)	धारा 275(1) के अन्तर्गत (लाख रु० में)
राज्यों का भाग	60	25		
वितरण—				
आन्ध्र प्रदेश	8.12	9.38	...	400
असम	2.44	3.46	75.00	375
बिहार	9.94	10.57	72.31	350
बोम्बे	15.97	12.17
केरल	3.64	3.84	...	175
मध्य प्रदेश	6.72	7.46	...	300
मद्रास	8.40	7.56
मैसूर	5.14	6.52	...	600
उड़ीसा	3.73	4.46	15.00	325
पंजाब	4.24	4.59	..	225
राजस्थान	4.09	4.71	...	205
उत्तर प्रदेश	16.36	15.94
गुजरात	10.05	7.59	152.69	325
जम्मू तथा काश्मीर	1.13	1.75	...	200

	भूतपु कर का भाग प्रतिशत	रेलों के भाड़े के कर का भाग प्रतिशत	अतिरिक्त बटने वाली आय (लाख रु० में)	उत्पादन कर शेष का वितरण प्रतिशत
राज्यों का भाग	99	99.75	..	97.75
वितरण—				
आंध्र प्रदेश	8.76	8.86	235	7.81
असम	2.53	2.71	85	2.73
बिहार	10.86	9.39	130	10.04
बोम्बे	13.52	16.28	960	17.52
केरल	3.79	1.81	95	3.15
मध्य प्रदेश	7.30	8.31	155	7.10
मद्रास	8.40	6.40	285	7.74
मैसूर	5.43	4.45	100	5.13
उड़ीसा	4.10	1.78	85	3.20
पंजाब	4.52	8.11	175	5.71
राजस्थान	4.47	6.77	90	4.32
उत्तर प्रदेश	17.71	18.76	575	17.18
पश्चिमी बंगाल	7.37	6.31	280	8.31
जम्मू तथा काश्मीर	1.24

रिपोर्ट पर सरकार द्वारा कार्य—आयोग की सिफारिशों पर तीन श्रेणियों में कार्य किया गया। राष्ट्रपति की आज्ञा से, पार्लमेंट के कानून द्वारा तथा कार्यकारिणी की आज्ञा द्वारा। विधान की धारा 270, 273 तथा 275 (1) के अन्तर्गत राष्ट्रपति की आज्ञा ली गई। पार्लमेंट के कानून द्वारा सघ तथा राज्यों में कुछ उत्पादन करों के सम्बन्ध में तथा कृषि सम्पत्ति तथा रेलों के भाड़े के बटवारे पर तथा बिजली कर के स्थान पर अतिरिक्त कर लगा कर कार्य किया गया।

ऋणों के सम्बन्ध में सिफारिशों पर कार्यकारिणी की आज्ञा द्वारा राज्य सरकारों से बातचीत करके कार्य किया गया। कमिशन ने यह सिफारिश की थी कि राज्यों को नियमित ऋण न दिये जाकर वेज एण्ड मीन्स एडवान्सेज दिये जायेंगे। वर्ष के अन्त में ये एडवान्सेज मध्य कालीन तथा दीर्घ कालीन ऋणों में परिवर्तित हो सकेंगे। इस सिफारिश को राज्यों की सहमति से कार्यकारिणी की आज्ञा द्वारा कार्यान्वित किया गया।

अर्द्धाईसवाँ अध्याय

तीसरे तथा चौथे वित्त आयोगों की सिफारिशें

(RECOMMENDATIONS OF THE THIRD AND THE
FOURTH FINANCE COMMISSIONS)

तीसरे आयोग की नियुक्ति दिसम्बर, 1960 में हुई तथा इसकी रिपोर्ट दिसम्बर 1961 में सरकार को प्रस्तुत की गयी। ये सिफारिशें अप्रैल 1962 से आगे के 4 वर्षों के लिए लागू होनी थी, किंतु रेलों के करो के स्थान पर अनुदान के भुगतान के लिए यह काल 1 अप्रैल, 1961 से पाँच वर्षों के लिए लिया जाना था। अप्रैल 1961 से रेल किराये पर कर समाप्त कर दिया गया।

संक्षेप में आयोग की निम्न सिफारिशें थी।

आय कर—कमीशन ने नेट आय कर का राज्यों का भाग 60 प्रतिशत से 66.३ प्रतिशत तक बढ़ाने की तथा मधीय क्षेत्रों के नेट आय कर का भाग 1 प्रतिशत से 2 1/2 प्रतिशत तक बढ़ाने की सिफारिश की। भाज्य कोष में 1960-61 में कम्पनियों का आय कर भाज्य कोष के हटने के कारण यह कोष कम हो गया। इसलिए अधिकांश राज्य सरकारी ने राज्यों के भाग में पर्याप्त वृद्धि किये जाने के सुझाव दिये।

राज्यों में बटवारे के विषय में आयोग की सिफारिश थी कि वितरण का आधार 80 प्रतिशत जन सख्या तथा 20 प्रतिशत वसूली होना चाहिए। यही पहले आयोग की सिफारिश थी, किन्तु दूसरे आयोग ने वसूली का आधार 10 प्रतिशत ही रखा था। तीसरे आयोग ने 2 कारणों से इसे बढ़ाकर 20 प्रतिशत कर दिया। प्रथम, कम्पनियों से प्राप्त आय को इस कोष से हटा दिया गया था इसलिए आय कर की आय के क्षेत्रीय उद्गम का महत्त्व बढ़ गया। दूसरे, औद्योगिक राज्यों में वसूली अधिक होती है, किन्तु प्रशासनिक तथा सामाजिक सेवाओं पर व्यय भी अधिक होता है।

केन्द्रीय उत्पादन कर—पहले आयोग ने 3 वस्तुओं पर नेट उत्पादन करों की आय का 40 प्रतिशत भाग राज्यों को देने की सिफारिश की थी। दूसरे ने वस्तुओं की सख्या बढ़ाकर 8 कर दी थी, किन्तु कर का भाग 25 प्रतिशत रखा था। तीसरे आयोग ने वस्तुओं की सख्या 35 कर दी, किन्तु भाज्य कोष 20 प्रतिशत रखा था, जिसका 90 प्रतिशत भाग जन सख्या के आधार पर बटने की सिफारिश की। इन वस्तुओं की मूची के प्रसार का कारण यह था कि आर्थिक नियोजन प्रक्रिया के कारण साधन अपर्याप्त होते जा रहे थे। इसलिए राज्यों की आय बढ़ाने का एक यह साधन था कि धीरे-धीरे सभी उत्पादन करों में राज्यों को भागीदार बनाया जाये। प्रत्येक राज्य के भाग को तय करने के लिए जन सख्या को प्रमुख आधार माना, किन्तु राज्यों की आपेक्षिक वित्तीय दुर्बलता, उसके विकास के स्तरों में असमानता तथा पिछड़े वर्गों की सस्या आदि बातों को भी ध्यान में रखा गया।

अतिरिक्त उत्पादन कर—राज्य सरकारों ने 1957-58 में विक्री कर के स्थान पर मिलों में बुने सूती कपड़े, चीनी तथा तम्बाकू पर अतिरिक्त उत्पादन कर लगाये। दूसरे आयोग ने यह सिफारिश की कि इन अतिरिक्त करों की नेट आय राज्यों को मिलनी चाहिए। राज्यों को यह भी आश्वासन दिया गया था कि इन वस्तुओं पर जितनी 1956-57 में विक्री कर से आय थी कम से कम उतनी ही आय उन पर उत्पादन करों से 1957-58 में राज्यों को दी जायेगी। तीसरे आयोग ने जम्मू तथा काश्मीर का भाग $1\frac{1}{2}$ प्रतिशत तक बढ़ा दिया, किन्तु अन्य राज्यों के लिए बहुत कम बढ़ाया। मृत्यु कर में किमी परिवर्तन की सिफारिश नहीं की। 1961 की जन गणना के आधार पर प्रतिशत भागों में संशोधन किये गये।

रेलो के भुमाफिरो के भाडों पर कर के स्थान पर अनुदान :

1 अप्रैल 1961 से रेलों के भुमाफिरो के भाडों पर कर हटा दिया था। उसके स्थान पर राज्यों को $12\frac{1}{2}$ करोड़ रुपये दिये गये।

अनुदान—कमीशन ने महाराष्ट्र के अलावा सभी राज्यों के लिए 110 25 करोड़ रुपये वार्षिक आय के रूप में देने की सिफारिश की। इसमें 52 करोड़ रुपये बजटों के घाटे को पूरा करने के लिए तथा शेष भाग राज्यों की योजनाओं की आय का 75 प्रतिशत अनुदान के रूप में रखा गया। कमीशन ने राज्य के सम्पूर्ण बजट को ध्यान में रखकर तथा यह समझ कर कि यह सब व्यय अनिवार्य होगा अपनी सिफारिश की। अनुदान में राज्यों को प्रशासन में अधिक नम्यता मिलेगी।

बजट के घाटे को पूरा करने तथा योजना की आय के घटक का 75 प्रतिशत भाग के रूप में कमीशन की सिफारिशों के अनुसार राज्यों के लिए सहायता निम्न तालिका में दिखाई गयी है :

(लाख रुपये में)^१

आर्थिक सहायता		योजनाओं के लिए सहायता जो कालम २ में शामिल है
१	२	३
आन्ध्र प्रदेश	1200	300
असम	900	375
बिहार	800	800
गुजरात	950	525
जम्मू तथा काश्मीर	325	175
केरल	850	300
मध्य प्रदेश	625	500
मद्रास	500	500
अनुदान		योजना के लिए सहायता जो कालम २ में शामिल है।
महाराष्ट्र	"	615
मैसूर	725	125
उड़ीसा	1600	450
पंजाब	275	275
राजस्थान	875	425
उत्तर प्रदेश	800	800
पश्चिमी बंगाल	850	850

कमीशन के सामान्य विचार—आयोग के मतानुसार योजना आयोग तथा वित्त आयोग के कार्य परस्पर व्यापी हैं। यह असमंजस हो उपायों द्वारा दूर हो सकती है। वित्त आयोग के कार्यों का विस्तार किया जाय, जिन में ऋणों तथा अनुदानों आदि की आर्थिक सहायता भी शामिल की जाय। ऐसा करने से राज्यों के बजटों में सन्तुलन लाने में तथा उनके योजना सम्बन्धी लक्ष्यों की पूर्ति में सहायता मिलेगी। दूसरा विकल्प यह है कि उपर्युक्त समय पर योजना आयोग को वित्त आयोग में विलीन किया जाय।

आयोग ने मध्य तथा राज्यों के विन्तीय मामलों से सम्बन्धित महत्वपूर्ण मामलों की ओर भी संकेत किया जैसे राज्यों की केन्द्रीय सहायता पर निर्भरता तथा मितव्ययता तथा प्रशासनिक कुशलता। कमीशन ने यह सुझाव दिया कि प्रत्येक राज्य की कर सम्भावना की जाँच एक स्वतन्त्र आयोग द्वारा की जाय जो योजना

सम्बन्धी प्रक्रिया के कारण राज्यों के कार्यों तथा उनके साधनों के बीच की बढ़ती हुई रिक्ति (gap) पर विचार करे। यह आयोग सघ तथा राज्यों के वित्तीय सम्बन्धों में केर बदल की समस्या पर भी विचार करेगा।

आयोग ने राज्यों के ऋणों पर व्याज के रूप में बढ़ती हुई देनदारी पर भी ध्यान दिया, जिस पर राज्यों की चालू आय का एक भारी भाग व्यय होता है।

सिफारिशों पर कार्य—आयोग की सर्व सम्मति से की गई सिफारिशों को तथा बहुमत की यातायात की उन्नति के लिए विनोद उद्देश्य के अनुदान की सिफारिश को कार्यान्वित किया गया। बहुमत की उस सिफारिश को जिसमें योजना की सहायता का एक भाग कमीशन की अन्तरण योजना में शामिल किया जाना था सघ सरकार योजना आयोग के परामर्श से इस परिणाम पर पहुँची कि योजना के लिए आंशिक रूप में कमीशन की सिफारिशों के आधार पर तथा आंशिक रूप में योजना आयोग के वार्षिक पुनरीक्षणों के आधार पर सहायता प्राप्त करने में राज्यों को वास्तविक लाभ नहीं होगा। केन्द्रीय सहायता वित्तीय तथा अर्थिक स्थिति के सतर्क मूल्यांकन तथा प्रति वर्ष बदलती हुई स्थिति को ध्यान में रखकर तय होती है। इसलिए राज्यों की योजनाओं के लिए प्रत्येक राज्य तथा केन्द्र दोनों ही की पूर्ण वित्तीय स्थिति को देखना आवश्यक है। इसलिए आयोग की यह सिफारिश लागू नहीं की गई। राज्यों के लिए योजना सम्बन्धी केन्द्रीय सहायता देश की सम्पूर्ण वित्तीय स्थिति तथा अन्य उपयुक्त घटकों के आधार पर चलती रहेगी।

कमीशन की सिफारिशों को तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है - (1) राष्ट्रपति की आज्ञा द्वारा कार्यान्वित, पार्लमेंट के कानून द्वारा लागू की जाने वाली तथा गवर्नमेंट की आज्ञा द्वारा कार्यान्वित होने वाली। आय कर के बटवारे से सम्बन्धित धारा 270 के अन्तर्गत तथा राज्यों की आय के लिए अनुदानों से सम्बन्धित धारा 275 (1) के अन्तर्गत सिफारिशें पहली श्रेणी में आती हैं। इन पर मार्च 19, 1962 को राष्ट्रपति की आज्ञा निष्कल गई। अतिरिक्त करो महित, केन्द्रीय उत्पादन करों के वितरण तथा कृषि भूमि को छोड़ अन्य सम्पत्ति पर मृत्तु कर सम्बन्धी सिफारिशें दूसरी श्रेणी में आती हैं जिन पर 1962 में ही पार्लमेंट ने कानून पारित कर दिये। रेलों के भाड़े पर कर के स्थान पर तथाकथित अनुदानों के वितरण से सम्बन्धित सिफारिश पर राजाज्ञा हो गई।

निम्न तालिका में कमीशन की सिफारिशों के अनुसार राज्यों को प्राप्त साधनों का ब्योरा संक्षेप में दिया गया है।²

तीसरे तथा चौथे वित्त आयोगों की सिफारिशें

२८३

वितरण	आयकर का भाग प्रतिशत	केन्द्रीय उत्पादन करों का भाग प्रतिशत	धारा 275(1) के अन्तर्गत अनुदान (लाख रु० में)	यातायात की उन्नति के लिए विशेष उद्देश्यीय अनुदान (लाख रुपये में)
राज्यों का भाग	66 2/3	20
आन्ध्र प्रदेश	7.71	8.23	9.00	50
असम	2.44	4.73	5.25	75
बिहार	9.33	11.56	.	75
गुजरात	4.78	6.45	4.25	1.00
जम्मू तथा काश्मीर	0.70	2.02	1.50	50
केरल	3.55	5.46	5.50	75
मध्य प्रदेश	6.41	8.46	1.25	17.5
मद्रास	8.13	6.08	3.00	...
महाराष्ट्र	13.41	5.73
मैसूर	5.13	5.82	6.25	50
उड़ीसा	3.44	7.02	11.50	1.75
पंजाब	4.49	6.71
राजस्थान	3.97	5.93	4.50	75
उत्तर प्रदेश	14.48	10.68
पश्चिमी बंगाल	12.09	5.07

वितरण	मृत्यु कर का भाग प्रतिशत	रेल के भाड़े पर कर के स्थान पर अनुदान (लाख रु० में)	अतिरिक्त आश्वासित आय (लाख रु० में)	एक्साइज कर शेष का वितरण प्रतिशत
राज्यों के भाग	99			97.50
आन्ध्र प्रदेश	8.34	1.11	2,35.24	7.75
असम	2.75	34	25.08	2.50
बिहार	10.78	1.17	1,30.16	10.00
गुजरात	4.78	68	3,23.45	5.40
जम्मू तथा काश्मीर	0.83	2
केरल	3.92	23	95.08	4.25
मध्य प्रदेश	7.51	1.04	1,55.17	7.00

3 Jammu and Kashmir was to receive only 12 per cent of net proceeds and no compensation.

मद्रास	7.80	81	2,85.34	9 00
महाराष्ट्र	9 16	1,35	6,37.77	10.60
मैसूर	5.46	56	1,00.10	5.25
उड़ीसा	4.08	22	85 10	4.50
पंजाब	4 71	1,01	1,75.19	5 25
राजस्थान	4.67	85	90.10	4.00
उत्तर प्रदेश	17.10	2,34	5,75.81	15.50
पश्चिमी बंगाल	8.11	79	2,80.41	9.00

चौथा वित्त आयोग—1965

इस आयोग की नियुक्ति मई 1964 में हुई तथा इसने अपनी रिपोर्ट भारत सरकार को अगस्त 1965 में प्रस्तुत की। आय कर, उत्पादन कर आदि के वितरण में सम्बन्धित सिफारिशों के अतिरिक्त इसे उत्पादन उपभोग तथा वस्तुओं के निर्यात पर मधीय उत्पादन करों तथा राज्यों के बित्री करों के सम्मिलित सम्पात का अध्ययन करना था। इन करों का बटवारा केन्द्र तथा राज्यों में होता है। इसे इस बात पर भी सिफारिश करनी थी कि किसी राज्य का बित्री कर आयोग द्वारा निश्चित किये गये स्तर से अधिक हो जाय तो ऐसी स्थिति में केन्द्रीय उत्पादन करों से प्राप्त राज्य के भाग में क्या समन्वय किये जायें। इसके अतिरिक्त राज्यों के लिए अनुदान की सिफारिशों के सम्बन्ध में इस आयोग को इस बात पर भी विचार करना था कि ऋण भुगतान के लिए कमीशन द्वारा तय की गई सीमा से ऊपर मृत्यु कर की आय होने पर राज्य को केन्द्र के ऋण के भुगतान के लिए यदि एक कोष का निर्माण किया जाये तो राज्यों को क्या अतिरिक्त व्यय करना होगा। कमीशन की सिफारिशें 1 अप्रैल, 1966 से लगा कर 5 वर्ष के समय के लिए थी।

आय कर

कमीशन को विधान की धारा 270 के अन्तर्गत निम्न बातों पर सिफारिश करनी थी—(क) आय कर की नेट आय का राज्यों को कितना भाग मिलना चाहिए, (ख) इस भाग का राज्यों में किस प्रकार बटवारा हो, तथा (ग) इस नेट आय का कितना भाग मधीय क्षेत्रों से प्राप्त आय समझी जा सकेगी। आय कर से प्राप्त आय के बटवारे के सम्बन्ध में सभी राज्यों ने 66 2/3 प्रतिशत स्तर से ऊपर राज्यों को हिस्सा मिलना चाहिए इस बात पर पर्याप्त सामग्री इकट्ठी करली थी। उनका कहना था कि 1959 के फाइनेन्स एक्ट में कम्पनियों द्वारा देय आय कर के वर्गीकरण के संशोधन के परिणाम स्वरूप भाज्य कोष की वृद्धि की दर बहुत कम हो गयी थी। उन्होंने यह भी कहा कि गत 12 वर्षों में कारपोरेशन कर की प्राप्ति 6 गुनी से अधिक बढ़ गयी थी, फिर भी आय कर से भाज्य कोष की वृद्धि 50 प्रतिशत से भी कम हुई थी। राज्यों ने इस बात पर बल दिया कि साधारण काल

में केवल नश के लिए अतिरिक्त कर लगाने की कोई आवश्यकता नहीं थी, किन्तु यदि अतिरिक्त कर लगाया जाय तो तीन वर्ष बाद साधारणतया यह आय कर की बुनियादी दरों में मिला देना चाहिए। आयोग ने राज्यों के भलो, तीसरे वित्तीय आयोग के तथ्यों तथा वित्तीय मन्त्रालय से प्राप्त आय कर से आय की प्राप्ति के अनुमानों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि राज्यों के भाग में वृद्धि होनी चाहिए। इसलिए उन्होंने राज्यों को आय कर के भाज्य कोष का 75 प्रतिशत राज्यों में बाँट जाने की सिफारिश की।

राज्यों में उक्त भाग के पारस्परिक वटवारे के सम्बन्ध में कमीशन ने बहुत से घटकों पर ध्यान दिया जो राज्यों ने उसके समक्ष प्रस्तुत किये थे। कमीशन ने जन सख्या तथा वसूली से सम्बन्धित केवल दो ही आधारों को उपयुक्त माना। कमीशन की यह राय थी कि आय कर की आय के वितरण के सिद्धान्तों के विषय में निश्चितता तथा स्थिरता होने चाहिए। इसलिए इन्होंने पहले तथा तीसरे वित्त आयोगों द्वारा निर्धारित मूल की सिफारिश की कि आय कर की आय के भाज्य का 80 प्रति जन सख्या के तथा 20 प्रतिशत वसूली आधार पर राज्यों में बाँटा जाय। इन्हीं दो सिद्धान्तों के आधार पर आय कर के भाज्य कोष का सघीय क्षेत्रों का हिस्सा 2.5 प्रतिशत रखा।

केन्द्रीय उत्पादन कर—जानू केन्द्रीय उत्पादन करों को 6 श्रेणियों में बाँटा :

(i) बुनियादी उत्पादन कर, (ii) कुछ विशेष कानूनों के अन्तर्गत लगाये गये उत्पादन कर जिनकी आय निश्चित उद्देश्यों के लिए तब है जैसे गरी, नमक, कच्चा सोहा, कोयला, तिलहन, धाती आदि वस्तुओं पर कर, (iii) चीनी, तम्बाकू तथा वस्त्रों पर बिज्जी कर के स्थान पर संग अतिरिक्त कर, (iv) कुछ प्रकार के तेलों पर लगे अतिरिक्त कर जैसे परिष्कृत (refined) डीजल तेल, (v) कुछ वस्तुओं पर बुनियादी करों पर अतिरिक्त करों के रूप में विशेष उत्पादन कर, तथा (vi) रेगुलेटरी कर। इनमें से कमीशन ने केन्द्र तथा राज्यों में दो प्रकार के ही करों की आय के बाँटने की सिफारिश की अर्थात् (i) आधारभूत, तथा (ii) अतिरिक्त उत्पादन कर तथा इनकी आय को बुनियादी करों की आय की तरह बाँटने की सिफारिश की।

उत्पादन कर लगने वाली वस्तुओं की सूची के सम्बन्ध में पारिस्थिति यह है कि पहले आयोग ने केवल 3 वस्तुओं पर कर की आय का 40 प्रतिशत भाग राज्यों में बाँटने की सिफारिश की थी। दूसरे आयोग के इन वस्तुओं की सख्या बढ़ाकर 8 कर दी थी, किन्तु राज्यों का भाग घटाकर 25 प्रतिशत कर दिया। तीसरे आयोग ने वस्तुओं की सख्या 35 कर दी, किन्तु राज्यों का भाग 20 प्रतिशत कर दिया। वे सब वस्तुएँ इस सूची में शामिल कर ली जिन पर 1960-61 में कर लगने से 50 लाख रुपये से अधिक आय प्राप्त हुई। मोटर स्प्रिट पर कर के स्थान पर एक उतने ही मूल्य की विशेष उद्देश्यीय अनुदान की सिफारिश संचार व्यवस्था के विकास के लिए की गई। राज्यों ने चौथे आयोग के समक्ष इन वस्तुओं की सख्या के बढ़ाने

का बहुत समर्थन किया। उन्होंने उन सभी वस्तुओं को इस सूची में लाने के तर्क दिये जिन पर उत्पादन कर लगते हैं। इसके लिए उन्होंने निम्न तर्क प्रस्तुत किये : (क) इससे सघ की उत्पादन कर की नीतियो तथा राज्यों के विश्वी करो की नीतियो में समन्वय हो जायेगा, (ख) राज्यों के लिए साधनों के प्रवाह में अधिक समता आ जायेगी, तथा (ग) अर्थ-व्यवस्था की प्रगति की विविधता के कारण नयी वस्तुएँ आ सकेंगी। इसलिए चौथे कमिशन ने यह सिफारिश की कुछ वस्तुओं पर करो को छोड़कर सभी वस्तुओं पर लगे उत्पादन करो कि आय तथा उन वस्तुओं पर करो की आय का जिन पर आगामी 5 वर्षों में कर लगेंगे केन्द्र तथा राज्यों में बटवारा किया जाय। राज्यों का भाग 20 प्रतिशत रखा जो यदि 35 वस्तुओं के करो की आय हो राज्यों को मिलती तो उसके 30 प्रतिशत के बराबर होता।

राज्यों में इन आय के बटवारे के सम्बन्ध में इस आयोग ने सिफारिश की कि राज्यों का भाग 80 प्रतिशत जन संख्या के आधार पर तथा 20 प्रतिशत आर्थिक तथा सामाजिक पिछड़ेपन के आधार पर बाँटा जाय। पिछड़ेपन में कृषि उत्पादन का प्रति व्यक्ति सकल मूल्य, जिसमें निर्माण से प्राप्त प्रति व्यक्ति मूल्य जोड़ा जाय, कुल जन संख्या तथा श्रमिकों का अनुपात आदि शामिल हैं। चौथे आयोग ने राज्य के आर्थिक तथा वित्तीय दृष्टि से पिछड़ा हुआ हो तथा उसमें समाज सेवा का स्तर नीचा हो, किन्तु आय की दृष्टि से उपरी स्थिति अच्छी हो। अनुदान के तय करने में तथा साफ़े के करो के बटवारे में वित्तीय दुर्बलता की वसीटी इस आयोग ने अधिक उपयुक्त ठहराई।

बिक्री करो के स्थान पर अतिरिक्त उत्पादन कर

दिसम्बर 1956 में राष्ट्रीय विकास समिति ने यह योजना तय की कि राज्य सरकारें वस्त्रों, चीनी तथा तम्बाकू पर बिक्री कर के स्थान पर अतिरिक्त उत्पादन कर लगायें। इस आय का बटवारा 1964 में कमिशन की नियुक्ति तक होता रहा। योजना के प्रारम्भ से राज्यों को यह आश्वासन रहा कि उनका हिस्सा जितनी आय उन्हें 1956-57 में इन वस्तुओं पर बिक्री कर से हुई इससे कम नहीं होगा। कमिशन की इस आश्वस्त स्तर ने ऊपर के अतिरिक्त धन के बटवारे का आधार तय करना था। तीसरे आयोग ने इस अतिरिक्त धन को आंशिक रूप में जन संख्या के आधार पर तथा आंशिक रूप में 1957-58 से प्रत्येक राज्य में विश्वी कर की वसूली की प्रतिशत वृद्धि के आधार पर बाँटे जाने को न्याय सगत ठहराया। चौथे आयोग के अनुसार जन संख्या की अपेक्षा एक राज्य की विश्वी कर की आय भाज्य कोष में राज्य के अशदान का जन संख्या की अपेक्षा अधिक प्रत्यक्ष सूचक होगी। इसलिए आयोग ने यह सिफारिश की कि सकल आश्वस्त धन से ऊपर की आय प्रत्येक राज्य में बिक्री कर तथा भव राज्यों के 1961-62 से 1963-64 तक सकल बिक्री कर के अनुपात में दी जाय। जम्मू तथा काश्मीर में 1956-57 में बिक्री कर नहीं लगता

था। इसलिए उस राज्य के लिए आवश्यक धन का प्रश्न नहीं उठता। दूसरे तथा तीसरे आयोगों ने उस राज्य का भाग नेट आय में क्रमशः $1\frac{1}{2}\%$ तथा $1\frac{1}{2}\%$ रखा। चौथे आयोग ने 1966-67 से 1970-71 तक के वर्षों के लिए विक्री कर के स्थान पर अतिरिक्त उत्पादन करों की नेट आय 1 प्रतिशत सघीय क्षेत्रों को $1\frac{1}{2}$ प्रतिशत, जम्मू तथा काश्मीर को, $1/20$ प्रतिशत, नागालैण्ड को नेट आय का 97.45 प्रतिशत जो 32.54 करोड़ अलग रखा जाय तथा शेष प्रत्येक राज्य में विक्री कर आय तथा सब राज्यों में 1961-62 से 1963-64 के सकल विक्री कर आय के अनुपात में बाँटा जाय।

मृत्पु कर—कमीशन ने सघीय क्षेत्रों का हिस्सा 1 प्रतिशत में 2 प्रतिशत बढ़ाने की सिफारिश की। राज्यों में इसके वितरण के सिद्धान्तों में परिवर्तन की सिफारिश नहीं की। वे ज्यों के त्यो रहे गये। दूसरे आयोग की सिफारिशों के अनुसार जिनका सम्बंध तीसरे आयोग ने भी किया था सघीय क्षेत्रों के हिस्से का 1 प्रतिशत घटाकर शेष का बच तथा अचल सम्पत्तियों के सकल मूल्य के अनुपात में बाँटा जाता था। अचल सम्पत्ति के हिस्से की आय प्रत्येक राज्य में स्थित इस सम्पत्ति के सकल मूल्य के अनुपात में राज्यों में बँटती थी। शेष का बँटवारा जन संख्या के आधार पर होता था। चौथे कमीशन ने इस सिद्धान्तों में परिवर्तन की सिफारिश नहीं की। इसमें अधिक आय से ऊपर की आय से शेष के निर्माण की सिफारिश नहीं की, क्योंकि उन शीर्षक की कुल आय उस समय 7 करोड़ रुपये ही थी।

रेल के भाड़ों पर करों के स्थान पर अनुदान—कमीशन ने इस सम्बन्ध में परिवर्तन की सिफारिश नहीं की।

अनुदान—तीसरे कमीशन ने राज्य सरकारों के बजटों में आय के घाटे को पूरा करने के लिए 52 करोड़ रुपये प्रति वर्ष तथा राज्यों की योजनाओं की आवश्यक आय के 75 प्रतिशत भाग के लिए 58.25 करोड़ रु० प्रति वर्ष अनुदान की सिफारिश की थी। शासन ने दूसरी सिफारिश की, जो योजनाओं के 75 प्रतिशत भाग में सम्बन्धित थी, स्वीकार नहीं किया। चौथे आयोग ने योजना के बाहर 1965-66 के क़राघात स्तरों के आधार पर आगामी पाँच वर्षों की आय से सम्बन्धित व्यय की पूर्ति के लिए अपनी सिफारिशों को सीमित रखा। योजना के सम्बन्ध में भारत सरकार तथा राज्य सरकारों को सलाह देने के लिए योजना आयोग बनाया गया है। इसलिए चौथे वित्त आयोग ने राज्यों की योजनाओं के नये व्ययों पर विचार करना उपयुक्त नहीं समझा। इसलिए योजना के व्यय के अंग के घाटे को पूरा करने के लिए अनुदान की सिफारिश नहीं की। दूसरी ओर उन्होंने लोक ऋणों पर जोष कोषों के अदान के लिए तथा खड़े ऋणों (outstanding loans) पर वार्षिक व्याज के भुगतान के लिए व्यय के अनुमानों में राज्यों की आवश्यकताओं को शामिल कर लिया है। 1966-67 से 1970-71 तक विभिन्न राज्यों के योजना से बाहर के व्यय तथा आयों के मूल्यांकन के परभाव तथा राज्यों के विभिन्न करों के भाग की

शामिल करके यह अनुमान किया गया कि 1966-67 से 1970-71 के पंचवर्षीय काल में दस राज्यों का वित्तीय घाटा 609.45 करोड़ रुपये होगा। इसलिए आयोग ने विधान की धारा 275 के अन्तर्गत प्रतिवर्ष घाटे के 1/5 भाग के बराबर 121.89 करोड़ की वार्षिक सहायता की सिफारिश की। आयोग ने आयगत व्यय के अनुमान में राज्य सरकारों के कर्मचारियों तथा आन्ध्र प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश में जुलाई 1965 में राज्याज्ञा द्वारा दिये गये स्थानीय सस्थाओं तथा स्कूलों के कर्मचारियों के वेतन स्तरों तथा मंहगाई भत्तों को शामिल नहीं किया। कमीशन ने यह सिफारिश की कि धारा 275 के अन्तर्गत अनुदान निश्चित करने में इन देनदारियों को भी शामिल कर लिया जाय। इसलिए आयोग ने प्रति वर्ष आन्ध्र प्रदेश को 6.29 करोड़ रु० तथा मैसूर को 2.58 करोड़ रु० अनुदान बढ़ाने की सिफारिश की। उत्तर प्रदेश भी 9.85 करोड़ रु० वार्षिक अनुदान का हकदार हो गया।

तीसरे आयोग ने सड़क यातायात की उन्नति के लिए चार वर्षों के लिए 8 करोड़ रु० प्रति वर्ष विशेष उद्देश्यीय अनुदान के रूप में देने की सिफारिश की थी। चौथे आयोग ने प्रथम विशेष उद्देश्यीय अनुदानों की सिफारिश नहीं की, किन्तु उन्होंने व्यय के अनुमान में कुछ विशेष आवश्यकताओं को स्वीकार कर लिया।

साधारण अवलोकन—कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में बहुत-सी बातों पर टिप्पणी की है तथा पारस्परिक वित्तीय हितों पर सद्य तथा राज्यों में विचार विमर्श के लिए सत्यागत उपायों के निर्माण का मुझाव दिया है। वित्त मन्त्रालय में वित्तीय आयोगों के लिए आवश्यक मामूरी तैयार करने के लिए एक स्थायी सस्था की स्थापना का तथा राज्यों की ऋण सम्बन्धी समस्या तथा तत्सम्बन्धी मामलों पर अध्ययन के लिए एक सुयोग्य सस्था के निर्माण की सिफारिश की। राज्यों के ऋण-शोध पर अध्ययन के लिए भी एक विशेषज्ञों की सस्था की स्थापना का मुझाव दिया। इसके अतिरिक्त कमीशन वर्तमान अंतरशासकीय ऋण प्रणाली उपयुक्तता के मूल्यांकन के सर्वेक्षण के भी पक्ष में है।

श्री मोहनलाल गौतम की विरोध टिप्पणी—कमीशन की रिपोर्ट पर श्री मोहनलाल गौतम ने निम्न दो बातों पर विरोध टिप्पणी प्रस्तुत की :

(क) राज्य सरकारों के आय तथा व्यय के अनुमानों में जून 1965 के पश्चात् राज्याज्ञा द्वारा किये गये व्ययों को शामिल न करना;

(ख) आवस्यत धनो के ऊपर अतिरिक्त उत्पादन करों की शेष आय के वितरण का आधार। उसके अतिरिक्त कमीशन के अध्यक्ष, श्री पी० बी० राजामन्नर तथा श्री बी० दत्ता ने रिपोर्ट पर पूरव स्रोतों में सद्य तथा राज्यों के वित्तीय सम्बन्ध तथा वित्त आयोग तथा योजना आयोग के कार्य क्षेत्रों पर अपने विचार दिये हैं। इस सम्बन्ध में इन्होंने तीन बातों पर विधान में सशोधन के मुझाव दिये हैं।

(क) योजना आयोग तथा वित्त आयोग के कार्य क्षेत्रों का स्पष्टीकरण होना चाहिए।

सरकार द्वारा स्वीकृत आयोग की सिफारिशों के फलस्वरूप राज्यों को प्राप्त आय का संक्षिप्त विवरण निम्न तालिका में दिया गया है :

राज्यों के नाम 1	भाग 2	75% 3	20% 4	98% 5	6	7	8
	प्रतिशत	प्रतिशत	ताय रुपये में	प्रतिशत	प्रतिशत	ताय रुपये में	प्रतिशत
वितरण	7.37	7.77	13,51@	8.34	9.05	235.24	7.42
आन्ध्र प्रदेश	2.44	3.32	16.52	2.75	2.79	85.08	1.98
असम	9.04	10.03	...	10.76	9.99	130.16	6.17
बिहार	5.29	4.80	...	4.78	7.11	323.45	7.43
गुजरात	0.73	2.26	6.57	0.83
जम्मू तथा काश्मीर	3.59	4.16	20.82	3.92	1.85	95.08	5.65
केरल	6.47	7.40	2.70	7.50	9.85	155.17	4.62
मध्य प्रदेश	8.34	7.18	6.84	7.80	5.81	528.34	11.13
महाराष्ट्र	14.28	8.23	...	9.16	8.98	637.77	19.87
मेसूर	5.14	5.41	20.82@	5.46	3.98	100.10	5.21
नागालैण्ड	0.07	2.21	7.07	0.09	0.01
उड़ीसा	3.40	4.82	29.18	4.07	2.12	85.10	2.58
पंजाब	4.36	4.86	...	4.70	7.43	175.16	5.01
राजस्थान	3.97	5.06	6.73	4.67	6.40	90.10	3.17
उत्तर प्रदेश	14.60	14.98	9.85@	17.08	18.23	575.81	7.83
पश्चिमी बंगाल	10.91	7.51	...	8.09	6.40	280.41	11.93
						3,254.00	
			140.61				

(ख) राज्यों में भारी घाटे को रोकने तथा कुछ राज्यों को भारी अनुदान देने को रोकने के लिए उनकी आय के अन्तरण के लिए एक लचीली प्रणाली का निर्माण होना चाहिए।

(ग) अंतरक्षेत्रीय अतएँहिक पहलुओं पर आयोग की समस्या के सम्बन्ध में लगातार परीक्षण के लिये उपयुक्त व्यवस्था होनी चाहिए।

आयोग की सिफारिशों को सरकार ने स्वीकार कर लिया तथा नियमों के अनुसार उन्हें व्यवहार में लाया गया। कुछो को राष्ट्रपति की आज्ञा द्वारा, कुछो को पार्लमेण्ट के कानून द्वारा तथा कुछो को राज्याज्ञा द्वारा व्यवहरित किया गया।

पाँच वर्ष के लिए राज्यों को आयोग की सिफारिशों के अतर्गत अनुदान⁴

राज्य	घाटा (वार्षिक अनुदान का पाँच गुना) (करोड़ रुपये में)
आन्ध्र प्रदेश	36.10
असम	82.60
जम्मू तथा काश्मीर	32.85
केरल	104.10
मध्य प्रदेश	13.50
मद्रास	34.20
मैसूर	91.20
नागालैण्ड	35.35
उड़ीसा	145.90
राजस्थान	33.65
योग	609.45

4 After taking into account share of Union taxes and duties accruing to the States.

उन्तीसवाँ अध्याय

पाँचवें वित्त आयोग की रिपोर्ट

(REPORT OF THE FIFTH FINANCE COMMISSION)

भारत सरकार ने फरवरी 1968 में विधान की धारा 280 के अन्तर्गत पाँचवें वित्त आयोग की नियुक्ति की। आयोग ने 1968 में अपनी अन्तिम रिपोर्ट तथा जुलाई 31, 1969 को अपनी अन्तिम रिपोर्ट राष्ट्रपति को प्रस्तुत की।

विवेचनीय विषय

(Terms of Reference)

इसको निम्न बातों पर अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करनी थी।

(1) आय कर तथा केन्द्रीय उत्पादन करों की नेट आय का केन्द्र तथा राज्यों में बटवारा।

(2) इन करों का राज्यों में वितरण किन सिद्धान्तों पर हो।

(3) अतिरिक्त उत्पादन करों की तथा मृत्यु कर की नेट आय का राज्यों में बटवारा तथा रेल के भाड़े के स्थान पर राज्यों को अनुदान देना।

(4) विधान की धारा 275 (1) के अन्तर्गत राज्यों के लिए अनुदान की मात्रा तय करना।

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त आयोग को निम्न विषयों पर भी सिफारिशें करनी थी।

(1) बिक्री कर के स्थान पर अतिरिक्त उत्पादन करों के सम्बन्ध में वर्तमान व्यवस्था के चलने तथा न चलने पर विचार करना तथा अन्य बातों के सम्बन्ध में इस प्रणाली के प्रसार क्षेत्र को बताना।

(2) धारा 269 के अन्तर्गत सूची में उल्लिखित ऐसे करों द्वारा जो अभी तक नहीं लगाये जाते थे तथा राज्यों को उपलब्ध आय के अन्य साधनों द्वारा आय प्राप्त करने की सम्भावना बताना।

(3) रिजर्व बैंक आफ इण्डिया के साथ कुछ राज्यों की अनधिकृत ओवर-ड्राफ्ट्स (unauthorised overdrafts) की समस्या पर विचार करना।

आयोग की सिफारिशें 1969-70 से 1973-74 के पंचवर्षीय काल के लिए की जानी थी। इनमें से कुछ विषयों पर विशेषतया 1969-70 के वित्त वर्ष के लिए आयोग को अन्तरिम सिफारिशें करनी थी। कमिशन की अन्तरिम रिपोर्ट में आयोग ने आय कर, केन्द्रीय उत्पादन करो तथा अतिरिक्त उत्पादन करो की आय के सम्बन्ध में चौथे आयोग के आधार के अनुसार चलने की सिफारिश की। कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति पर मृत्यु कर के वितरण तथा रेलों के भाड़े के कर के स्थान पर अनुदान के विषय में ये सिफारिशें अन्तिम थी। इसी प्रकार अनधिकृत ओवरड्राफ्टों के मामले को छोड़ कर भारत सरकार ने आयोग की सभी अन्तरिम सिफारिशों को स्वीकार कर लिया।

अन्तिम रिपोर्ट

राज्यों के बजट सम्बन्धी घाटे को पूरा करने के लिए आयोग का मत था कि इसकी पूर्ति करो की आय से होनी चाहिए, इसके लिए अनुदान नहीं मिलने चाहिए। इसलिए आयोग ने 1972-73 से आय कर के भाज्य कोष में अग्रिम कर आय तथा विशेष उत्पादन करो की आय जो अब तक इस कोष में शामिल नहीं होती थी, इसमें मिलाने की सिफारिश की। भाज्य कोष में आय कर का 75 प्रतिशत तथा उत्पादन करो का 20 प्रतिशत राज्यों के लिए देने की सिफारिश की। आय कर तथा केन्द्रीय उत्पादन करो की आय को राज्यों में वटवारे के सम्बन्ध में आयोग ने पहले वित्त आयोगों की सिफारिशों के सिद्धान्तों में जन सख्या को अधिक महत्त्व देने तथा आर्थिक दृष्टि से अधिक पिछड़े हुए तथा कम प्रति व्यक्ति आय के राज्यों के भाग को बढ़ाने के लिए सिफारिश की। इसलिए प्रत्येक राज्य को आय कर का 90 प्रतिशत भाग जन सख्या के आधार पर तथा 10 प्रतिशत प्रत्येक राज्य में कर मूल्य निर्धारण के आधार पर बाँटे जाने की सिफारिश की।

उत्पादन करो के सम्बन्ध में 80 प्रतिशत जन सख्या के आधार पर बाँटने की सिफारिश की। शेष 20 प्रतिशत का दो तिहाई भाग उन राज्यों के लिए सुरक्षित रखने की सिफारिश की जिनकी प्रति व्यक्ति आय सब राज्यों की प्रति व्यक्ति आय से कम है। शेष भाग सब राज्यों की छ कमीटियों पर आधारित पिछड़ेपन के अनुसार बाँटे जाने की सिफारिश की।

आयोग ने 1969-70 से 1973-74 के काल के लिए 1966-67 से 1970-71 तक के काल में दिये गये 703 करोड़ रुपये की राशि से घटाकर वैधानिक अनुदानों को लगभग 638 करोड़ रुपये रखा। चौथे आयोग के अनुसार ये कानूनी अनुदान 11 राज्यों के लिए दिये गये थे, इस आयोग ने इन राज्यों की सख्या 10 रखी।

आयोग ने बिजली वर के स्थान पर अतिरिक्त उत्पादन करों की योजना चीनी, तम्बाकू तथा वस्त्रों तक ही सीमित रखी। अन्य वस्तुओं के लिए इसे लागू नहीं किया। उसका कारण यह था कि राज्य इस योजना के पक्ष में नहीं थे।

(करोड़ रुपये में)

घन का वितरण

करों तथा उत्पादन करों तथा वारा 275 के अंतर्गत अनुदानों द्वारा राज्यों को घन का वितरण (वित्त आयोग द्वारा)

बढ़ने वाले करो तथा उत्पादन करों के अनुमान

चौथा वित्त आयोग (1966-67 से 1970-71)

पाँचवा वित्त आयोग (1969-70 से 1973-74)

वारा 275 के अंतर्गत अनुदान

चौथा वित्त आयोग (1966-67 से 1970-71)

पाँचवा वित्त आयोग (1969-70 से 1973-74)

कुल हस्तांतरित घन का अनुमान

चौथा वित्त आयोग (1966-67 से 1970-71)

पाँचवा वित्त आयोग (1969-70 से 1973-74)

(3+5)
7

राज्य	2	3	4	5	6	7
1						
आन्ध्र प्रदेश	166.63	274.27	67.55	65.01	234.18	339.28
असम	62.36	93.24	82.60	101.97	144.96	195.21
बिहार	197.46	407.38	197.46	407.38
गुजरात	121.55	182.75	121.55	182.75
हरियाणा	39.19	59.61	39.19	59.61
जम्मू कश्मीर	33.25	33.16	32.85	73.68	66.10	106.84
केरल	84.51	143.78	104.10	49.65	188.61	193.43
मध्य प्रदेश	148.53	274.02	13.50	...	162.03	274.02
महाराष्ट्र	260.38	383.66	260.38	383.66
मैसूर	111.32	179.43	104.10	17.99	215.42	197.42
नागालैण्ड	23.11	2.77	145.90	77.95	58.46	80.72
उड़ीसा	85.95	146.01	...	104.67	231.85	250.68
पंजाब	57.51	89.16	33.65	...	57.51	89.16
राजस्थान	96.76	170.16	34.20	51.49	130.41	221.65
तमिलनाडु	173.12	272.29	49.25	22.82	207.32	295.11
उत्तर प्रदेश	323.77	620.12	373.02	620.12
पश्चिमी बंगाल	197.41	296.64	...	72.62	197.41	369.26
योग	2183.81	3628.45	703.05	637.85	2885.86	4266.30

आय बढ़ाने के अन्य साधनों के विषय में कमीशन के विचार में विधान की धारा 269 के अन्तर्गत लगने वाले करो में समाचार पत्रों में प्रकाशित विज्ञापनों पर कर के अतिरिक्त अन्य करों की गुन्जायश नहीं है। आय बढ़ाने के लिये, आयोग ने यह सिफारिश की कि कुपि क्षेत्र पर कर लगाये जायें, उत्पादन करों की दरों में, सिचाई तथा बिजली की दरों में परिवर्तन किये जायें तथा चकाया कर तथा व्याज का घन वसूल किया जाय। भारत सरकार ने करों के सम्बन्ध में तथा विधान की धारा 275 (1) के अन्तर्गत अनुदान में सिफारिशें स्वीकार कर ली। इन सिफारिशों के आधार पर 1969-70 से 1973-74 तक राज्यों को हस्तान्तरण द्वारा आय का 4266.30 करोड़ रुपये मूल्य का अनुमान है। इसमें से करों का भाग 3628.45 करोड़ रुपये तथा अनुदानों का भाग 637.85 करोड़ रुपये है, जबकि 1966-67 से 1970-71 तक चौथे आयोग की सिफारिशों के आधार पर कुल हस्तान्तरित आय 2885.86 करोड़ रुपये थी। इसमें करों का भाग 2182.81 करोड़ रुपये था तथा अनुदानों का मूल्य 703.05 करोड़ रुपये था।

इन पाँच आयोगों की सिफारिशों के अनुसार राज्यों को निम्न महायत्ना मिली है :

(1) बाँटे गये करो का घन पहली योजना में 344.73 करोड़ रुपये था जो चौथी योजना में बढ़ कर 3628.45 करोड़ रुपये हो गया। यह अंक पाँचवें वित्त आयोग के अनुमान के अनुसार है तथा इसमें रेलों के भाड़े के स्थान पर अनुदान शामिल है।

(2) विधान की धारा 275 (1) के अन्तर्गत आय के घाटे को पूरा करने के लिए पहली योजना में राज्यों को 41.48 करोड़ रुपये प्राप्त हुए जो पाँच राज्यों को मिले तथा चौथी योजना में यह धन बढ़कर 637.85 करोड़ रुपये हो गया जो 10 राज्यों को मिलेगा।

(3) बाँटे गये करों तथा अनुदानों का योग पहली योजना में 386.21 करोड़ रुपये से बढ़ कर चौथी योजना में 4266.30 करोड़ रुपये हो गया।

(4) बाँटे गये करो तथा अनुदानों का वार्षिक औसत पहली योजना में 77.24 करोड़ रुपये से बढ़ कर चौथी योजना में 853.26 करोड़ रुपये हो गया।

(5) राज्यों के भाग से पहले केन्द्र की कुल आय पहली योजना में 2577.18 करोड़ रुपये से बढ़ कर चौथी योजना में हो गई।

(6) बाँटे गये कर केन्द्र की कुल आय का पहली योजना में 13.4 प्रतिशत था जो तीसरी योजना में 14.7 प्रतिशत रहे।

(7) बाँटे गये करों तथा अनुदानों का योग पहली योजना में केन्द्र की कुल आय का 15 प्रतिशत तथा जो तीसरी योजना में 19.4 प्रतिशत हो गया।

वित्त आयोगों की सिफारिशों के अनुसार आय कर का राज्यों का भाग

	प्रतिशत			
	दूसरा वित्त आयोग	तीसरा वित्त आयोग	चौथा वित्त आयोग	पाँचवाँ वित्त आयोग
भाज्य कोष में राज्यों के भाग	60.00	66.67	75.00	75.00
राज्य :				
आन्ध्र प्रदेश	8.12	7.71	7.37	8.01
असम	2.44	2.44	2.44	2.67
बिहार	9.44	9.33	9.04	9.99
गुजरात	..	4.78	5.29	5.13
हरियाणा	1.73
जम्मू तथा काश्मीर	1.13	0.70	0.73	0.79
केरल	3.64	3.55	3.59	3.83
मध्य प्रदेश	6.72	6.41	6.47	7.09
महाराष्ट्र	15.97	13.41	14.28	11.34
मैसूर	5.14	5.13	5.14	5.40
उड़ीसा	3.73	3.44	3.40	3.75
पंजाब	4.24@	4.49@	4.36@	2.55
राजस्थान	4.09	3.97	3.97	4.34
तमिलनाडु	5.40	8.13	8.34	8.18
उत्तर प्रदेश	16.36	14.42	14.60	16.01
पश्चिमी बंगाल	10.08	12.09	10.91	9.11
नागालैण्ड	0.07	0.08
	100.00	100.00	100.00	100.00

नोट—दूसरे वित्त आयोग की सिफारिशों 1957-58 से 1961-62 तक, तीसरे की 1962-63 से 1965-66, चौथे की 1966-67 से 1968-69 तथा पाँचवें की 1969-70 से 1973-74 तक हैं। पहले वित्त आयोग की सिफारिशों के अन्तर्गत अक (1952-53 से 1956-57 इम्ति नहीं किये गये हैं क्योंकि राज्यों का पुनर्गठन 1956 में होने के कारण इन अंकों की तुलना सम्भव नहीं हुई।

(2) तीसरे आयोग ने सघीय क्षेत्रों के लिए धन 1 प्रतिशत से बढ़ाकर 2.50 प्रतिशत कर दिया तथा चौथे ने 2.60 प्रतिशत की सिफारिश की।

.....महाराष्ट्र के अन्तर्गत शामिल है।

.....पंजाब के अन्तर्गत शामिल है।

©हरियाणा तथा चण्डीगढ़ का संघीय क्षेत्र शामिल है।

अबंध ओवरड्राफ्ट

रिजर्व बैंक कानून की धारा 21 (A) के अन्तर्गत जम्मू तथा काश्मीर को छोड़कर सभी राज्यों ने समझौते कर लिए हैं जिनके अन्तर्गत बैंक इन राज्यों के मुद्रा सम्बन्धी व्यवहारों की व्यवस्था करता है। कानून के अन्तर्गत रिजर्व बैंक राज्य सरकारों को ऋण की अवधि से तीन महीने के लिए ऋण उधार देता है। यह उधार पन दो प्रकार के होने है।

(1) निर्वाध अथवा शुद्ध उधार (Clean Advances)—इनके लिए किसी जमानत की आवश्यकता नहीं होती। तथा इस धन की सीमा न्यूनतम नकद शेप धन की गुणाक होती है। अर्थात् जितना किसी राज्य सरकार का न्यूनतम नकद शेप (cash balance) रिजर्व बैंक के पास रहना आवश्यक है, इस निर्वाध धन की उधार मात्रा उसकी कई गुनी होती है।

(2) विशेष उधार धन (Special Advances)—इस उधार धन का दूसरा रूप विशेष उधार धन होता है। इसकी जमानत केन्द्रीय सरकार की प्रतिभूतिपाँ रहती है। मार्च 1967 से आगे प्रचलित सीमाओं के अन्तर्गत राज्यों को निर्वाध उधार की सीमा 18.75 करोड़ रुपये तथा विशेष उधार धन की सीमा 37.50 करोड़ रुपये रही है। यह सीमा निर्वाध उधार धन की सीमा की दुगुनी है। इसके अतिरिक्त 10.8 1968 को विशेष निर्वाध उधार धन की अतिरिक्त तथा नवित सीमाएँ 12.70 करोड़ रुपये थी, जो केवल सात राज्यों को ही दी गई थी।¹ कमिशन के अनुसार अबंध ओवरड्राफ्टों के निर्माण के दो कारण हैं।

(i) राज्यों तथा रिजर्व बैंक में ओ सीमा तय होनी है, उधार धन की मात्रा उस सीमा को पार कर सकती है।

(ii) तथा अथवा इन ओवरड्राफ्टों का भुगतान तीन महीनों के अन्तर्गत नहीं हो पाता।

वित्तीय आयोग के विचार विनिमय के अन्तर्गत कुछ राज्यों ने इन अबंध ओवरड्राफ्टों के निम्न कारण बताये।

(a) विधान के अन्तर्गत इनके दायित्वों के लिए पर्याप्त धन उपलब्ध नहीं होता। इनकी आवश्यकता अधिक है, जिसमें स्थायी असुविधा हो जाता है।

(b) केन्द्रीय सरकार एक तरफा निर्णय ले लेती है जिससे राज्यों को उनके करो का भाग नहीं मिल पाता। उदाहरण के लिए कम्पनियों के कर की आय भाज्य कोष से अलग कर दी गयी।

(c) योजना व्यय की पूर्ति के लिए राज्यों की वित्तीय आवश्यकताएँ बढ़ती रही है, तथा

1. For details see Table 1 Reserve Bank Bulletin, December 1968 p. 1534.

(d) केन्द्रीय ऋणों का भार भी बराबर बढ़ता रहता है।

दीर्घ कालीन ओवरड्राफ्टों के ये उपर्युक्त मुख्य कारण हैं। इनके अतिरिक्त राज्यों की वित्तीय स्थिति में अस्थाई असंतुलन के भी कई कारण हैं। उदाहरण के लिए व्यय तथा आय का समान न होना, केन्द्र से राज्यों को मिलने वाले धन की प्राप्ति में देर हो जाना।

कमीशन ने इस बात पर बल दिया कि रिजर्व बैंक द्वारा अस्थाई सहायता का उद्देश्य केवल राज्य सरकारों की अस्थायी वित्तीय कठिनाइयों को दूर करना है। इसका उद्देश्य राज्यों के बजटों की आवश्यकताओं के लिए धन उधार देना नहीं है। उदाहरण के लिए यदि किसी राज्य को ऐसी प्राकृतिक अथवा दैविक विपत्ति का सामना करना होता है जिसका पूर्वानुमान नहीं किया जा सकता जिसके कारण उस राज्य की वित्तीय स्थिति में अस्थाई असंतुलन होता है, इस असंतुलन की पूर्ति किसी अन्य व्यय में कटौती द्वारा अथवा तथा अतिरिक्त साधनों की प्राप्ति द्वारा होनी चाहिए। इन प्रयासों के पश्चात् भी यदि किसी राज्य सरकार के साधन व्यय के बराबर न हो पायें, ऐसी स्थिति में केन्द्रीय सरकार को इस राज्य के लिए उपयुक्त अल्पकालीन आर्थिक सहायता देनी चाहिए।

कमीशन के अनुसार अवैध ओवरड्राफ्टों से बचने के लिए राज्य सरकारों को अपने बजटों में संतुलन रखना चाहिए, तथा अपने उपलब्ध साधनों के अनुरूप उन्हें योजना के अन्तर्गत तथा योजना के बाहर व्यय पर नियन्त्रण रखना चाहिए। राज्य सरकारों को अपने साधनों तथा व्यय का वास्तविकता से अनुमान लगाना चाहिए। राज्य सरकारों को अपनी अस्थाई स्थिति पर बराबर देख-रेख रखनी चाहिए, जिसके लिए उन्हें वित्तीय विभागों में प्रभावी 'वेज एण्ड मीन्स' खण्ड की स्थापना करनी चाहिए। कुछ राज्यों में इस प्रकार के खण्ड प्रचलित भी हैं। यह खण्ड आय तथा व्यय की प्रवृत्तियों का अनुमान कर सकता है जिसके आधार पर सम्भावित प्राप्तियों के अनुसार निश्चित सोमाओं के अन्तर्गत सकल व्यय का नियन्त्रण किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त कमीशन ने अवैध ओवरड्राफ्टों से बचने के निम्न उपायों का सुझाव दिया है।

(1) जिन राज्य सरकारों के पास अपर्याप्त केन्द्रीय सरकार की प्रतिभूतियाँ हैं वे रिजर्व बैंक से अधिक शुद्ध अग्रिम धन प्राप्त करें।

(2) केन्द्रीय सरकार अन्तिम दो चतुर्थांशों (Two quarters) में राज्यों के आय कर का भाग शीघ्र देने पर विचार करे।

(3) राज्य सरकारों को अपने अन्तिम लेखों में शीघ्र समझन करने की व्यवस्था करनी चाहिए।

(4) योजना आयोग की नवीन प्रवृत्तियों के आधार पर राज्यों की योजनाओं के आकार में वार्षिक पुनरीक्षण (annual review) के समय समझन अथवा फेर बदल, करना चाहिए।

(5) राज्य सरकारें योजना के बाहर पूँजीगत व्यय को घटाकर तथा ऋणों की विश्वासों को प्राप्त कर अपने पूँजीगत बजट में संतुलन नहीं ला सके, ऐसी स्थिति में केन्द्रीय सरकार को ऋण परिणोप (loan repayment) को स्वयं करने पर विचार करना चाहिए।

कमीशन ने एक यह भी सुझाव दिया कि राज्यों में लोक निर्माण विभाग तथा सिंचाई, विभाग जैसे व्यय सम्बन्धी बड़े विभागों के लिए वर्तमान प्रणाली के स्थान पर, जिसमें बैंक लिखे जाते हैं, मास्टर प्लान (लैंडर आफ क्रेडिट) के रूप में एक नई प्रणाली का निर्माण होना चाहिए। इसके अन्तर्गत व्यय करने वाले कर्मचारी के द्वारा व्यय पर एक वित्तीय मीमा तय हो जायेगी। इससे व्यय नियन्त्रण में सफलता हो सकेगी, तथा ओवरड्राफ्टों की आवश्यकता नहीं होगी। कुछ राज्यों ने इन प्रणाली को चलाया है तथा इस सम्बन्ध में उनका अनुभव प्रभावी सिद्ध हुआ है।

अवैध ओवरड्राफ्टों को हटाने की प्रक्रिया

कमीशन के अनुसार उनकी सिफारिशों को व्यवहार में लाने से अवैध ओवरड्राफ्टों के निर्गमन को रोका जा सकता है। यदि फिर भी ऐसे ओवरड्राफ्ट की सहायता लेनी होती है तो इसका कारण राजकीय अनुशासन की कमी होगा। ऐसी स्थिति में कमीशन ने सुझाव दिया है कि रिजर्व बैंक को ऐसी राज्य सरकार को एक नोटिस देना चाहिए। राज्य सरकार को इस ओवरड्राफ्ट की समाप्ति के लिए कदम उठाने चाहिए। यदि राज्य सरकार ऐसा न कर पाये तब रिजर्व बैंक को ऐसी राज्य सरकार के बैंकों का भुगतान बन्द कर देना चाहिए।

कमीशन ने यह भी सुझाव दिया कि इस नोटिस की सूचना रिजर्व बैंक को केन्द्रीय सरकार को ही देनी चाहिए, जिससे केन्द्रीय सरकार इससे सम्बन्धित राज्य सरकार के साथ विचार विनिमय करे। यदि राज्य सरकार की स्थिति ओवरड्राफ्ट की समाप्ति करने की नहीं है, तब केन्द्रीय सरकार को चाहिए कि उस राज्य सरकार को उन वर्ष में योजना के लिए निश्चित सहायता के लिए धन का एक भाग सुरक्षित दे जो ओवरड्राफ्ट की समाप्ति कर देने के लिए आवश्यक हो, किन्तु यदि ऐसे ओवरड्राफ्ट का धन राज्य की उस वर्ष के लिए योजनागत सहायता के धन से अधिक हो तब केन्द्रीय सरकार को उन राज्य सरकार को (ad hoc) तथाकथित ऋण देना चाहिए। इस प्रकार दिया हुआ धन साधनों के भावी हस्तांतरण में समायोजित हो जाना चाहिए। केन्द्रीय सरकार को कर्मचारियों का एक ऐसा दल जिसमें योजना आयोग द्वारा नामांकित व्यक्ति हो, राज्य के साधनों तथा उसके व्यय में असंतुलन के निरीक्षण के लिए भेजना चाहिए। केन्द्रीय सरकार अपने वित्त विभाग के मन्त्रालय के किसी कर्मचारी को राज्य सरकार के वित्तीय विभाग में उसके व्यय पर नियन्त्रण करने के लिए सलाहकार की हैमियत से भेज सकती है। फिर भी यदि कोई राज्य सरकार बराबर ओवरड्राफ्ट लेती रहती है, ऐसी स्थिति में केन्द्रीय सरकार को इस बात पर विचार करना होगा कि रिजर्व बैंक इस सरकार के बैंकों के भुगतान करने

को उपयुक्त समझे, अथवा रिजर्व बैंक को इसके लिए कुछ अन्य वैधानिक अधिकार दिये जायें।

निम्न तालिका में 1-3-1967 से विभिन्न राज्यों के लिए 'विज़ एण्ड मीन्स' के अग्रिम धन की सीमाएँ दी गयी हैं।²

(लाख रुपयों में)

राज्य	न्यूनतम शेष	सामान्य बेज एण्ड मीन्स अग्रिम धन की सीमाएँ	कोष्टक 3 के दुगने अग्रिम धन की विशेष सीमाएँ	10-8-1968 को विशेष अग्रिम धन की अतिरिक्त तथा कथित सीमाएँ
बान्ध्र प्रदेश	50	150	300	200
असम	20	60	120	140
बिहार	35	105	210	140
गुजरात	35	105	210	...
हरियाणा	15	45	90	..
केरल	30	90	180	195
मध्य प्रदेश	40	120	240	40
महाराष्ट्र	75	225	450	...
मद्रास	55	165	330	...
मैसूर	40	120	240	65
नागालैण्ड	5	15	30	...
उड़ीसा	30	90	180	...
पंजाब	30	90	180	...
राजस्थान	30	90	180	...
उत्तर प्रदेश	85	255	510	490
पश्चिमी बंगाल	50	150	300	...
योग	625	1875	3750	1270

तोमदां अध्याय
भारत का सार्वजनिक ऋण
 (INDIAN PUBLIC DEBT)

ऐतिहासिक गृहभूमि— भारत में सार्वजनिक ऋण का उद्गम ईस्ट इण्डिया कम्पनी के काल में हुआ। जब कम्पनी की आय उसकी धन की मांग से कम होती थी तब कम्पनी ऋण उधार लेने की व्यवस्था करती थी। 1792 में कम्पनी का ऋण 70 लाख पौण्ड था, किन्तु 1857 के लगभग वह 6 करोड़ पौण्ड तक बढ़ गया। भारत के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम (बिद्रोह) को दबाने के व्यय के कारण 1860 में इसकी मात्रा 10 करोड़ पौण्ड तक पहुँच गई। 1858 में भारत की शासन व्यवस्था कम्पनी के स्थान पर ब्राउन के पास पहुँच गई। इसलिये कम्पनी की देनदारी का दायित्व भी ब्राउन के पास आ गया।

1860 के पश्चात् भारत के उत्पादक ऋण में रेलों तथा सिंचाई की योजनाओं के निर्माण के कारण वृद्धि होती रही। 1914 में भारत का कुल सार्वजनिक ऋण 510 करोड़ रुपये था, किन्तु 1930 में इसकी मात्रा बढ़कर 1,136 करोड़ रुपये हो गई तथा 1934 में 1,212.38 करोड़ हो गई। निम्न तालिका में 1929 तथा 1934 के बीच भारत के ऋण की मात्रा दी गई है :¹

	31 मार्च 1929	31 मार्च 1930	31 मार्च 1931	31 मार्च 1932	31 मार्च 1933	31 मार्च 1934
देशी ऋण	602.71	648.28	651.78	707.18	706.18	100.78
इंग्लैण्ड में निग्रा गया ऋण	471.75	488.20	518.12	506.45	505.36	511.60
1 सि० 6 पै० प्रति रुपये की दर से						
योग	1074.46	1136.50	1168.90	1213.63	1211.84	1212.38

¹ The Indian Year Book, 1931-35, pp 871-872,

ऋण की वृद्धि रेलों तथा सिंचाई की योजनाओं पर व्यय के कारण हुई। 1907 में मँके कमेटी ने रेलों के निर्माण पर प्रति वर्ष 125 करोड़ पौण्ड के व्यय की सिफारिश की जब कि उससे पूर्व भारत सरकार ने किसी वर्ष 30 करोड़ पौण्ड से अधिक व्यय नहीं किया था। इसका यह फल हुआ कि 1907 तथा 1910 में 935 करोड़ पौण्ड बाह्य लन्दन की मण्डी में ऊँची व्याज दरों पर लिया गया। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् ऊँची व्याज दरों पर लन्दन की मुद्रा मण्डी में ऋण उधार लिए गये। 1921-22 में 7 प्रतिशत व्याज दर पर 75 लाख पौण्ड का ऋण सम मूल्य पर लिया गया, जब कि उसी वर्ष भारत में 40 करोड़ रुपये का ऋण 6 प्रतिशत व्याज पर लिया गया था।

शासन के स्टर्लिंग में देय दायित्वों की वृद्धि रेलों की वार्षिक किश्तों के कारण हुई। भारत सरकार ने कम्पनी की रेलों को खरीदने में वर्षों तक ऋण लिया। एकवर्थ कमेटी (1921) की सिफारिशों के अनुसार 1924-25 में भारत सरकार ने ईस्ट इण्डियन तथा जी० आई० पी० कम्पनियों की रेलों का प्रबन्ध अपने हाथ में लिया। तब से हिमाचल पुस्तकों में स्टर्लिंग ऋण की वृद्धि होने लगी, क्योंकि इस सम्पत्ति के मूल्य के बदले में हिस्सेदारों को पौण्डों में वार्षिक दी जाने लगी। इसके अनिश्चित युद्ध काल में भारत सरकार ने ब्रिटेन को 10 करोड़ पौण्ड युद्ध संचालन कार्य के लिए भेट के रूप में दिये। प्रेसीडेन्सी नगरी तथा पोर्ट ट्रस्टों के कारपोरेशनों के ऋणों के कारण भी भारत के स्टर्लिंग ऋण की वृद्धि हुई। 1929 में इन ऋणों का मूल्य 1 30 लाख पौण्ड था।

स्टर्लिंग ऋणों में गृह व्यय (होम चार्ज) के कारण भी वृद्धि हुई। प्रतिवर्ष भारत सरकार ब्रिटेन में भारत मन्त्री को उसके कार्यालय के व्यय के लिए धन देती थी। यह धन स्टर्लिंग में दिया जाता था। इन दायित्वों का भारत सरकार के बजट तथा वित्त पर भारी प्रभाव पड़ता था। ऋणों पर व्याज भी देना होता था। 1932-33 में इन मदों पर 44 करोड़ रुपये व्यय किए गये थे, जो भारत सरकार की आय का 33 प्रतिशत भाग था। यह व्यय केवल भारत सरकार के ऋण के कारण ही नहीं था, बल्कि इसमें भारत में लगे विदेशी पूँजी पर व्याज तथा लाभांश भी शामिल था। इसमें पेन्शन सम्बन्धी देनदारी भी शामिल थी।

इन दायित्वों के देना की आर्थिक स्थिति पर कई प्रभाव पड़े। (1) इनसे स्टर्लिंग ऋण की वृद्धि हुई। (2) बजट तथा भारतीय वित्त पर प्रभाव पड़ा। (3) इनसे विदेशी विनिमय पर भी प्रभाव पड़ा, क्योंकि स्टर्लिंग की माँग बढ़ने से उसका रुपये में मूल्य बढ़ता था, जिसका परिणाम यह होता था कि रुपये की दर की वृद्धि होती थी। (4) इनका एक यह भी प्रभाव था कि भारत सरकार की विदेशी विनिमय अथवा स्टर्लिंग में भुगतान करने की माँग की वृद्धि होती थी। इससे भुगतान सतुलन स्थिति पर दबाव पड़ता था। जब किसी वर्ष निर्यात की तुलना में आयात अधिक होती थी, भुगतान सतुलन की स्थिति कठिन हो जाती थी।

युद्ध से पहले ऋण भुगतान के तरीके

1939-45 के विषय युद्ध से पहले विदेशी ऋणियों के भुगतान के निम्न तरीके थे। प्रथम, रेलों की आय के धन से शोधन निधि का निर्माण हुआ जिससे रेलों की वार्षिकियों का भुगतान होने लगा। दूसरे 10 लाख पौण्ड के वार्षिक अकाल अनुदान के धन का भाग ऋण के देने में उपयोग में लाया गया। तीसरे, ऋण के अनुत्पादक भाग को घटाने के लिए बजट की वचत के धन (surpluses) का उपयोग किया गया, किन्तु इन विधियों का सुव्यवस्थित रूप में उपयोग नहीं किया गया। अतः ऋण के भुगतान की कोई नियोजित नीति नहीं थी।

सर बेसिल ब्लेकेट की योजना—1924 में भारत के सार्वजनिक ऋण के भुगतान की सर बेसिल ब्लेकेट ने एक साधारण ऋण शोधन योजना बनायी जिसके अनुसार एक निश्चित अवधि में स्टॉकिंग ऋण के भुगतान के लिए 2.98 करोड़ रुपये की धन राशि का अनुमान किया गया। प्रारम्भ में इस योजना का उपयोग 1925-26 से 1929-30 के काल में किया गया। इससे मुद्रा मण्डी में धन की उपलब्धि बढ़ गयी तथा ऋण रूपान्तरण की शर्तें सरकार के लिए अधिक उपयुक्त हो गयी। 1922-23 के पश्चात् विनिमय दर की वृद्धि से ऋण भार में कमी हुई।

इस योजना में विस्तीय दोष थे। प्रथम, इंग्लैण्ड में स्टॉकिंग प्रतिभूतियों की कीमतों के गिरने पर उन्हें खरीदने के लिए शोधन निधि नहीं थी। दूसरे, शोधन निधि संचयी (cumulative) नहीं थी तथा इसमें यौगिक व्याज पर निवेश तथा पुनर्निवेश के लिए व्यवस्था नहीं थी।

1939 के पश्चात् सार्वजनिक ऋण की स्थिति

1938-39 में भारत के व्याज पर देय ऋणों का मूल्य 1250.76 करोड़ रुपये था। 1945-46 में इन का मूल्य 2,245.10 करोड़ रुपये की सीमा तक पहुँच गया। इस काल में देशी ऋण जिसका भुगतान रुपये में होता था 437.87 करोड़ रुपयों से बढ़कर 1,492.22 करोड़ रुपये हो गया, किन्तु इसी बीच स्टॉकिंग ऋण 469.12 करोड़ से घटकर 63.38 करोड़ रुपये रह गया।

1968-69 के बजट में रुपयों में ऋण का मूल्य 6,928.71 करोड़ था। कुल विदेशी ऋण 13,754.02 करोड़ था, जिसमें स्टॉकिंग ऋण 633.38 करोड़ रु०, डालर ऋण 1,638.48 करोड़ रु० तथा सोवियत ऋण 369.00 करोड़ रु० था।

निम्न तालिका में भारतीय ऋण सम्बन्धी अंक 1950-51 तथा गत चार वर्षों के अंक दिये गये हैं।²

2 Figures have been taken from Statement 12. R. B. J. Bulletin. May 1970. p 735

वित्तीय वर्ष मार्च 31 के अन्त में मंक्षेप में भारत सरकार की

ऋण स्थिति

(अंक करोड़ रुपये में)

	1950-51 (वास्तविक अंक)	1966-67 (वास्तविक अंक)	1968-69 (संगोषित अंक)	1669-70 (संगोषित अंक)	1970-71 (बजट अनुमान)
(क) देशी ऋण	2,022	6,214	6,800	7,234	7,761
(ख) विदेशी ऋण	32	4,623	5,927	6,141	6,659
(ग) सकल ऋण (क+ख)	2,054	10,837	12,727	13,375	14,420
(घ) अन्य देनदारी	811	3,518	4,122	4,470	4,735
(ङ) सकल ऋण (ग+घ)	2,855	14,355	16,849	17,845	19,155
(च) राष्ट्रीय आय (चानु कीमतों पर)	9,530	23,647	27,922		
(क) (च) का प्रतिशत	21.2	26.3			
(ख) (च) का प्रतिशत	0.3	12.6			
(ङ) (च) का प्रतिशत	30.1	55.0			

द्वितीय विश्व युद्ध का प्रभाव

विश्व युद्ध के पश्चात् देशी ऋण में वृद्धि हुई, किन्तु स्टर्लिंग ऋण लगभग समाप्त हो गया। देशी ऋण की वृद्धि के निम्न कारण थे।

- (१) युद्ध काल में बहुत ऋण लिए गये;
- (२) अतिरिक्त लाभ कर तथा आय कर का अग्रिम भुगतान;
- (३) रेल आदि वाणिज्यिक विभागों के कोष तथा मूल्य ह्रास कोषों में वृद्धि।

अगस्त 1939 में पत्र मुद्रा का प्रचलन 179 करोड़ रुपये था जो मार्च 1946 के अंत में 1,218.77 करोड़ रुपये तक बढ़ गया। इस काल में पत्र मुद्रा के प्रचलन की वृद्धि 678 प्रतिशत हुई। प्रचलन में पत्र मुद्रा तथा सकल बैंकों के जमा धन योग सहित देश में सकल मुद्रा प्रदाय की वृद्धि 1939 में 346 करोड़ रुपये से मार्च 1945 के अन्त में 2,050 करोड़ रुपये हो गयी। युद्ध के लिए वित्त प्राप्त करने के इस साधन के कारण मुद्रा स्फीति बढ़ी। बम्बई में जीवन निर्वाह सूचक अंक (cost of living index) (अगस्त 1939=100 अगस्त) 1945 में बढ़कर 243 पहुँच गया। 1944-45 में थोक मूल्य सूचक (wholesale price index) (अगस्त 19, 1939=100) का औसत 244.2 रहा। ये मूल्य सूचक नियन्त्रित कीमतों की वृद्धि के आधार बने थे। इस बात की दृष्टि में रख कर यह कहा जा सकता है कि कीमतों की वृद्धि इन सूचक अंकों से कहीं अधिक थी। इस से देश में जनता को बहुत आर्थिक कष्ट सहने पड़े।

युद्ध के लिए वित्त प्राप्त करने के इस साधन से रिजर्व बैंक आफ इण्डिया के पास स्टर्लिंग सम्पत्ति जमा हो गई। 1939 में इंग्लैंड तथा भारत सरकार में

प्रतिरक्षा व्यय के निर्धारित करने के लिए एक वित्तीय समझौता हुआ, जिसके अन्तर्गत भारत को निम्न व्यय बरदाश्त करने थे :

(1) सेना का दान्ति कालिक सामान्य व्यय जो 36.77 करोड़ रुपये था, (2) कीमती की वृद्धि के कारण बढ़ा हुआ व्यय, (3) युद्ध के ऐसे उपायों का व्यय जिनको केवल भारतीय देनदारी कहा जा सकता था, तथा (4) भारतीय सेनाओं को समुद्र पार रखने का अतिरिक्त व्यय ।

इस प्रकार भारत को मित्र राष्ट्रों की रूपों में आवश्यकताओं तथा 1939 के वित्तीय समझौते के अन्तर्गत वसूली योग्य प्रतिरक्षा के लिए वित्त की व्यवस्था करनी होती थी । वसूली योग्य प्रतिरक्षा व्यय का मूल्य मार्च 1946 के अन्त में लगभग 1746 करोड़ रुपये हो गया था । इन वर्षों में निजी क्षेत्रीय व्यापार संतुलन भारत के ही पक्ष में रहा, अर्थात् निर्यात का मूल्य आयात के मूल्य से कम रहा । मित्र राष्ट्रों की ओर से रुपये का प्रबन्ध सोने, चाँदी तथा ऋणों तथा पत्र मुद्रा प्रकाशन द्वारा किया गया । भारत में खरीदी गई सामग्री के भुगतान में अंग्रेज सरकार ने भारत सरकार को स्टैलिंग प्रतिभूतियाँ दी । ये प्रतिभूतियाँ रिजर्व बैंक में जमा हो गईं, जिनके आधार पर रिजर्व बैंक उनके मूल्य के बराबर पत्र मुद्रा छापता रहा । युद्ध के प्रारम्भिक वर्षों में पत्र मुद्रा के प्रचलन में वृद्धि होने से उत्पादन को प्रोत्साहन मिला । भारत के अल्प साधनों के उपयोग में आने के पश्चात् पत्र मुद्रा प्रचलन की वृद्धि के कारण कीमतें बढ़ने लगी । वस्तुओं की माँग बढ़ी, किन्तु उनकी आपूर्ति नहीं बढ़ सकी क्योंकि मशीनों, तकनीकी जानकारी तथा कच्चे माल की कमी थी ।

रिजर्व बैंक आफ इण्डिया कानून के अन्तर्गत स्टैलिंग प्रतिभूतियों का उद्देश्य भारत में पत्र मुद्रा प्रचलन के लिए कोष प्रदान करना था । मुद्रा का प्रसार भारतीय अर्थ-व्यवस्था की माँग की स्थिति के अनुसार होना चाहिए था, किन्तु युद्ध काल में भारत में पत्र मुद्रा का प्रसार भारतीय अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकता के अनुकूल न हो कर मित्र राष्ट्रों की आवश्यकताओं के अनुरूप हुआ । इसलिए रिजर्व बैंक की स्टैलिंग सम्पत्ति में बहुत वृद्धि हुई, किन्तु इनके बदले में आवश्यक सामग्री तथा वस्तुओं की आयात नहीं हो सकी । इसलिए इनसे हमारी मुद्रा की स्थिति सुदृढ़ होने के स्थान पर दुर्बल हो गई, क्योंकि इनसे मुद्रा स्फीति बढ़ी ।

साधारणतया, जेता वस्तुओं के मूल्य का भुगतान विजैता की मुद्रा में करते हैं । यही प्रथा अन्तरराष्ट्रीय व्यवहारों में चलती है, किन्तु भारत के साथ स्थिति विपरीत रही । ब्रिटेन की सरकार ने भारत में खरीदे गये सामान का मूल्य स्टैलिंग प्रतिभूतियों में दिया, क्योंकि यह साधन उसके लिए लाभदायक सिद्ध हुआ । ब्रिटेन में सामरिक व्यय के इस प्रकार जुटाने से मुद्रा स्फीति नहीं हुई तथा वहाँ वस्तुओं की कमी भी नहीं हुई । भारत इन प्रतिभूतियों का उपयोग अन्य देशों से अपनी आवश्यकता का माल खरीद कर नहीं कर सका । इन प्रतिभूतियों के संचयन का फल

यह हुआ कि भारत में जनता को जबरन बचत करनी पड़ी तथा उसे इंग्लैण्ड की सरकार को इस बचत को उधार देने को बाध्य होना पड़ा ।

रिजर्व बैंक आफ इण्डिया को युद्ध के लिए इस प्रकार वित्त प्राप्त करने के दोषों की ओर भारत सरकार का स्पष्ट रूप में ध्यानाकर्षण करना चाहिए था, किन्तु ऐसा नहीं किया गया । निसन्देह, भारत सरकार बैंक के इस विरोध पर ध्यान नहीं देती, किन्तु बैंक तो अपने दायित्व तथा कर्तव्य पालन से मुक्त हो जाता । बैंक के सचानको ने हिस्सेदारों की आठवीं वार्षिक बैठक में प्रस्तुत की गई रिपोर्ट में केवल निम्न उल्लेख किया “मुद्रा प्रसार के फलस्वरूप मुद्रा स्कीम की वृद्धि के लिए उपाय में उन कारणों पर विचार होना चाहिए, जिनसे मुद्रा की बढ़ती हुई माँग उत्पन्न होती है, किन्तु वर्तमान परिस्थितियों में ये रिजर्व बैंक द्वारा कार्य के अधीन नहीं है।”³ रिजर्व बैंक को इस प्रकार वित्त प्राप्ति के साधनों के दोषों की ओर सरकार का स्पष्ट ध्यानाकर्षण करना चाहिए था जो नहीं किया गया ।

स्टर्लिंग ऋण की समाप्ति

युद्ध का दूसरा प्रभाव यह था कि स्टर्लिंग ऋण समाप्त हो गया । 1938-39 में स्टर्लिंग ऋण का मूल्य 469.12 करोड़ रुपए था, जो घटकर 1941-42 में 210.70 करोड़ रुपये रह गया । 1942-43 में यह घटकर 90.26 करोड़ तथा 1943-44 में 71.15 करोड़ रुपये रह गया । स्टर्लिंग ऋण को लौटने की योजना 1943-44 में पूरी हो गई थी ।

स्टर्लिंग ऋण लौटाने की योजना 1937 में बनी थी जब खुले बाजार में रिजर्व बैंक को वित्त अवधि के स्टर्लिंग ऋण को क्रय करने का अधिकार दिया था तथा प्रतिभूतियों के विलोपन (cancellation) के लिए सरकार के पास भेज दी गई थी । 1937-38 में 20 लाख 99 हजार पाँण्ड के मूल्य के स्टर्लिंग ऋण का भुगतान हो गया था । 90 लाख 50 हजार पाँण्ड के मूल्य का पेन्शन कोष भी इंग्लैण्ड भेज दिया गया था । कुछ समय के लिए योजना स्थगित कर दी गई थी, किन्तु 1939-40 में युद्ध काल में पुनः प्रारम्भ हो गई थी जब 1 करोड़ 70 लाख पाँण्ड के मूल्य के स्टर्लिंग ऋण खुले बाजार में खरीद कर लौटाये गये थे । इनके लिए 22.79 करोड़ रुपये के मूल्य के प्रतिरूपों (counterparts) का निर्माण किया गया था ।

खुले बाजार में स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के बहुत मात्रा में खरीदने से उनकी कीमतें बढ़ जाती । इसलिए 8 फरवरी 1939 में एक योजना घोषित की गई जिसके अन्तर्गत यू० के० सरकार ने वहाँ के निवासियों को भारत में मियादी ऋण (termable loans) को बाजार में प्रचलित कीमतों तथा उस काल के लिए, जिसमें तत्सम्बन्धी दस्तावेजों की जाँच होनी थी, भत्ता जोड़कर सौपने की आज्ञा निकाली ।

इन कीमतों पर प्रतिभूतियों का भुगतान होना था। शर्त यह थी कि इनकी सुपुर्गो उपयुक्त (good delivery) होना चाहिए। साथ-साथ भारत सरकार ने भी भारत रक्षा नियमों के अन्तर्गत आशा निकाली जिसके अनुसार ब्रिटिश भारत के निवासियों की स्टर्लिंग प्रतिभूतियों को नकद रूपों अथवा प्रतिभूतियों के बदले में सौंपने को कहा गया। इस प्रकार 1940-41 के अन्त तक 7 करोड़ 10 लाख पौण्ड के मूल्य के स्टर्लिंग ऋणों (repatriated) को लौटाया गया। इनके लिए रिजर्व बैंक को ट्रेजरी बिल बेचकर तथा बैंक से धन उधार लेकर रुपये प्राप्त किये गये। रिजर्व बैंक कागून में सशोधन किया गया तथा भारत सरकार की प्रतिभूतियों की अधिकतम सीमा हटा दी गई जिससे पत्र मुद्रा का 60 प्रतिशत भाग इन प्रतिभूतियों में रह सके। इन प्रतिभूतियों की पहली सीमा थी 25 प्रतिशत अथवा 50 करोड़ रुपये इन दोनों में जो भी अधिक हो। 1940-41 में 94.86 करोड़ रुपये के मूल्य के रुपये प्रतिरूपों का निर्माण किया गया। बाद में ये या तो स्थायी ऋणों में परिवर्तित किये गये अथवा नकद कोष में भुगतान होने पर समाप्त हो गये।

दूसरी अनिवार्य योजना की घोषणा 24 दिसम्बर, 1941 को की गई। इसमें 3 प्रतिशत तथा 2½ प्रतिशत व्याज के बिना अवधि के स्टर्लिंग ऋण शामिल थे। इस योजना में 7 करोड़ 10 लाख मूल्य के स्टर्लिंग ऋण आये। रिजर्व बैंक को तथा कथित ट्रेजरी बिल बेचकर इनके लिए रुपया प्राप्त किया गया। सितम्बर 1942 में भारत सरकार तथा ब्रिटिश सरकार ने एक करार हुआ जिसमें लगभग 3 करोड़ पौण्ड के मूल्य की रेलों की वापिस तथा 2 करोड़ पौण्ड मूल्य के डिबेन्चर लौटाने की व्यवस्था थी।

लौटाने की योजना की यह आलोचना की गयी कि ऋण धारियों (creditors) को अच्छी कीमतें दी गयीं। इस योजना का उद्देश्य ब्रिटिश सरकार के युद्ध के प्रयास को सहायता देने का था तथा इंग्लैण्ड के निवासियों में निवेश के लिए विश्वास पैदा करना था। कुछ सीमा तक इस नीति में मुद्रा स्फीति बढ़ी, क्योंकि रिजर्व बैंक ने भारत सरकार की प्रतिभूतियाँ खरीद कर रुपये दिये।

स्टर्लिंग ऋण की समाप्ति 1939 से 1944-45 के बीच में हुई जब कि लगभग 32 करोड़ पौण्ड के मूल्य की स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ समाप्त हो गयीं। इनका ऋण मूल्य लगभग 425 करोड़ रुपये था। इनके बदले में 272 करोड़ रुपये के मूल्य की भारत सरकार की प्रतिभूतियों का निर्माण हुआ। शेष मूल्य के स्टर्लिंग ऋण पत्र लौटाये गये।

ऋण लौटाने की योजना की आलोचना

युद्ध के अन्तिम चरणों में स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के संचयन (accumulation) का शायद भारत सरकार अनुमान नहीं कर सकती थी। 1939 तथा 1941 के बीच खुले बाजार की बच कीमतें ये थी जो न्यूनतम स्तर पर लन्दन की मण्डी में नियत की गयी थी। इन्हीं कीमतों पर स्टर्लिंग ऋण खरीदे गये। हमारे स्टर्लिंग

ऋण पर औसत व्याज दर 3.36 प्रतिशत थी, किन्तु जो स्टलिंग शेप इनके बदले में दिये गये उन पर भारत सरकार को केवल 2 प्रतिशत ही व्याज मिलता था। 1948-49 में भारत सरकार ने ब्रिटिश सरकार को स्टलिंग में पेन्शनों के भुगतान के लिए वार्षिकियाँ (annuities) खरीदने के लिए 215.68 करोड़ रुपये दिये।

स्टलिंग ऋण लौटाने के प्रभाव

लौटाने का अर्थ था स्टलिंग ऋण को रुपये के ऋणों में परिवर्तित करना। इससे स्टलिंग ऋण समाप्त हुए। इनके स्थान पर ऐसी प्रतिभूतियों का निर्माण हुआ जो भारत सरकार की थी। इससे देशी ऋण की वृद्धि हुई। हमारे धन का अपक्षय (drain) अथवा निष्काशन समाप्त हो गया। इससे पूर्व विदेशी ऋणों पर व्याज देना होता था जिसके फलस्वरूप हमारे विदेशी विनिमय धन का अपक्षय होता था। अब हमारे रुपये का सम मूल्य वैज्ञानिक आधार पर हो सकता था। अब यह भय नहीं रहा कि विदेशी ऋण पर व्याज के भुगतान के कारण भारत सरकार का व्यय बढ़ेगा तथा इसका प्रभाव विनिमय दर पर पड़ेगा। दूसरे, स्टलिंग ऋण की समाप्ति से भारत की साख में वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त रुपये के ऋण की आय पर भारत को कर आय हुई। इस योजना का यह भी प्रभाव हुआ कि मुद्रा स्फीति बढी, क्योंकि रुपी प्रतिरूपों के फलस्वरूप चलन में मुद्रा की मात्रा की वृद्धि हुई। 1945-46 में 273 37 करोड़ रुपये के मूल्य के प्रतिरूपों का निर्माण हुआ, जिनमें 200 करोड़ रुपये की प्रतिभूतियाँ जनता ने खरीदी।

योजना काल में भारत सरकार का ऋण

1950-51 में भारत सरकार के सकल ऋण का मूल्य 2,054 करोड़ रुपये था, जिसमें 2,022 करोड़ ₹० के मूल्य का देशी ऋण तथा 32 करोड़ ₹० के मूल्य का विदेशी ऋण था। यह ऋण राष्ट्रीय आय का 21.2 प्रतिशत था, विदेशी ऋण राष्ट्रीय आय का 0.3 प्रतिशत था। सकल ऋण राष्ट्रीय आय का 30.1 प्रतिशत था। 1967-68 में देशी तथा विदेशी ऋण का मूल्य बढ़कर 11,956 करोड़ ₹० हो गया, जिसमें देशी ऋण 6,555 करोड़ ₹० तथा विदेशी ऋण 5,401 करोड़ रुपये था। देशी ऋण राष्ट्रीय आय का 23.5 प्रतिशत था तथा विदेशी ऋण 19.3 प्रतिशत था। सकल ऋण राष्ट्रीय आय का 56.8 प्रतिशत था।

1950-51 में विदेशी ऋण सकल असाइन (बॉन्ड) सार्वजनिक ऋण के केवल 1 प्रतिशत से कुछ ही अधिक था जो बढ़कर 1960-61 में 16.1 प्रतिशत तक आ गया। 1970-71 के अन्त तक यह 46.2 प्रतिशत तक हो आयेगा। मार्च 1971 तक देशी ऋण की मात्रा 7,761 करोड़ ₹० तक पहुँच गयी। सकल देशी ऋण में चालू रुपये में ऋण की मात्रा 4,259 करोड़ रुपये है तथा ट्रेजरी बिलों का मूल्य 2,748 करोड़ रुपये है। इन दोनों का योग 7,007 करोड़ रुपये है जो सकल ऋण का 90.3 प्रतिशत है।

भारत सरकार की देशी तथा विदेशी ऋण की मात्रा नीचे दी गयी है -⁴

वर्षों में मार्च के अन्त में	देश में चालू रुपया ऋण करोड़ रुपयों में	विदेशी ऋण
1951	1,438	32
1956	1,509	114
1961	2,571	761
1966	3,429	2,591
1967	3,553	4,624
1968 (संशोधित बजट)	3,731	5,401
1969 (संशोधित बजट)	3,879	5,927
1970 (संशोधित बजट)	4,097	6,141
1971 (अनुमानित बजट)	4,259	6,659

विदेशी ऋण में पी० एल० 480 ऋण भी शामिल है। 1967 से लगा कर आगामी वर्षों में विदेशी ऋण की मात्रा देशी ऋण की मात्रा से अधिक रही है।

1970-71 मार्च के अन्त में कुल विदेशी ऋण 6,659 करोड़ रुपया था, जिस में विभिन्न देशों तथा विदेशी संस्थाओं के ऋण की मात्रा निम्न तालिका में दी गई है।⁵

	सकल विदेशी ऋण करोड़ रुपयों में	का प्रतिशत
संयुक्त राष्ट्र अमेरिका	4,477	52.2
यू० के०	557	8.6
आई० डी० ए०	707	10.6
पश्चिमी जर्मनी	337	5.8
सोवियत रूस	355	5.5
विश्व बैंक	271	4.5
जापान	226	3.5
अन्य विदेशी स्रोत	394	6.2

निम्न तालिका में आयात व्यय तथा ऋण सम्बन्धी व्यय के अंक दिये गये हैं :⁶

4 Prepared from the Annual Report of the Reserve Bank on Currency and Finance, 1968, Table 7, p. 126, and Reserve Bank Bulletin, May 1970, Table 12, p. 735.

5 See Annual Report of the R. B. I. 1970, Statements 74, p. S. 120.

6 Prepared from R. B. I. Bulletin, May 1970, Table 2, p. 721.

वर्ष	आयगत व्यय	ऋण सम्बन्धी व्यय (अंक करोड़ रुपये में)	3/2 का प्रतिशत
1	2	3	4
1968-69			
(वास्तविक अनुमान)	2,679	528	19.7%
1969-70			
(संशोधित अनुमान)	2,935	569	19.4%
1970-71			
(बजट अनुमान)	3,103	597	19.2%

निम्न तालिका में यही सूचना पूँजीगत व्यय के बारे में दी गई है।

वर्ष	पूँजीगत व्यय	ऋण भुगतान	3/2 का प्रतिशत
1	2	3	4
1968-69			
(वास्तविक अनुमान)	2,344	418	17.8%
1969-70			
(संशोधित अनुमान)	2,828	574	20.3%
1970-71			
(बजट अनुमान)	2,682	494	18.4%

आयगत तथा पूँजीगत दोनों ही प्रकार के व्यय ऋण सम्बन्धी व्यय सकल व्यय का लगभग 20 प्रतिशत है। चौथी पंचवर्षीय योजना में सार्वजनिक क्षेत्र के लिए सकल विदेशी सहायता का अनुमान 3830 करोड़ रुपये का किया गया है, जिसमें ऋण शोध का अनुमान 1216 करोड़ रुपये का है। इसका यह अर्थ है प्रति वर्ष 966 करोड़ रुपये की विदेशी सहायता में से 243 करोड़ रुपये प्रति वर्ष अथवा लगभग 25 प्रतिशत विदेशी ऋण शोधन के लिए होगा। 1246 करोड़ रुपये में केन्द्रीय सरकार के विदेशी ऋण शोध का अंक 1036 करोड़ रुपये है तथा सार्वजनिक व्यवसायों का तत्सम्बन्धी अंक 180 करोड़ रुपये है।⁷

विदेश ऋण के भार को हम दूसरी ओर से भी देखें। 1969-70 में निर्यात मूल्य 1,410.01 करोड़ रुपये रहा। ऋण सेवाओं पर 1969-70 के संशोधित बजट में 569 करोड़ रुपये व्यय करने का अनुमान किया गया था। इसमें देशी ऋण की व्यवस्था भी सम्मिलित है। चौथी पंचवर्षीय योजना में विदेशी ऋण शोध कार्य पर 1246 करोड़ रुपये का आयोजन किया गया है जिसका प्रति वर्ष औसत 247

⁷ See Fourth Five Year plan 1969-74, Chapter 4, Para 4.30, p. 83

करोड़ रुपयों में

साल का अंत	अद्वितीय कुल का प्रतिशत	10 वर्ष से ऊपर	कुल का प्रतिशत	4	5	5 से 10 वर्ष तक	कुल का प्रतिशत	5 वर्ष से कम	कुल का प्रतिशत	योग
1	2	3	4	5	6	7	8			
1951	257.85	179	519.33	36.1	342.51	23.8	318.77	22.2	1,438.46	
1956	257.85	171	241.17	16.0	616.52	40.9	393.13	26.1	1,508.67	
1961	257.85	100	690.45	26.9	756.41	29.4	866.62	33.7	2,571.33	
1966	257.84	75	765.28	22.3	1,015.77	29.7	1,386.03	40.5	3,424.92	
1967	257.84	72	858.49	24.1	916.35	25.8	1,524.08	42.9	3,556.76	
1968	257.84	69	1,156.82	31.0	749.88	20.1	1,567.72	42.0	3,732.26	
1969	257.84	62	1,360.75	35.0	388.40	10.0	1,876.38	45.3	3,883.37	
1970	257.84	6.3	1,569.70	38.3	548.79	14.6	1,670.26	40.8	4,056.58	

उपरोक्त तालिका से यह निष्कर्ष निकलता है कि अद्वितीय (undated) तथा 10 वर्ष से ऊपर की अवधि के ऋण जनता में अप्रिय होते जा रहे हैं, किन्तु 5 वर्ष से कम की अवधि के ऋण अधिक प्रिय होते जा रहे हैं।

निम्न तालिका में भारत सरकार के देवी ऋण की स्थिति दी गयी है :-⁸

(करोड़ रुपये में)

माचिके अन्त मे	रुपी ऋण (Rupee Loans)	कोड १ को प्रतिशत	सरकारी दुधदी (Treasury Bills)	कोड १ का प्रतिशत	छोटी बचत (Small Savings)	कोड १ का प्रतिशत	अन्य ऋण कोड १ का प्रतिशत	देवी ऋण कोड १ का प्रतिशत
	1	2	3	4	5	6	7	8
								9
1951	1,438.46	58.2	364.75	14.8	336.20	13.6	330.12	13.4
1956	1,508.67	48.9	595.31	19.3	580.04	18.8	398.73	12.9
1961	2,571.33	46.8	1,106.30	20.1	982.37	17.9	834.14	15.2
1966	3,424.92	41.9	1,611.82	19.7	1,549.30	19.0	1,579.82	19.3
1968	3,732.26	38.3	2,013.41	20.7	1,762.28	18.1	2,219.22	22.8
1969	3,883.37	38.0	2,244.34	21.9	1,902.19	18.6	2,198.74	21.5
1970	4,096.58	38.5	2,233.66	21.0	2,027.30	19.0	2,296.30	21.6
								10,653.84

8 R. B I Annual Report 1968, p S 104, and Annual Report 1970, p S. 1:2,

करोड़ रुपये होता है। यह निर्यात मूल्य का 17.5 प्रतिशत होता है। विश्व बैंक की 1969 की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार, भारत का ऋण सेवाओं पर व्यय विदेशी विनिमय अर्जन का 18 प्रतिशत है जबकि अन्य विकसित देशों का औसत 10 प्रतिशत से कम है।⁹

विश्व बैंक की व्याज दर अगस्त 1968 में $6\frac{1}{4}\%$ से बढ़ाकर $6\frac{1}{2}\%$ कर दी गई। तत्पश्चात् 1 अगस्त, 1969 से यह दर 7% कर दी गई।¹⁰ यह इसलिए किया गया कि बैंक जो विभिन्न देशों की पूँजी मण्डियों में ऋण उधार लेता है उस पर व्याज दर बढ़ती रही है जिससे बैंक की लागत बढ़ी है।

देशी ऋण के रूप

ऋण—इस शीर्षक के अन्तर्गत ऐसे ऋण आते हैं जिनकी कोई शोध तिथि कम से कम 5 वर्ष से लगाकर 10 वर्ष तक होती है।

भारत सरकार के रूपी ऋणों की भुगतान तिथि का प्रतिरूप निम्न तालिका में दिया गया है।¹¹

सरकारी हण्डियों—ये वे हण्डियाँ हैं जिनका भुगतान सरकार को 3 महीने के अन्दर देना होता है। सरकार इन हण्डियों की जमानत पर रिजर्व बैंक, अन्य बैंकों तथा जनता से घन उधार लेती है। सरकार की आय जनवरी से मार्च तक ही अधिकांश रूप में होती है। वर्ष के अन्य भाग में व्यय आय से अधिक रहता है। इसलिए सरकार को थोड़े समय के लिए ऋण लेना पड़ता है।

रिजर्व बैंक सरकारी हण्डियों की जमानत पर तथा वेज एण्ड मीन्स के रूप में उधार देता है। इन दोनों में मुख्य अन्तर यह है कि सरकारी हण्डियों पर व्याज 3 महीने तक चलता है, किन्तु वेज एण्ड मीन्स द्वारा लिया गया घन कभी भी वापिस किया जा सकता है तथा इस पर व्याज भी तभी समाप्त हो जाता है। इन दोनों प्रकार से उधार लिए घन से मुद्रा प्रचलन में वृद्धि होती है, जिससे मुद्रा स्फीति होती है। सरकार के शेष घन (cash balance) की वृद्धि से अप-स्फीति होती है, क्योंकि इससे क्रय शक्ति गतिहीन हो जाती है।

भारत में सरकारी हण्डियों का प्रयोग सर्व प्रथम 1917 में हुआ। दूसरे विश्व युद्ध में यह लोकप्रिय हो गये। 1938-39 में इन पर औसत व्याज दर 1.63 प्रतिशत थी, जो 1945-46 में घटकर 0.40 प्रतिशत तक आ गई। उसके पश्चात् यह आय बढ़ने लगी तथा 1954 में 2.69 प्रतिशत हो गई। इनके नीलाम पर औसत बढ़ा 3 प्रतिशत है।

9 See Report, p. 40.

10 See Ibid, p. 27.

11 R. B. I. Annual Report 1968, p. S105.

1948-49 के पश्चात् ब्रिटिश सरकार से करार के अन्तर्गत स्टर्लिंग प्रति-भूतियाँ ब्रिटिश सरकार को लौटा दी गयी, जिनके बदले में सरकारी टुण्डियाँ भारत में बिकी। इनकी जनता में बिक्री 20 दिसम्बर, 1949 से 9 मितम्बर, 1952 तक बन्द रही। इस बीच में ये टुण्डियाँ रिजर्व, बैंक तथा राज्य सरकारों को ही बेची गईं।

अल्प वचत—इसमें निम्न योजनाएँ शामिल हैं

- (1) डाकखानों में जमा धन,
- (2) संचयी मियादी जमा धन,
- (3) पचवर्षीय निश्चित जमा धन, तथा
- (4) वचन प्रमाण पत्र।

इनके अनिश्चित वचत के भविष्य की निधि कोष के समान अन्य माधन भी हैं, किन्तु ये अल्प वचत योजना की श्रेणी में नहीं आते। वित्तीय सम्पत्ति में वचन को लगाने के लिए आय कर तथा सम्पत्ति कर में रियायत के रूप में राजकोपीय अथवा कर मन्वन्धी प्रोत्साहन भी दिये जाते हैं।

(i) डाक घरों में वचत खाते (P. O Savings Bank Accounts)—डाक घर में व्यक्ति निजी अथवा सम्मिलित खाते खोल सकते हैं। ये खाते सस्थाओं तथा भविष्य निधियों के लिए भी खोले जा सकते हैं। एक व्यक्ति के नाम में खाते में न्यूनतम धन की सीमा 5 रुपये तथा अधिकतम शेष 25,000 रु० हो सकती है। सम्मिलित खाने में अधिकतम शेष धन की सीमा 50,000 रुपये है। प्राविधान निधि कोषों तथा मस्यागत खातों में कोई सीमा नहीं है। आय कर की आय कर से मुक्त है तथा कोष का शेष धन एक सीमा तक सम्पत्ति कर से भी मुक्त है।

राजकोपीय वर्ष में न्यूनतम शेष धन 100 रुपये रहने पर 1 अप्रैल, 1970 से डाकखानों के खातों में व्याज दर $3\frac{1}{2}\%$ से बढ़ाकर 4% कर दी गई। यह दर सस्थागत खातों को छोड़ अन्य खातों के लिए लागू है। मस्यागत खातों के लिए व्याज दर 3% है। यदि वर्ष भर से अधिक समय के लिए $4\frac{1}{2}\%$ रु० के गुणको में शेष धन रहता है तब व्याज दर 2 वर्ष के लिए $4\frac{1}{2}\%$ तथा 3 वर्ष के लिए $4.2/3\%$ है।

(ii) संचयी सामयिक जमा (Cumulative Time Deposits)—ये पचवर्षीय, 10 वर्षीय तथा 15 वर्षीय जमा खाते होते हैं, जो व्यक्तियों तथा सम्मिलित नामों में खोले जा सकते हैं जिनमें प्रति मास अधिकतम धन एक खाते में 500 रु० जमा किया जा सकता है। एक व्यक्ति के एक से अधिक खातों भी हो सकते हैं, किन्तु सब में मिला कर अधिकतम धन 90,000 रु० से अधिक नहीं हो सकता। इनमें व्याज दर भिन्न-भिन्न सामयिक खातों के लिए भिन्न हैं।

(iii) 50 रु० के गुणको में भी पचवर्षीय स्थिर जमा खाते व्यक्तिगत तथा सम्मिलित नामों में डाकखानों अथवा स्टेट बैंक की शाखाओं में खोले जा सकते हैं।

इनमें ब्याज पर आय कर नहीं लगता तथा भुगतान तिथि पर मूल धन के साथ मिल जाता है। इनमें व्यक्तिगत खाते में 25,000 रु० तथा सम्मिलित खाते में 50,000 रु० की अधिकतम सीमा है। ब्याज सम्पत्ति कर से मुक्त है। इनमें मार्च 16, 1970 से ब्याज दर $5\frac{1}{2}\%$ कर दो गई है।

(iv) सार्वजनिक भविष्य निधि (Public Provident Fund Scheme)—जुलाई 1968 में निजी रोजगार में लगे व्यक्तियों के लिए यह योजना स्टेट बैंक की सब शाखाओं में बचत को प्रोत्साहन देने के लिए चलायी गई। इसमें एक व्यक्ति वित्तीय वर्ष में 15,000 रु० तक निज अथवा अवयस्क के नाम में जमा कर सकता है। इसमें 15 वर्ष के पश्चात् रुपया वापिस मिल सकता है। इसमें सीमित मात्रा तक 5 वर्ष बाद धन की वापसी हो सकती है। इन पर ब्याज दर 5% तथा $5\frac{1}{2}\%$ तक है जो धन की मात्रा के अनुसार है।

ऐसी भी बचतें हैं जिन पर आय कर लगता है। इनमें जमा धन की अधिकतम सीमा नहीं है।

बचत प्रमाण पत्र—ये दो प्रकार के हैं। कुछ आय कर से मुक्त है तथा कुछ की आय पर आय कर लगता है। ये सप्तवर्षीय बचत पत्र हैं जो 16 मार्च, 1970 में शुरू हुए। ये 10 रु०, 100 रु०, 1,000 रु० तथा 5,000 रु० के मूल्यों के हैं। इन पर ब्याज भुगतान निधि पर मूल धन के साथ मिलता है तथा इसकी कम्पाउण्ड दर 5% है। इनमें ऐसे भी पत्र हैं जिन पर ब्याज प्रति वर्ष मिलता है जिस पर कर नहीं लगता। इनमें व्यक्ति के लिए अधिकतम जमा की सीमा 25,000 रु० तथा दो व्यक्तियों के सम्मिलित नाम में 50,000 रु० है। इनमें कुछ संस्थाओं के लिए अधिकतम सीमा 1 लाख रु० तक है। 12 वर्षीय तथा 10 वर्षीय पत्र 16 मार्च, 1970 में बन्द हो गये।

कुछ सप्तवर्षीय ऐसे पत्र हैं जिनकी आय पर कर लगता है। ये 100, 1,000 तथा 5,000 रु० मूल्य के होते हैं। इन पर $7\frac{1}{2}\%$ ब्याज प्रति वर्ष मिलता है जो उद्गम पर नहीं कटता। तीन तथा पाँच वर्ष पश्चात् डिस्काउण्ट काटकर ये भुनाये भी जा सकते हैं।¹²

12 For details, see R. B. I. Bulletin, May, 1970, pp 743-745.

इक्तीसवाँ अध्याय

आय तथा व्यय कर

(INCOME AND EXPENDITURE TAXES)

सभी देशों में आधुनिक कर प्रणाली में प्रत्यक्ष करो में आय कर का विशेष महत्व है। भारत में 1970-71 में सकल कर आय 2,267.18 करोड़ रुपये थी, जिसमें आय तथा व्यय कर आय 425.84 करोड़ रुपये थी। इसमें व्यय कर आय केवल 0.01 करोड़ रुपये थी तथा कारपोरेशन कर आय शामिल नहीं थी, जिसका उक्त वर्ष का अनुमान 342 करोड़ रुपये था। इस आय कर का राज्यों का भाग नेट आय का 75% अर्थात् 342 करोड़ रुपये था। इसलिये राज्यों तथा दोनों ही के लिए आय कर का विशेष महत्व है।

निम्न तालिका में आय कर तथा कारपोरेशन कर के अंक दिये हुए हैं :—¹
(करोड़ रुपये में)

	1968-69 (वास्तविक अनुमान)	1969-70 (संशोधित अनुमान)	1970-71 (बजट अनुमान)	1970-71 सं० ब०	1971-72 ब० अ०
आय कर					
राज्यों का भाग	184 (6.7)	107 (3.7)	86 (2.8)	10	70
घटाकर					
कारपोरेशन कर	300 (10.8)	320 (10.9)	437 (10.5)	460	491

भारत में आय कर 1860 में प्रारम्भ हुआ। इस साधन से आय बढ़ाने के लिए तथा अन्य उद्देश्यों के कारण आय कर की रचना में समय समय पर परिवर्तन होते रहे हैं। आर्थिक परिस्थिति, न्यायालय के निर्णय तथा विभिन्न समितियों की सिफारिशों का प्रभाव इस कर की रचना पर पड़ता रहा है।

¹ R. B. I. Bulletin, May 1970, Table 7. p. 726. Figures in brackets are percentages to total.

आय कर सम्बन्धी सुव्यवस्थित कानून भारत में 1886 में बनाया गया, जो संशोधनों सहित 1918 तक चालू रहा। इस काल में इसमें बहुत संशोधन हुए, जिनमें दो सर्वप्रमुख संशोधन हुए : 1916 में अशाकन का सिद्धान्त (the principle of graduation) तथा 1917 में अधि कर (super-tax)। 1918 ई० में नया आय कर कानून बना, जो 1922 ई० तक चला। 1922 ई० का कानून भारत सरकार के 1919 ई० के शासन विधान के कारण पारित हुआ। यह आय कर तथा अधि कर के कानून को संघटित करने लिए बनाया गया था। 1922 ई० से आय कर तथा अधि कर की दरें वार्षिक वित्तीय कानूनों में दी जाती हैं।

1922 ई० का आय कर कानून 1939 ई० तक चला। 1939 तथा 1956 के बीच 29 बार कानून में संशोधन हुए, जिनमें प्रत्येक संशोधन महत्वपूर्ण था। 1954 में कराधान जाँच कमीशन की सिफारिशों 1955 के वित्त कानून के अन्तर्गत लागू होने लगी। निकोलस केलडोर की 1956 की रिपोर्ट के आधार पर पूँजीगत लाभों पर कर (capital gains tax) फिर लागू किया गया। पहले यह कर 1 अप्रैल, 1946 से 31 मार्च, 1948 तक चला था। इसके पश्चात् 1957 का सम्पत्ति कर कानून, तथा व्यय कानून तथा 1958 का उपहार कर कानून केलडोर की सिफारिशों के अन्तर्गत लागू किये गये।

1961 में आय कर कानून में मूल सुधार किये गये तथा यह आय कर कानून 1 अप्रैल, 1962 में लागू हुआ। प्रति वर्ष मुख्य कानून के पूरक के रूप में वित्त कानून पारित होता है, जिनमें वर्ष के लिए करों की दरें निश्चित की जाती हैं। 1967 में बूथनिंगम कमेटी की नियुक्ति हुई जिसकी अन्तिम रिपोर्ट 1968 में प्रकाशित हुई।

इन कानूनों के मुख्य संशोधन नीचे उल्लिखित हैं :

देनदारी का आधार—कालान्तर में आय कर की देनदारी का आधार विस्तृत किया गया, जिस सम्बन्ध में 1939 के कानून में तीन पारिभाषिक शब्द बने जिनके अनुसार आय कर का दायित्व निश्चित होता है। ये हैं (1) नागरिक, (2) अ-नागरिक तथा (3) सामान्यतया अ-नागरिक।

कृषि आय—1860 में कृषि आय पर कर लगने की व्यवस्था थी, किन्तु 1886 से यह आय केन्द्रीय आय कर कानून के अन्तर्गत नहीं आती। 1935 के विधान के अनुसार कृषि आय प्रान्तों की आय का साधन बन गई तथा यही स्थिति 1950 के विधान के अन्तर्गत है।

पूर्व वर्ष—साधारणतया कर 12 महीने के एक निश्चित काल में अर्जित आय पर दिया जाता है। इस काल के निश्चित करने की कसौटियाँ बदलती रही हैं। 1886 के आय कर कानून में आयों तथा प्रतिभूतियों के व्याज पर कर निर्धारित वर्ष की आय के आधार पर तथा अन्य आयों पर पूर्व वर्ष की आय के आधार पर लगता था। 1918 के कानून के अन्तर्गत सब प्रकार की आय के कर का आधार निर्धारित (assessment) वर्ष हो गया। 1922 के कानून के अन्तर्गत सब आय कर

का आधार पिछला वर्ष हो गया, जो अभी तक मान्य है। इसके अतिरिक्त कर दाता अपनी आय के विभिन्न स्रोतों के लिए विभिन्न काल चुन सकता है।

दरों की गठन में परिवर्तन—समय-समय पर आय कर की दरें बदलती रही हैं। इनमें बराबर वृद्धि होती रही है तथा ये अधिक वर्धमान होती जा रही हैं। प्रारम्भ में सब आय पर 2 प्रतिशत कर दर थी। अब आय के विभिन्न टुकड़ों पर विभिन्न दरें हैं तथा व्यक्तियों की समग्र आय पर 93.5% तक प्रभावी दर है। 1886 के कानून में आय कर आय के चार विभिन्न वर्गों पर लगता था। कर दाता की समग्र आय पर कर दायित्व का आधार 1918 में तय किया गया था।

अंशांकन (Graduation)—1916 से पहले 2,000 रु० की वार्षिक आय से ऊपर पूरी आय पर रुपये में 5 पाई की दर पर आय कर तय होता था। 1916 में विभिन्न कोष्ठों की आय पर अंशांकन का सिद्धान्त लागू किया गया। तब कर की 8 विभिन्न दरें तय हुईं। 1939 से पूर्व आय कर के लिए सीढ़ी प्रणाली (step system) तथा अधिकार के लिए टुकड़ा प्रणाली (slab system) प्रचलित था। सीढ़ी प्रणाली के अन्तर्गत एक विशेष आय के कोष्ठ की आय पर सभी व्यक्तियों के लिए समान प्रभावी दर होती है, किन्तु टुकड़ा प्रणाली के अन्तर्गत प्रत्येक कोष्ठ की आय पर दर अलग होती है जिसके अनुसार आय कर का हिसाब लगाया जाता है। तब इन सब को जोड़कर औसत दर पर कर के धन को निकाला जाता है।

छूट की सीमा—1922 से 1947 तक 2,000 रु० की वार्षिक आय कर से मुक्त थी। 1 अप्रैल, 1970 से एक व्यक्ति की 5,000 रु० तक तथा अविभाजित हिन्दू परिवार की 7,000 रु० तक की आय कर से मुक्त है।

व्यवसायिक व्यय आय से घटा कर नेट आय पर कर दिया जाता है। बीमा प्रीमियम तथा भविष्य निधि (provident fund) के अंशदान पर भी एक सीमा तक कर नहीं लगता। यह रकम आय से घटाकर कर लगता है।

मूल्य ह्रास के लिए 1922 में नियम पहले पहल बने। 1939 में इनमें फेर बदल किये गये। उसके पश्चात् व्यवसाय तथा उद्योग की परिस्थिति के अनुसार इन नियमों में परिवर्तन होते रहते हैं।

अति-लाभ कर (Excess Profits Tax)—यह कर 1919 में लगा जो केवल एक वर्ष रहा। तत्पश्चात् यह 1939 में सितम्बर में लगा। इसका उद्देश्य युद्ध कालीन असाधारण लाभों को कर के अन्तर्गत लाना था। यह कर 1 सितम्बर, 1939 से 31 मार्च, 1946 तक के काल के अति लाभों पर लगाया गया। 1946 में यह कर हटा दिया गया।

व्यापारिक लाभ कर (Business Profits Tax)—1 अप्रैल, 1946 से 13 मार्च 1949 तक व्यापारिक लाभ कर मुद्रा प्रसार को रोकने के उपाय की दृष्टि से लगाया गया। यह 1949 में समाप्त कर दिया गया।

कारपोरेशन कर—1886 में कम्पनियों के नेट लाभ पर समान दर पर कर लगाया गया। 1916 में 1,000 रु० वार्षिक लाभ से कम आय की कम्पनियों को इस कर से मुक्त कर दिया गया। 1917 से कम्पनियों पर अधिक कर लगने लगा। हिस्सेदारी के लाभों पर कर का तरीका बदलता रहा है। आय कर तथा अधिक कर की दरें बराबर बढ़ती रही हैं। बाद में व्यवसाय तथा उद्योगों की स्थिति को दृष्टि में रखते हुए रिबेट की व्यवस्था भी की गई।

पूँजी लाभ कर (Capital Gains Tax)—यह कर 1946 में लगा, किन्तु 1949 में हट गया। नवम्बर 1956 में यह कर फिर लगाया गया। इसका उद्देश्य आर्थिक विषमताओं को कम करना था।

1 अप्रैल, 1970 से प्रत्यक्ष करों में परिवर्तन—

1 अप्रैल, 1970 से कारपोरेशनों के अतिरिक्त अन्य कर दालाओं की दरों में परिवर्तन हुए जिनमें व्यक्ति, हिन्दू अविभाजित परिवार, अपजीकृत फर्म, व्यक्ति समुदाय आदि आते हैं। परिवर्तनों के फलस्वरूप प्रथम 5,000 रु० की वार्षिक आय कर से मुक्त रहेगी 5,000 रु० की आय के आगे के प्रत्येक 5 टुकड़ों पर अर्थात् 30,000 वार्षिक आय तक कर की दरें ज्यों की त्यों रहेंगी। इससे ऊपर की आयों पर कर की दरें बढ़ीं। पहले 2,50,000 से ऊपर की आय पर कर दर 75 प्रतिशत थी। 1 अप्रैल, 1970 के पश्चात् 2,00,000 से ऊपर की आय पर दर 85% कर दी गई। सर चार्ज जो मिलाकर अधिकतम सीमान्त दर 2 लाख रुपये की आय से ऊपर 93.5 प्रतिशत कर दी गई। 1 जुलाई 1971 से 15,000 रु० वार्षिक आय से ऊपर मूल आय कर पर 15 प्रतिशत सर चार्ज रहेगा।

वेतन पाने वाले जो कर दाला मार्बलनिक सवारी से काम पर जाते हैं उन्हें 35 रु० मासिक की छूट मिलेगी, मोटर साइकिल पर जाने वालों को 60 रु० मासिक वार्षिक पर जाने वालों को 35 रु० मासिक तथा कार में जाने वालों को चाहे जो वेतन स्तर हो 200 रुपये मासिक की छूट मिलती है। ये अंश 1 अप्रैल, 1971 में प्रभावी हुए तथा कर वर्ष 1971-72 के लिए वित्तीय वर्ष 1970-71 की वेतन आयों के लिए लागू होंगे।

व्यवसाय अथवा पेशे का लाभ निकालने में आतिथ्य-सत्कार सम्बन्धी व्यय घटाये जाते थे। व्यवसाय के मुनाफे के 17 करोड़ होने पर अधिकतम उपसब्ध छूट 30,000 रु० होती थी। इसमें संचालकों के लिए आतिथ्य सत्कार का भत्ता भी शामिल था।

1 अप्रैल, 1970 के परिवर्तनों के अनुसार 28-2-1970 के पश्चात् का आतिथ्य सत्कार सम्बन्धी भारत में किया गया व्यय व्यवसाय का लाभ निकालने के लिए नहीं घटाया जायेगा। भारत के बाहर का व्यय कानून की सीमाओं के अनुसार घटाया जायेगा। अवकाश घरों के अतिरिक्त अतिथि घरों का व्यय भी नहीं घटाया जायेगा।

व्यय कर—इस कर की सिफारिश निकोलस केलडोर ने 1956 में की थी। यह कर व्यक्तियों पर उनके उपभोग व्यय के धन पर लगाया जाता है। इसमें व्यक्ति की परिस्थिति के अनुकूल फेर बदल हो सकता है। प्रो० केलडोर के अनुसार, मुद्रा आय तथा व्यय में अन्तर है। नकद आय में नकद धन तथा बैंक जमा, नियमित आय, उपहारों, उत्तराधिकारों तथा नये ऋणों की प्राप्तिर्या शामिल है। नकद व्ययों में दूसरों को दिये गये ऋण, उनको ऋण का भुगतान, सम्पत्ति की कीमत में दिया गया नकद रपया आदि शामिल है। व्यय के योग से आय का योग घटाकर व्यक्ति के व्यय का पता चल सकता है।

केलडोर ने आय कर के स्थान पर व्यय कर लगाने की सिफारिश की थी। इसके निम्न कारण थे।

(1) आय कर का अपवचन हो सकता है, क्योंकि सम्पत्ति से सम्बन्धित बहुत से मौदे लिखे नहीं जाते, किन्तु दूसरों के लिए व्यय का ऐसा हस्तान्तरण भी हो सकता है जिसे मालुम करना कठिन होता है।

(2) कर आधार के रूप में आय की परिभाषा अनिश्चित तथा इच्छाधीन होती है। आय कर देय सामर्थ्य का वास्तविक माप नहीं होती। एक वेतन पाने वाले व्यक्ति के 5,000 रु० वार्षिक आय की त्रय शक्ति सम्पत्ति से प्राप्त उतनी ही आय की त्रय शक्ति के बराबर नहीं होती। यदि कोई व्यक्ति अपना धन नकद कोष में रखता है उसे आय कर नहीं देना होगा, किन्तु वह उसे व्यय करके आराम से जीवन व्यतीत कर सकता है। उसकी त्रय शक्ति शून्य नहीं है।

(3) वर्धमान कर प्रणाली के बचत तथा निवेश पर प्रभाव प्रतिकूल होते हैं। भारी प्रत्यक्ष कराधान से बचत कम होती है।

(4) वर्धमान कर प्रणाली के जोखिम प्रदाय पर प्रभाव अधिक प्रतिकूल होते हैं। जोखमी उद्योगों में पूँजी पर जोखिम आनुपातिक आय कर में भी बढ़ जाता है, क्योंकि इसके कारण जोखिमी तथा, सुरक्षित निवेशों से आय का निपेक्ष अन्तर घट जाता है। यदि आय कर न हो तो एक जोखिमी उद्योग से 8% आय एक सुरक्षित निवेश की 4% आय के बराबर होगी। निवेशक की सब पूँजी 4% आय पर 25 वर्ष में वापिस मिल जायेगी। यदि आय पर 50% आनुपातिक कर लगाया जाता है तो नेट आय क्रमशः 4% तथा 2 प्रतिशत होगी। निवेशक की पूँजी 50 वर्ष में वापिस मिल जायेगी। वर्धमान कर जोखिमी प्रदाय के लिए अधिक अनुकूल होगा।

इन दोनों स्थितियों में बराबर का व्यय कर उपयुक्त होगा। इससे बचत को प्रोत्साहन मिलेगा तथा जोखिम का पुरस्कार कम नहीं होगा। व्याज तथा बचत में यह सम्बन्ध है। कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार शून्य व्याज पर भी बचत होगी जैसे कि धीमा प्रीमियमों में होता है। कुछ व्यक्ति यह सोचते हैं कि उन्हें तो एक निश्चित समय में एक निश्चित निधि का संचयन करना ही है। वे व्याज दर कम

होने पर अधिक वचत करेंगे। व्यय कर का धन के वितरण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। वचत की वृद्धि होगी तथा विषमता से आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण होगा।

डा० केल्डोर ने तत्कालीन आय कर प्रणाली के स्थान पर नेट सम्पत्ति कर तथा व्यय कर लगाने की सिफारिश की थी। इनके अनुसार कराधान के आधार के रूप में आय कर असाम्य तथा अयोग्य है। कर दाता आय को घटाकर दिखा सकते हैं। इसलिए यह कराधान का उपयुक्त आधार नहीं है। इसके विपरीत व्यक्तिगत व्यय की सरलता से माप हो सकती है तथा इसमें नियमितता भी है। आय कर से श्रम करने का प्रोत्साहन कम होता है। इससे वचत तथा निवेश भी कम होता है। व्यय कर के वचत पर अच्छे प्रभाव होते हैं। इसमें श्रम तथा निवेश के प्रति उदासीनता है, किन्तु इसका मूल्यांकन कठिन होता है। व्यय बहुत सी बातों पर होता है जिनका प्रत्यक्ष मूल्यांकन कठिन होता है। इसका पता इस तरह लगता है कि प्रारम्भ में किसी व्यक्ति के नकद कोष आदि को मालुम किया जाय तथा वर्ष के अन्त में मालुम किया जाय। दोनों के योग का अन्तर व्यय के बराबर होगा।

डा० केल्डोर ने 1,00,000 रु० से ऊपर के वार्षिक व्यय पर वर्धमान प्रणाली पर प्रति व्यक्ति व्यय कर लगाने की सिफारिश की थी। न्यूनतम व्यय कर 25 प्रतिशत था, किन्तु अधिकतम सीमा 300 प्रतिशत तक रखी थी। यह दुबड़ा प्रणाली के आधार पर लगाने की सिफारिश की गई थी।

व्यय कर कानून 1957 में पारित किया गया। यह उन व्यक्तियों तथा हिन्दू अविभाजित परिवारों पर लगना था जिनकी न्यूनतम आय 60,000 रु० प्रति वर्ष थी। 24,000 रु० को छूट कर दाता तथा उसकी पत्नी के लिए तथा 5,000 रु० की छूट प्रत्येक आश्रित के लिए थी। छूट घटा कर 10,000 रु० के व्यय पर 10% से लगाकर 50,000 रु० से ऊपर के व्यय पर 100% व्यय कर 1958-59 से लगना था। कर दाताओं की सूचा व 6,000 का अनुमान किया गया था।² यह कर 1 अप्रैल 1966 से समाप्त कर दिया गया।³

2 See R. B. I. Annual Report on Currency and Finance, 1957, p. 62.

3 See R. B. I. Annual Report on Currency and Finance, 1965-66, p. 132.

निम्न तालिका में 1958-59 से 1970-71 तक इस कर की आय दी गई है :

वर्ष	आय (लाख रुपयों में)
1958-59	0.64
1959-60	0.79
1960-61	0.91
1961-62	0.84
1962-63	0 20
1963-64	0 12
1964-65	0.44
1965-66	0 75
1968-69	...
1969-70 (स० अ०)	0.01
1970-71 (व० अ०)	0 01

निम्न तालिका में आय कर तथा कारपोरेशन करों की आय का केन्द्र तथा राज्यों में वितरण सम्बन्धी व्योम दिया गया है ⁴

वर्ष	आय तथा व्यय कर	कारपोरेशन करों के अति- रिक्त आय कर	राज्यों का भाग	केन्द्र की शेष आय	कारपोरेशन कर
				(अरु करोड़ रुपयों में)	
1950-51	125 70	132.73	47 52	85 21	40.49
1955-56	113 23	131 25	55 16	76.19	37.04
पहली योजना का योग	586 95	694 07	278 24	385.83	201 12
1960-61	191 07	167.38	87.37	80.01	111 05
दूसरी योजना का योग	810.60	803.68	374 67	429.01	379.25
1965-66	453.72	271.80	123 34	148.46	304.84
तीसरी योजना का योग	1,866 24	1,148.30	555.52	592 78	1,271 84
1966-67	500 26	308 68	137 09	171 59	328 90

⁴ These figures have been compiled from R. B Bulletin, May 1970, Statement 8, p.760, and from the 1971-72 Budget presented on May 29, 1971

आय तथा व्यय कर					₹
1967-68	461.43	325.62	174.52	151.10	310.38
1968-69	483.73	378.47	194.51	183.96	299.77
1969-70	426.23	400.00	293.18	106.82	320.00
(सं० अ०)					
1970-71					
(च० अ०)	430.84	436.75	348.30	88.45	342.00
1970-71					
(ग० अ०)	..	460.00	359.09	101.09	365.00
1971-72					
(घ० अ०)	..	491.00	420.77	70.23	411.00

बत्तीसवां अध्याय

सम्पत्ति तथा पूँजी के सौदों पर कर

(TAX ON WEALTH AND CAPITAL TRANSACTIONS)

इस शीर्षक में वजट सूत्रों तथा रिजर्व बैंक बुलेटिन में मृत्यु कर, सम्पत्ति कर, उपहार कर, स्टाम्प तथा रेजिस्ट्रेशन तथा भूमि कर से प्राप्त आय सम्मिलित रहती है। इसमें से प्रत्येक शीर्षक प्राप्त आय के सम्बन्ध में नीचे व्यौरा दिया गया है।

भू-शुल्क (Estate Duty)—हमारे देश में कृषि सम्पत्ति के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति पर कर लगाने का अधिकार केन्द्र सरकार को है। कृषि सम्पत्ति पर वैधानिक अधिकार राज्य सरकारों को है। केन्द्र इस शीर्षक से प्राप्त नेट आय राज्यों में बाँटता है। लगभग सभी राज्यों ने कृषि भूमि पर भी भू-कर लगाने का अधिकार केन्द्र को ही दे दिया है। इसलिए 1953 का भू-सम्पत्ति का कानून भू-सम्पत्ति के सम्बन्ध में उन सब राज्यों में लागू है जिनके नाम एक्ट के शिड्यूल में दिये हैं।

भू-शुल्क कानून 15 अक्टूबर 1953 को लागू हुआ। इसके अन्तर्गत कर मृत व्यक्ति की सब सम्पत्ति पर लगता है। सम्पत्ति शब्द से अभिप्राय उस सर्व सम्पत्ति से है जिसका मृत व्यक्ति अपने जीवन में इच्छानुसार निपटारा कर सकता था। इसमें में नकदी, सोना-चान्दी, गहने, घर का सामान, प्रतिभूतियाँ, व्यापारी सम्पत्ति आदि सामान शामिल हैं। मृत द्वारा लिए गये वास्तविक ऋणों का मूल्य सम्पत्ति के मूल्य में से घटाकर सम्पत्ति का नेट मूल्य मालूम किया जाता है। इसमें सम्मिलित मामलों में निवेश भी शामिल है। इसका मृत व्यक्ति के हिस्से का ही मूल्य सम्पत्ति में शामिल किया जाता है। मृत्यु से दो वर्ष पूर्व के उपहारों को छोड़ इसमें उपहार भी शामिल हैं। परोपकार के लिए दिये गये दान मृत्यु से 6 महीने पहले के मृत व्यक्ति की सम्पत्ति में शामिल नहीं होते। मृत्यु होने के 6 महीने के अन्दर उत्तराधिकारियों को सम्पत्ति के मूल्य का विवरण देना होता है। 1953 में 1 लाख ₹० के मूल्य की सम्पत्ति पर कर नहीं लगता था, किन्तु 1960 से 50,000 ₹० के मूल्य की सम्पत्ति पर कर मुक्त है।

निम्न तालिका में इसकी दरें दी गयी हैं :

	सम्पत्ति का मूल्य	कर का दर
	₹० में	%
पहला	50,000	...
आगामी	50,000	4
आगामी	1,00,000	10
आगामी	1,50,000	15
आगामी	1,50,000	25
आगामी	5,00,000	30
आगामी	5,00,000	40
आगामी	5,00,000	50
बेष पर	...	85

20 लाख रुपये के मूल्य के ऊपर की सम्पत्ति पर 85 प्रतिशत कर दर है। यू० के० में 1 लाख पौंड के ऊपर के मूल्य की सम्पत्ति पर कर 80 प्रतिशत है, किन्तु अमेरिका में 1 करोड़ डालर की सम्पत्ति पर 77 प्रतिशत है। कर लगाने की तिथि के दो महीने के अन्दर यह कर देना होता है, किन्तु तिथि बढ़ाई भी जा सकती है। अन्त सम्पत्ति कर की अदायगी 8 वार्षिक बराबर किस्तों में भी हो सकती है या 16 अर्ध वार्षिक किस्तों में भी हो सकती है जिन पर 4% प्रति वर्ष व्याज होगा।

निम्न सम्पत्ति कर में मुक्त है :

(i) मृत्यु के दो वर्ष के अन्दर परोपकार के लिए किये गये दान 2,500 ₹० तक तथा अन्य दान 1,500 ₹० तक मृत्यु के 6 महीने के अन्दर।

(ii) 2,500 ₹० तक की कीमत का ऐसा सामान जो मृत व्यक्ति के जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक है।

(iii) बिक्री न होने वाली पुस्तकें, पहनने के कपड़े, जिनमें बहुमूल्य धातुएँ न मिली हो।

(iv) भू-शुल्क देने के लिए 50,000 ₹० तक की बीमा पालिसी, इस कर के देने के लिए सरकार में जमा किया गया नकद 50,000 रुपया व्याज सहित, मृत व्यक्ति का निजी जीवन बीमा 5,000 ₹०।

(v) 1,000 ₹० मृत्यु सम्बन्धी व्यय;

(vi) प्रत्येक लड़की की शादी के लिए 5,000 ₹० की बीमा पालिसी।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य छूट भी दी गई हैं। कुटुम्ब में जल्दी जल्दी मृत्यु होने के कारण भी कुछ छूट की व्यवस्था है। उदाहरण के लिए दूसरी मृत्यु यदि पहली के एक वर्ष के अन्दर हो जाती है तब 50 प्रतिशत कर देना होता है।

मृत्यु कर से आय निम्न तालिका में दी गई है :—

वर्ष	आय	राज्यों का भाग (करोड़ रु० में)	केन्द्र की नेट आय (करोड़ रु० में)
1955-56	1.81	1.86	-0.05
प्रथम पंचवर्षीय योजना			
का योग	2.62	2.43	0.19
1960-61	3.09	2.91	0.18
दूसरी पंचवर्षीय योजना			
का योग	13.12	12.86	0.26
1965-66	6.66	6.79	-0.13
तीसरी पंचवर्षीय योजना			
का योग	24.91	25.55	-0.64
1966-67	6.26	4.55	1.71
1967-68	6.37	6.58	-0.21
1968-69	6.74	5.54	1.20
1969-70(स०व०)	7.50	6.98	0.52
1970-71(व०अ०)	7.50	7.17	0.33

नेट सम्पत्ति कर (Wealth Tax)—इस कर की निफ़ारिश डा० निकोलस केलडोर ने की थी। इन्होंने पटारा प्रणाली पर निम्न दरों पर वार्षिक पूँजी कर लगाने का सुझाव दिया था :—

प्रतिशत प्रति वर्ष दर	नेट व्यक्तिगत सम्पत्ति के टुकड़े पर (लाख रुपये में)
$\frac{1}{2}$	1-4
$\frac{3}{4}$	4-7
$\frac{3}{4}$	7-10
$1\frac{1}{2}$	10 लाख से ऊपर

1 लाख रुपये के मूल्य की सम्पत्ति कर से मुक्त रखने की सिफ़ारिश की गई थी। आय के अतिरिक्त सम्पत्ति में अन्य लाभ भी होते हैं जिन पर कर लग सकता है। इस कर का बचत पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, बिना जोखिम के निवेशों के लिए यह कर अनुकूल है, क्योंकि ऐसे व्यवसायों में पूँजी तथा आय का अनुपात अधिक होने की सम्भावना होती है। यह कर समाज के समाजवादी प्रतिरूप की स्थापना को कार्यान्वित करने में सहायक होता है। अतः इससे अधिक विपमता घटनी है।

आधुनिक समाज में वचत में आय के अनुरूप ऐसी लचक नहीं होती जैसा कि केलडोर ने अनुमान किया। वचत के विभिन्न उद्देश्य होते हैं तथा ये विभिन्न व्यक्तियों तथा संस्थाओं द्वारा की जाती है। वचत के प्रोत्साहन के लिए संस्थाओं की भिन्न कर दरों की आवश्यकता होती है। जोखिमी व्यवसायों में निवेश की वृद्धि के लिए मूल्य ह्रास भत्तों, विक्रम रिबेटों तथा कम्पनियों पर विशेष कराधान दर आवश्यक होती है।

भारत जैसे अल्प विकसित देश में जहाँ सम्पत्ति कर लगाने में विरोध कठिनाइयाँ होती हैं। कम्पनियों के हिस्सों के मूल्य स्टॉक एग्जिडियो में प्रति दिन निकलते हैं तथा इन का लगातार क्रय-विक्रय होता रहता है, किन्तु भवनों के मूल्यों के अंक सरलता से उपलब्ध नहीं होते। भारत में सम्पत्ति मूल्यांकन प्रथा का अभी विकास नहीं हुआ है। केलडोर के सुझाव के अनुसार पहले कुछ वर्षों में सम्पत्ति स्वामियों से उनकी सम्पत्ति का मूल्य माँग लिया जाये तथा उसी मूल्य पर कर लगा लिया जाय। यदि यह संशय हो कि सम्पत्ति का मूल्य स्वामी ने कम दिखाया है तो उस मूल्य पर शासन सम्पत्ति को छरीद ले। परन्तु यह उपाय कदाचित् प्रभावी न हो, क्योंकि जब तक शासन सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण के लिए तैयार न हो जाय तब तक विस्तृत रूप में सम्पत्ति लेना राज्य के लिए उपयुक्त नहीं होगा। बहुत से कर दाता इस स्थिति का लाभ उठाने तथा इस भासा पट्टी को उखाड़ने को तैयार हो जायेंगे।

भारत में इस कर के लगाने की व्यवस्था 1957-58 के बजट में की गई थी। उस वर्ष इस कर से 15 करोड़ रु० की आय का अनुमान लगाया गया था। प्रारम्भ में यह कर व्यक्तियों, हिन्दू सम्मिलित परिवारों तथा कम्पनियों की नेट सम्पत्ति पर लगता था, किन्तु बाद में कम्पनियों की नेट सम्पत्ति पर से हटा लिया गया। 1 अप्रैल, 1970 से पहले व्यक्तियों, पर 0.5% से 20 लाख से ऊपर के मूल्य की सम्पत्ति पर 3% कर था हिन्दू परिवारों के लिए भी 2 लाख रु० से ऊपर 5% से 20 लाख रु० से ऊपर की सम्पत्ति पर 3% कर था। अब दर इस प्रकार है। 1 लाख से ऊपर 5 लाख तक व्यक्तियों की तथा 2 लाख से ऊपर 5 लाख तक हिन्दू परिवारों की नेट सम्पत्ति पर कर दर 0.5% से 1% हो गई तथा 5,00,001 से 10,00,000 तक 1% से 2%। 10,00,001 से 20,00,000 तक 2.5% तथा उस से ऊपर 3% थी। 1 अप्रैल, 1970 से दर 10,00,001 से 15,00,000 तक 3% है तथा 15,00,001 से 20,00,000 तक 4% तथा उसके ऊपर 5% है।

अतिरिक्त सम्पत्ति दर—1 अप्रैल, 1970 से पहले 1 लाख जन सख्या से ऊपर के नगरों में व्यक्तियों तथा हिन्दू परिवारों की भूमि तथा भवनों के मूल्य पर अतिरिक्त सम्पत्ति कर लगता था। 2 लाख से 5 लाख रु० के मूल्य तक की सम्पत्ति पर नगर की जन सख्या के अनुसार कर नहीं लगता था। इसके अतिरिक्त और 2 लाख रु० के मूल्य की सम्पत्ति पर सब पर छूट थी। ऊपर के मूल्य की सम्पत्ति पर

1% से 4% तक कर दर थी। 4% दर 19-22 लाख मूल्य की सम्पत्ति पर लगती थी।

1 अप्रैल, 1970 से 10,000 की जन सख्या के नगरो मे व्यक्तियो तथा परिवारो की सम्पत्ति पर यह कर लगेगा। व्यवसाय सम्बन्धी अहातो पर यह कर नही लगेगा, किन्तु व्यवसायो के अतिथि गृहो पर लगेगा। 5 लाख रु० के मूल्य की सम्पत्ति इस कर से मुक्त रहेगी। उससे ऊपर 5,00,001 रु० से 10,00,000 रु० तक के मूल्य पर 5% तथा 10 लाख से ऊपर कर दर 7% होगी। सम्पत्ति कर की ये सशोधित दरें 1 अप्रैल, 1971 से कर वर्ष 1971-72 मे लागू होगी।

इससे प्राप्त आय निम्न तालिका मे दी गई है।

वर्ष	आय (करोड रुपयो मे)
1960-61	8.15
दूसरी पंचवर्षीय योजना	36.97
1965-66	12.05
तीसरी योजना	50.55
1966-67	10.58
1967-68	10.67
1968-69	11.11
1969-70 (स० अ०)	14.00
1970-71	18.00

उपहार कर (Gift Tax)—इस कर का भी मुभाव डा० निकोलस केलडोर ने अपनी भारतीय कर सन्धोधन रिपोर्ट मे दिया था। इनके अनुसार उपहार कर भू-शुल्क के स्थान पर लगना था। यह कर सभी प्रकार के निष्प्रतिफल हस्तान्तरणो पर लगना था। केलडोर की सिफारिश के अनुसार यह कर उपहार पाने वाले पर लगना था, क्योंकि इस कर का सम्भाव उसी पर पडता है। कर की दर न तो उपहार के मूल्य के अनुकूल न दाता की सम्पत्ति पर लगने की सिफारिश थी, बल्कि यह दर उपहार पाने वाले की सकल सम्पत्ति पर लगनी थी। उपहार पाने वाले व्यक्ति को 10,000 रु० तक के उपहार पर कर नहीं देना था। 1 लाख रु० से कम के मूल्य के उपहार पर कर दर को 10% की सिफारिश की गई थी तथा उसमे ऊपर भू-कर से दुगुनी कर दर की सिफारिश की गई थी।

कर दर इस प्रकार होनी थी :

उपहार पाने वाले की उपहार के पश्चात् नेट सम्पत्ति	कर दर
1 लाख से 1½ लाख रुपये	15%
1,50,001 से 2,00,000 "	20%
2,00,001 से 3,00,000 "	25%
3,00,001 से 5,00,000 "	30%
5,00,001 से 10,00,000 "	40%
10,00,001 से 20,00,000 "	50%
20,00,001 से 30,00,000 "	60%
30,00,001 से 50,00,000 "	70%
50,00,001 से ऊपर	80%

कर दाता को कर के लिए उपहार को आय में शामिल करने का विकल्प दिया गया था, जिससे थोड़े मूल्यों पर अत्यधिक कर न लगे।

उपहार कर अमेरिका, ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, स्वीडन, नेदरलैंड्स, तुर्की, इज्राइल, जापान तथा कुछ अन्य देशों में भी लगता है। अमेरिका में यह कर दाता द्वारा वर्ष में दिये गये उपहारों के मूल्य पर लगता है। जब सम्पत्ति उपयुक्त मूल्य से कम पर हस्तान्तर की जाती है तब कर के लिए यह मूल्य अन्तर उपहार मान लिया जाता है। कर पट्टी प्रणाली पर लगता है। भारत में उपहार कर कानून 1 अप्रैल, 1957 में लागू हुआ। इसमें दर तय करने के लिए 1 अप्रैल, 1957 से पहले दिये गये उपहार शामिल नहीं थे। इसलिए 1959-60 कर वर्ष के लिए 1 अप्रैल, 1957 से 31 मार्च, 1959 तक दिये गये उपहार शामिल नहीं थे। 1962-63 में ही पूर्व 5 वर्षों में दिये गये उपहार शामिल होने को थे।

1 अप्रैल, 1970 से पहले कर मुक्त सीमा 10,000 रु० थी, जो घटा कर 5,000 रु० कर दी गई है। कर देय उपहार पट्टियों का पुनर्वर्गीकरण किया गया है तथा कुछ पट्टियों पर दर बढ़ गई है। पहले 20,000 पर उपहार कर दर 5% से 20 लाख से ऊपर 75% कर दी गई है। इस से पहले 15,000 की पहली पट्टी पर 5% से 14,90,000 रु० से ऊपर अधिकतम पर 50% थी।

संशोधित करें निम्न तालिका में दी गई हैं :¹

कर देय उपहार की पट्टी	पूर्व की कर दरें	कर देय उपहार की पट्टी संशोधित	नई कर दर
रु०	%	रु०	%
15,000 तक	5	20,000 तक	5
15,001- 40,000	8	20,001- 50,000	10
40,001- 90,000	10	50,001- 1,00,000	15
90,001-1,40,000	15	1,00,001- 2,00,000	20
1,40,001-1,90,000	17.5	2,00,001- 5,00,000	25
1,90,001-3,40,000	20	5,00,001-10,50,000	30
3,40,001-4,90,000	25	10,00,001-15,00,000	40
4,90,001-9,90,000	30	15,00,001-20,00,000	50
9,90,001-14,90,000	40	20,00,000 से ऊपर	85
14,90,000 से ऊपर	50		

उपहार कर से आय निम्न तालिका में दी गई है —

वर्ष	आय (करोड़ रुपये में)
1960-61	0.89
दूसरी योजना में योग	2.68
1965-66	2.27
तीसरी योजना का योग	7.59
1966-67	1.75
1967-68	1.30
1968-69	1.51
1970-71 (सं. व०)	1.50
1970-71 (व० अ०)	1.50

1 See R. B. I Bulletin, May 1970, p. 742.

तृतीयवां अध्याय वस्तुओं पर कर (COMMODITY TAXES)

वस्तुओं पर करों में समय-समय पर परिवर्तन होते रहे हैं। 1920-21 तथा 1925-26 के बीच आयात शुल्क सूची के विकास के कारण अप्रत्यक्ष करों से आय में बहुत वृद्धि हुई। तत्पश्चात् मन्दी काल में इस शीर्षक से आय घटी, किन्तु 1938-39 में पुनः आय 1925-26 के स्तर पर पहुँच गई। नये उत्पादन करों के लगने पर भी 1948-49 तक फिर इस शीर्षक से आय घटी। इसके कई कारण थे। प्रत्यक्ष करों का विकास हुआ। व्यापार के प्रतिरूप में परिवर्तन हुए। आयात करों की दरों में कमी हुई तथा नमक कर हटा। तत्पश्चात् आयात की मात्रा तथा आयात करों में वृद्धि के कारण इन से फिर आय में वृद्धि हुई। केन्द्रीय उत्पादन करों तथा निर्यात करों से आय में महत्वपूर्ण वृद्धि होती रही है।

सीमा शुल्क आय भारतीय विधान के अनुसार केन्द्रीय आय का साधन है। 1951 से पूर्व पटसन कर का 62½% भाग असम, बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा राज्यों को दिया जाता था, क्योंकि इन्हीं राज्यों में पटसन की खेती होती थी। नीमेयर निर्णय के अनुसार राज्यों का भाग घट कर 20 प्रतिशत रह गया, क्योंकि बंगाल का वह भाग जिसमें खेती होती है अधिकतर पूर्वी पाकिस्तान में चला गया। विधान के अन्तर्गत पटसन निर्यात कर आय 10 वर्ष तक पूरक अंशदान के रूप में अथवा कर जब तक लगे, दोनों में से जो भी स्थिति पहले आ जाय, उन प्रान्तों को दी गई जिन में पटसन की खेती होती थी। भारत में विलय से पूर्व, सीमा शुल्क का एक भाग ट्रावनकोर कोचीन तथा मीरापट्ट को दिया जाता था। इनके भारत में विलय पर दोनों को देय अंशदान बन्द कर दिये गये।

सीमा शुल्क आयात तथा निर्यात करों की आय है। ये कर उद्योगों के संरक्षण के लिये तथा आय प्राप्त करने के लिए लगते हैं। आय के लिए लगाये गये कर भी रक्षात्मक होते हैं। आयात करों से विदेशी माल की कीमत बढ़ती है। यदि यह मात्र

भीमा शुल्को तथा केन्द्रीय उत्पादन करो से प्राप्त आय निम्न तालिका मे दी गई है :

	आयात कर	निर्यात कर	नेट आय	संघीय उत्पादन करो से आय (अक करोड रुपये मे)	राज्यो का भाग	नेट उत्पादन करो से आय
1950-51	107.70	47.36	157.15	67.54	.	67.54
1955-56	127.98	37.76	166.70	145.25	16.57	128.68
पहली योजना का योग	648.30	264.37	915.71	517.26	64.06	453.20
1960-61	154.61	13.12	170.03	416.35	75.10	341.25
दूसरी योजना का योग	698.42	104.35	817.65	1,553.99	281.23	1,272.76
1965-66	547.69	2.14	538.97	897.92	145.92	752.00
तीसरी योजना का योग	1,723.22	30.23	1,729.42	3,517.15	614.81	2,902.34
1966-67	479.21	122.91	585.37	1,033.78	230.91	802.87
1967-68	408.08	130.42	513.35	1,148.52	234.64	913.88
1968-69	373.97	101.93	446.50	1,320.67	290.93	1,029.74
1969-70 (सं० ब)	363.33	75.27	415.00	1,526.76	321.51	1,204.25
1970-71 (सं० अ०)	429.50	60.66	445.00	1,814.40	388.75	1,425.65

मशीनों तथा कच्चे माल के रूप में उद्योगों के लिए आवश्यक है तब उद्योगों की लागत बढ़ती है। इसलिए ऐसे आवश्यक माल की आयात पर करो में परिवर्तन होते रहते हैं, जिसमें उद्योगों की उत्पत्ति में बाधा न पड़े। निर्यात करो से विदेशों में कच्चे माल की कीमत बढ़ती है। इन करो की आय में घट बढ़ होती रहती है। यह आय अंतरराष्ट्रीय व्यापार की स्थिति के अनुसार घटती बढ़ती रहती है।

योजना काल में आयात करो से आय 1965-66 तक बराबर बढ़ती रही जैसा उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है। तत्पश्चात् 1966-67 से लगा कर 1968-69 तक यह कम होती रही। 1970-71 में नये प्रस्तावों के फलस्वरूप इस आय में लगभग 30 करोड़ रुपयों की वृद्धि का अनुमान लगाया गया था।

निर्यात करो की आय में 1965-66 तक बराबर तीव्रता से कमी होती रही। 1950-51 में 47 करोड़ रुपये से घट कर 1965-66 में यह आय लगभग 2 करोड़ रु० ही रह गई। 1966-67 में इसमें विशेष वृद्धि हुई। 1968-69 से यह फिर कम होने लगी।

निर्यात करो की आय पर भारीमा नहीं रखना चाहिए। विदेशी उपभोक्ताओं पर इन करो का भार तभी पड़ता है जब निर्याती देश में कर लगता है, वस्तु की मात्रा का विशेष उत्पादन होता है जिससे वह देश उसके उत्पादन का एकाधिकारी कहा जा सकता है। भारत को भूँकि विदेशी मुद्रा की बहुत आवश्यकता है इसलिए निर्यातकों को निर्यात की वृद्धि के लिए प्रोत्साहन दिये जाते हैं। विदेशों में भारत को अपने माल की खपत बढ़ाने के लिये कीमत घटानी होती है। दूसरे देशों के उत्पादकों को माल का गुण अच्छा करना होता है तथा कीमत को भी कम करना होता है। इन्हीं उपायों से विदेशों में माल की खपत बढ़ाई जा सकती है।

यह साधारणतया उपयुक्त नहीं है कि सीमा शुल्कों का सम्पात अथवा भार विदेशी नागरिकों पर पड़ता है। विदेशी उत्पादक पर आयात कर का सम्पात तभी पड़ता है जब देश में विदेशी माल की माँग बहुत लचकदार होती है तथा विदेशी माल की अधिकांश खपत आयाती देश में होती है। ऐसी दशा में विदेशी माल की कीमत बढ़ने में उसकी खपत घटेगी। विदेशी उत्पादक इस माल को कहीं अन्य देश में नहीं बेच सकते, क्योंकि आयाती देश में ही इसकी अधिक खपत होती है। ऐसी दशा में कर का भार विदेशी उत्पादक को ही बरदाश्त करना होता है।

अल्प विकसित देशों को मशीनरी तथा आवश्यक कच्चे माल की आवश्यकता होती है। इसलिए इस माल पर कर लगाने से उसकी कीमत बढ़ती है। इसकी माँग लचकदार नहीं होती। इसलिए इस प्रकार के विदेशी माल पर आयात कर घटाने होते हैं।

केन्द्रीय उत्पादन कर—केन्द्रीय सरकार को भारत में निर्मित वस्तुओं पर कर लगाने का वैधानिक अधिकार है। वित्तीय तथा राजकोषीय कारणों से ये कर

केन्द्र द्वारा ही लगने चाहिए। आस्ट्रेलिया में उत्पादन करों को लगाने का अधिकार केन्द्रीय सरकार को ही है, किन्तु अमेरिका में यह अधिकार केन्द्र तथा राज्य दोनों को है। इन करों से वस्तुओं की कीमतें बढ़ती हैं तथा देशी उत्पादकों को विदेशी उत्पादकों की तुलना में हानि रहती है। इस हानि को निष्प्रभावित करने के लिए अनुरूप आयात कर लगाने होते हैं। इसलिए इनके लिए केन्द्रीय सरकार को ही एक मात्र अधिकार होना चाहिए।

द्वितीय भाग के राज्यों के वित्तीय एकीकरण से पूर्व नया उत्पादन कर लगाने के लिए भारत सरकार को देशी राज्यों से समझौते करने होते थे। दियासलाई, वनस्पति, तम्बाकू आदि वस्तुओं के विषय में यह व्यवस्था की गयी कि प्रान्तों तथा राज्यों में इन करों की आय एक सम्मिलित कोष में जमा की जाय तथा वसूली लागत घटाकर नेट आय का जन सख्या के आधार पर विभाजन किया जाय। इन वस्तुओं के उत्पादन के स्थान का इनकी आय के विभाजन करते समय ध्यान न रखा जाये। 1 अप्रैल, 1950 से उत्पादन करों की आय केन्द्र को प्राप्त होती है, किन्तु प्रथम वित्तीय आयोग की सिफारिश के अनुसार राज्यों को दियासलाई, तम्बाकू तथा वनस्पति पदार्थों पर उत्पादन करों की नेट आय जन सख्या के आधार पर राज्यों में विभाजित होती थी। यह सिफारिश 1953 में समदीय कानून में सम्मिलित हो गयी। दूसरे वित्तीय आयोग की सिफारिशों के अनुसार वस्तुओं की सख्या 8 कर दी गयी तथा उनके उत्पादन करों की नेट आय का राज्यों में बटने वाला भत्ता 40% से घटाकर 25 प्रतिशत कर दिया गया। तीसरे आयोग ने वस्तुओं की सख्या 35 कर दी तथा राज्यों का भाग 20% कर दिया। चौथे आयोग ने सभी वस्तुओं की नेट आय के विभाजन की सिफारिश की, किन्तु राज्यों का भाग 20 प्रतिशत ही रखा। पाँचवें आयोग ने कुछ अन्य परिवर्तनों की सिफारिश की।

जब तक वस्तु की माँग अप्रत्यास्थ (inelastic) न हो उत्पादन कर लगने से वस्तु का उत्पादन घटता है। आय की दृष्टि से यह कर सामान्य उपभोग की वस्तुओं पर लगने चाहिए। 1922 के राजकोपीय आयोग ने यह प्रतिपादित किया कि उत्पादन कर उन्हीं वस्तुओं पर लगने चाहिए जिनका उत्पादन बड़े कारखानों अथवा सीमित क्षेत्रों में होता है। ये हानिकारक वस्तुओं के उपभोग को रोकने के लिए भी लगाये जा सकते हैं। तथा आय की दृष्टि से जन साधारण के उपभोग की वस्तुओं पर भी लगाये जा सकते हैं, किन्तु इनका भार गरीबों पर अत्यधिक नहीं होना चाहिए। सरक्षित वस्तुओं के उत्पादन पर, बराबर के मूल्य का आयात कर लगाना चाहिए।¹

नमक कर के अतिरिक्त भारत सरकार ने प्रथम उत्पादन कर 1894 ई० में 20 से ऊपर काउन्ट के सूत पर आयात कर के बराबर लगाया। 1896 ई० में

मिल में बुने कपड़े पर उत्पादन कर लगाया गया। ये उत्पादन कर यू० कै० के दबाव से लगाये गये तथा तथा इनका उद्देश्य भारत के बाजार में संकाशायर में बुने कपड़े को माँग बढ़ाना था।²

1921-22 के राजकोपीय आयोग ने कपड़ा उत्पादन कर हटाने की सिफारिश की। इसने यह भी सिफारिश की कि सूती कपड़े के उद्योग के संरक्षण आयात कर की आवश्यक दर पर टेरिफ बोर्ड द्वारा विचार होना चाहिए तथा उपयुक्त दर निश्चित होने के पश्चात् केन्द्र निधान करना चाहिए। उत्पादन कर जारी रखने पर संरक्षणात्मक कर में वृद्धि उत्पादन कर मूल्य के बराबर होनी चाहिए। कपड़े पर से उत्पादन कर 1926 में हटा लिया गया।

द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व उत्पादन कर दियासलाई, मोटर स्प्रिट, स्टील की सिलिलियो तथा मिट्टी के तेल पर लगाये गये थे। इन में सर्वप्रथम 1917 में मोटर स्प्रिट कर लगाया गया था। इस कर का मुख्य उद्देश्य भारत में मिट्टी के तेल के उपभोग में कमी करना था, जिसमें सामरिक उद्देश्यों के लिए प्रदाय सुरक्षित रहे। उसके पश्चात् यह कर स्थायी कर दिया गया। मिट्टी के तेल पर यह कर 1922 में, तथा चाँदी के उत्पादन पर 1930 में लगाया गया। 1930 के उत्पादन कर से 1937 में वर्मा के प्रयत्नकरण के पश्चात् आय प्राप्त नहीं हुई, क्योंकि चाँदी वर्मा में पैदा होती है तथा उसके भारत से अलग होने पर भारत में इस वर से आय नगण्य ही रही।

1934 का वर्ष केन्द्रीय उत्पादन करों के विकास में एक ऐतिहासिक घटना थी जबकि कर चीनी, दियासलाई तथा स्टील की सिलिलियो पर लगाये गये। इन संरक्षित उद्योगों के विकास में एक ऐसी स्थिति आ गयी थी जबकि आय की वृद्धि इन वस्तुओं पर आयात करों के स्थान पर उत्पादन कर लगाने से ही हो सकती थी। 1932 में 7 रु० 25 पैसे के संरक्षणात्मक कर पर 1 रु० 81 पैसे के अतिरिक्त कर लगाने से चीनी उद्योग के कारखानों को भारी मुनाफा हुआ। इसीलिए चीनी उत्पादन वर लगाया गया तथा गन्ने के उत्पादकों को संरक्षण का लाभ देने के लिए गन्ने की कीमतें निश्चित की गयी। देश में दियासलाईओं के कारखानों की वृद्धि के कारण ही इनके उत्पादन पर कर लगाया गया। साथ-साथ यान्त्रिक लाइट्स पर भी यह कर लगाया गया। 1934 में स्टील की सिलिलियो पर यह कर लगाया गया तथा इसके बराबर सीमा शुल्क भी लगाया गया।

द्वितीय विश्व युद्ध में बहुत सी वस्तुओं पर उत्पादन कर लगाये गये। 1941 में टायरों पर तथा 1943 में वनस्पति वस्तुओं तथा तम्बाकू पर उत्पादन कर लगा।

1944 में कहवे, चाय तथा सुपारी पर भी यह कर लगा। 1948 में प्रशासनिक कठिनाइयों के कारण सुपारी पर से उत्पादन कर हटा लिया गया।

1949 में केन्द्रीय उत्पादन शुल्क सूची में मिलों में बुना सूती कपड़ा आ गया। 1954 में आर्ट सिल्क, सीमेंट, गाबुन तथा मोजो पर भी यह कर लगाया गया। 1955 में केन्द्रीय उत्पादन करों में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए तथा प्रति वर्ष उत्पादन कर दरों में भी परिवर्तन होते रहे तथा नई वस्तुओं पर यह कर लगता रहा। 1953-54 के राजकोषीय व्ययों की वृद्धि के फलस्वरूप आय की हानि की पूर्ति करने के लिए बहुत से नये उत्पादन कर लगाने की सिफारिश की। इसलिए 1955 में ऊनी वस्त्रों, बिजली के पखों, बत्तों आदि बहुत सी वस्तुओं पर उत्पादन कर लगाये गये। योजना काल में पाँच वित्त आयोगों ने उत्पादन करों के सम्बन्ध में राज्यों तथा केन्द्र में इन करों की आय के बटवारे के विषय में सिफारिशें की हैं, जिनके कारण राज्यों की आय में वृद्धि हुई। हर वर्ष वित्तीय विधेयक में नये उत्पादन कर लगते हैं तथा करों की दरों में परिवर्तन होते हैं।

योजना काल में उद्योगों में विविधता की वृद्धि हुई है। इसलिए नई वस्तुओं पर उत्पादन कर लगाये गये हैं जिनसे केन्द्र तथा राज्यों की आय में बराबर वृद्धि होती रही है।

समय-समय पर केन्द्रीय उत्पादन करों की वृद्धि के दो मुख्य कारण हैं। प्रथम, संरक्षण के कारण देशी उद्योगों की उन्नति हुई है, जिससे सीमा शुल्क से आय में कमी की पूर्ति के लिए उत्पादन कर लगाये गये। दूसरे, योजना काल में आर्थिक नियोजन के फलस्वरूप उद्योगों की उन्नति हुई तथा योजना व्यय के लिए अधिक धन की आवश्यकता हुई। उत्पादन करों से मुख्यतया धन के लिए आय की इस बढ़ती हुई माँग की पूर्ति के लिए नये उत्पादन कर लगे हैं।

निम्न तालिका में योजना काल में केन्द्रीय उत्पादन कर आय तथा केन्द्रीय सरकार की कुल आय तथा केन्द्रीय उत्पादन करों की आय का अनुपात दिया गया है ³

वर्ष	सकल केन्द्रीय उत्पादन कर आय (अक करोड़ रुपये में)	भारत सरकार की सकल कर आय	उत्पादन कर आय सकल कर आय के प्रतिशत के रूप में
1938-39	8.72	81.37	10.7
1950-51	67.54	357.00	19.0
1955-56	128.68	411.47	31.3

³ Prepared from Taxation Enquiry Commission Report Vol II, p. 258. and R. B. I. Bulletin, May 1970, Statement 8, 760, 761.

पहली योजना का योग	453.20	1,973.57	23 1
1960-61	341.25	730.14	46.7
दूसरी पंचवर्षीय योजना का योग	1 272 76	2,994.73	42 6
1965-66	752.00	1,784.62	42.1
तीसरी पंचवर्षीय योजना का योग	2,902.34	6,658.10	43.5
1966-67	802.87	1,933.96	41.5
1967-68	913.88	1,936.67	47.1
1968-69	1,029.74	2,018.86	51.0
1969-70	1,204.25	2,110.37	57.1
1970-71 (B. E.)	1,425 65	2,391.94	59.2
1970-71 (R. E.)	...	2,442 07	...
1971-72 (B. E.)	...	2,759.80	...

उपर्युक्त तालिका से ज्ञात होता है कि केन्द्रीय सकल कर आय तथा उत्पादन कर आय का अनुपात 1938-39 में 10.7% था, जो 1970-71 में बढ़कर 59.2% हो गया। इसका यह अर्थ है कि उत्पादन करो से केन्द्र की आय कुल कर आय का 59.1% है। 1970-71 के बजट अनुमानों के अनुसार केन्द्र की कुल कर आय नये कर प्रस्तावों सहित 2,391.94 करोड़ रुपये थी, जिसमें से उत्पादन करो की आय 1425.65 करोड़ रुपये थी।

केन्द्रीय उत्पादन करो की आय को प्रभावित करने वाले घटक

तीन मुख्य घटक केन्द्रीय उत्पादन करो की आय के परिवर्तनों के लिए उत्तरदायी हैं। करो की दरों में परिवर्तन, कर लगाने वाली वस्तुओं के उपभोग की वृद्धि तथा नई वस्तुओं को करारोपण के अन्तर्गत लाने के प्रयास। वस्तुओं की कीमतों की वृद्धि के साथ उत्पादन करो की दरों में भी वृद्धि हुई है, किन्तु वस्तुओं की कीमतों की वृद्धि की तुलना में करो की दरों में मामूली वृद्धि हुई है। उदाहरण के लिए 1938-39 तथा 1953-54 में मूल्य स्तर चौगुने बढ़े, किन्तु दरों की वृद्धि के कारण आय 125% ही बढ़ी। आय की वृद्धि से नई वस्तुओं पर कर लगाने से आय की वृद्धि अधिक महत्वपूर्ण रही। 1953-54 में उत्पादन करो की केवल 29% आय उन वस्तुओं से प्राप्त हुई जिन पर 1938-39 में उत्पादन कर लगे, किन्तु 76% आय उनसे प्राप्त हुई जिन पर 1948-49 में कर लगे। इसलिए उत्पादन बढ़ने से नई वस्तुओं के उपभोग में आने से उत्पादन करों से आय अधिक बढ़ती है।

कराधान जाँच आयोग के अनुसार वस्तुओं पर कराधान से आय प्राप्त करने के लिए उत्पादन करो में पर्याप्त गुंजायश है। आयोग ने ऐसी वस्तुओं की सूची का

मुभाव दिया जिनका उत्पादन देश में पर्याप्त मात्रा में बढ़ा तथा जिनसे विकासशील वित्त के लिए आवश्यक आय उत्पादन करो से प्राप्त हो सकती है। आयोग के अनुमान के अनुसार वर्तमान दरों की वृद्धि तथा नये उत्पादन करो से केन्द्रीय उत्पादन करो की आय लगभग 40-45 प्रतिशत तक बढ़ेगी।* उत्पादन करों से आय में 1950-51 की तुलना में बाद के वर्षों में विशेष वृद्धि हुई है, जिसका अनुमान पृष्ठ 336-337 पर तालिका से लग सकता है। आर्थिक नियोजन में उत्पादन की वृद्धि से उन वस्तुओं की संख्या जिन पर उत्पादन कर लगाये जा सकते हैं बराबर बढ़ती रहेगी। इसलिए उत्पादन करो से आय में वृद्धि की बहुत गुंजायश है।

4 Report of the Taxation Enquiry Commission, Vol II, p. 317. Since then, there has been a great increase in the coverage of articles subject to excise duties,

मूल्य नहीं है
गुटे की किस्त पड़े

चौतीसवाँ अध्याय

केन्द्रीय सरकार की करों से अलग आय के साधन (NON-TAX REVENUE)

हमारे देश के सार्वजनिक वित्त में करों के अतिरिक्त अन्य आयों का मुख्य स्थान है। कर तथा अन्य आयों में अन्तर रेखा बहुत पतली है। उदाहरण के लिए, विद्युत उपभोग पर कर आय तथा विद्युत व्यवसायों की बचत अथवा मादक पस्तुओं पर कर आय तथा एक मशीननिर्माणशाला का मुनाफा इनमें बहुत कम अन्तर है। एक आय दूसरे में धीरे-धीरे विलय हो जाती है। इसलिए कर नीति की समस्याएँ तथा सरकारी उद्योगों की सेवाएँ तथा वस्तुओं की मूल्य नीति के प्रश्न एक दूसरे के साथ इतने मिले जुले हैं कि कभी-कभी इनमें अन्तर स्पष्ट नहीं रहता। इसलिए सरकारी उद्योगों के उद्देश्यों का इन दृष्टि से मूल्यांकन आवश्यक हो जाता है कि इनके प्रचालन में आय का उद्देश्य कहीं तक है जिससे कि अन्य उद्देश्यों के साथ-साथ उनसे आय भी बढ़ सके। अल्प विकसित देशों में आर्थिक विकास की उन्नति के लिए अतिरिक्त धन आवश्यक है। इसलिए करों से अलग आय के सम्बन्ध में भी राजकोपीय उद्देश्य की दृष्टि में रायना आवश्यक है।

करों से अलग आय से अभिप्राय राजकीय उद्योगों के मुनाफे से है जिससे केन्द्र तथा राज्य दोनों ही की आय में बराबर वृद्धि हो रही है। प्रायः सभी देशों की राजकोपीय प्रणालियों में अन्य आयों का महत्त्व है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि अन्य देशों में कर प्रणालियों के साथ-साथ राजकीय सम्पत्ति से करों से अलग साधनों की आय घटती रही है। द्वितीय युद्ध के पश्चात् राज्य आर्थिक उद्योगों में भाग अधिकाधिक ले रहा है। इससे विभिन्न देशों में इस आय की वृद्धि हो रही है। साथ-साथ स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्थाओं में सामूहिक-अर्थ व्यवस्थाओं की तुलना में कर आयें भी अधिक बढ़ रही हैं। सामूहिक अर्थ-व्यवस्थाओं में सार्वजनिक आयों का अधिक भाग राजकीय उद्योगों से प्राप्त होता है। अतः सोवियत त्स में सामान्यतया सार्वजनिक आय का केवल 10 प्रतिशत भाग कर तथा ऋणों से प्राप्त है तथा शेष भाग सार्वजनिक उद्योगों की वस्तुओं पर बिक्री कर तथा सार्वजनिक उद्योगों

के मुनाफे से प्राप्त होता है।¹ अन्य केन्द्रीय नियोजित अर्थ-व्यवस्थाओं में भी यही स्थिति है यद्यपि सार्वजनिक उद्योगों से आय इतनी न हो। बहुत से निजी अर्थ-व्यवस्था के अल्प विकसित देशों में उनके नियति व्यापार में एक अथवा दो मौलिक वस्तु पदार्थों का महत्वपूर्ण स्थान है। उन देशों में राजकीय व्यापार से ही आय का अधिकांश भाग प्राप्त होता है। इन देशों में करों के अतिरिक्त अन्य साधनों से आय का विशेष स्थान नहीं है, यद्यपि हाल के वर्षों में कुछ ऐसी राजकीय प्रक्रियाओं का महत्त्व बढ़ गया है, जिनसे करों के अलावा अन्य साधनों से आय प्राप्त होती है।

1952 में यूनाइटेड किंगडम में राष्ट्रकृत उद्योग कुल उद्योगों के दशांश का प्रतिनिधित्व करते थे। युद्ध के पश्चात् कुछ आधारीय उद्योगों का राष्ट्रीयकरण हुआ। कोयला, गैस, बिजली, यातायात, बैंक आफ इंग्लैंड तथा फौलाद के उद्योगों में सब से बड़े कारखानों का निर्माण हुआ जिनकी व्यवस्था सार्वजनिक कारपोरेशनों द्वारा हुई। इन कारपोरेशनों से कर प्राप्त होते हैं।

युद्ध के पश्चात् फ्रान्स में भी राष्ट्रीयकरण का प्रसार हुआ। 1945 में उड्डयन, बीमा, बैंक आफ फ्रान्स सहित अस्त्रोपकरण का एक बड़ा भाग राष्ट्र के हाथों में लिया गया। 1946 में कोयला खनन, गैस, तथा बिजली का राष्ट्रीयकरण हुआ। बहुत से कारखानों में फ्रान्स की सरकार के हिस्से हैं, किन्तु युद्धोत्तर काल में सार्वजनिक उद्योगों में मामूली से घाटे रहे हैं।

लैटिन अमरीकी तथा मध्य पूर्वी देशों में भी कर निष्पेक्ष आयों का महत्वपूर्ण स्थान है। लैटिन अमरीकी देशों में विदेशी विनिमय सम्बन्धी बहुमुखी करेन्सी प्रक्रिया के सौदों से भारी मुनाफे होते हैं। उन्हें शराब तथा तम्बाकू के एकाधिकारों तथा स्टेट लाटरियों से भी आय प्राप्त होती है। 1949-50 में कुछ मध्य पूर्वी देशों में कुल अनुमानित आय का 30 प्रतिशत भाग कर निष्पेक्ष आयों से प्राप्त हुआ। तेल से 11 प्रतिशत आय प्राप्त हुई। ईरान में बहुत से सार्वजनिक उद्योग हैं तथा अफ़ीम तथा तम्बाकू के कारखानों से 1949-50 में 13 प्रतिशत आय प्राप्त हुई।

भारत में सार्वजनिक उद्योगों के उद्देश्य तथा क्षेत्र

भारत में 1956 ई० तक व्यापारी तथा औद्योगिक क्षेत्रों में राज्य ने मुनाफे की दृष्टि से हस्तक्षेप नहीं किया गया। राज्य के हस्तक्षेप का मुख्य कारण अराज-कोपीय उद्देश्य रहा। राज्य ने निम्न उद्देश्यों से उद्योग चक्राने प्रारम्भ किये।

(1) आधारीय सार्वजनिक उपयोगिताएँ तथा उत्कृष्ट स्रोत हित सम्बन्धी परियोजनाएँ—यह उद्देश्य रेलों के निर्माण में महत्वपूर्ण रहा है। मिर्चाई तथा शक्ति परियोजनाओं का अल्प काल में आय के उद्देश्य से निर्माण नहीं हुआ।

(ii) राष्ट्रीय महत्त्व के उद्योगों का निर्माण—देश में औद्योगिक तथा कृषि विकास के लिए स्टील तथा खाद के कारखानों का निर्माण किया गया ।

(iii) पूँजीगत माल के उद्योगों की स्थापना—मारी मशीनों के औजार बनाने के कारखानों के निर्माण में यह मुख्य उद्देश्य रहा । इनसे आय निश्चित तथा तत्काय नहीं होती । ये निजी उद्यम के लिए आकर्षक नहीं होते ।

(iv) पथ प्रदर्शक उद्योगों का निर्माण—उद्योग क्षेत्र में निजी उद्यम को प्रोत्साहित करने का यह उद्देश्य रहा ।

कुछ मामलों में सार्वजनिक उद्योगों के प्रसार में आय का दृष्टिकोण मुख्य रहा है किन्तु वहाँ भी कोई न कोई स्पष्ट सार्वजनिक उद्देश्य ही प्रवर्तन का कारण रहा । भारत में 1953-54 में केन्द्रीय, राज्य तथा स्थानीय स्तरों पर कर आय सकल सार्वजनिक आय का 18.2% भाग थी । हाल के वर्षों में रेल, डाक तार, प्रसारण, करेन्सी तथा खनन तथा सार्वजनिक क्षेत्र में औद्योगिक कारखानों, केन्द्रीय सरकार के मुख्य सार्वजनिक उद्योगों में स्थापित किये गये हैं ।

केन्द्र की निष्पेक्ष आयों में रेलों से किसी एक व्यवसाय में सर्वप्रमुख आय होती है । 1970-71 में रेलों से 138.31 करोड़ रुपये आय का अनुमान किया गया ।

1924 का प्रथमकरण कानून—1924 से पूर्व रेलों का वित्त सार्वजनिक वित्त में बजट में शामिल रहता था । 1924 में एकवर्षीय कमेटी की सिफारिश पर रेलों का बजट केन्द्रीय सरकार के बजट से अलग किया गया । इस कानून के अनुसार रेलों से भारत सरकार को प्रति वर्ष रेलों में लगी पूँजी पर 1% तथा इसको घटा कर मुनाफे का पाँचवा भाग स्थिर अंशदान के रूप में केन्द्र को आय के रूप में प्राप्त होने की व्यवस्था की गई । प्रति वर्ष इन भुगतानों की पूर्ति के पश्चात् 3 करोड़ रुपये से ऊपर की बचत का 1/3 भाग केन्द्रीय आय में शामिल करने की व्यवस्था की गई । किसी वर्ष रेलों के अंशदान न देने पर घाटा आगामी वर्षों में पूरा किया जाना था । साधारण आय के अंशदान में से रेलों में लगी पूँजी पर व्याज तथा सामरिक महत्त्व की रेलों का घाटा काटने की व्यवस्था थी । रेलों की बचत रेल सचिव कोष में जमा होती थी । इस कोष की स्थापना का उद्देश्य सामान्य आय के लिए निश्चित अंशदान प्राप्त करना, पूँजी मूल्य ह्रास के लिए धन की व्यवस्था करना तथा रेलों की वित्तीय स्थिति को सुदृढ़ करना था ।

1930 ई० के पश्चात् मन्दी काल में रेलों की आय घटी तथा उनकी चालू आय से व्याज व्यय की पूर्ति भी नहीं हो सकी । मार्च 1932 तक रेल सचिव कोष लगभग समाप्त हो गया था तथा उस वर्ष से मूल्य ह्रास कोष से अस्थायी ऋण लिए गये । 1931-32 तथा 1935-36 के बीच रेलों से अंशदान प्राप्त नहीं हुए तथा वार्षिक व्याज के भुगतान के लिए मूल्य ह्रास कोष से 31 करोड़ ६० से ऊपर अस्थायी ऋण लिए गये । 1936-37 में मूल्य ह्रास कोष से अस्थायी रूप में लिए गये धन भुगतान

के लिए 1 21 करोड़ रुपये की वचत का उपयोग किया गया। साधारण आय के अंशदान के भुगतान के लिए मूल्य ह्रास कोप से लिए गये ऋण का तीन वर्ष के लिए स्थगन घोषित किया गया। इसलिए 1937-38 में रेलों से साधारण आय के लिए 2.76 करोड़ रुपये का अंशदान प्राप्त हो सका। 1942-43 तक मूल्य ह्रास कोप से निकाले गये धन का भुगतान सम्भव हुआ। 1938-39 तक 1 प्रतिशत अंशदान की बकाया रकम 35.41 करोड़ रुपये तक पहुँच गई थी। उसका भुगतान 1942-43 तक सम्भव हुआ।

युद्ध काल में रेलों की आय में वृद्धि हुई। मार्च 1943 में 1924 के समझौते में परिवर्तन हुआ जिसके अनुसार 1943-44 की व्यवसायिक रेलों की वचत का साधारण आय तथा रेल कोप में 3.1 अनुपात में बटवारा किया गया तथा सामरिक रेलों पर होने वाली हानि साधारण आय के भाग में से घटाई गई। आगामी वर्षों में व्यवसायिक रेलों की वचत का बटवारे का निर्णय रेलों तथा साधारण आय की आवश्यकताओं के अनुसार नये समझौते होने तक प्रति वर्ष होता रहा। इन परिवर्तनों के अन्तर्गत 1943-44 में रेलों से साधारण आय के लिए 37 64 करोड़ रुपये प्राप्त हुए।

1949 का समझौता—1949 में पाँच वर्ष के लिए रेलों का नया समझौता हुआ। यह मार्च 1954 तक रेलों के अंशदान का आधार रहा। इसके अन्तर्गत तथाकथित अंशदान के स्थान पर रेलों से उनकी उधार पूँजी पर 4 प्रतिशत धन साधारण आय को मिलने लगा।

मार्च 1954 का वित्तीय समझौता

आगामी पाँच वर्षों में इस समझौते का रेलों के वित्त पर महत्वपूर्ण प्रभाव हुआ। इसकी मुख्य बातें नीचे दी हुई हैं

(i) अलाभकारी परिचालन उन्नतियों पर 3 लाख रुपये से ऊपर लागत पूर्णतया विकास कोप से पूरी होनी थी।

(ii) रेलों की आय से मूल्य ह्रास संचित कोप के लिए वार्षिक अंशदान 30 करोड़ रुपये से 35 करोड़ रुपये कर दिया गया।

(iii) रेलों को उनमें लगी पूँजी पर 4 प्रतिशत लाभांश देना था। इसमें दो सशोधन किये गये थे

(1) अत्यधिक पूँजीकरण पर जो लगभग 100 करोड़ रुपये था, किन्तु जिसका वास्तविक मूल्यांकन बाद में होना था, रेलों की साधारण आय के लिए लाभांश का भुगतान व्यवसायिक विभागों की व्याज दर पर करण की व्यवस्था की गयी थी।

(2) निर्माण काल में नई रेलों में लगी पूँजी पर उनके ट्रैफिक के लिए खुलने के पाँचवें वर्ष के अन्त तक देय लाभांश के स्थगन की व्यवस्था की गयी। छठे

वर्ष से आगे इस पूँजी व्यय पर चातु लाभान का भुगतान होना था। स्थगन बाल का बकाया लाभान व्यवसायिक विभागों की व्याज दर पर परिकलित किया जाना था तथा चातु लाभान के भुगतान के पश्चात् इन रेलों से होने वाली नेट बचन पर इस भुगतान के दृढ़ वर्ष से आगे होने की व्यवस्था थी।

(iv) विकास कोष में विकास कार्यों के लिए धन अर्पण होने पर रेलों को साधारण आय से ऋण उसी व्यय दर पर दिये जाने की व्यवस्था थी जो व्यवसायिक विभागों को देना होता है।

(v) लाभकारी वे योजनाएँ मानी जायेंगी जिनके निवेश पर 5 प्रतिशत नेट आय होती है।

1965 में समझौते में परिवर्तन—इस समझौते के अनुसार 1966-67 से लाभान में दो भुगतान जो उस समय तक प्रथक थे शामिल किये गये। ये थे लाभान तथा भाड़े पर कर के स्थान पर विशेष भुगतान। नयी व्यवस्था के अनुसार साधारण आय के लिए लाभान 13-3-64 को लगी पूँजी पर 5.50% तथा उसके बाद की नयी पूँजी पर 6% रखा गया। 31-3-1964 तक लगी पूँजी पर 1% लाभान में से 16.25 करोड़ रुपये यात्री किराये पर कर के स्थान पर राज्यों को हस्तान्तरित किया गया तथा रेल धन सुरक्षा कार्यों के वित्त के लिए राज्यों की सहायता के लिए रखा गया।

निम्न तालिका में सामान्य आय के लिए लाभान की धन राशि दी गई है।²

(करोड़ रुपये में)

वर्ष	सामान्य आय के लिए लाभान	रेलों के भाड़े पर कर के स्थान पर सामान्य आय के लिए भुगतान
1950-51	32.51	
1955-56	36.12	
1960-61	55.86	
1961-62	62.85	12.50
1962-63	68.76	12.50
1963-64	83.45	12.50
1964-65	92.43	12.50
1965-66	103.78	12.50
1966-67	132.19	
1967-68 (त. व.)	141.08	
1968-69 (व. व.)	152.00	

² Prepared from statement 61, Annual Report of the R. B. I. on Currency and Finance 1963, p. S101.

रेलो से राष्ट्रीय वित्त के लिए आय प्राप्त हुई है तथा इनसे राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था भी सुदृढ़ हुई है। इनसे इनके विकास तथा प्रसार के लिए भी वित्त प्राप्त हुआ है। प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में रेलों से 320 करोड़ रुपये के बजाय 150 करोड़ रुपये ही प्राप्त हुए। दूसरे योजना काल में उनसे लोक क्षेत्र के वित्त के लिए 150 करोड़ की मांग की गयी तथा तीसरे योजना काल में उनसे केवल 80 करोड़ रुपये प्राप्त हुए, किन्तु चौथी योजना में रेलों से सार्वजनिक क्षेत्र के वित्त के लिए 265 करोड़ रुपये का अनुमान किया गया है।³

डाक तथा तार—डाक तथा तार के वित्त केन्द्रीय बजट में विलीन कर दिये गये। सकल आय का उपयोग उनके चालू व्यय तथा व्याज के भुगतान के लिए उपयोग में लाया जाता है। शेष में से एडवाक अंशदान साधारण आय के लिए किया जाता है।

निम्न तालिका में डाक तथा तार विभाग का अंशदान दिया गया है :

(करोड़ रुपये में)

वर्ष	डाक तथा तार से आय
1950-51	3.98
1955-56	3.47
पहली योजना का योग	13.77
1960-61	0.46
दूसरी योजना का योग	22.04
1965-66	1.15
तीसरी योजना का योग	5.35
1967-68	5.55
1968-69	2.64
1970-71 (ब० अ०)	3.26

करेन्सी तथा टकसाल—इस शीपिंग की आय रिजर्व बैंक के मुनाफे के रूप में होती है जो सरकारी ऋण पर व्याज के रूप में तथा कासे तथा निकल के सिक्कों के निकलने से होता है।

3 Fourth Five Year Plan 1969-74, p 76 The original estimate was Rs 415 crores.

इस शीर्षक से प्राप्त आय निम्न तालिका में दी गयी है :

वर्ष	(आय करोड़ रुपये में)
1950-51	9.91
1955-56	20.00
1960-61	40.00
1965-66	48.00
1966-67	50.00
1967-68	60.00
1968-69	65.00
1969-70 (म० अ०)	70.00
1970-71 (ब० अ०)	75.00

अ-कर आयों से सम्बन्धित समस्याएँ तथा नीति विषयक विचार

भारत सरकार के वाणिज्य—उद्यमों से सम्बन्धित बहुत-सी नीति विषयक समस्याएँ हैं। उनकी वस्तुओं की कीमतों के तय करने में आय विषयक बहुत सी बातों पर विचार आवश्यक है। इन उद्यमों के मुनाफे में साधारण आयों का भी भाग होना चाहिए। इन मुनाफों पर कर लगने चाहिए जिससे केन्द्र की आय की वृद्धि हो। इसलिए इनकी कीमतों के निर्धारण में नीति विषयक समस्याएँ शामिल हैं।

इन उद्यमों की मुख्य श्रेणियों की कीमत विषयक समस्याओं को संक्षेप में इस प्रकार बताया जा सकता है। रेल मन्त्रालय के अनुसार रुद्विगत अर्थ में रेलों को व्यापारिक उद्यम नहीं कहना चाहिए। यातायात की दूरें जनता के लिए सस्ती होनी चाहिए। इसके साथ-साथ रेलों से विकासशील कार्यों के लिए धन की उपलब्धि भी होनी चाहिए। अर्ध एकाधिकारिक होने के कारण इनका लक्ष्य मुनाफे की अधिकतम करना ही नहीं है। कीमत तय करने में इनका वह उद्देश्य नहीं है कि जितना व्यापार बरदाश्त कर सके उतनी ही कीमत तय की जाय, बल्कि कीमत ऐसी होनी चाहिए जो लागत तथा आवश्यक विकास के अनुरूप हो।

रेलों की व्यवस्था व्यापारिक सिद्धान्तों के अनुसार होनी चाहिए तथा रेलों का भाड़ा कृषि, उद्योग, वाणिज्य तथा जन हित में होना चाहिए। रेलों के भाड़े निम्न सिद्धान्तों के अनुसार तय होते हैं :

(i) भाड़े की दूरें उपयुक्त होनी चाहिए—इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक प्रकार के माव पर ऐसा किराया होना चाहिए जो बरदाश्त हो सके, अर्थात् जिससे व्यापार को हानि न हो। इस सम्बन्ध में वस्तु का मूल्य, उसका उपयोग तथा उसके निर्माण का स्तर आदि बातें दृष्टि में रहनी चाहिए।

(ii) व्यापार के भविष्य से सम्बन्धित विचार—व्यापार से सम्बन्धित दीर्घ कालीन तथा अल्प कालीन सम्भाव्यता पर प्रभाव की भी दूर तय करते समय ध्यान में रखना चाहिए।

(iii) अनुपयुक्त वरीयता का परिवर्जन—व्यक्तियों, स्थानों तथा वस्तुओं से सम्बन्धित वरीयता का परिवर्जन होना चाहिए, अर्थात् भाड़ा तय करते समय स्थान, व्यक्ति तथा वस्तु को किसी प्रकार की तरजीह नहीं मिलनी चाहिए।

(iv) यातायात के अन्य साधनों से प्रतिस्पर्धा का भी ध्यान रखना आवश्यक है जिससे इनसे हानि न हो।

(v) दर निश्चित करने में रेलों की लागत पर भी ध्यान रखना आवश्यक है, अर्थात् वस्तु की मात्रा, व्यापार का परिमाण आदि बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है।

दरों को उपर्युक्त सिद्धान्तों पर तय करने से वित्तीय सम्पन्नता प्राप्त होती है तथा व्यापार की वृद्धि होती है तथा उद्योगों का विकास होता है। रेलों में बढ़ती हुई उत्पत्ति का नियम लागू होता है। इसका यह अर्थ है कि वस्तुओं के लाने से जाने में जितनी प्रति इकाई कम लागत होगी, व्यापार की वृद्धि अथवा उसके विकास की उतनी ही अधिक सम्भावना होगी।

यात्रियों के भाड़े भी व्यापारिक सिद्धान्तों पर ही तय होते हैं। यात्रियों के वर्गों की क्षमता को भी दृष्टि में रखना आवश्यक है किन्तु क्षमता पर बहुत अधिक बल नहीं देना चाहिए, क्योंकि भाड़ा अधिक होने पर कुछ यात्री नीची श्रेणी में यात्रा करेंगे। शायद भाड़ा कुछ कम होने पर वे ऊँची श्रेणी में यात्रा करते। यातायात के अन्य साधनों की सुविधाओं की उपलब्धि को भी ध्यान में रखना आवश्यक है जिससे व्यापार अन्य साधनों के पाम न चला जाय।

रेल दर रचना ऐसी होनी चाहिए जो देश के आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करे तथा जो शासन की आर्थिक नीति के उद्देश्यों के अनुकूल हो। इससे देश के औद्योगिक विकास में सहायता मिलनी चाहिए।

कोयला, लोहा तथा बच्चा स्टील, खाद तथा चारे आदि की विशेष नीची दर तय होती है। इसका यह कारण है कि या तो ये वस्तुएँ उद्योगों के लिए बहुत आवश्यक हैं तथा इनकी दर में वृद्धि से इन की कीमतें बढ़ेंगी या ये वस्तुएँ इपि उत्पादन अथवा गृह निर्माण कार्य में सहायक होती हैं। भाड़े की दरें कर लगा कर बढ़ाई जा सकती हैं, किन्तु ऐसा करना देश के हित में नहीं होगा।

रेलों के भाड़े तथा दरों पर कर लगाने के विषय में कहा जा सकता है कि रेल भाड़ा कर बहुमुखी कर है जिससे उत्पादन लागत बढ़ेगी तथा फलस्वरूप मुद्रा स्फीति होगी। भाड़े पर कर अप्रत्यक्ष कर होते हैं जिन्हें सर्वोत्तम कराधान नहीं कहा जा सकता।

कराधान जाँच आयोग का मत—इस आयोग ने भाड़े के सम्बन्ध में उन सिद्धान्तों में भेद किया जो भाड़े के समानान्तर स्तर को तय करते हैं तथा जिनका सम्बन्ध वस्तुओं के भाड़े से रहता है। वस्तुओं के भाड़े का सीधा सम्बन्ध आर्थिक विकास से रहता है। आयोग के मतानुसार भाड़े की दरों का ऐसा नियमन होना

चाहिए कि परिचालन व्यय की पूर्ति तथा आवश्यक विकास से अधिक मुनाफा न रहने पाये। आयोग ने एक ऐसी समिति की स्थापना की मिकारिज की जो इस प्रकार की भाड़े की दर तय करे जिसमें औद्योगिक तथा आर्थिक विकास सम्पन्न हो सके तथा रेलों के विकास के लिए पर्याप्त धन प्राप्त हो सके।

यात्रियों के किराये के विषय में आयोग को यात्रा पर कर लगाने में कोई आपत्ति नहीं थी। जिस प्रकार अन्य वस्तुओं के उपभोग पर कर लगाये जाते हैं यात्रा पर भी कर उसी प्रकार लगाये जा सकते हैं। भारत जैसे अल्प विकसित देशों में अप्रत्यक्ष कर ही आय का मुख्य साधन है। सड़क यात्रा पर भारी कर लगता है तथा इस कारण व्यापार का यातायात के अन्य साधनों में विचलन हो जाने की सम्भावना नहीं है। जिस प्रकार वस्तुओं का उपभोग बढ़ता है वैसे ही दीर्घ काल में यात्री व्यापार की मात्रा बढ़ती है। जापान, स्पेन, तुर्की तथा अमेरिका आदि में यात्रा के विभिन्न प्रकारों पर कर लगते हैं। यात्रा कर प्रतिगामी होता है, किन्तु इस प्रकार के अन्य कर भी हैं जो प्रतिगामी हैं। आयोग के अनुसार हमारे विकास सम्बन्धी प्रयास की वर्तमान स्थिति में आय के साधन के रूप में यात्रा पर आवश्यक है।

विधान के अन्तर्गत यात्रियों तथा वस्तुओं के रेल भाड़े पर कर लगाने का अधिकार केन्द्रीय सरकार को है, किन्तु उनकी जाय का वितरण राज्यों में पार्लमेट के बनाये कानून के अनुसार होता है। रेल मन्त्रालय के मतानुसार यह बात न्यायसंगत नहीं है कि रेलों के किराये तथा भाड़े में वृद्धि में होने वाले मुनाफे में राज्य भागी हो। यह वास्तविक नहीं है कि रेल भाड़े की वृद्धि की सम्भावना का उपयोग कर लगा कर प्राप्त करणा चाहिए जबकि यह लाभ रेलों को नहीं मिलता। आय के इस साधन को राज्यों को नहीं सौंपा जाना चाहिए।

डाक प्रणाली—लोक उद्योग के रूप में डाक प्रणाली की सफलता की कमींदी आप न होकर उसकी जनता के लिए सेवा है। इंग्लैंड तथा फ्रान्स जैसे देशों में जन सन्ध्या के घनत्व के कारण डाक प्रणाली से भारी आय प्राप्त होती है, किन्तु अमेरिका में क्षेत्र विस्तार के कारण घाटा रहता है। बहुत से देशों में केवल परिचालन व्यय की पूर्ति के अथवा साधारण आय की प्राप्ति के लिए ही दर लगाई जाती है, यही नीति हमारी डाक प्रणाली में भी लगती है तथा इस प्रारम्भिक लोक सेवा के लिए यह पर्याप्त भी समझी जाती है।

अन्य सार्वजनिक उद्योगों के लिए उपयुक्त मूल्य नीतियों के लिए उद्योगों को दो भागों में विभाजित किया जाता है। पहली श्रेणी में वे उद्योग आते हैं जो प्रतियोगी क्षेत्र में स्थित हैं तथा दूसरी में वे आते हैं जो एकाधिकारी तथा अर्ध एकाधिकारी क्षेत्र में स्थित हैं। प्रतियोगी उद्योगों की वस्तुएँ उपभोक्ताओं के इस्तेमाल की वस्तुएँ होती हैं तथा सामान्यतया ऐसे उद्योग अपने मुनाफे को बढ़ाने के लिए कीमतें तय करते हैं। उन्हें निजी क्षेत्र के उद्योगों से प्रतियोगिता करनी होती है। उनकी वस्तुओं

की मूल्य नीति उनकी माँग की विशेषता तथा प्रतियोगिता की सीमा पर निर्भर होती है।

एकाधिकारी सार्वजनिक उद्योगों में राज्य ऊँची कीमतें तय करके लाभ प्राप्त करने की स्थिति में होता है। इस स्थिति में मूल्य नीति का महत्त्व प्रतियोगी स्थिति से भिन्न है। इसलिए यहाँ उन बातों का जो मूल्य निर्धारण का निर्देशन करती हैं विशेष महत्त्व हो जाता है।

इस श्रेणी के सार्वजनिक उद्योग ऐसी वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन करते हैं जो जनता के लिए आधारीय अथवा आवश्यक हैं। इसलिए यह जरूरी है कि इन वस्तुओं की कीमतें कम से कम होनी चाहिए। मूल्य नीति उन वस्तुओं की अनिवार्य सेवा की विशेषता, बाजार के आकार, उपभोक्ताओं के वर्ग आदि पर निर्भर होनी चाहिए।

सामान्यतया, ऐसे उद्योगों की वस्तु की कीमत उनकी उत्पादन लागत के बराबर अवश्य होनी चाहिए। उत्पादन लागत में मूल्य ह्रास तथा पूँजी पर सामान्य आय भी शामिल होनी चाहिए। कराधान जाँच आयोग ने यह सिफारिश की कि ऐसे उद्योगों की कीमत तय करने में राज्य द्वारा आर्थिक सहायता नहीं मिलनी चाहिए। जहाँ आय की दृष्टि से कर इतने आवश्यक हैं जितने राजकीय उद्योगों की वस्तुओं पर ऐसी दशा में राज्य अधिक आय प्राप्त करने के लिए मूल्य निर्धारण नीति में अपनी एकाधिकारी शक्ति का प्रयोग कर सकता है।

आर्थिक विकास की पहली श्रेणी में माँग बढ़ाने के दृष्टिकोण से तथा बाजार का विस्तार बढ़ाने के लिए कीमतें कम रखनी चाहिए, चाहे इस नीति से कुछ समय तक हानि भी हो, बिजली जैसी उपयोगिताओं के लिए यह नीति विशेष महत्त्वपूर्ण है।

ऐसे भी उद्योग होते हैं जहाँ राज्य ने भारी मात्रा में धन लगाया है। इनमें कीमतें ऐसी होनी चाहिए जिससे उनमें लगी पूँजी पर पर्याप्त आय प्राप्त हो सके। आर्थिक दृष्टि से विकासशील देशों में, जहाँ राज्य द्वारा ही सार्वजनिक उद्योगों की उत्पत्ति सम्भव है, यह नीति आवश्यक है। राज्यों में सिंचाई तथा बिजली लगी पूँजी की दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण है। ये उद्योग बठिनता से कुछ वर्षों बाद ही अपनी परिचालन लागत बरदाश्त कर सकते हैं। पुरानी योजनाओं से तो पर्याप्त मात्रा में मुनाफा प्राप्त हो जाता है, किन्तु नई योजनाओं से लाभ प्राप्त करने में समय लगता है।

आर्थिक विकास से स्वतः ही आय बढ़ती है। तीव्र गति से पूँजी निर्माण तभी सम्भव है जब सार्वजनिक निवेश से प्राप्त अतिरिक्त आय से राज्य को बचत हो सके, किन्तु यह सरल नहीं है। इसलिए बड़े पैमाने पर सार्वजनिक निवेश से इतनी आय होनी चाहिए कि उससे और अधिक पुनर्निवेश तथा उत्पादन की वृद्धि तथा बढ़ती हुई समृद्धि सम्भव हो सके।

इसलिए राजकीय उद्योगों की आय के पहलू पर बल देना आवश्यक है।

हमारे देश में आर्थिक विकास की प्रक्रिया में राज्य की पहल तथा उद्यम का सक्रिय योग आवश्यक है। सार्वजनिक उद्योग केवल उन्हीं क्षेत्रों तक सीमित नहीं रहने चाहिए जो निजी उद्योगों द्वारा होते रहे हैं, बल्कि उन्हें नये क्षेत्रों में प्रवेश करने चाहिए। तभी देश का औद्योगिक तथा आर्थिक विकास सम्भव हो सकेगा।

साधारणतया लोक उद्योगों से आय कम होती है तथा विलम्बकारी होती है। इनके अतिरिक्त कुछ उद्योगों में जहाँ श्रमिकों के लिए उंची मजदूरी तथा सुविधाएँ प्रदान करने तथा उपभोक्ताओं की सेवा का अच्छा स्तर रखने का दायित्व होता है लागत अधिक होने की प्रवृत्ति होती है। इन बातों के होते हुए यदि कुछ उद्योगों से साधारण आय हो सकती है तो आर्थिक विकास के लिए इनका अक्षदान होना चाहिए। विकसित देशों में सार्वजनिक उपयोगिताओं से 'न लाभ न हानि' की नीति उपयुक्त हो सकती है तथा हमारे देश में भी सार्वजनिक उद्योगों के प्रारम्भिक काल में कदाचित् यही नीति सर्वोत्तम हो। कराधान जाँच आयोग ने दीर्घ कालीन लक्ष्य के रूप में न्यायी नीति के रूप में भारत में सार्वजनिक उद्योगों के लिए इस नीति की मस्तुति नहीं की।

लोक क्षेत्र में मुनाफा सार्वजनिक उद्योगों के उद्देश्य के विरुद्ध नहीं है। गौण होने पर भी यह सार्वजनिक उद्देश्य ही माना जा सकता है। राजकोपीय एकाधिकारी उद्योगों का मुख्य उद्देश्य अधिकतम आय अर्जित करना है। इसके माध्य-साधन इनका सामाजिक उद्देश्य भी होता है जिसे नियन्त्रितात्मक तथा प्रतिबन्धक कहा जा सकता है। अन्य लोक उद्योगों का सर्व प्रथम उद्देश्य सामाजिक कल्याण तथा आर्थिक विकास के दृष्टिकोण से अधिकतम सेवा तथा अधिकतम निपुणता है। मूल्य नीति निर्धारण में मुनाफा अलग नहीं किया जाना चाहिए यद्यपि इन उद्देश्यों को ध्यान में रखा जाना चाहिए।

रेल्वे तथा डाक तार के अतिरिक्त विभिन्न उद्योगों में राज्य द्वारा लगाई पूँजी भारी मात्रा में है, किन्तु सड़क यातायात, बिजली तथा औद्योगिक उद्यमों से नेट आय बहुत कम होती है। इनमें से कुछ उद्योगों से आय होने की आशा है, किन्तु हानि से बचने तथा मुनाफा कमाने के लिए यह आवश्यक है कि इनकी व्यवस्था तथा प्रबन्ध में सुधार हो। लोक क्षेत्र के प्रसार की सम्भावना के कारण यह बात बहुत ही महत्वपूर्ण हो जाती है कि इन उद्योगों के प्रबन्ध में उन्नति हो।

सार्वजनिक उद्योगों से मुनाफा अर्जित करने के विरुद्ध यह मुख्य आपत्ति है कि किसी विशेष वस्तु अथवा सेवा के उपभोक्ता पर कर द्वारा कर-पात की सहायता करना अनुचित है। यह आपत्ति वहाँ तो उपयुक्त हो सकती है जहाँ सीमित तथा विविष्ट ग्राहक गण से भारी मुनाफा प्राप्त होता है, किन्तु ऐसे उद्योगों में भी मुनाफा प्राप्त करना उपयुक्त होगा वरन् कि इसका सम्पात धनी व्यक्तियों पर रहे तथा इन से होने वाली सुविधाएँ जन साधारण को प्राप्त हों। फिर भी यह तर्क उन

सार्वजनिक उद्योगों के लिए उपयुक्त नहीं है जिनमें भारी पूँजी लगी है तथा इनसे लाभ अधिक व्यक्तियों को होता है तथा इनकी आय से उन उद्योगों का विस्तार होता है जिसमें इनके द्वारा लाभों से अधिकाधिक जनता को फायदा पहुँचता है।

यह सच है कि कर के रूप में सार्वजनिक उद्योगों से मुनाफा प्रत्यक्ष कराधान के समान लाभदायक नहीं है, किन्तु यह प्रत्यक्ष करों के समान उपयुक्त अवश्य है जो आय प्राप्त करने के लिए समय-समय पर लगाये जाते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि भारत जैसे अल्प विकसित देशों में इन राजकीय उद्योगों की मूल्य नीति ऐसे देशों की ही आर्थिक तथा नस्यागत स्थिति के अनुकूल होनी चाहिए जहाँ ये उद्योग व्यवस्थित होने हैं। यह आवश्यक नहीं है कि उनकी मूल्य नीति आर्थिक दृष्टि में वित्तित पाश्चात् देशों के अनुकूल हो।

यह प्रश्न कि इन उद्योगों के मुनाफे का कितना भाग राज्य की आय के लिए प्राप्त होना चाहिए राजकीय उद्योगों ने ही सम्बन्धित है। कम्पनी तथा कारपोरेशन आय कर की अदायगी पर अपने कोषों का नियन्त्रण कर सकती हैं। सरकारी उद्योगों के लिए अपने नेट मुनाफे के बटवारे की प्रथा एकमी नहीं है। कुछ राज्यों में उद्योगों में मूल्य हानि की भी व्यवस्था नहीं है। कुछ अन्य उद्योगों में पूँजी पुनःस्थापन के लिए नियमित रूप में अंशदान साधारण तथा विशेष कोषों के लिए दिये जाते हैं।

कराधान जाँच कमीशन ने राजकीय व्यावसायिक उद्यमों के लिये आय कर की वर्तमान स्थिति में परिवर्तन करने की निम्न कारणों से विफारिश नहीं की —

कार्पोरेशनों तथा कम्पनियों पर कर लगते हैं। इसलिए केन्द्रीय सरकार के क्षेत्र में कराधान का प्रश्न ऐसी जैसी उन उद्योगों के विषय में उठता है जिनका प्रबन्ध विभागीय आधार पर होता है। शासन का इन पर व्यापक नियन्त्रण है तथा साधारण आय के लिए इनके अंशदान का निश्चित शर्तों के साथ निर्धारण होता है। इसलिए इनके लाभों पर कर नहीं लगना चाहिए।

लोक उद्योगों का एकाधिकारी रूप में संचालन होता है। इसलिए उनको निजी उद्योग के सम्बन्ध में समता पर लाने का प्रश्न ही नहीं उठता। यही बात लोक उपयोगिता के उद्यमों के सम्बन्ध में भी लागू होती है। एक विकासशील अर्थ-व्यवस्था में ऐसे उद्योगों का शासन सामान्य कार्यों के अनुरूप संचालित होता है। इसलिए उन पर आय कर नहीं लगता। एक विकासशील अर्थ-व्यवस्था में ऐसी प्रक्रियाओं के प्रसार की सम्भावना है।

राज्य के क्षेत्र में व्यापारिक प्रक्रियाएँ भी आती हैं जिनमें निजी उद्योग की प्रतियोगिता के अनुसार वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन होता है। साबुन तथा सीमेंट बनाने के कारखाने तथा यातायात सम्बन्धी सेवाएँ इनके उदाहरण हैं। आय के दृष्टिकोण से इनकी आय पर कर लगाने से केन्द्रीय तथा राजकीय सरकारों की आय में विशेष अन्तर नहीं होगा। जिन उद्योगों की आय पर कर नहीं लगता या तो उनका सब मुनाफा राज्य को चला जाता है या उस सीमा तक चला जाता है जहाँ

तक संचित कोष के रूप में पूँजीगत व्यय की पूर्ति करने में राज्य के लिए धन की माँग कम हो जाती है, क्योंकि इस व्यय के लिए धन संचित कोष से प्राप्त हो जाता है, अन्यथा इसके लिए ऋण लेना पड़ता। आम कर लगने से केन्द्र तथा राज्यों की सापेक्षिक स्थिति में अन्तर आ जायेगा। इससे राज्य की आय के ग्यात पर केन्द्रीय आय में वृद्धि होगी। राजकीय उद्योगों के कर देय लाभों की भावा कम होने से इसका प्रभाव विशेष नहीं होगा। कार्पोरेशन के रूप में व्यवस्थित होने से राजकीय व्यापारिक उद्योगों पर ठीक स्वतः ही उमी प्रकार कर लगने लगता है जैसे निजी उद्योगों पर लगता है। कमिशन के अनुसार इस प्रश्न पर पुनः उस स्थिति पर विचार हो सकता है जब विभागीय स्तर पर व्यवस्थित व्यापारिक राजकीय उद्योगों का विशेष प्रसार हो जाये।

लोक उद्योगों का प्रसार

हमारे देश में लोक उद्योगों का प्रसार निम्न तालिका में लगी पूँजी से ज्ञात होता है

	योजना में विनियोग				
	प्रथम योजना	दूसरी योजना (अक करोड रुपयों में)	तीसरी योजना	तीन वार्षिक योजनाएँ	चौथी योजना
लोक क्षेत्र	1560	3650	8577	6756	15902 ⁴
निजी क्षेत्र	1800	3100	4750		8980

निम्न तालिका में लोक क्षेत्र में तथा निजी क्षेत्र में विनियोग का अनुपात दिया गया है :—

योजना	लोक तथा निजी क्षेत्र का अनुपात
पहली योजना	43%
दूसरी योजना	54%
तीसरी योजना	61%
चौथी योजना	64%

	उद्योगों में निवेश			(अक करोड रुपयों में)	
	पहली योजना	दूसरी योजना	तीसरी योजना	तीन वार्षिक योजनाएँ	चौथी योजना
लोक क्षेत्र	55	938	1520	1575	3298
निजी क्षेत्र	233	850	1050		2000

4 Page 32, Third Plan, page 42, The Third Plan in Outline, pages 79, 86, Fourth Five Year Plan 1969-74, Public Finance by the author 1969, p. 368,

इन तालिम से ज्ञात होता है कि लोक तथा निजी उद्योग क्षेत्रीय उद्यमों में विनियोग के प्रतिरूप में विशेष परिवर्तन हुए हैं लोक क्षेत्रीय उद्योगों में सकल उद्योगों के निवेश का 60 प्रतिशत है जब कि पहली योजना में यह भाग 20 प्रतिशत ही था ।

चौथी योजना में वित्त प्राप्त करने का ढग तीसरी योजना तथा तीन वार्षिक योजनाओं से निश्चित रूप में भिन्न है । इसका उद्देश्य स्थायित्व के साथ वृद्धि प्राप्त करना है तथा आत्म निर्भरता की वृत्ति को बढ़ावा देना है । तीसरी योजना में घरेलू साधनों से लोक क्षेत्र में कुल साधनों का 59% तथा तीन वार्षिक योजनाओं में 54% भाग प्राप्त करने का लक्ष्य था । इस तुलना में चौथी योजना का लक्ष्य 78% रखा गया है ।⁵

वास्तव में योजना के लिए धन के साधन के रूप में लोक क्षेत्र के योग में तीसरी योजना से एक मूल भूत परिवर्तन हुआ । पहली दो योजनाओं में रेलों को छोड़ लोक उद्योगों से वित्तीय अशदान की कोई व्यवस्था नहीं थी । तीसरी योजना में इनसे 450 करोड़ रुपये के अशदान की व्यवस्था की गई तथा चौथी योजना में 2029 करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई । यह व्यवस्था 1968-69 की कीमतों के स्तर पर की गई ।

इकानामिक एण्ड सायन्टिफिक रिसर्च फाउन्डेशन ने मधीय सरकार के लोक क्षेत्र के 32 कारखानों का अध्ययन किया जो 1958 से 1965 तक 5-6 वर्ष से चल रहे थे । इस अवधि में इन की पूंजी 128 करोड़ रुपये से बढ़कर 1,447 करोड़ रुपये तक पहुँच गई, अर्थात् इन सान वर्षों में उसमें ग्यारह गुनी वृद्धि हुई । इन उद्योगों की कुल पूंजी में 21 प्रतिशत औसत वार्षिक वृद्धि हुई । इनकी सकल स्थिर सम्पत्ति में 26 प्रतिशत की वृद्धि हुई ।

31 मार्च, 1965 को 189 सरकारी कारखाने थे जिनमें 183 कम्पनी कानून में व्यवस्थित थे तथा 6 कारपोरेशनों के रूप में अलग कानूनों के अन्तर्गत पंजीकृत थे । इन में 66 कारखाने केन्द्रीय सरकार के प्रबन्ध में तथा शेष राजकीय सरकारों के प्रबन्ध में थे । 1964-65 तक केन्द्रीय सरकार के कारखानों में पूंजी की मात्रा 2037 करोड़ रुपये तक पहुँच गई थी । इन कारखानों में 21 प्रतिशत प्रति वर्ष पूंजी की वृद्धि थी तुलना में निजी क्षेत्र के कारखानों में पूंजी की वृद्धि प्रति वर्ष केवल 10 प्रतिशत ही हुई ।

निम्न दो तालिकाओं में लोक तथा निजी क्षेत्र में 1958-59 से 1964-65 तक तुलनात्मक लाभ के अंक दिये हुए हैं जिन से यह सिद्ध होता है कि लोक क्षेत्र के कारखानों में पूंजी पर औसत आय लगभग 5.6% के स्तर पर स्थिर बनी रही

लोक क्षेत्रीय उद्योग

	1958-59	1959-60	1960-61	1961-62	1962-63	1963-64	1964-65
			प्रतिशत				
सकल लाभ/कुल लगी पूँजी	5.36	4.75	5.00	4.39	6.75	5.87	5.73
सकल लाभ/विक्री	7.60	8.33	7.87	6.77	9.47	8.02	8.48
नेट लाभ/नेट सम्पत्ति	4.27	4.08	4.36	3.61	6.08	5.78	5.31
लाभांश/नेट सम्पत्ति	0.32	0.26	0.73	0.56	0.58	0.76	0.91
लाभांश/प्रदत्त पूँजी	0.33	0.29	0.83	0.65	0.70	0.96	1.12

निजी क्षेत्रीय कारखाने

	1958-59	1959-60	1960-61	1961-62	1962-63	1963-64	1964-65
			प्रतिशत				
सकल लाभ/कुल लगी पूँजी	10.59	11.66	12.62	13.12	14.33	15.47	15.42
सकल लाभ/विक्री	10.37	10.68	10.72	11.04	11.65	12.25	11.72
नेट लाभ/नेट सम्पत्ति	9.77	11.35	10.50	10.06	9.76	11.00	10.67
लाभांश/नेट सम्पत्ति	5.22	6.38	6.63	6.61	5.90	6.00	5.73
लाभांश/प्रदत्त पूँजी	8.63	10.64	11.14	11.35	10.35	10.85	10.83

निजी क्षेत्र के उद्योगों के तत्सम्बन्धी अरु अधिक ऊँचे रहे जिनमें पूँजी पर आय लोक क्षेत्रीय उद्योगों की तुलना में दुगुनी तथा तिगुनी रही। नेट सम्पत्ति पर लाभांश के रूप में विनियोग पर निजी क्षेत्र आय लगभग दस गुनी ऊँची रही।

दोनों क्षेत्रों में विक्री पर मुनाफे में बहुत कम अन्तर है। लोक क्षेत्रीय कारखानों में यह अनुपात लगभग 8 प्रतिशत आता है, किन्तु निजी क्षेत्रीय कारखानों में यह लगभग 11 प्रतिशत है, जिसका अर्थ है कि विक्री पर लाभ का माजिन दोनों क्षेत्रों में लगभग समान ही है।

पूँजी पर आय में अन्तर का मुख्य कारण यह है कि पूँजी के उपभोग की कुशलता में दोनों क्षेत्रों में बहुत भिन्नता अथवा अमंगति है। लोक क्षेत्र में लगी पूँजी की प्रति इकाई पर उत्पादन बहुत कम है, जिसके फलस्वरूप लाभप्रदता भी बहुत कम है। लोक क्षेत्रीय कारखानों का अनुपासन निवेशक की दृष्टि से अधिक असन्तोषजनक है। निजी उद्योग में लगभग 11 प्रतिशत नेट लाभ अर्जित होता है, किन्तु सरकारी कारखानों में केवल 2 प्रतिशत ही लाभ होता है। निजी उद्योग में नेट सम्पत्ति पर लाभांश केवल 0.5 प्रतिशत रहा जो कि निजी क्षेत्र के साधारण स्तर का केवल 1/20 ही है।

सरकारी क्षेत्रीय कारखानों में लाभप्रदता की कमी के कई कारण हैं। प्रथम, यह कहा जाता है कि सरकारी निवेश उन उद्योगों में गया है जिनके लिए निजी क्षेत्र में पूँजी की प्राप्ति कठिन है, क्योंकि इन उद्योगों में पूँजी की बहुत आवश्यकता होती है। अंग्रेजी भाषा में इन उद्योगों को 'कैपिटल इन्टेन्सिव' उद्योग कहते हैं। वास्तव में यह बात तथ्यपूर्ण नहीं प्रतीत होती, क्योंकि प्रतिरक्षा के अतिरिक्त भारत में ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जिसमें निजी पूँजी नहीं लगी हो। वास्तव में स्टील तथा तेल के कारखानों में सरकारी कम्पनियाँ निजी कम्पनियों के बाद स्थापित हुईं।

दूसरे, यह कहा जाता है कि शासकीय कारखाने औद्योगिक क्षेत्र में देर में स्थापित हुए तथा इनमें पूँजी उत्पादन अनुपात अधिक है। इसलिए इनमें प्रति इकाई लागत निजी पुराने कारखानों की तुलना में अधिक है। वास्तव में यह उपयुक्त नहीं है, क्योंकि पूँजी उत्पादन अनुपात का ऊँचा होना बहुधा पूँजीगत सयन्त्र की तकनीकी निपुणता अधिक होने के कारण होता है। इसलिए इससे लागत अधिक नहीं होनी चाहिए। मयन्त्रता के कारण तो लागत घटनी चाहिए, किन्तु केवल कुशल तकनीकी ही पर्याप्त नहीं है। उसके साथ-साथ नियोजन व्यवस्था तथा प्रबन्ध की कुशलता भी अच्छी होनी चाहिए। इसके अभाव में घटती आय अवस्था उत्पत्ति का नियम लागू हो जायेगा तथा उत्पादन स्तर बढ़ाने से उत्पादकता घटेगी।

ताँसिरे, यह कहा जाता है कि लोक क्षेत्र का भीखता से प्रसार होने का यह अर्थ है कि निर्माण काल में लोक क्षेत्र की क्षमता अधिक होती है। इसलिए उसमें लगी पूँजी पर आय का स्तर मन्द हो जाता है किन्तु यह कथन सत्य नहीं है, क्योंकि मुनाफे तथा वृद्धि में सह सम्बन्ध है। मुनाफा होने से पूँजी आकर्षित होती है, जिसका फल यह होता है कि वृद्धि के लिए पूँजी प्राप्त होती है। वास्तविक तथ्य यह है कि जब पूँजी विनियोग सम्बन्धी निर्णय मुनाफे की दृष्टि से नहीं हो पाता तभी राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में विनियोग के फलस्वरूप उपयुक्त मुनाफा नहीं हो पाता।

शासकीय उद्योग शासकीय कोष पर धन के लिए निर्भर रहते हैं। उनका परिचालन मुनाफे की स्थिरक प्रक्रिया द्वारा नहीं हो पाता। भारत में नियोजन काल में भौतिक लक्ष्यों पर ध्यान दिया गया है। उदाहरण के लिए 1,000 रु० प्रति टन लागत पर 1 करोड़ टन उत्पादन का लक्ष्य 1500 रु० प्रति टन की लागत पर एकसा अथवा बराबर नहीं कहा जा सकता। इसमें कीमत घटक पर ध्यान न देकर भौतिक लक्ष्य को ही महत्व दिया गया है हमारी योजनाओं की यही विशेषता रही है कि भौतिक लक्ष्यों को कीमत घटकों को ध्यान में न रखकर महत्व दिया गया है।

हमारी नियोजन प्रणाली में कीमत घटक के प्रति उदासीनता से लोक तथा निजी दोनों क्षेत्रों की कम्पनियों पर प्रभाव पड़ा है, किन्तु इन दोनों क्षेत्रों में मुनाफे के प्रति दृष्टिकोण में मूल अथवा भारी अन्तर है। निजी क्षेत्रीय उद्योगों में प्रसार अन्य बातों के अतिरिक्त मुख्यतया मुनाफे की दृष्टि से होता है। इन कम्पनियों की पूँजी मुख्यतया व्यक्तिगत नियोजकों से प्राप्त होती है तथा कुछ भाग वित्तीय संस्थाओं से भी प्राप्त होता है। इनकी पूँजी का प्रवाह मुनाफे के स्तर में प्रभावित होता है। इसका अर्थ यह है कि जो व्यक्ति इन कम्पनियों में पूँजी लगाते हैं उन्हें मुनाफे की आशा रहती है, अन्यथा वे इनमें पूँजी नहीं लगायेंगे।

इसके विपरीत लोक क्षेत्रीय कम्पनियों में इस प्रकार की कोई अनिवार्यता नहीं है। इनकी पूँजी निवेशकों से नहीं प्राप्त होती। यह शासकीय कोष में प्राप्त होती है। शासन इनके लिए धन मुनाफे की दृष्टि में नहीं देता। इनके लिए योजना में धन का निर्धारण इनकी वस्तुओं की भावी माँग के अनुमानों पर निर्भर होता है। उनकी कीमत अथवा उनमें लगी पूँजी में प्राप्त आय का ध्यान में नहीं रखा जाता। निजी तथा लोक क्षेत्र की कम्पनियों के निवेश में मुख्य अन्तर यह है कि लोक क्षेत्र की कम्पनी अपनी सम्पत्ति पूँजी पर आय की दृष्टि में रखे बिना बढ़ाती जाती है, किन्तु निजी क्षेत्र की कम्पनियाँ उपयुक्त मुनाफे को ध्यान में रखकर ही पूँजी को बढ़ाती हैं। इन दोनों में यही मूल-भूत अन्तर है तथा इसी कारण लोक क्षेत्र की कम्पनियाँ अपने लिए कोष प्राप्त करने में हम सीमा तक अर्थ-व्यवस्था के अन्य क्षेत्र पर निर्भर रहती हैं।

इसलिए यद्यपि शासकीय उद्योगों के परिपालन पर मतभेद की गुंजायश है, फिर भी मुनाफे को दृष्टि में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि उनका परिपालन बहुत कम है। इसलिए जब चौथी योजना में इन उद्योगों से 2029 करोड़ रुपये के अंशदान का अनुमान किया गया है तो इनसे मुनाफा प्राप्त करने के सकल प्रयास किये जाने चाहिए।⁶

6 For defence of public sector enterprises from the profitability point of view, Read Lok Udyog issues of September, October and November 1970.

लोक उद्योगों की व्यवस्था के प्रतिरूप

(FORMS OF ORGANISING PUBLIC ENTERPRISES)

तीसरी पंचवर्षीय योजना में उद्योग तथा खनिजों पर लोक क्षेत्र में 1520 करोड़ रुपये का निवेश किया गया था जिस में यातायात तथा संचार व्यवस्था शामिल नहीं थी। चौथी योजना में उद्योग तथा खनिजों पर लोक क्षेत्र में 3298 करोड़ रुपये के निवेश की व्यवस्था की गई है तथा कुल व्यय का 3338 करोड़ रुपये का अनुमान है।¹

हमारे देश में लोक उद्योगों की संख्या बराबर बढ़ रही है। बहुत से कारखाने एक ही उद्योग में चालू हैं। हमारे देश में प्रत्येक उद्योग में उसके विकास तथा कार्य प्रणाली की कोई एक स्वाधीन सत्ता नहीं है। इस अर्थ में यह कहा जा सकता है कि हमारे देश में राष्ट्रकृत उद्योग नहीं है।²

लोक उद्योगों की व्यवस्था के तीन रूप हैं।

(i) विभागीय उद्यम;

(ii) शासकीय कंपनियाँ जिनकी रजिस्ट्री कम्पनी कानून के अन्तर्गत होती है;

(iii) कानूनी कारपोरेशन अथवा लोक कारपोरेशन।

इनकी किन्हीं मुख्य विशेषताएँ हैं :—

विभागीय उद्यम—

(अ) इसके लिए वार्षिक घन राज्य कोष से प्राप्त होता है तथा आय भी राज्य कोष में जमा होती है।

(ब) शासकीय प्रणाली के आधार पर इसका बजट तैयार होता है तथा इसके हिसाब का निरीक्षण होता है।

1 See Table I, p. 52, Fourth Plan 1969-74.

2 P. 2, Report of the Study Team on Public Sector Undertakings—India Government.

(स) इसके स्थायी कर्मचारियों की नियुक्ति तथा सेवा व्यवस्था अन्य नागरिक कर्मचारियों की तरह ही तय होती है।

(द) इसके विरुद्ध सरकारी स्तर के अनुरूप मुकदमे चल सकते हैं।
शासकीय कम्पनी—

(अ) यह निजी सीमित कम्पनी की तरह होती है।

(ब) इसकी कुल पूँजी अथवा उसका 51% भाग राज्य के अधिकार में रहता है।

(स) इस के सब संचालक मण्डल के सदस्यों अथवा उन में से अधिकांश की नियुक्त सरकार द्वारा इसमें लगी निजी पूँजी के आधार पर होती है।

(द) इसकी स्थापना कम्पनी कानून के अन्तर्गत होती है।

(इ) यह अपने नाम में सम्पत्ति रख सकती है तथा अपने नाम से मुकदमे दायर कर सकती है।

(फ) इसकी उपनियमावली एक्ट के अन्तर्गत सरकार बनाती है तथा वही उन में मशौघन कर सकती है। इसके लिए पार्लमेंट की स्वीकृति आवश्यक नहीं होती।

(ह) जो निरीक्षण सम्बन्धी कानून, कार्य प्रणाली, हिमाद, वजट आदि सरकारी विभागीय उद्यमों के लिए आवश्यक होते हैं वे इसके लिए आवश्यक नहीं होते।

(ज) शिष्टमण्डलों के अतिरिक्त इसके कर्मचारी नागरिक सेवक नहीं होते।

सार्वजनिक कारपोरेशन—यह शासन के स्वामित्व में होती है। इसके अधिकार, उद्देश्य, प्रबन्ध का रूप, सरकार से सम्बन्ध, आदि विशेष कानून द्वारा तय होते हैं। इसका निजी अस्तित्व होता है तथा अपने नाम में इस की सम्पत्ति होती है। इस का वित्त स्वतन्त्र रूप से प्राप्त होता है। यह अपनी पूँजी जनता से प्राप्त करती है अथवा वस्तुएँ बेच कर अपनी आय प्राप्त करती है तथा अपनी आय को व्यय करने का अधिकार रखती है। सरकार भी इस को पूँजी देती है तथा हानि बरदाश्त करती है। सरकारी विभागों से सम्बन्धित हिमाद, निरीक्षण आदि बातें इस पर लागू नहीं होती। इसके कर्मचारियों की सेवा सम्बन्धी शर्तें अलग होती हैं।

यह कहना सम्भव नहीं है कि कौन सा रूप इनमें सार्वजनिक उद्योगों के लिए श्रेष्ठतम है। इसके चयन में कई घटकों पर विचार करना होता है जैसे उद्योग का उत्पादन कार्य, इसकी प्रचालन योग्यता तथा वित्तीय आवश्यकताएँ, सामाजिक जीवन तथा देश की अर्थ-व्यवस्था पर इसका प्रभाव।

इन तीन प्रतिरूपों में वाणिज्यिक तथा औद्योगिक उद्यमों के लिए विभागीय रूप उपयुक्त नहीं है। इस व्यवस्था के मुख्य रूप डाक तथा रेल हैं। इनकी प्रक्रियाएँ प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में समस्त समाज को प्रभावित करती हैं। इसलिए पार्लमेंट तथा सरकार को इनकी कार्य प्रणाली पर प्रत्यक्ष तथा लगातार नियन्त्रण रखना पड़ता है। राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से भी सार्वजनिक उद्योगों के इस रूप

को अपनाया जाता है। इन विचारों को दृष्टिकोण में रखते हुए, सर्वमान्य है कि सार्वजनिक उद्योगों को सफलता से संचालन के लिए उन्हें ठोस व्यवसायिक मिश्रान्तों पर आवश्यक स्वतन्त्रता तथा नम्यता से चलाना चाहिए तथा उन पर प्रशासनिक विभागों के दखल तथा निरीक्षण सम्बन्धी नियम लागू नहीं होने चाहिए। हा, पार्लमेट के प्रति उन्हें जिम्मेदारी अवश्य निभानी चाहिए।

सार्वजनिक कारपोरेशन तथा सरकारी कम्पनी में चयन करना कठिन है। कारपोरेशन तथा कम्पनी दोनों ही में स्वतन्त्रता तथा नम्यता होती है। इसलिए एक को प्रदिष्ट करना तथा दूसरी को त्यागना सम्भव नहीं है। अभी तब कम्पनी के प्रतिरूप को मान्यता दी गई है। तीसरी योजना के अन्तर्गत 70 केन्द्रीय सरकारी उद्योगों में 64 कम्पनियाँ तथा 6 कारपोरेशन थे तथा राज्य सरकारों ने भी कम्पनी के रूप को अधिक पसन्द किया है।

सरकारी कम्पनी के निम्न दोष हैं

(i) यह प्रत्येक वैधानिक जिम्मेदारी से बचता है जो राजकीय उद्यम को राज्य तथा पार्लमेट के प्रति होनी चाहिए।

(ii) इनके सम्बन्ध में विधेयक निरर्थक हो जाता है क्योंकि वे सब कार्य जो अंशधारियों के होते हैं शासन के लिए सुरक्षित हो जाते हैं।

(iii) गवर्नमेन्ट कम्पनी में अंशधारियों की बैठक का महत्त्व नहीं रह जाता क्योंकि इस में लाभ निर्धारण कार्य तथा मण्डल की नियुक्ति सरकार करती है।

(iv) इसकी स्वतन्त्रता सरकारी एजेन्सियों द्वारा तबदीन हो सकती है।

इसलिए दिसम्बर 1959 में अनुमान समिति ने यह सन्तुष्टि की कि राष्ट्रीय लोक उद्योग बानूनी कारपोरेशन के रूप में होने चाहिए तथा कम्पनी निम्न स्थितियों में ही बननी चाहिए।

(i) जब आपत्तकाल में सरकार किसी उद्यम को लेने की वाध्य हो;

(ii) जब राज्य निजी उद्यम के सार्के में किसी उद्यम को चलाना चाहे; अथवा

(iii) जब सरकार की इच्छा यह हो कि उद्यम का संचालन करने के पश्चात् उसे निजी क्षेत्र को सौंपा जाये।

1962 में सरकार ने इन सिफारिशों को अस्वीकार कर दिया। कारण यह दिया कि कम्पनी में स्वतन्त्रता तथा नम्यता दोनों ही होती हैं जो व्यवसाय को चलाने के लिए आवश्यक हैं तथा कम्पनियों पर विधेयक द्वारा पार्लमेट का नियन्त्रण भी रह सकता है। 1961 में सरकार ने कृष्णामेनन समिति की सिफारिशों पर व्यवस्था के रूप के सम्बन्ध में निम्न निर्णय लिया:

“गवर्नमेन्ट के विचार में उद्योगों के प्रवर्ग का रूप प्रत्येक मामले की आवश्यकतानुसार तय होना चाहिए। अतः संचालन की नम्यता के दृष्टिकोण से प्रवर्ग के कम्पनी रूप को वरीयता मिलनी चाहिए। कुछ स्थितियों में बानूनी कारपोरेशन

बनाना आवश्यक होगा, किन्तु बहुत से कारणों से अन्य स्थितियों में यह वाछनीय होगा कि उद्यमों का विभागीय संगठन हो।”³

इस प्रकार सरकार ने कम्पनी रूप को स्वीकारते हुए प्रश्न को मुक्त रखा है। गवर्नमेन्ट ने विभिन्न क्षेत्रों के उद्योगों के लिए संगठन के रूप के लिए निश्चित कसौटियाँ नहीं तय की हैं।

भारत तथा अन्य देशों के लोक क्षेत्र के प्रतिरूपों में दो महत्वपूर्ण अन्तर दृष्टिगोचर हैं। भारत में कम्पनी रूप को प्रधानता दी गई है, किन्तु यू० के०, यू० एम० ए० तथा कनाडा में लोक कारपोरेशन को अपनाया गया है। इटली में लोक क्षेत्र में उद्योगों में कम्पनी को अपनाया गया है। दो छोटी की प्रबन्धक संस्थाएँ ENI तथा IRI सब चालू इकाइयों का नियन्त्रण करती हैं तथा वे वैधानिक कारपोरेशन हैं। इसलिए भारत में ही सरकार ने अंश खरीदकर कम्पनी को साधन के रूप में अपनाया है। इटली में राजकीय सम्पत्ति का प्रशासन लोक कारपोरेशनों द्वारा होता है जिनके बहुत सी कम्पनियों में हिस्से रहते हैं। इस प्रकार चालू इकाइयों पर किसी प्रशासनिक नियमन का अधिकार नहीं है, केवल वही अधिकार है जो निजी वाणिज्यिक कम्पनियों पर लागू है। भारत में सरकारी कम्पनियों पर दोनों प्रकार के अधिकार हैं। इसके पक्ष में यह कहा जाता है कि इसमें राजकीय प्रबन्ध तथा निजी उद्योग दोनों प्रणालियों के गुण हैं, किन्तु कुछ लेखकों का विचार है कि भारत में सरकारी कम्पनियों में दोनों प्रणालियों के दोष इकट्ठे हो गये हैं।⁴

भारत में दूसरी मुख्य विरोधता यह है कि उद्योग के किमी क्षेत्र के लिए कोई भी आन्तरिक लोक सत्ता का निर्माण नहीं हुआ है जिस को उस क्षेत्र के साधारण विकास का कार्य सौंपा गया हो जिसमें क्षेत्र के उद्यमों का संचालन तथा नयी योजनाओं की स्थापना शामिल हो। इस प्रकार भारत में राष्ट्रीयकृत उद्योग ही नहीं हैं। हमारे देश में वैयक्तिक लोक उद्यम हैं जिनका उन क्षेत्रों में प्रचलन है जो लोक उद्योगों के लिए सुरक्षित हैं। इसके कुछ अपवाद हैं जैसे विभागीय रेल, अणु शक्ति तथा अस्त्र-शस्त्र के कारखाने तथा वायु कारपोरेशन।

लोक क्षेत्रीय उद्योगों की अध्ययन टीम ने इस सम्बन्ध में निम्न सिफारिशें की हैं

औद्योगिक तथा निर्माण उद्योग—इनमें लोक कारपोरेशन होने चाहिएं जिनमें प्रत्येक में उद्योग के उस क्षेत्र में प्रचलित इकाइयों का संचालन रहना चाहिए, जिन इकाइयों में निजी हिस्से हो उनमें कम्पनी व्यवस्था उपयुक्त रहेगी, किन्तु जहाँ राज्य की पूँजी लगी हो वहाँ हिस्से कारपोरेशन के नाम में होने चाहिएं।

लोक उपयोगिताएँ तथा सेवाएँ—केन्द्रीय सरकार के क्षेत्र में सड़क, वायु

3 P. 14, Report of the Study Team on Public Undertakings.

4 *Ibid.* p. 15.

तथा समुद्री उद्योग आते हैं। इनमें वायु यातायात सम्बन्धी दो लोक कारपोरेशन हैं। इन कारपोरेशनों के विधेयकों में स्वतन्त्रता तथा नम्यता लाने के लिए सुधार होने चाहिए।

प्रवर्तक तथा विकासशील उद्यम (Promotional and Developmental Enterprises)—इनमें 2 लोक कारपोरेशन हैं तथा शेष 5 सरकारी कम्पनियाँ हैं। ये वाणिज्यिक आधार पर व्यवस्थित हैं, किन्तु प्रवर्तक तथा विकासशील होने के कारण इनके उद्देश्य अ-वाणिज्यिक अधिक हैं। ऐसे उद्योगों के लिए व्यवस्था का कम्पनी रूप उपयुक्त नहीं है। जिन कार्यों में ये लगे हैं वे सरकारी विभागों द्वारा भी कार्य प्रणाली में सरलता लाने पर सम्पन्न हो सकते हैं।

वाणिज्यिक तथा व्यापारिक उद्यम—भारतीय खाद्य निगम के अतिरिक्त जिसकी स्थापना अधिनियम द्वारा हुई है इस श्रेणी के अन्य उद्यम कम्पनी के रूप में व्यवस्थित हैं। इनका एक मुख्य उद्देश्य व्यवसाय तथा व्यापार का सामाजिक नियमन करना है। इनमें तथा निजी क्षेत्र के उद्योगों में प्रतिযোগिता रहती है। इसलिए इनका कम्पनी रूप रखने में विशेष औचित्य नहीं है।

वित्तीय संस्थाएँ—जीवन बीमा कारपोरेशन के अतिरिक्त जिसका देश की अर्थ व्यवस्था में विशेष स्थान है तथा जो वैधानिक कारपोरेशन है, दो उद्यम नियमित साख तथा आश्वासन कारपोरेशन तथा फिल्म वित्त कारपोरेशन धन उधार देती हैं तथा ये कम्पनी के रूप में रह सकती हैं।

लोक उद्योगों की पार्लमेंट समिति—इन लोक क्षेत्र के उद्यमों की जाँच के लिए एक पार्लमेंट की समिति है। सदन में बहस के समय अथवा प्रश्नोत्तर देते समय लोक उद्योगों पर सत्री सहोदय बोलते हैं। समिति द्वारा परीक्षा के समय उद्योग के अध्यक्ष तथा अन्य कर्मचारियों को पार्लमेंट की कमेटी के समक्ष अपने दृष्टिकोण के रपटीकरण का अवसर मिलता है। इनमें पहले लोक उद्योगों के कार्य संचालन की जाँच ऑडिट रिपोर्टों के आधार पर अनुमान समिति तथा लोक लेखा समिति द्वारा होती थी। 1964 के मई मास में दोनों सदनों की एक मिली जुली समिति का गठन हुआ जिसे लोक उद्यम समिति (Committee on Public Undertakings) कहते हैं। इसने उन दोनों समितियों के लोक उद्यमों से सम्बन्धित कार्यों को सम्भाल लिया। इस समिति के कार्य प्रणाली के नियम लगभग एस्टीमेट्स कमेटी के नियमों के ही समान हैं। पू० के० में राष्ट्रीयकृत उद्योगों से सम्बन्धित चयन समिति के विवेचनीय विषय विविध रूप में नहीं आये हैं। किन्तु भारत में इस समिति का कार्य क्षेत्र सदनों के प्रस्ताव में जिसके द्वारा समिति का गठन हुआ, परिभाषित कर दिया है। इस समिति का कार्य लोक उद्योगों पर ऑडिटर जनरल की रिपोर्टों की जाँच करना तथा इन उद्योगों की स्वतन्त्रता तथा नम्यता के मद्देन में इस बात की जाँच करना है कि इनका कार्य ठोस व्यावसायिक सिद्धान्तों तथा उपयुक्त वाणिज्यिक

प्रयागों के आधार पर हो रहा है। उस समिति की देख रेल के अन्तर्गत निम्न बातें नहीं जानी

(i) लोक उद्यमों के वाणिज्यिक मामलों के अनिश्चित महत्वपूर्ण सामग्रीय नीति सम्बन्धी मामले;

(ii) दिन प्रतिदिन के प्रशासनिक मामले, तथा

(iii) ऐसे मामले जिनके सम्बन्ध में किसी विशेष अधिनियम के अन्तर्गत किसी सामग्रीय उद्यम के विषय में कोई कार्य प्रणाली स्थापित की गई है।

1964 मई में जब ने लोक उद्यमों की समिति स्थापित हुई जून 1967 तक इन समिति ने 40 विवरण प्रस्तुत किये। इनमें 9 रिपोर्टें अनुमान समिति की रिपोर्टों पर आधारित थीं जिनका सम्बन्ध इन रिपोर्टों पर लिए गये कार्य में था। पैर 31 रिपोर्टें नगरी, सामग्री के प्रवन्ध तथा वारखानों के भवनों की योजनाओं में सम्बन्धित थी। समिति ने अपनी रिपोर्टों में पहले बड़े उद्यमों को लिया है।

पूँजीगत व्यय के नियन्त्रण के सम्बन्ध में पार्लमेंट की समितियों ने विशेष लाभदायक कार्य किया है। लोक उद्यमों ने इस विशेष समिति के गठन का बहुत स्वागत किया है क्योंकि उनके प्रवन्धकों को इसके समक्ष अपना पक्ष तथा अपनी कृतियाँ प्रस्तुत करने के अवसर उपलब्ध हुए हैं। कमेटी ने अभी तक प्रस्तावनी द्वारा सूचना प्राप्त की है जिसमें उद्यमों पर विशेष भार पड़ा है। हो सकता है कि सूचना प्राप्त करने के अन्य माधम भी अपनाये जायें।

इटली को छोड़ अन्य सभी देशों में जहाँ लोकतान्त्रिक शासन है लोक उद्यमों पर पार्लमेंट समितियों द्वारा पार्लमेंट का नियन्त्रण है। भारत में लोक उद्यमों पर समिति की रिपोर्टों के अध्ययन ने स्पष्ट है कि समिति ने पूँजी निवेश सम्बन्धी नियन्त्रण में विशेष रुचि ली है। अन्य मामलों में समिति ने नियम निर्धारित करने का पक्ष लिया है जिसमें सेवा सम्बन्धी नियमों तथा स्थितियों में समानता आजाये। समिति ने अभी तक मन्त्रालय के हस्तक्षेप के सम्बन्ध में कोई जाँच नहीं की है। यू० के० में यह जाँच का मुख्य विषय रहा है।

लोक क्षेत्रीय उद्यमों पर अध्ययन टीम ने यह सुझाव दिया है कि इस समिति को एक ही उद्योग के एक से कई उद्यमों को लेकर पूरे उद्योग पर रिपोर्ट देनी चाहिए। उदाहरण के लिए अध्ययन टीम का कहना है कि उत्तरोत्तर वर्षों में अलग-अलग वारखानों के स्थान पर समिति को तेज तथा प्राकृतिक गैस आयोग अथवा इण्डियन आयल वारपोरेशन को लेकर जाँच करना चाहिए।

ऐसा करने में समिति उद्यमों की गोपनीयता से जाँच कर सकेगी तथा बहुत से कारखानों की एक विस्तृत जाँच कर सकेगी। इससे ध्यान सर्वोच्च महत्व की बातों पर केन्द्रित हो सकेगा। पार्लमेंट के सदस्यों को एक समाहित रिपोर्ट द्वारा समस्याओं का अच्छा ज्ञान हो जायेगा तथा उन्हें आवश्यक समस्याओं पर एक जगह सूचना

मिलेगी। यह अच्छा हो कि पार्लमेण्ट की अन्य समितियों के बजाय यही समिति लोक उद्यमों की जाँच करे जिससे द्विगुणीकरण हट जाये।

प्रत्येक वैधानिक कारपोरेशन को अपनी प्रक्रियाओं, नीति तथा कार्यक्रम पर शासन को वार्षिक विवरण प्रस्तुत करना होता है। इसमें गत वर्ष की प्रक्रियाओं का तथा आगामी वर्ष में किये जाने वाले कार्यक्रमों का वर्णन प्रस्तुत रहता है। इन रिपोर्टों की एक प्रति ऑडिटर की रिपोर्ट के साथ पार्लमेण्ट के दोनों सदनों में प्रस्तुत होती है। कम्पनी कानून की धारा 619A के अन्तर्गत सरकारी कम्पनियों को भी रिपोर्ट प्रस्तुत करनी होती है। इन रिपोर्टों से पार्लमेण्ट को लोक उद्यमों के विषय में बराबर तथा नियमित रूप में सूचना प्राप्त होती रहती है।

इन रिपोर्टों में विषयों की चयनात्मकता पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है जिससे पार्लमेण्ट मुख्य बातों पर ध्यान दे सके, वार्षिक रिपोर्टों में बहुधा अपूर्ण अथवा ऊपरी सूचना दी रहती है जिससे इस बात का पता सरलता से नहीं लग सकता कि उद्यम का संचालन कुशलता से हो रहा है।

आवश्यकता इस बात की है कि मंत्रालयों तथा सम्बन्धित लोक उद्यमों के परामर्श से लोक उद्योग ब्यूरो रिपोर्टों का एक माडल निश्चित करे तथा ऐसे मानक सूचक तैयार करे जिन्हें लोक उद्यम अपना सकें। इन रिपोर्टों के अतिरिक्त लोक उद्यमों सम्बन्धी ब्यूरो भी केन्द्रीय सरकार के औद्योगिक तथा वाणिज्यिक उद्यमों पर एक समाहित वार्षिक रिपोर्ट प्रस्तुत करती है। लोक उद्यमों के विषय में पार्लमेण्ट को सही तथा पूर्ण सूचना मिलनी चाहिए। पार्लमेण्ट के निरीक्षण का प्रभाव इस बात पर निर्भर होगा कि सूचना उपयुक्त प्राप्त होती है।

छत्तीसवाँ अध्याय

भारत सरकार का व्यय

(EXPENDITURE OF THE INDIAN GOVERNMENT)

भारत सरकार का व्यय आयगत तथा पूँजीगत दोनों ही प्रकार का होता है। आयगत व्यय के दो मुख्य शीर्षक हैं प्रतिरक्षा व्यय तथा नागरिक व्यय।

नेट प्रतिरक्षा व्यय सरकार के आयगत व्यय का सर्व प्रमुख शीर्षक है। 1938-39 में प्रतिरक्षा पर 46.18 करोड़ रुपये व्यय हुए, किन्तु तत्पश्चात् इसमें बराबर वृद्धि होती रही। 1944-45 में यह व्यय 395.49 करोड़ की सीमा तक पहुँच गया। उस वर्ष वह भारत सरकार के आयगत व्यय का 79.6 प्रतिशत था। इसके पश्चात् 1949-50 तक यह घटता रहा तथा उस वर्ष यह व्यय घट कर 148.86 करोड़ रुपये तक आ गया। उसके पश्चात् इसमें बराबर वृद्धि होती रही। 1968-79 से 1971-72 तक चार वर्षों के प्रतिरक्षा व्यय के अंक निम्न तालिका में दिए हुए हैं।

प्रतिरक्षा व्यय करोड़ रुपयों में

1968-69	1969-70	1970-71	1971-72	
वास्तविक अंक	संशोधित अनुमान	स० बजट अनुमान	व. अ.	कालम 3 का कालम 2 की तुलना में प्रतिशत परिवर्तन
1	2	3		
929	979	1,040	1,071	
(34.7)	(33.4)	(32.8) —	—	+4.0

1968-69 में यह व्यय कुल आयगत व्यय का 34.7 प्रतिशत था तथा 1970-71 में यह कुल आयगत व्यय का 32.8 प्रतिशत रह गया। 1970-71 में इससे 1969-70 की तुलना में 4 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

Figures in brackets are percentages to total.

प्रत्येक देश में प्रतिरक्षा व्यय महत्वपूर्ण है। एडम स्मिथ के अनुसार प्रतिरक्षा धन सम्पत्ति से अधिक महत्वपूर्ण है। बाह्य आक्रमण तथा आन्तरिक अशान्ति के विरुद्ध रक्षा राष्ट्रीय धन तथा समृद्धि के हित में आवश्यक है। विभिन्न देशों का बहुत सा प्रतिरक्षा व्यय तुलनात्मक है तथा तुलनात्मक सुरक्षा की क्षति पहुँचाये बिना इसमें कमी हो सकती है। इसमें इस कारण बराबर वृद्धि हो रही है क्योंकि आधुनिक युद्ध स्थिति के उपक्रम अधिक कीमती तथा परिष्कृत होते जा रहे हैं।

भारत में भी प्रतिरक्षा व्यय बराबर बढ़ रहा है। दूसरे विश्व युद्ध के तत्काल पश्चात् भारत के प्रतिरक्षा व्यय के भारत तथा ब्रिटेन की सरकारों के बीच बटवारे के सम्बन्ध में एक समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत भारत के हिस्से में निम्न व्यय रहे गये :

- (i) एक स्थिर वार्षिक धन राशि जो 36.77 करोड़ रुपये थी,
- (ii) कीमतों की वृद्धि के कारण एक अतिरिक्त भत्ता;
- (iii) ऐसे युद्ध सम्बन्धी उपायों का खर्च जिन्हें पूर्णतया भारतीय देनदारी कहा जा सकता था, तथा
- (iv) भारतीय सेना को अन्य देशों में रखने के लिए 1 करोड़ रुपये।

पहले तीन प्रकार के व्ययों के योग के स्तर से अधिक किया गया व्यय भारत को इंग्लैण्ड से मिलने की व्यवस्था थी। मार्च 1947 के अन्त में यह वित्तीय समझौता समाप्त हो गया। तत्पश्चात् कुल प्रतिरक्षा व्यय भारत के हिसाब में लिखा जाने लगा, किन्तु भारतीय सेनाओं के विदेशों में रखने का व्यय अथवा ब्रिटेन की सरकार को सामग्री देने की कीमत भारत को मिलने लगी।

युद्ध काल में प्रतिरक्षा व्यय की भारत की जिम्मेदारी वित्तीय समझौते के उस भग्न पर निर्भर थी जो पूर्णतया (भारतीय देनदारी) इस बात पर निर्भर थी कि प्रधान सेनापति की राय में भारतीय प्रतिरक्षा के लिए कितनी सेना आवश्यक थी। उसके आधार पर ऑडिटर जनरल वित्तीय समझौते के अनुसार भारत तथा ब्रिटेन के बीच प्रतिरक्षा व्यय का बटवारा करता था। भारत के बचाव के लिए कितनी सेना आवश्यक थी इस सम्बन्ध में ऑडिटर जनरल प्रधान सेनापति के निर्णय पर निर्भर था, अर्थात् प्रधान सेनापति की नियुक्ति ब्रिटिश सरकार करती थी तथा सेनापति का भारतीय संसद के लिए दायित्व नहीं था। ईमानदार होते हुए भी वह भारतीय सुरक्षा की आवश्यकता का अधिमूल्यांकन कर सकता था। इसलिए युद्ध काल में बढ़ते हुए प्रतिरक्षा व्यय से भारत में शक होने की गुंजायश थी, क्योंकि भारत में युद्ध सामग्री नियन्त्रित कीमतों पर खरीदी जाती थी जिससे भारत में आवश्यक वस्तुओं की कमी होती थी तथा फलस्वरूप उनकी कीमतें बढ़ती थी। भारतीय प्रतिरक्षा व्यय के गत तीन वर्षों के अनुमान ऊपर दिये जा चुके हैं। भारत का प्रतिरक्षा व्यय पाकिस्तान तथा चीन के भारत के प्रति खर्च से कम हो रहा है।

नागरिक व्यय के गत तीन वर्षों के अंक निम्न तालिका में दिये हुए हैं :

(करोड़ रुपये में)

	1968-69	1969-70 (सं० अ०)	1970-71 (ब० अ०)	कालम 3 का 2 के ऊपर प्रतिशत परिवर्तन
	1	2	3	4
नागरिक व्यय	1,750	1,956	2,085	+6.6
जिसमें	(65.3)	(66.6)	(67.2)	
(1) विकासशील व्यय	318	367	425	+15.8
	(11.9)	(12.5)	(13.7)	
(2) ऋण सेवाएँ	528	569	597	+4.9
	(19.7)	(19.4)	(19.2)	
(3) प्रशासनिक सेवाएँ	154	177	190	+7.3
	(5.7)	(6.0)	(6.1)	
(4) राज्यों तथा सघीय	536	592	636	+7.4
क्षेत्रों को अशदान	(20.0)	(20.2)	(20.5)	
कुल आयगत व्यय	2,679	2,935	3,103	+5.7

विकासशील व्यय में शिक्षा, वैज्ञानिक विभाग तथा कृषि आदि शीर्षकों पर व्यय शामिल है ऋण सेवाओं के अन्तर्गत मूल धन तथा व्याज सम्बन्धी व्यय शामिल है। प्रशासनिक सेवाओं पर नागरिक शासन सम्बन्धी व्यय आता है।

पूँजीगत खाता—

पूँजीगत व्यय में विकासशील व्यय तथा अविकासशील व्यय तथा ऋण आदि की धन राशि शामिल है।

गत तीन वर्षों के पूँजीगत व्यय के अन्व निम्न तालिका में दिये गये हैं :

	1968-69	1969-70 (सं०अ०) (अन्व करोड़ रुपये में)	1970-71 (सं०अ०) (अन्व करोड़ रुपये में)	कालम 3 का 2 पर प्रतिशत परिवर्तन
	1	2	3	4
पूँजीगत व्यय	2,344	2,828	2,682	-5.2
पूँजीगत लागत	428 (18.3)	772 (27.3)	813 (31.4)	+9.2
विक्रमशील	499 (21.3)	653 (23.1)	727 (27.1)	+11.3
अ-विक्रमशील	-71 (-3.0)	119 (4.2)	116 (4.3)	-2.5
जिम्मे प्रतिरक्षा	104 (4.4)	125 (4.4)	134 (5.0)	+7.3
राजकीय व्यापार (नेट)	-189 (-8.1)	-16 (-0.6)	-24 (-0.9)	
ऋण	1498 (63.9)	1482 (52.4)	1345 (50.2)	-9.3
ऋण भुगतान	418 (17.8)	574 (20.3)	494 (18.4)	-13.0

आयगत तथा पूँजीगत विक्रमशील व्यय 1968-69 में 799 करोड़ रुपये से बढ़कर 1969-70 में 1019 करोड़ रुपये तथा 1970-71 में 1152 करोड़ रुपये तक पहुँच गया।

Figures in brackets are percentages to total.
* Includes developmental grants

विकासशील व्यय में निम्न मदों पर व्यय शामिल है जिसके अंक निम्न तालिका में दिये गये हैं -

(करोड़ रुपये में)

	1968-69		1969-70		1970-71	
	धन	कुल का प्रतिशत	धन	कुल का प्रतिशत	धन	कुल का प्रतिशत
विकासशील व्यय	799	100.0	1019	100.0	1152	100.0
(i) शिक्षा तथा वैज्ञानिक अनुसंधान तथा सर्वेक्षण	123	15.4	138	13.5	158	13.7
(ii) औषधि तथा लोक आरोग्यता	22	2.8	26	2.6	31	2.7
(iii) कृषि तथा सम्बन्धित सेवाएँ	24	3.0	28	2.8	38	3.3
(iv) लोहा तथा फोसफोर	115	14.4	160	15.7	88	7.6
(v) अन्य धातुकर्मीय उद्योग	22	2.8	25	2.4	50	4.3
(vi) कोयला	8	1.0	14	1.4	12	1.1
(vii) रसायन तथा खाद	17	2.1	30	2.9	47	4.1
(viii) अन्य उद्योग	107	13.4	145	14.2	182	15.8
(ix) लोक निर्माण कार्य, यातायात तथा संचार	108	13.5	143	14.0	172	14.9
(x) रेल	121	15.1	125	12.3	150	13.0
(xi) सिंचाई तथा बिजली	27	3.4	62	6.1	74	6.4
(xii) निर्यात प्रोत्साहन	34	4.2	42	4.1	40	3.5
(xiii) डाक तथा तार	27	3.4	36	3.5	35	3.0
(xiv) अन्य	44	5.5	45	4.5	75	6.6

राज्यों की वित्त व्यवस्था

(FINANCIAL CONDITIGNS OF STATES)

हमारे देश में राज्यों तथा केन्द्र के कराधान अधिकारों का वितरण विधान द्वारा निश्चित है। इस वितरण की मुख्य विशेषता के अनुसार आय के लचीले साधन मुख्यतया केन्द्र के अधिकार में हैं। इन में उत्पादन कर तथा कारपोरेशन कर जैसे प्रत्यक्ष कर हैं, किन्तु विधान में यह भी व्यवस्था है कि केन्द्र राज्यों को उत्पादन करों तथा आय करों की आय का भाग देता है। इनके अतिरिक्त केन्द्र से राज्यों को योजना सम्बन्धी तथा योजनाएत अशदान (contributions outside the plan) भी मिलने की व्यवस्था है। हमारे देश में वस्तुतः कर अधिकारों का परस्पर व्यापन (overlapping) नहीं है। इसलिए केन्द्र तथा राज्यों में आय के उन्हीं साधनों के उपयोगीकरण में प्रतियोगिता के लिए स्थान नहीं है। कुछ ऐसे कर हैं जिन्हें केन्द्र ही लगाता है तथा उसकी आय भी केन्द्र ही वसूल करता है। इसके अतिरिक्त राज्यों को भी कुछ करों को लगाने तथा उनकी आय वसूल करने का अधिकार है। आय के कुछ ऐसे साधन हैं जिन पर कर लगाने तथा उनकी आय वसूल करने का अधिकार केन्द्र को है, किन्तु इस आय का वितरण केन्द्र तथा राज्यों में होता है।

विधान के अन्तर्गत कुछ ऐसे साधन हैं जिनसे प्राप्त आय का वितरण केन्द्र तथा राज्यों में होता है। इनकी विभिन्न श्रेणियाँ हैं :

(1) कुछ ऐसे कर हैं जिन्हें केन्द्र लगाता है, किन्तु राज्य उनसे होने वाली आय अपने लिए वसूल करते हैं, जैसे रजिस्ट्री तथा रसीदों पर टिकटों की आय तथा ओपधियों तथा शृंगार आदि की वस्तुओं पर कर जो सघीय सूची में है।

(2) कुछ ऐसे कर हैं जिन्हें लगाने तथा वसूल करने का अधिकार केन्द्र को है, किन्तु उनकी आय उन राज्यों को मिलती है जिनमें वे लगते हैं। उनकी आय के वितरण के सिद्धान्त फार्मेट द्वारा विधान की धारा 269 के अन्तर्गत तय होने है। इनमें कृषि सम्पत्ति के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति पर उत्तराधिकार तथा मृत्यु कर शामिल है। रेल, समुद्र तथा वायु द्वारा प्रेषित मुसाफिरो तथा माल पर सीमावर्ती

कर, रेल भाड़े पर कर, स्टॉक मण्डियों तथा अग्रिम विपणियों (Forward Markets) के सौदों पर स्टाम्प शुल्को को छोड़ अन्य शुल्को पर कर तथा समाचार पत्रों के न्यय विक्रय पर तथा उनमें छपे विज्ञापनों पर कर भी इनमें शामिल है। इन करों से आय का वितरण वित्तीय आयोगों द्वारा निर्धारित होता है।

(3) कृषि आय को छोड़ अन्य आय पर कुछ प्रकार के कर विधान की धारा 270 के अन्तर्गत केन्द्र ही वसूल करता है। इनकी आय एक निश्चित आधार पर केन्द्र तथा राज्यों में वितरित होती है। इस धारा के अन्तर्गत आय कर के विभाजीय कोष में राज्यों में आपस में वितरण वित्तीय आयोग द्वारा तय होता है।

धारा 280 के अन्तर्गत वित्तीय आयोग की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होती है तथा 1968 तक पाँच आयोग इस धारा के अन्तर्गत नियुक्त हो चुके हैं। वित्तीय तथा अन्य क्षेत्रों में नीतियों के अन्तर्गत मन्वयन (inter-governmental Co-ordination) के लिए अन्तर्राज्य परिषद (inter-state council) की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा हो सकती है।

राज्यों के लिए आर्थिक सहायता—शासन के विभिन्न स्तरों पर अधिकारों तथा कार्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को तय करने की समस्या भारत तथा अन्य सभ्य शासनो में बहुत ही कठिन रही है। आय प्राप्त करने की निष्पत्ति तथा साधनों के श्रेष्ठतम बंटवारे के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण बात यह है कि आय के लचीले साधन मुख्यतया केन्द्र के पास हैं। इसलिए राज्यों के साधनों तथा उनके व्यय के दायित्वों में भारी अन्तर है जिसकी पूर्ति करो के बंटवारे की तथा केन्द्र से राज्यों को आर्थिक सहायता द्वारा होनी आवश्यक है। हाल के वर्षों में विरोध तथा दूसरी पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ से अन्तर्क्षेत्रीय विषमता (inter-regional disparity) को ठीक करने के लिए आर्थिक सहायता का प्रयोग साधन के रूप में किया गया है। आर्थिक सहायता राष्ट्रीय स्तर पर आवश्यक समृद्धि सम्बन्धी सेवाओं पर मधीय नियन्त्रण तथा समन्वयन के अनुपालन में सहायक सिद्ध हुई है। राज्यों को सहायता के रूप में प्रतिबन्धित तथा शर्तें रहित (conditional and un-conditional) दोनों ही प्रकार के अक्षदान केन्द्र से दिये गये हैं।

केन्द्रीय आयों के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार तथा राज्यों के हितों में निकटतम एकात्मता (close identity) है। स्वाधीनता के पश्चात् केन्द्र से राज्यों को आर्थिक सहायता बहुत बढ़ी है, तथा बहुत से उद्देश्यों की पूर्ति के लिए दी गयी है। केन्द्रीय सहायता का आधार उद्गम (origin) से हटकर आवश्यकता पर आ गया है। आय कर के विभाजन में जन संख्या को विशेष महत्व दिया गया है तथा उत्पादन करो की आय के बंटवारे में जन संख्या को ही कसौटी माना गया है। इससे यह सिद्ध होता कि आय के बंटवारे का आधार आवश्यकता माना गया है। राष्ट्रीय महत्व के उद्देश्यों के लिए विशेष आर्थिक सहायता दी जा रही है। केन्द्र तथा राज्यों के वित्तीय सम्बन्धों के विकास में यह एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य सामने आया है।

राज्यों की आय की प्रवृत्तियाँ

1947 में देश का विभाजन हुआ। उस समय कुछ देशी राज्यों का प्रान्तों में विलयन (merger) हुआ तथा कुछ राज्य अ तथा ब श्रेणियों, में विभक्त हुए। अप्रैल 1950 से व राज्य वित्तीय दृष्टि से संघटित किये गये। बाद में कुछ नये राज्य बन गये। इसलिए 1950-51 से पूर्व राज्यों की आय का तुलनात्मक प्रतिरूप (comparative pattern) सम्भव नहीं है। वास्तव में 1950-51 के पश्चात् भी नये राज्य बने हैं जिनमें अलग सदन हैं तथा जिनका बजट विधान सभा में प्रस्तुत होता है। इसलिए राज्य सरकारों की आयों की प्रवृत्ति का तुलनात्मक व्यौरा 1950-51 से ही उपलब्ध है।

1956 में राज्यों का पुनर्संगठन किया गया, जिसके अन्तर्गत संघीय क्षेत्र तथा राज्य दो अंगभूत इकाइयाँ बनी, जिनमें राज्यों के ही बजट अलग प्रस्तुत होते हैं। बिहार, उड़ीसा तथा उत्तर प्रदेश के अतिरिक्त अन्य राज्यों के अलग बजटों की स्थिति की तुलना 1956-57 से पूर्व सम्भव नहीं है। सकल राज्य सरकारों की बजट सम्बन्धी स्थिति 1950-51 से पहले वर्षों की भी उपलब्ध है।

राज्यों की समाहित बजट सम्बन्धी स्थिति :¹

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	आय	व्यय	वर्चस्व + घाटा—
1938-39	79 42	80 52	— 1 10
1950-51	387 93	385 01	+ 2 92
1955-56	554 27	604 09	— 49 82
1960-61	1,011.81	987 37	+ 24.44
1965-66	1,850 21	1,892 24	— 42 03
1966-67	2,135 20	2,194 29	— 59 09
1967-68 (R E)	2,442 09	2 469 79	— 27 70
1968-69	2,670.00	2,647 50	+ 22 50
1969-70 (B E.)	2,760 50	3,055 60	— 295 10
1969-70 (R.E.)	2,983 10	3,105 00	— 121 90
1970-71 (B E)	3,177.30	3,137.90	+ 39 40

¹ Prepared on the basis of Taxation Enquiry Committee Report, Vol I, p. 24, Annual Report of the R. B. I. for 1951-52, Table II, Annual Report of the R. B. I. 1968, Statement 59 and R. B. I. Bulletin, August 1970, p. 1292.

उपर्युक्त तालिका से यह मिथ होना है कि राज्यों की आय तथा उनके व्यय में बहुत वृद्धि हुई है। यह वृद्धि विशेषतया योजना काल में हुई है। इसके अतिरिक्त 11 वर्षों में से 7 वर्षों में बजट में घाटा रहा तथा 4 वर्षों में बचत रही। 1969-70 में बजट अनुमानों तथा मंशोधित अनुमानों में भारी घाटा रहा, किन्तु 1970-71 के बजट में कुछ बचत रही।

निम्न तालिका में पूँजीगत खाते की स्थिति स्पष्ट है :²

(करोड़ रुपये में)

वर्ष	आय	व्यय	बचत + घाटा—
1951-52	163.60	188.70	—25.10
1955-56	351.99	335.92	+46.07
1960-61	580.04	632.93	—52.89
1965-66	1,309.03	1,324.18	—15.15
1966-67	1,223.99	1,145.44	+78.55
1968-69	1,593.40	1,667.30	—73.90
1969-70 (B.E.)	1,524.00	1,593.70	—69.70
1969-70 (R.E.)	1,658.80	1,680.90	—22.1
1970-71 (B.E.)	1,440.80	1,663.40	—222.6

तालिका से स्पष्ट है कि पूँजीगत आय तथा व्यय दोनों में ही वृद्धि हो रही है, किन्तु 9 वर्षों के अकों में 7 वर्षों में घाटा तथा 2 में बचत रही है। 1970-71 के बजट में भारी घाटा रहा है।

निम्न तालिका में गत 4 वर्षों की राज्यों की समाहित बजट सम्बन्धी स्थिति दी गई है :³

(करोड़ रुपये में)

वर्ष	सकल बचत अथवा घाटा	नकद शेष में वृद्धि + घाटा—	साख पत्रों का व्यय + विक्रय—
1968-69	—11.8	—3.9	—7.9
1969-70 (B E)	—364.8	—396.2	—6.9
1969-70 (R E)	—145.8	—113.7	—32.1
1970-71 (B E)	—179.8	—203.4	—0.1
1971-72 (B E)	—237.0 ⁴	—	—

2 Prepared from Public Finance by author, 1969 Edition, p. 403, R. B. I. Annual Report, 1968, Statement 60 and R. B. I. Bulletin, August 1970, p. 1295.

3 R. B. I. August 1970, p. 1292.

4 See Article entitled State Finances Inflationary by author, Southern Economist, Bangalore, May 15, 1971, p. 5.

उपर्युक्त तालिका से परम्परागत अर्थ में राज्यों की सकल बजट स्थिति ज्ञात होती है। घाटे अथवा बचत की माप नकद जेप तथा साख पत्रों की स्थिति में परिवर्तन में होती है। सकल स्थिति में घाटा रहा है। घाटे की पूर्ति साख पत्र बेचकर तथा रिजर्व बैंक से नकद जेप के उपयोग द्वारा की गई है। यदि राज्य सरकारों के साख पत्र जनता त्रय करती है तब इस प्रक्रिया को घाटे का वित्त नहीं कहा जा सकता, किन्तु यदि रिजर्व बैंक इन्हे खरीदता है तब इस प्रक्रिया को घाटे का वित्त कहेंगे। 1969-70 के संशोधित अनुमानों के अनुसार 32 करोड़ रुपये के साख पत्र बिके, किन्तु 1970-71 में यह घिनी नाम मात्र रही। मुख्यतया इस घाटे को पूर्ण नकद जेप से कमी द्वारा को गई है।

राज्यों के आयगत व्ययों का विशेष महत्त्व है। इनकी चालू आय तथा व्यय में सन्तुलन आवश्यक है। यह आवश्यक है कि प्रत्येक लोक सत्ता को अपने आयगत व्ययों में सन्तुलन लाना चाहिए। सभी लोक क्षेत्र में नियोजित विकास (Planned-development) सम्भव होगा। नियोजित काल में राज्यों की आय बढ़ी है, किन्तु व्यय उससे भी अधिक बढ़ा है। राज्य रिजर्व बैंक से बराबर ओवरड्राफ्ट लेते रहे हैं। इस स्थिति का मुख्य कारण यह है कि उनके निजी साधन आवश्यकतानुसार नहीं बढ़ रहे हैं। यदि अल्प काल के लिए यह धन उधार लिया जाये तो कोई आपत्ति नहीं है। क्योंकि आय प्राप्त होने पर उसका भुगतान हो सकता है। वास्तव में स्थिति ऐसी नहीं है, क्योंकि व्यय आय से अधिक बढ़ता है। इसलिए राज्यों को योजना के परिपालन में विशेष प्रयत्न करने होंगे।

तालिका (पृष्ठ ३७४) में केन्द्र से राज्यों के लिए हस्तान्तरित साधनों का न्यौरा दिया गया है ⁵

इस तालिका से ज्ञात होता है कि केन्द्र से अक्षदान तथा करो के योग तथा राज्यों के आयगत व्यय का अनुपात 1951-52 में 22.1% से 1970-71 में बढ़कर 40.8% हो गया है। 1951-52 में केन्द्र से कुल आर्थिक सहायता राज्यों के व्यय के योग का 24.9% थी जो 1970-71 में 37.5% हो गई। इस प्रकार राज्य केन्द्र पर वित्त प्राप्ति के लिए अधिकाधिक निर्भर होते जा रहे हैं।

निम्न तालिका में राज्यों की 1970-71 की वित्तीय स्थिति का विवरण प्रस्तुत है :

(करोड़ रुपये में)

राज्य	आय	व्यय	बचत + घाटा—
आन्ध्र प्रदेश	230 88	232 68	—1 80
असम	105 26	104 92	+0 34
बिहार	218 70	219 97	—1 27
गुजरात	179 39	175 22	+4.17
हरियाणा	75 02	73.18	+1.84
जम्मू तथा काश्मीर	54.69	52 73	+1.96
केरल	139 42	152 89	—13 47
मध्य प्रदेश	211.98	203.94	+8 04
महाराष्ट्र	407 80	398.30	+9 50
मैसूर	193.72	209.21	—15.49
नागालैण्ड	27 13	25.31	+1.82
उड़ीसा	103 00	125.10	—22.10
पंजाब	135 90	116.47	+19.43
राजस्थान	156 73	176.28	—19 55
तमिलनाडू	252 48	257.59	—5.11
उत्तर प्रदेश	390 42	341 78	+48.64
पश्चिम बंगाल	266 09	272 29	—6 20
	3,177 33	3,137 86	+39 47

तालिका से पता चलता है कि आयगत बजट में 1970-71 में का राज्यों की आय मिलाकर बचत रही। आन्ध्र प्रदेश, बिहार, केरल, मैसूर, उड़ीसा, राजस्थान तथा पश्चिम बंगाल के राज्यों के बजटों में घाटा रहा। सबसे अधिक घाटा उड़ीसा के बजट में रहा। उत्तर प्रदेश में सबसे अधिक बचत रही।

राज्यों का विकासशील तथा अविकसित व्यय⁶

विकासशील व्यय

	(अक करोड रुपये मे)			
	1951-52	1968-69	1969-70	1970-71
शिक्षा	60.3	401.88	459.17	508.79
विकसित तथा लोक आरोग्यता	29.2	220.45	267.44	285.50
कृषि	25.9	126.71	136.70	140.58
पशु पालन		34.00	39.23	43.76
सहकारिता		31.05	31.21	33.98
ग्राम्य तथा सामुदायिक विकास	0.8	46.76	47.61	48.58
नागरिक कार्य	41.0	155.61	163.85	159.21
उद्योग	5.8	25.97	31.90	33.03
मिचार्ड	17.6	26.60	31.75	28.09
अन्य	11.0	97.85	111.00	117.93
	196.2	1,166.88	1,319.86	1,399.45

अविकसित व्यय

कर वसूली	26.9	117.70	134.61	149.34
ऋण व्याज		315.45	373.85	389.36
ऋण प्रबंध कार्य	8.5	138.25	176.64	180.39
नगरिक शासन-	106.7	367.29	409.29	420.42
अकाल	4.0	80.45	153.53	48.67
फुटकर विस्थापित आदि पर		53.06	70.10	80.20
सहायता	17.5	14.27	17.71	13.49
खाद्य	32.8	67.42	70.50	73.07
अन्य				
	196.4	1,162.89	1,409.23	1,354.94

उपर्युक्त तालिका से ज्ञात होता है कि दोनों प्रकार के व्यय में 1951-52 की तुलना में बहुत वृद्धि हुई है, किन्तु पिछले तीन वर्षों में वृद्धि की गति बहुत नहीं रही। विकासशील शीर्षकों में शिक्षा का सर्व प्रथम स्थान है। उसके पश्चात् चिकित्सा तथा लोक आरोग्यता शीर्षक का स्थान है।

अविकासशील व्यय (non-developmental expenditure) में ऋण शोधन तथा व्याज का प्रथम स्थान है तथा नागरिक शासन का दूसरा स्थान है। निम्न तालिका में राज्यों के पूँजीगत बजट के अंक दिए गये हैं :

(अक करोड़ रुपये में)

	1968-69	1969-70	1970-71
Receipts			
स्थायी ऋण	125.72	180.33	160.20
अस्थायी ऋण	138.97	—98.40	—21.56
केन्द्र से ऋण	863.93	958.39	751.82
अन्य ऋण	44.80	73.58	59.82
अनिधिक			
(unfunded) ऋण	59.45	80.22	64.18
राज्य सरकारों को वापिस ऋण	188.22	203.07	209.94
नेट अन्तरराज्य ऋण भुगतान	34	27	3
आकस्मिकता बोप नेट	2.64	3.85	...
डिपॉजिट्स तथा एडवान्सेज	169.32	258.05	216.41
योग	1,583.39	1,658.82	1,440.78

विकासशील पूँजीगत व्यय

बहुमुखी नदी घाटी योजना	110.47	106.82	101.62
सिंचाई तथा नौसंचालन	126.44	148.71	159.27
कृषि उन्नति तथा अनुसंधान	34.99	6.98	7.95
विद्युत योजनाएँ	29.10	30.12	34.39
सड़क यातायात	3	7.69	8.43
भवन आदि	118.90	137.05	169.39
औद्योगिक विकास	91.65	71.94	73.95
अन्य	3.53	4.19	5.19

(अक करोड़ रुपये में)

	1968-69	1969-70	1970-71
अविकासशील			
राजकीय व्यापार	36.39	—1.41	—2.52
जमींदारों को मुजावजा	5.55	7.13	8.65
अन्य वित्तीय सौदे	20	38	35
योग	42.14	6.10	6.48

स्थायी ऋण अदायगी	65.13	94.99	68.10
केन्द्र को ऋणों की अदायगी	554.23	593.52	602.65
राज्य सरकारों से ऋण तथा एडवान्सेज	459.02	432.66	381.42
स्वाधीन संस्थानों के ऋणों का पुनर्गतान	31.78	40.16	44.51
महायोग	<u>1,667.35</u>	<u>1,680.93</u>	<u>1,663.35</u>
पूर्वजीगत खाता			
वचत +			
घाटा—	— 73.96	—22.11	—222.57
आयगत आय :			
वचत +			
घाटा—	+ 22.54	—121.91	+39.47
सकल वचत +			
सकल घाटा—	— 11.82	—145.77	—179.74

निम्न तालिका में राज्यों की 1970-71 की आय दी गई है जिससे आय के माधनों का तुलनात्मक महत्व मालूम होता है

आय

(अक करोड़ रुपये में)

भूमि तथा आय कर	126.09	
सम्पत्ति पर कर	117.84	
वस्तुओं तथा सेवाओं पर कर	1154.52	
केन्द्रीय करों का भाग	681.65	2080.10
राज्यों की कर आय	<u>539.51</u>	
केन्द्र में प्राप्त अशदान	534.00	1073.51
योग		<u>3177.33</u>

उपर्युक्त तालिका में ज्ञात होता है कि 1970-71 में राज्यों की कुल आय 3177.33 करोड़ रुपये थी, जिसमें आय 2880 करोड़ तथा कर निर्पेक्ष आय (non-tax revenue) लगभग 1074 करोड़ रुपये थी। कर आय कुल आय का लगभग 65 प्रतिशत भाग थी। अ-कर आय 35 प्रतिशत थी। लगभग 16 प्रतिशत आय केन्द्र से अशदान के रूप में प्राप्त हुई। कर आय में केन्द्र से प्राप्त कर आय लगभग 682 करोड़ रुपये थी, जिसमें आय कर से 322.18 करोड़, केन्द्रीय उत्पादन करों से

352.23 करोड़ तथा एम्प्लेट इयूटी से 7 24 करोड़ रुपये की आय थी। राज्यों की आय में सर्व प्रमुख स्थान साधारण वित्री कर का है जिससे 1970-71 में 497.19 करोड़ रुपये की आय हुई।

हाल के वर्षों में राज्यों की आय में लोच

प्रायः यह कहा जाता है कि राज्यों की आय के साधन अप्रत्यास्थ (inelastic) हैं तथा विधान के अन्तर्गत आय के लचीले साधन केन्द्र के पास हैं। वास्तव में केन्द्र तथा राज्यों की आय के साधन अलग हैं। राज्य तथा केन्द्र उसी आय पर कर नहीं लगाते। उत्पादन कर, सीमा शुल्क तथा कारपोरेशन कर जैसे आय के साधन केन्द्र के हैं, किन्तु चौधे वित्त आयोग की सिफारिशों के अनुसार आय कर का 75 प्रतिशत भाग राज्यों को जाता है इस विभाज्य आय में पॉवर आयोम ने अग्रिम आय भी शामिल कर दी। इन के अतिरिक्त केन्द्रीय उत्पादन करों का 20 प्रतिशत भाग राज्यों को प्राप्त होता है तथा उन्हें केन्द्र से भारी अनुदान भी प्राप्त होते हैं। विभाजित करों तथा अनुदानों के कारण राज्यों की आय में लोच आ गई है। इनके अतिरिक्त वित्री कर राज्यों की आय का एक बहुत ही लचीला साधन मिष्ट रहा है जिसमें राज्यों की लगभग 16 प्रतिशत आय प्राप्त होती है। लोक उद्योगों से प्राप्त आय विशेष रही है। इनके प्रवर्धन से सुधारों से तथा लागत के घटकों पर ध्यान देने से इनकी आय में बढ़ने की विशेष गुंजायश हो सकती है। साथ-साथ नये करों के लगाने की क्षमता भी आयेगी। बिजली तथा सिंचाई से भी आय की वृद्धि होनी चाहिए।

हाल के वर्षों में राज्यों की आवश्यकताएँ बढ़ रही हैं। वस्तुओं की कीमतों के बढ़ने के कारण राज्य कर्मचारियों के वेतनमान तथा वेतन भत्तों में वृद्धि हो रही है। राज्यों की आय में बढ़ने की गुंजायश है तथा उनके व्यय में भी मितव्ययता होनी चाहिए। राज्यों में दो सदनों की आवश्यकता नहीं है तथा दूसरा सदन हट जाना चाहिए। रूस तथा अमेरिका में राज्यों में दो सदन नहीं हैं। इससे राज्यों के व्यय में कृपायत होगी। इसके अतिरिक्त राज्यों में मन्त्रीमण्डलों की अधिकतम संख्या निर्धारित हो जानी चाहिए। राज्यों को केन्द्र से प्राप्त अनुदानों का उपयोग उचित रूप में होना चाहिए, जिससे अधिक वृद्धि अथवा विकास सम्भव हो सके। पहले वित्त आयोग ने अनुदानों की यह शर्त रखी थी कि राज्य भी निजी साधनों से कर आय में वृद्धि करें। तीसरे वित्त आयोग ने राज्य सरकारों के बजट में आय के घाटे को पूरा करने के लिए 52 करोड़ रुपये की वार्षिक सहायता की सिफारिश की थी जिससे राज्यों की योजना का 75 प्रतिशत आय का भाग पूरा हो सके। चौधे आयोग ने केवल योजना के बाहर के व्यय सम्बन्धी व्यय तक ही अपना मत सीमित रखा। इस आयोग ने राज्यों की योजना के नये व्ययों को नहीं लिया क्योंकि इसके अनुसार यह नर्तव्य योजना आयोग का है। इसलिए चौधे आयोग ने योजना के व्यय

घटक के घाटे को पूरा करने की मफारिश नहीं की। आयोग ने उनके ऋण पर व्याज के सम्बन्ध में होने वाले व्यय को तो शामिल किया है।

राज्यो तथा केन्द्र में पारम्परिक वित्तीय हितों को ध्यान में रखकर कोई स्थायी रूप में ऐसी सस्था की स्थापना होनी चाहिए जिसके द्वारा राज्यों की आय में उपयुक्त रूप में उनकी वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहे तथा उन्हें विशेष कठिनाइयों का सामना न करना पड़े।

राज्य सरकारों की वित्तीय स्थिति

राज्य सरकारों की वित्तीय स्थिति लगातार कमजोर होती जा रही है। उनके बजटों के घाटे बढ़ते जा रहे हैं तथा रिजर्व बैंक से ओवरड्राफ्टों की मात्रा में वृद्धि हो रही है। अब यह विषय भारत सरकार तथा योजना आयोग के लिए चिंता का विषय हो रहा है।

1970-71 के वित्तीय वर्ष में रिजर्व बैंक द्वारा राज्यों को दिये गये ऋणों तथा ओवरड्राफ्टों का स्तर 388.16 करोड़ रुपये तक बढ़ गया तथा केवल इसी वित्तीय वर्ष में ओवरड्राफ्टों की मात्रा में 180 करोड़ रुपये की वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय साल (दीर्घकालीन प्रक्रिया) कोष (National Credit Long term Operations Fund) ने राज्यों को 42 करोड़ रुपये उधार दिये जो उपयुक्त ऋणों से अलग है।

2 अप्रैल, 1971 को राज्यों के डिपॉजिट्स की मात्रा रिजर्व बैंक के पास केवल 238 करोड़ रुपये ही थी। 1970-71 के अन्तिम महीनों में ओवरड्राफ्टों की मात्रा की वृद्धि कुछ अंश में इसलिए विशेष रूप में हुई क्योंकि राज्यों को केन्द्र को ऋणों के भूल घन तथा उस पर व्याज के रूप में बहुत घन देना पड़ा।

1971-72 में स्थिति और विगड़ेंगी क्योंकि 18 में 16 राज्यों में कुल घाटा 253 करोड़ रुपये का रहा। पाँच राज्यों ने 12 करोड़ के अतिरिक्त बर लगाये। केवल उड़ीसा के बजट में 7 लाख रुपये की बचत रही है। राज्यों का घाटा निम्न-तानिका में दिया गया है

(करोड़ रुपये में)

राज्य	1971-72 में बजट घाटा
उत्तर प्रदेश	37.20
महाराष्ट्र	35.18
पश्चिम बंगाल	28.60
राजस्थान	25.51
केरल	24.85
बिहार	21.30
आन्ध्र प्रदेश	16.33

मैसूर	14.46
तमिलनाडू	12.25
मध्य प्रदेश	11.80
गुजरात	8.25
असम	4.79
हरियाणा	4.07
जम्मू तथा काश्मीर	0.56

बजटों के घाटे उस आश्वासन के बावजूद हैं जो राज्यों ने केन्द्र को 1971-72 की वार्षिक योजनाओं के निर्माण के सम्बन्ध में दिये थे। सभी राज्यों ने अपनी योजनाओं के लिए अधिक धन डम आश्वासन के साथ माँगा था कि वे अतिरिक्त साधन जुटावेंगे। इस आश्वासन के विरुद्ध उन्होंने घाटे के बजट बनाये हैं। इन घाटों से रिजर्व बैंक में औबरड़ापटों की समस्या अधिक गम्भीर हो जायेगी, क्योंकि इसकी पूर्ति केन्द्र को करनी होगी।

पिछले 4 वर्षों में लगातार अच्छी फसल हुई है। तब भी राज्यों में घाटे के बजट रहे हैं, जिसका अर्थ यह होता है कि राज्य विकास कार्यक्रमों के लिए साधन जुटाने में अतिच्छुक्त हैं।

केन्द्र का 1971-72 के अन्तरिम बजट का अनुमानित घाटा 230 करोड़ रुपये है। राज्यों के 253 करोड़ रुपये के घाटों को मिलाकर कुल घाटा 483 करोड़ रुपये हो जायेगा, जिसे का भार देश की आर्थिक-व्यवस्था पर प्रतिकूल पड़ेगा। इससे मुद्रा स्फीति तथा वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि होगी। चौथी योजना में कुल घाटे का अनुमान 850 करोड़ रुपये का था, किन्तु 1971-72 के वित्त वर्ष में राज्यों तथा केन्द्र का घाटा 483 करोड़ रुपये है।

इसलिए यह चिन्ता का विषय है जिसके कारण वस्तुओं के मूल्यों के बढ़ने की वृत्ति को बन मिलेगा। अतः राज्यों को अपने घाटे की पूर्ति के लिए साधन जुटाने का अधिक प्रयास करना चाहिए तथा उनके औबरड़ापटों पर नियन्त्रण होना चाहिए, अन्यथा मुद्रा स्फीति को रोकना बहुत कठिन हो जायेगा।

अड़तीसवाँ अध्याय

सम्मिलित करों की आय

(REVENUE FROM SHARED TAXES)

आय कर तथा उत्पादक करों की आय का केन्द्र तथा राज्यों में बंटवारा होना है। इन करों को लगाने का अधिकार केन्द्र को है, किन्तु इन की नेट आय केन्द्र तथा राज्यों में बंटती है। आय कर के भाज्य कोष में कारपोरेशन कर, सघीय प्रशासित क्षेत्रों में लगे कर तथा भारत सरकार के कर्मचारियों के पारिश्रमिकों पर लगे कर शामिल नहीं होते। वसूली लागत घटा कर इस कोष की नेट आय केन्द्र तथा राज्यों में बंटती है।

1936 में ऑटोनीमेयर की सिफारिशों के अनुसार आय कर की नेट आय का 50 प्रतिशत भाग प्रान्तीय स्वशासन के तागू होने के दस वर्षों में राज्यों को मिलना था। ये प्रान्तीय शासन की स्थापना के छठे वर्ष से मिलना आरम्भ हो कर दसवें वर्ष के पश्चात् तक राज्यों का सम्पूर्ण भाग उन्हें मिलने को था, किन्तु यदि रेनो का अंशदान तथा नेट आय कर मिला कर एक निश्चित सीमा से ऊपर आय होने पर वह अतिरिक्त धन राज्यों को स्वायत्त शासन के आरम्भ में भी मिल सकता था। पहले वित्त आयोग (1952) की सिफारिशों के अन्तर्गत राज्यों का भाग 55 प्रतिशत कर दिया गया जिसका 80 प्रतिशत राज्यों में जन सख्या के आधार पर तथा 20 प्रतिशत वसूली के आधार पर बंटना था।

दूसरे वित्त आयोग (1956) ने राज्यों का भाग 60 प्रतिशत कर दिया जिसका 90 प्रतिशत भाग जन सख्या के तथा 10 प्रतिशत वसूली के आधार पर राज्यों में बंटने लगा। तीसरे आयोग (1960) ने राज्यों का भाग 66.2/3 कर दिया किन्तु राज्यों में बंटने का आधार पहले आयोग की सिफारिशों के अनुसार कर दिया। 1959 के वित्त विधेयक के अनुसार कम्पनियों से प्राप्त आय कर कारपोरेशन कर की श्रेणी में रख दिया गया तथा भाज्य कोष से हटा दिया गया। चौथे कमीशन की नियुक्ति मई 1964 में हुई। इसकी सिफारिशें 1966-67 तक लागू नहीं। इसकी सन्तुति के अन्तर्गत आय कर के भाज्य कोष का 75 प्रतिशत राज्यों

को गया, जो 80 प्रतिशत जन सरया के तथा 20 प्रतिशत वसूली के आधार पर राज्यों में बटने लगा।

पाँचवें आयोग की नियुक्ति फरवरी 1968 में हुई। इनकी अन्तरिम रिपोर्ट अक्टूबर 1968 में तथा अन्तिम रिपोर्ट जुलाई 1969 में प्रस्तुत हुई तथा इसकी संस्तुतियाँ 1969-70 से 1973-74 के लिए लागू हैं।

इस आयोग ने आय कर का भाज्य कोष अग्रिम कर वसूली (Advance tax payments) का धन मिला कर बढ़ा दिया। यह धन 1969-70 से पूर्व भाज्य कोष में शामिल नहीं किया जाता था। राज्यों के भाज्य कोष का भाग 75 प्रतिशत ही रहा, किन्तु राज्यों में बटने के आधार में परिवर्तन कर दिये गये। 90 प्रतिशत भाज्य कोष जन सरया के आधार पर तथा 10 प्रतिशत प्रत्येक राज्य में कर निर्धारण (assessment) के आधार पर राज्यों में बटने की व्यवस्था की गई। पहले आयोगों ने वसूली का आधार रखा था, किन्तु पाँचवें आयोग ने कर निर्धारण का आधार रखा। इस प्रकार इस आयोग की दो नई सिफारिशें रही : (1) अग्रिम कर वसूली का धन भाज्य कोष में शामिल किया गया, तथा (2) राज्यों में बटने का आधार 90 प्रतिशत जन सरया तथा 10 प्रतिशत कर निर्धारण रखा गया।

केन्द्रीय उत्पादन कर—पहले आयोग ने तम्बाकू, दियामलाई तथा चीनी पर उत्पादन करों का 40 प्रतिशत भाग राज्यों के लिए रखा। दूसरे आयोग ने 8 वस्तुओं पर लगे करों का 25 प्रतिशत भाग राज्यों के लिए रखा तथा तीसरे ने वस्तुओं की संख्या बढ़ा कर 35 कर दी, किन्तु राज्यों का भाग 20 प्रतिशत कर दिया। चौथे आयोग ने सब चालू उत्पादन करों तथा आगामी 5 वर्षों में लगे उत्पादन करों की आय के केन्द्र तथा राज्यों में बटने की व्यवस्था की, किन्तु राज्यों का भाग 20 प्रतिशत रखा। नियन्त्रक (regulatory) करों तथा विनियम करों की आय का बदलारा नहीं किया गया, क्योंकि ये कर विशेष उद्देश्यों के लिए लगते हैं।

पाँचवें आयोग की सिफारिशों के अन्तर्गत 1969-70 से 1971-72 तक सभी वस्तुओं पर उस वर्ष में लगे संघीय उत्पादन करों की आय का 20 प्रतिशत, जिसमें नियन्त्रक करों तथा विशेष कानूनों के अन्तर्गत लगे करों की आय शामिल, नहीं होगी, राज्यों को मिलेगा।

1972-73 तथा 1973-74 में सभी वस्तुओं पर संघ द्वारा लगाये गये करों की आय का 20% राज्यों को मिलेगा। इस भाज्य कोष में विशेष उत्पादन करों की आय शामिल होगी, किन्तु इसमें विशेष कानूनों के अन्तर्गत विशेष उद्देश्यों के लिए लगाये गये नियन्त्रक करों की आय शामिल नहीं होगी।¹

1 See p. 37 of the Report.

निम्न तालिका में आय कर तथा केन्द्रीय उत्पादन करों से राज्यों की प्राप्त आय दी गई है ²

(अंक करोड़ रुपये में)

राज्य	आय कर आय			केन्द्रीय उत्पादन कर आय		
	1968-69	1969-70	1970-71	1968-69	1969-70	1970-71
आन्ध्र प्रदेश	14.38	14.63	15.80	22.45	21.88	24.51
असम	4.76	7.75	8.33	9.38	9.55	8.09
बिहार	17.64	28.95	33.24	26.69	39.98	44.13
गुजरात	10.32	15.10	17.51	16.38	15.92	17.02
हरियाणा	3.18	5.04	5.80	5.45	5.01	5.45
जम्मू तथा काश्मीर	1.42	2.32	2.68	6.18	3.44	3.75
करल	7.01	11.14	12.83	12.18	13.27	14.75
मध्य प्रदेश	12.63	20.56	23.63	20.29	25.57	27.85
महाराष्ट्र	27.87	34.30	40.45	29.59	30.49	33.37
मैसूर	10.03	15.74	18.14	15.02	14.74	16.09
नागालैण्ड	0.14	0.23	0.31	5.10	0.25	0.29
उड़ीसा	6.64	10.87	12.48	13.18	14.12	15.39
पंजाब	4.67	7.42	8.54	4.23	7.42	8.07
राजस्थान	7.75	12.59	14.47	13.76	15.97	17.59
तमिलनाडू	16.28	21.50	22.50	22.02	24.11	26.13
उत्तर प्रदेश	28.49	46.45	53.35	42.52	58.57	64.53
पश्चिम बंगाल	21.29	27.35	32.12	22.75	23.06	24.99
योग	194.50	281.94	322.18	287.17	322.19	352.23

उन्तालीसवाँ अध्याय

राज्यों की आवकारी द्वारा आय (EXCISE REVENUE OF STATES)

हमारे देश में मानव उपभोग की मादक वस्तुओं पर कर राज्यों की आय के प्रमुख साधन है। राज्यों को ऐसी मादक वस्तुओं पर, जो मानव उपभोग में आती हैं तथा जिनका निर्माण राज्यों में होता है कर लगाने के अधिकार हैं। एक राज्य दूसरे राज्यों में निर्मित इस प्रकार की वस्तुओं पर बराबर के भी कर लगा सकता है।

1966-67 में मादक वस्तुओं से आय राज्यों की कुल आय का 7.8% थी, किन्तु 1970-71 में यह अनुपात 5.7% था, क्योंकि राज्यों की कुल आय उस वर्ष 3177 करोड़ थी जब कि मादक पदार्थों पर कर आय 183 करोड़ रुपये थी। अन्य देशों में भी मादक पदार्थों पर कर आय की दृष्टि से लगाये जाते हैं, किन्तु भारत में इन वस्तुओं पर कर लगाने का उनके उपभोग में कमी करने का उद्देश्य भी मुख्य रहा है। इस नीति का निर्देशन भारत सरकार के 7 सितम्बर 1905 के प्रस्ताव में किया गया था जिसके अनुसार सरकार ने इस बात की स्वीकार किया कि जो व्यक्ति संतुलित रूप में इन वस्तुओं का उपभोग करते हैं उसमें सरकार हस्तक्षेप नहीं करेगी, किन्तु सरकारी नीति का उद्देश्य निश्चित रूप में इन वस्तुओं का अत्यधिक मात्रा में इस्तेमाल करने से रोकना अवश्य है तथा आय का उद्देश्य इसी विचार के अन्तर्गत रहेगा। कर लगाने में प्रधानता इसी विचार को दी जायेगी कि इन वस्तुओं के अत्यधिक उपभोग को रोका जाये।

शराब पर इसी दृष्टि से ऊँचे कर लगाये जायेंगे, किन्तु इस बात का भी ध्यान रखा जायेगा कि इससे मादक वस्तुओं का अनधिकृत उपभोग न बढ़े। 1954 में कुछ अंशों के राज्यों में इस जीर्णक से आय का चौथा स्थान था। बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा पश्चिमी बंगाल में मादक वस्तुओं के करो से भू-राजस्व से भी अधिक आय थी।

निम्न तालिका में मादक वस्तुओं के करो से राज्यों की आय दी गयी है.^१

राज्य	1968-69	1969-70	(करोड़ रुपये में)
			1970-71
आन्ध्र प्रदेश	18.02	24.99	31.32
असम	2.90	3.10	3.28
बिहार	11.06	11.58	11.84
गुजरात	0.73	0.74	0.80
हरियाणा	8.40	7.33	7.25
जम्मू तथा काश्मीर	2.08	2.28	2.51
केरल	9.72	9.00	9.00
मध्य प्रदेश	13.02	13.48	14.08
महाराष्ट्र	5.49	7.50	7.94
मैसूर	13.11	18.50	19.00
नागालैण्ड	0.05	0.06	0.07
उड़ीसा	4.16	4.06	4.27
पंजाब	21.94	21.50	21.51
राजस्थान	9.39	7.50	8.00
तमिलनाडू	0.84	0.95	1.00
उत्तर प्रदेश	24.45	23.64	25.96
पश्चिमी बंगाल	13.68	14.74	15.41
योग	159.04	170.95	183.19

मादक पदार्थों पर कर सम्बन्धी नीति मयमन की रही है। इसका लक्ष्य भारी करो द्वारा इन वस्तुओं के उपभोग को कम करना रहा है। विदेशी मादक वस्तुओं पर अधिक कर लगे हैं। पेड़ों से ताड़ी लेने पर अथवा शराब बनाने पर लाइसेन्स शुल्क लगते हैं। ये एक्साइज करो के अतिरिक्त हैं। देशी शराब शासकीय मद्यनिर्माणशालाओं (Government Distilleries) में अथवा आवकारी कम्पनियों की प्रत्यक्ष देख रेख में बनती है।

आपूर्तिया शासकीय भण्डार घरों से प्राप्त की जाती हैं। लाइसेन्सदारों को शराब निश्चित कीमतों पर निश्चित घण्टों में बेचना होती है। कुछ राज्यों में ताड़ी निकालने तथा बेचने के अधिकार का नीलाम होता है। पहाड़ी क्षेत्रों के अलावा लाइसेन्सदार सरकार को प्रति पेड़ ताड़ी कर देते हैं। अन्य नगीली वस्तुओं की बिक्री भी लाइसेन्सदार सौदागरो द्वारा ही होती है।

आवकारी नीति—1921 तक आवकारी नीति मादक पदार्थों के उपभोग को रोकने तथा उसे नियमन करने की थी। उसके पश्चात् शराब बन्दी आन्दोलन बल पकड़ता गया तथा राज्यों की घारा सभाओं ने शराब बन्दी के प्रस्ताव पारित

किये। 1937 में कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने शराब बन्दी नीति को अपनाया तथा खम्बई तथा मद्रास प्रान्तों ने निश्चित अवस्थाओं में इस नीति को व्यवहृत करना प्रारम्भ कर दिया। 1939 में कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों के पद त्याग के कारण आन्दोलन को क्षति पहुँची। वहाँ प्रतिबन्ध ढीले कर दिये गये तथा कहीं पूर्णतया हटा दिये गये। विधान में शराब बन्दी सामाजिक नीति के निर्देशनों में उल्लिखित हो गई। इसके अनुसार राज्यों को वित्सात्मक उद्देश्यों के अलावा ऐसी वस्तुओं के उपभोग को घटाना है जो आरोग्यता के लिए हानिकारक हैं।

इस नीति पर कराधान जाँच आयोग (1954) ने भी विचार किया। आयोग के तीन सदस्य शराब बन्दी के पक्ष में थे। उनके अनुसार इस नीति के कार्यान्वित होने पर मद्यों के जीवन स्तरों में उन्नति होगी तथा उनकी क्रय शक्ति बढ़ेगी। फलस्वरूप उत्पादन घटने से कराधान के अन्य साधनों से शासन की आय में वृद्धि होगी। इसलिए इन सदस्यों के विचार में मद्यनिषेध के सामाजिक पहलुओं पर आय सम्बन्धी पहलुओं की तुलना में अधिक ध्यान देना चाहिए। यद्यपि आबकारी कर भी बढ़ गये हैं, किन्तु मद्यपान में मद्यनिषेध नीति के होते हुए भी कमी नहीं हुई है, क्योंकि जहाँ शराब बन्दी लागू हुई है वहाँ लोग स्वयं अपने घरों में शराब बनाने लगे हैं। आयोजना आयोग ने इस बात की जाँच कराई है कि इस विषय पर विधान के निर्देशन का किस प्रकार प्रभावी अनुपादन (effective implementation) किया जाय। राज्यों की भावी नीति पर इस जाँच के निर्णय का अवश्य गहरा प्रभाव पड़ेगा तथा मद्यनिषेध विषयक एक क्रमबद्ध कार्यक्रम का आधार बनेगा। उन तीन सदस्यों की राय थी कि मद्यनिषेध नीति को सब राज्यों में लागू करने की एक तिथि निश्चित हो जानी चाहिए जिससे जिन राज्यों में यह नीति लागू नहीं हो पाई है तब तक लागू हो जाय।

आयोग के अन्य तीन सदस्यों का मत यह था कि यद्यपि मद्यनिषेध नीति विधान के तीन मुख्य निर्देशों में शामिल है तो भी ऐसे निर्देशों में से यह एक ही है। इसलिए विधान के विभिन्न उद्देश्यों में वरीयता (priority) के अनुसार कार्यक्रम निश्चित होना चाहिए। मद्यनिषेध नीति के लागू करने के प्रश्न पर अकेले में विचार नहीं होना चाहिए। अलग अलग राज्यों में इस की प्रगति प्रशासनिक साधनों की प्राप्यता पर निर्भर होगी। विधान के निर्देशक सिद्धान्त का सार केवल प्रस्ताव पारित करने तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए, किन्तु उद्देश्य यह होना चाहिए कि शराब का उपयोग चिकित्सा को छोड़कर समाप्त हो जाय। इन सदस्यों का भी यह विचार था कि इस नीति के राजकोपीय पहलु को वैधानिक निर्देशों के दृष्टिकोण से गौण स्थान भी मिलना चाहिए। राज्यों की वर्तमान वित्तीय स्थिति में इस नीति का वित्तीय महत्त्व अवश्य है क्योंकि 1970-71 में इस साधन से राज्यों की 183 करोड़ रु० अथवा 5.7 प्रतिशत आय प्राप्त हुई। राज्यों में मद्यनिषेध की प्रगति क्या हो यह बात बलवत् अलग राज्यों पर छोड़ दी जाय। ये इस प्रश्न पर प्रशासनिक साधनों

तथा वित्तीय दृष्टिकोण से विचार करेंगे। इसलिए आयोग ने मद्यनिषेध नात के लिए कोई निश्चित तिथि नहीं रखी।

1954 में श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल की अध्यक्षता में एक समिति निम्न बातों पर विचार करने के लिये नियुक्त हुई।

(अ) राज्यों में मद्यनिषेध आन्दोलन कहाँ तक सफल हुआ तथा उनके मार्ग में क्या कठिनाइयाँ आईं, तथा

(ब) राष्ट्रीय स्तर पर मद्यनिषेध सम्बन्धी कार्यक्रम के लिए सन्तुति की जाये।

कमेटी की सिफारिशों के अनुसार होटल आदि स्थानों में शराब बन्दी की जाय, किन्तु विदेशी पर्यटकों के लिए अलग व्यवस्था की जाये। शराब की दुकानों की मख्या लगातार घटाने की सिफारिश की गई। जनजातीय क्षेत्रों में शिक्षाप्रद प्रतियां द्वारा इस नीति को अमल में लाया जाने की सिफारिश की। 1 अप्रैल 1958 के पश्चात् स्वास्थ्य के कारण भी परमिट न दिये जायें। इसलिए राष्ट्रीय स्तर पर मद्यनिषेध के लिए इस निधि की लक्ष्य के रूप में सन्तुति की गई थी। चिकित्सा के लिए थोड़ी मात्रा में शराब अथवा अफीम की सिफारिश की गई।

समिति ने मद्यनिषेध नीति के परिपालन के साधनों पर विशेष बल दिया। इसको कार्यान्वित करने के लिए दो रास्ते सुझाये गये (1) शिक्षाप्रद तथा निरोधक; तथा (2) प्रमाशनिक तथा कानूनी। प्रत्येक राज्य में मद्यनिषेध प्रशासक की नियुक्ति की तथा स्थानीय स्तर पर मद्यनिषेध समिति की गठन की सिफारिश की गई।

समिति ने मद्यनिषेध नीति को दूसरी पंचवर्षीय योजना का एक महत्वपूर्ण अंग मान कर अपनी सिफारिश की। इसलिए योजना आयोग ने राज्य सरकारों द्वारा कुछ कदम उठाने की सिफारिश की। शराब पीने के लिए विज्ञापन बन्द करने की व्यवस्था की सिफारिश की तथा सार्वजनिक स्थानों में शराब पीना बन्द करने का आयोजन किया गया। इस सम्बन्ध में कार्यक्रम तैयार करने के लिए तकनीकी समितियों के गठन की सिफारिश की गई। राज्य सरकारों से कुछ सुझावों के आधार पर कार्यक्रम तैयार करने को कहा गया जिससे यह कार्यक्रम एक नियत समय में पूरा हो जाय।

मद्यनिषेध की वाछनीयता में कई बातें ध्यान में रखनी चाहिए। राज्यों के वित्त की समस्या भी ध्यान में रखनी चाहिए। 1970-71 में राज्यों के बजटों में लगभग 183 करोड़ की आय का अनुमान किया गया था। 1953-54 में आवकारी से आय का स्थान भू-राजस्व के बाद था। बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा पश्चिमी बंगाल में उससे भी अधिक था। मद्यनिषेध नीति के कारण आय घटने से राज्यों की आय पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। इसके अनिर्विक, इस नीति को लागू करने के लिए व्यय की भी आवश्यकता होगी क्योंकि आधिकारी कर्मचारियों की मख्या बढ़ानी

होगी। गुजरात, महाराष्ट्र आदि राज्यों ने तो अन्य माधनों से इस शीर्षक से आय की कमी की पूर्ति कर ली है।

दूसरे, इस समस्या को सामाजिक तथा नैतिक दृष्टि से भी देखना है। गरीब वर्ग के व्यक्ति नशे पर बहुत धन व्यय करते हैं। मुद्र से पूर्व सलेम जिले में डा० पी० जे० थोमस की जाँच के अनुसार 8000 औद्योगिक श्रमिकों का शराब का वापिस व्यय 5.6 लाख रुपये था तथा उनकी आय का बड़ा भाग शराब पीने पर व्यय होता था।²

नशाबन्दी जाँच समिति के अनुसार शराब पीने की आदत मुख्य औद्योगिक क्षेत्रों, मिचाई तथा अन्य विकास के बड़े क्षेत्रों में बहुत फैल गई है। बहुत व्यक्तियों द्वारा विभिन्न जाँचों से पता चलता है कि जुर्म, भ्रमड़े शराब बन्दी लागू होने पर घट जाते हैं। इसलिए शराब बन्दी से व्यय प्रतिरूप में परिवर्तनों द्वारा शराब पर व्यय घटेगा तथा अन्य वाछनीय वस्तुओं पर बढ़ेगा।

तीसरे, शराब बन्दी के प्रशासनिक पहलुओं पर भी ध्यान देना आवश्यक है। इसके लाभ तभी प्राप्त हो सकते हैं जब शराबबन्दी प्रशासन की दृष्टि में कार्यान्वित हो सके। तस्करी (smuggling) तथा शराब बन्दी के नियमों का उल्लंघन बन्द होने चाहिए जिनके द्वारा चिकित्सा के आधार पर परमिट मिलते हैं। नियोजन आयोग की जाँच कमेटी के अनुसार अनधिकृत रूप में शराब बनाने से शराब बन्दी की सफलता में स्कावट होगी जब तक अवैध शराब बनाना प्रभावो रूप में बन्द न हो जाय। इसके अनुसार बम्बई राज्य में अपराधों की मर्यादा 1949-50 में 33,125 से 1953-54 में 1,02,626 तक बढ़ गई थी तथा अन्य क्षेत्रों में भी यही वृत्ति दृष्टि में आई थी।

इसलिए शराब बन्दी के प्रशासनिक पहलुओं पर विशेष ध्यान देना चाहिए। अवैध शराब बन्दी तथा तस्करी मद्यवर्जित क्षेत्रों (dry areas) तक ही सीमित नहीं हैं, किन्तु ये उन क्षेत्रों में भी प्रचलित हैं जहाँ कर अधिक है लेकिन शराब बन्दी नहीं है। यह मानना चाहिए कि पक्के शराबी शराब की आदत नहीं छोड़ सकते किन्तु कभी-कभी पीने वाले इस आदत को छोड़ने के लिए प्रेरित किये जा सकते हैं तथा शराब बन्दी लागू होने से नये पीने वालों की संख्या लगातार घटेगी। इसलिए मद्यनिषेध जाँच समिति ने मद्यनिषेध को कार्यान्वित करने के लिए प्रशासनिक पद्धति पर विशेष बल दिया।

मद्यनिषेध पर सतुलित ढंग पर विचार होना चाहिए। आय की कमी की पूर्ति पर भी ध्यान देना चाहिए। दीर्घकालीन लक्ष्य देश व्यापी मद्यनिषेध लागू करना होना चाहिए तथा समाज सुधार में इसे उच्च वरीयता मिलनी चाहिए।

2 See Report on the Economic Results of Prohibition in Salem.

भारत सेवक समाज जैसे सामाजिक दलों द्वारा शैक्षिक स्तर पर इस पर कार्य होना चाहिए।

औद्योगिक क्षेत्रों तथा अन्य ऐसे स्थानों में जहाँ शराब पीने की आदत बहुत फैली है तथा अब तो यह विश्वविद्यालयों के छात्र तथा छात्राओं में भी फैलती जा रही है ऐसे क्षेत्रों में विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों के अर्थशास्त्र तथा समाज-शास्त्र के विभागों द्वारा इस सम्बन्ध में सर्वेक्षण होने चाहिए जिससे पर्याप्त ज्ञान प्राप्त होने पर मद्यनिषेध सम्बन्धी प्रचार सम्भव हो सके। इस प्रश्न को नियोजन गोष्ठियों द्वारा भी किया जा सकता है।

मद्यनिषेध से शुरू में आय घटेगी, किन्तु यह एक आवश्यक सामाजिक सुधार है जिसे सामाजिक आर्थिक जीवन में उच्च वरीयता मिलनी चाहिए। इसके लिए शिक्षा तथा प्रचार के साथ कानूनी व्यवस्था भी होनी चाहिए तथा इससे होने वाली आय की हानि अन्य साधनों से पूरी होनी चाहिए।

मार्च 1956 में लोक सभा ने मद्यनिषेध को दूसरी पंचवर्षीय योजना का एक अनिवार्य अंग माना तथा यह सन्तुष्टि की कि योजना-आयोग को प्रभावी रूप में शीघ्रता से राष्ट्रव्यापी मद्यनिषेध के लिए आवश्यक कार्यक्रम बनाना चाहिए। चौथी पंचवर्षीय योजना रिपोर्ट में इस सम्बन्ध में निम्न उद्धरण उल्लेखनीय है :

“मद्यनिषेध के पक्ष में प्रचार द्वारा जनमत तैयार करना चाहिए। इसलिए इस सम्बन्ध में स्वेच्छिक संगठनों की सहायता करने का प्रस्ताव दिया जाता है।”³

टेकचन्द बमेटी रिपोर्ट में समाज के गरीब खण्डों के लिए शराब पीने की आदत हटाने के लाभों का वर्णन किया है।⁴ इसलिए इस सम्बन्ध में कार्यक्रमों को उच्च वरीयता मिलनी चाहिए।

3 P 413, para 20 15, Fourth Five Year Plan 1969-74

4 For details, see Hindustan Times, July 13, 1967.

चालीसवाँ अध्याय

केन्द्र तथा राज्यों में वित्तीय सम्बन्ध (CENTRAL-STATE FINANCIAL RELATIONS)

केन्द्र तथा राज्यों के सम्बन्धों को मोटे तौर पर दो खण्डों में बाँटा जा सकता है. (1) केन्द्र तथा राज्यों में विषयों का बंटवारा, तथा (2) वार्षिक तथा वित्तीय सम्बन्ध.

पहले खण्ड के विषयों के बंटवारे की तीन सूचियाँ हैं (1) केन्द्रीय सूची (union list), (ii) राज्यों की सूची (state list) तथा सम्मिलित अथवा समाधिकारी सूची (concurrent list)। मविधान की प्रस्तावना में यह घोषणा स्पष्ट शब्दों में है कि देश की प्रभुसत्ता जन साधारण में निहित है। इस आधारभूत सत्त्वस्था के साथ राष्ट्र के आर्थिक विकास की आवश्यकता भी शामिल की जा सकती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि आर्थिक नीतियों के निर्माण तथा आर्थिक विकास की एकरूपता के निश्चयों का विकास आवश्यक है तथा देश के विभिन्न क्षेत्रों के विकास के असंतुलन को ठीक करना चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि राज्यों को योजना सम्बन्धी नीतियों में तथा उनके आर्थिक विकास में कुछ स्वतन्त्रता दी होनी चाहिए, किन्तु इसके साथ यह भी आवश्यक है कि उनकी यह नीति केन्द्रीय योजना के साथ, जो सम्पूर्ण देश की आवश्यकताओं को ध्यान में रखती है, मेल खानी चाहिए। इसके लिए केन्द्र की प्रवर्धना, वैदेशिक सम्बन्धों, सीमा तथा आन्तरिक सुरक्षा की जिम्मेदारियाँ सौंपी गयी हैं। इसके साथ राज्यों पर भी समन्वयन के लिए भारत के स्थायित्व तथा राष्ट्रीय हित में एकरूपता के लिए कुछ दायित्व रखे गये हैं। इस बात को देखने के लिए कि राज्य का कार्य संचालन मविधान के अनुरूप होना चाहिए जिम्मेदारी केन्द्र पर रखी गयी है। आपात काल (Emergency times) में राज्यों का कार्य भार सम्भालने के लिए केन्द्र को असाधारण अधिकार दिये गये हैं जिनके सम्बन्ध वे अपनी नीतियों को निर्धारित करने में स्वतन्त्र हैं, किन्तु इन क्षेत्रों

में भी पार्लमेण्ट संविधान में दिये गये अधिकारों के अन्तर्गत विधान बनाने का निर्णय ले सकती है।

इस प्रश्न पर प्रशासनिक सुधार आयोग ने केन्द्र-राज्यों सम्बन्धी मामलों पर अपनी रिपोर्ट (1969) में विचार किया तथा यह निर्णय लिया कि इस सम्बन्ध में संविधान में संशोधन की आवश्यकता नहीं है।¹ इसके साथ संविधान की धारा 263 के अन्तर्गत केन्द्र तथा राज्यों के मामलों की समस्याओं को सुलझाने के लिए राष्ट्रपति को अन्तरराज्य समिति के गठन का अधिकार है। इसलिए प्रशासनिक सुधार आयोग ने इन समिति के गठन की प्रारम्भ में दो वर्षों के लिए निफारिश की है।²

इस अध्याय में मुख्यतया केन्द्र तथा राज्यों के वित्तीय सम्बन्धों पर प्रशासनिक आयोग की रिपोर्ट की सिफारिशों को ध्यान में रखते हुए प्रकाश डाला गया है। वास्तव में जैसा कि प्रशासनिक आयोग की रिपोर्ट में कहा गया है राज्यों की मुख्य शिकायतें वित्तीय क्षेत्र से सम्बन्धित हैं। ये दो बातों पर हैं— (i) राज्यों को केन्द्र द्वारा दिये गये ऋणों, तथा (ii) योजना से सम्बन्धित केन्द्र से राज्यों को अनुदान।

राज्यों के ऋण—जहाँ तक राज्यों पर केन्द्र के ऋण का प्रश्न है, यह योजनाओं के लक्ष्यों की पूर्ति के लिए दिये गये हैं। 1970 में राज्यों पर केन्द्र के ऋण 751.82 करोड़ रुपये के थे।³ इन ऋणों के भुगतान की समस्या कठिन हो गयी है। यदि इसका कोई सतोषजनक हल नहीं निकला तो नियोजन सम्बन्धी आर्थिक विकास अव्यवस्थित हो जायेगा। इस सम्बन्ध में प्रशासनिक आयोग ने यह सन्तुष्टि की कि राज्यों को योजना सम्बन्धी ऋण उत्पादन योजनाओं के लिए मिलने चाहिए तथा (ii) जो भी राज्यों को पूँजीगत कार्यों के लिए सहायता केन्द्र से दी जाय वह अनुदान के रूप में होनी चाहिए। (iii) ऋणों की वापसी योजनाओं की आय की क्षमता से सम्बन्धित होनी चाहिए तथा शिड्यूल के अनुसार ऋणों की किस्तों के भुगतान के लिए शोधन निधियों की स्थापना होनी चाहिए। (iv) राज्यों पर वक़ाया ऋणों के भुगतान के लिए शोधन निधियों के निर्माण का विषय एक विशेषज्ञों की समिति के सुपुर्द कर देना चाहिए। इस समिति को यह देखना चाहिए कि जो वक़ाया अनुत्पादक ऋण की मात्रा है उसका वटवारा केन्द्र तथा राज्यों में किस प्रकार किया जाय।

योजना के लिए अनुदान योजना आयोग की संमृतियों के अन्तर्गत होता है। प्रशासनिक सुधार आयोग के अनुसार इस तथ्य में बल है कि योजना आयोग की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार की आज्ञा द्वारा होती है। इसलिए यह वांछनीय है कि

1 See Chapter 1 of the Report, 1969

2 Page ii, para 3 of the Report, 1969

3 R. B. 1 Bulletin, August 1970, Table 7, p. 1263

किसी ऐसी अन्य संस्था को, जिसका निर्माण कानून द्वारा होता हो, योजना सम्बन्धी अनुदान के वितरण के सिद्धान्तों का वास्तविक गोप्य जाना चाहिए। इसलिए प्रशासन सुधार आयोग ने यह सन्तुष्टि की कि इस कार्य को धित आयोग के सुपुर्न करना चाहिए तथा वित्त आयोग की नियुक्ति ऐसे समय हो जब कि योजना आयोग द्वारा प्रस्तुत सम्पूर्ण पंचवर्षीय योजना की स्वरुपा वित्त आयोग के समक्ष प्रस्तुत हो।

वित्तीय अधिकारों तथा साधनों के बंटवारे के सम्बन्ध में प्रशासनिक आयोग के अनुसार विधान के अन्तर्गत स्थिति के सम्बन्ध में असन्तोष व्यक्त किया गया है। हमारी राय है कि इस सम्बन्ध में वित्तीय अधिकारों के बंटवारे की ऐसी उपयुक्त व्यवस्था हो जिसमें राज्यों के साधनों तथा उनके वास्तवों में सामन्जस्य आ सके। बंटवारे में योजना तथा योजना के बाहर की भी केन्द्र तथा राज्यों की आवश्यकताओं का एक सम्पूर्ण दृश्य आ जाये।⁴ इसके लिए आयोग ने केन्द्र तथा राज्यों में वित्तीय सौर्वर्गों के गुन बंटवारे की सिफारिश नहीं की।

वास्तव में केन्द्र तथा राज्यों में साधनों के सम्बन्ध में संघर्ष हुआ है। उसका कारण साधनों का दोषपूर्ण बंटवारा नहीं है, बल्कि उसकी जिम्मेदारी उन दलों तथा कार्यप्रणालियों पर है जिन के द्वारा वैधानिक अंशों का पालन किया गया है। शीघ्रता के कारण ऐसी प्रक्रियाओं का महारा लिया गया है जिससे अपनी नीतियों तथा कार्यक्रमों को वास्तविक करने में अत्यधिक हस्तक्षेप हुआ है। ऐसा भी हुआ कि राज्यों ने अति महत्वाकांक्षी योजनाएँ बनाई हैं जिससे केन्द्र को अवास्तविक प्रस्तावों पर रोक लगानी पड़ी है जिसका राज्यों ने प्रतिरोध किया है।

केन्द्र तथा राज्यों में वित्तीय अधिकारों का बंटवारा

केन्द्र तथा राज्यों द्वारा कर लगाने तथा शुल्क वसूल करने के लिए विधान की क्रमानुसार सूचियों में अधिकार उल्लिखित हैं। प्रत्येक राज्य जिन करों, महसूखों तथा शुल्कों को लगाता है उन्हें वसूल करता है तथा अपने इस्तेमाल में लाता है। सघ द्वारा लगाये गये शुल्क करों के नेट घन का भाग आंशिक शेषका पूर्ण रूप में राज्यों को मिलता है। इस प्रकार की उगाही के चार वर्ग हैं। स्टाम्प शुल्क, जीपधियों तथा गृहों की वस्तुओं पर कर भारत सरकार लगाती है, किन्तु उन्हें राज्य ही वसूल करते हैं तथा यह घन उन्हीं के उपयोग में आता है। विधान की धारा 269 में निर्दिष्ट कर भारत सरकार लगाती तथा वसूल करती है तथा उनकी नेट आय का भाग जो मधीय क्षेत्रों को नहीं जाता राज्यों में पार्ननेट के बनावे कानून के अनुसार बंट जाता है। इपि आय के अतिरिक्त आय पर करों का तीसरा वर्ग है जिन्हे भारत सरकार लगाती तथा वसूल करती है किन्तु उनकी आय विधान की धारा 270 उपधारा (2) के अनुसार राज्यों में बंटती है। चौथा वर्ग जीपधियों तथा गृहों की वस्तुओं को छीब सघ द्वारा लगाये गये उत्पन्न करों का है। इस

करो की कुल अथवा आशिक आय पार्लमेण्ट द्वारा बनाये कानून के अन्तर्गत राज्यों को राष्ट्रपति की आज्ञा के अनुसार जाती है। वह आज्ञा धारा 280 के अन्तर्गत नियुक्त वित्त आयोग की सन्तुतियों को विचार में रखते हुए दी जाती है। धारा 272 के अन्तर्गत इगित करो की नेट आय का वितरण भी वित्त आयोग की सन्तुति के अनुसार पार्लमेण्ट के कानून के अनुसार होता है। इसी प्रकार धारा 269 में इगित करो की नेट आय का वितरण भी वित्त आयोग की सिफारिशों के अनुसार पार्लमेण्ट के कानून द्वारा होता है।

राज्यों की आय के लिए अनुदान

उपर्युक्त प्रकार के साधनों के अतिरिक्त राज्यों को उनकी आय के लिए विधान की धारा 275 के अन्तर्गत अनुदान दिये जाते हैं। इन अनुदानों से सम्बन्धित सिद्धान्तों पर वित्त आयोग सन्तुति करता है। धारा 275 के अन्तर्गत वित्त आयोग की सिफारिशों के अतिरिक्त राज्यों को धारा 282 के अन्तर्गत भी अनुदान मिलते हैं। इस धारा के अन्तर्गत बिना पार्लमेण्ट के कानून के भी किसी भी लोक उद्देश्य के लिए अनुदान मिल सकते हैं। नियोजित कार्यों के लिए धारा 282 के अन्तर्गत ही राज्यों को अनुदान मिलते हैं। ये अनुदान योजना आयोग की सन्तुतियों के अनुसार मिलते हैं। धारा 282/275 के अन्तर्गत अनुदानों के अतिरिक्त राज्यों को योजना सम्बन्धी कार्यक्रमों के लिए ऋण द्वारा सहायता मिलती है। वित्त आयोग की सिफारिशों पर धारा 275 के अन्तर्गत अनुदायो तथा आर्थिक सहायता के बटवारे के विषय में प्रशासन सुधार आयोग ने कोई विशेष टिप्पणी नहीं की है। राज्यों के प्रतिनिधियों ने इस के कम होने की शिकायतें की हैं। इस में कोई सिद्धान्त अथवा कार्यप्रणाली का प्रश्न नहीं उठता। प्रशासन सुधार आयोग के अनुसार धारा 282 के अन्तर्गत योजना सम्बन्धी सहायता के विषय में कार्यप्रणाली के सम्बन्ध में विशेष अमन्त्रित व्यक्त किया गया है। इसलिए आयोग ने इस सम्बन्ध में योजना सम्बन्धी कार्यप्रणाली को सरल बनाने के लिए रिपोर्ट में सुझाव दिये हैं जिनसे अपने कार्यक्रमों के चयन में राज्यों को अधिक स्वतन्त्रता रहेगी तथा ऐसे सम्बन्ध में केन्द्र का नियन्त्रण कम हो जायेगा।

इस सम्बन्ध में प्रशासन सुधार आयोग ने निम्न सिफारिशों की हैं ^१

(i) किसी राज्य को मिलने वाली केन्द्र से सहायता का घन पहले तय हो जाना चाहिए। ऋण कितना मिलेगा इसका भी अनुमान हो जाना चाहिए। ऋण के घन को घटाने के पश्चात् बाकी सहायता अनुदान के रूप में मिलनी चाहिए।

(ii) अनुदान का कुछ भाग मूल राष्ट्रीय महत्त्व की योजनाओं से लिए मिलना चाहिए, अर्थात् यह सहायता ऐसी हो जो राष्ट्र के महत्त्व की योजनाओं के लिए ही हो। शेष सहायता अन्य योजनाओं के लिए दधानुपात मिलनी चाहिए।

(iii) जो अनुदान राष्ट्रीय महत्त्व की योजनाओं के साथ बढ़ा होगा उसका पुन बटवारा हो सकता है।

(iv) यदि कोई राज्य योजना को पूरी नहीं कर पाता तथा फलस्वरूप केन्द्रीय सहायता को अपने हिस्से के धन के अनुपात से अधिक व्यय करता है, उसके लिए केन्द्रीय सहायता अनुपात में कम हो जायेगी।

(v) इस प्रकार अनुदान प्रारम्भ होने के पश्चात् विविध विकास ऋण बन्द हो जाने चाहिए।

(vi) केन्द्र द्वारा प्रवर्तित योजनाएँ न्यूनतम रखी जायें तथा इन के लिए कुछ कमौटियाँ तय हो जानी चाहिए जो कठोरता से लागू की जायें।

उपयुक्त सिफारिशों पर सरकार ने निम्न निर्णय लिया। अमम, नागातण्ड, जम्मू तथा कश्मीर की आवश्यकताओं के लिए धन रख कर चौथी योजना के लिए दोष केन्द्रीय सहायता अन्य राज्यों में 60 प्रतिशत जन संख्या के आधार पर, उनकी आय औसत राष्ट्रीय आय से कम होने पर 10 प्रतिशत जनकी प्रति व्यक्ति आय के अनुरूप उनके कर प्रयास के आधार पर तथा अन्य 10 प्रतिशत उनकी बड़ी कृषि तथा शक्ति सम्बन्धी योजनाओं के दावे के आधार पर तथा दोष 10 प्रतिशत राज्यों की विशेष समस्याओं को सुलभाने के लिए सहायता वनाक ग्रांट तथा ऋणों के रूप में होगी।

कमोशन ने राज्यों को केन्द्र द्वारा बढ़ते हुए ऋणों तथा उन सिद्धान्तों पर जिनके आधार पर योजनाओं के लिए अनुदान मिलने चाहिए भी सिफारिशें की हैं।

बढ़ते हुए ऋणों के निम्न कारण हैं —

(i) पिछड़े खण्डों तथा क्षेत्रों पर बहुत धन व्यय हुआ है। राष्ट्र निर्माण के लिए आवश्यक होते हुए इन योजनाओं से आय नहीं होती।

(ii) लोक क्षेत्रीय उद्योगों, सिंचाई तथा शक्ति योजनाओं पर बहुत धन व्यय होता है, किन्तु आय इन से बहुत काल पश्चात् प्रारम्भ होती है।

(iii) प्राकृतिक विपत्तियों पर व्यय से राज्यों के वित्तीय दायित्व बढ़ गये हैं।

(iv) बड़ी योजनाओं के बनाने की उत्सुकताओं के कारण बहुत से राज्यों ने अपने गांधी को बढ़ा कर दिखाया है निम्नकी पूर्ति सम्भव नहीं हो पाई।

राज्यों पर केन्द्र का ऋण 1951-52 में 239 करोड़ रुपये से बढ़कर 1968-69 में 5508 50 करोड़ रुपये तक हो गया। पहली पंचवर्षीय योजना में केन्द्र से प्राप्त ऋण राज्यों के पूँजीगत व्यय का 77 प्रतिशत था जो तीसरी पंचवर्षीय योजना में 89 प्रतिशत तक बढ़ गया। राज्यों के ऋण की मात्रा इन तथ्यों से ज्ञात होती है। 1970-71 के बजट अनुमानों के अनुसार राज्यों की आयगत आय 3177 33 करोड़ रुपये थी, जब कि राज्यों पर केन्द्र का ऋण 751.82 करोड़ रुपये था।⁶

राज्यों के योजना व्यय के केन्द्रीय ऋणों द्वारा वित्त प्रदान करने के निम्न दोष हैं —

(i) यह समझा जाता है कि विकासशील योजनाओं से लाभ, जिनके लिए धन केन्द्र से उधार मिलता है, अकेले राज्य को ही है तथा इस व्यय की पूरी जिम्मेदारी राज्य पर होनी चाहिए।

(ii) इस बात का प्रयास नहीं किया जाता कि राज्य के उपलब्ध साधनों तथा उनके योजना सम्बन्धी व्यय में क्या अन्तर है तथा इस अन्तर को अनुदान के रूप में सहायता से पूरा किया जाय।

(iii) योजनागत प्रोजेक्टों से होने वाली आय पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता। इनके आर्थिक तथा सामाजिक लाभों को ही ध्यान में रखा जाता है। इसलिए इनसे होनी वाली अधिकतम वित्तीय आय पर ध्यान नहीं दिया जाता। इससे ऋण शोधन समस्या जटिल हो जाती है।

(iv) भुगतान कार्यक्रम तथा उन योजनाओं से होने वाली आय का कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

प्रशासनिक सुधार आयोग की सस्तुति

इस सम्बन्ध में प्रशासन सुधार आयोग ने निम्न सिफारिशों की हैं :—

(i) योजना सम्बन्धी प्रोजेक्टों के लिए ऋण तभी दिये जायें जब योजना उत्पादक हो। योजना की उत्पादकता का निर्णय योजना आयोग वित्त मन्त्रालय तथा अन्य सम्बन्धित केन्द्रीय मन्त्रालयों के परामर्श से करें।

(ii) उत्पादक ऋणों का भुगतान कुछ समय पर फैलाया जायें। राज्यों को निवेश से अधिकतम आय प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए तथा ऋण भुगतान के लिए शोधन निधि स्थापित करनी चाहिए। व्याज का भुगतान समय पर होने पर बल दिया जाना चाहिए।

(iii) अनुत्पादक पूँजीगत योजनाओं के लिए महायता पूँजीगत अनुदान के रूप में होनी चाहिए।

(iv) बकाया ऋणों की समस्या को एक विशेष विशेषज्ञों की समिति के सुपुर्द करना चाहिए।⁷

केन्द्र से राज्यों को प्लान योजनाओं को वित्त प्रदान करने के लिए महायता अनुदान तथा ऋणों द्वारा मिलती है। योजना के लिए अनुदान विधान की धारा 282 के अन्तर्गत मिलता है। इस धारा के अन्तर्गत तब किसी भी सार्वजनिक उद्देश्य के लिए अनुदान दे सकता है, किन्तु इस धारा में इस बात के लिए कोई अंश नहीं है कि ये अनुदान जिन सिद्धान्तों के अन्तर्गत होने चाहिए। जब विधान बना था तब

धारा 282 में पंचवर्षीय योजनाओं के लिए अनुदान का विचार सम्भव नहीं था। राष्ट्रीय योजना के लिए राज्यों को विकसित योजनाओं के अनुदान के लिए उपयुक्त सिद्धान्तों के प्रतिपादन की आवश्यकता है। इन अनुदानों के लिए योजना आयोग मानक तय करता है, किन्तु आयोग की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार की आज्ञा द्वारा होती है। इसलिए हम बात पर बल दिया गया है कि योजना के लिए अनुदान के बंटवारे के सिद्धान्तों का प्रतिपादन पार्लियामेंट के कानून के द्वारा गठित अन्य सभा से होना चाहिए तथा इस सम्बन्ध में वित्तीय आयोग का मुभाव दिया गया है। इसलिए जब भारत सरकार वित्त आयोग की नियुक्ति करती है तभी आवश्यकतानुसार उसके विवेचनीय विषय भी विस्तार से बनाये जा सकते हैं। ऐसे मामले वित्त आयोग के सुपुर्दे किये भी गये हैं। इस सम्बन्ध में चौथे वित्त आयोग के अध्यक्ष ने निम्न बातें कही थी :

“वैधानिक स्थिति के अनुसार वित्त आयोग को विधान की धारा 275 के अन्तर्गत अनुदान की सिफारिश करने में राज्यों की पूँजीगत तथा आयगत आवश्यकताओं पर विचार करने में कोई रुकावट नहीं है। किन्तु योजना आयोग की स्थापना से कार्यों का परस्पर व्यापन हो गया है जिसे हटाने की प्रथा के कारण वित्त आयोग के कार्य कम कर दिये हैं।

इसलिए प्रशासन सुधार आयोग ने यह सिफारिश की कि वित्त आयोग को उन सिद्धान्तों पर सिफारिश करने को कहा जाये जिनके अनुसार राज्यों को योजना सम्बन्धी अनुदानों का वितरण तय हो। इसके लिए वित्त आयोग के मामले योजना आयोग द्वारा तैयार की गई पंचवर्षीय योजना की रूपरेखा प्रस्तुत रहनी चाहिए। योजना सम्बन्धी अनुदान के वितरण के सिद्धान्तों को वित्त आयोग तय करेगा, किन्तु इन का अनुपालन योजना आयोग तथा सरकार द्वारा प्रति वर्ष होगा। वित्त आयोग की सिफारिशों को समन्वित करने के लिए वित्त आयोग में एक योजना आयोग का सदस्य होना चाहिए तथा दो अन्य ऐसे सदस्य हों जिनमें एक को केन्द्रीय वित्त का तथा दूसरे को राज्यों के वित्त का अनुभव हो।

इसलिए प्रशासन आयोग ने अनुदानों के सम्बन्ध में निम्न सिफारिशों की।

(i) वित्त आयोग उन सिद्धान्तों की सिफारिश करे जिनके अनुसार राज्यों को योजना सम्बन्धित अनुदान वितरित किये जायें। इसलिये वित्त आयोग का गठन ऐसे समय हो जब उसके सामने योजना आयोग की रूपरेखा प्रस्तुत हो।

(ii) प्रति वर्ष योजना सम्बन्धी वितरण के लिए अनुदानों का अनुपालन योजना आयोग को करना चाहिए।

(iii) वित्त आयोग की सिफारिशों के उपयुक्त समन्वयन के लिए योजना आयोग के एक सदस्य की नियुक्ति वित्त आयोग में होनी चाहिए।

(iv) वित्तीय आयोग के दो ऐसे सदस्य हों जिनमें एक को केन्द्रीय वित्त का तथा दूसरे को राज्यों के वित्त का अनुभव होना चाहिए।

एक अन्य समस्या इस बात की है कि राज्य सरकारों को कर्मचारियों के वेतन भत्ते आदि इसलिए बढ़ाने पड़ते हैं कि केन्द्रीय सरकार अपने कर्मचारियों के पारिश्रमिक बढ़ाती है। यह व्यय दो कारणों से अनिवार्य सा ही हो गया है :

(i) जब केन्द्रीय सरकार अपने कर्मचारियों के भत्ते आदि बढ़ाती है तब राज्य कर्मचारी भी अपने भत्ते बढ़ाने की माँग करते हैं तथा ये माँगे भीषण प्रदर्शनों तथा हड़तालों तक आ जाती है।

(ii) यह माँग कीमतों के बढ़ने के कारण होती है। इस सम्बन्ध में राज-कोपीय नीति तथा मुद्रा प्रसार से होने वाली कठिनाइयों का दायित्व केन्द्र पर है।

इसलिए प्रशामन मुधार आयोग ने यह मिफारिश की कि वित्त आयोग राज्यों को माधनों के बटवारे के समय कीमतों के बढ़ने से जीवन व्यय बढ़ने के लिए राज्य सरकारों के कर्मचारियों का भत्ता बढ़ाने की समस्या को ध्यान में रख कर विचार करे।

इस बात पर बल दिया जाना चाहिए कि राज्यों को अपने साधन भी बढ़ाने चाहिए। इसके बिना केन्द्र उन्हें पर्याप्त साधन उपलब्ध नहीं कर सकता। कुछ राज्य सरकारें उन समस्याओं पर जो भारी विनियोग से लाभ उठाती हैं बर लगाने में सकोच करती हैं। सिंचाई तथा विद्युत योजनाओं पर बर लगाने से उन पर अनुपयुक्त भार नहीं होगा। इसलिए राज्य सरकारों का विकासशील प्रोजेक्टों पर बर लगा कर अपनी आय अधिकतम करने के लिए तैयार रहना चाहिए। राज्य सरकारें ऐसा करती भी हैं, किन्तु सिंचाई तथा विद्युत शक्ति की बड़ी योजनाओं में भारी निवेश से लाभ प्राप्त होने वालों पर राज्य सरकारों को बर लगा कर अपनी आय अधिकतम करने का पूरा प्रयास करना चाहिए।

1951
उद्देश्य :- जैसे एक चल का व्यापारी किसान को
 बेच देता है इससे व्यापारी की आय पर
 बिबिीक (कोट) तथा किसान की रकम पर
 क्रम का लगाया

इकतालीसवाँ अध्याय

विक्री कर

(SALES TAX)

विक्री कर सम्पत्ति तथा माल के निर्माण अथवा फुटनर तथा धाक विक्री की अवस्था पर लगता है। उत्तर प्रदेश में विक्री कर व्यापारी की विक्री पर लगता है। विक्री का अर्थ व्यापारी की विक्री की सकल आय अथवा प्राप्ति से है। विक्री माल के अधिकार के हस्तान्तरण द्वारा होती है। हस्तान्तरण द्वारा नकद रूप में अथवा बदले में अन्य मूल्यवान् प्रतिफल प्राप्त हो। यह भी सम्भव है कि भुगतान स्वयं ही हो जाय। माल के अन्तर्गत मशीन, हिम्मे अथवा प्रतिभूतियों तथा वाद योग्य दावों (actionable claims) को छोड़ अन्य चल सम्पत्ति शामिल है। इस प्रकार एक निश्चित काल में व्यापारी के माल के सकल मूल्य पर कर विक्री कर कहलाता है।

विक्री कर तथा क्रय कर—विक्री कर माल की विक्री पर लगे कर को कहते हैं तथा क्रय कर व्यापारी द्वारा खरीदे गये माल के मूल्य पर लगता है। प्रत्येक विक्री के सौदे में किसी अन्य व्यक्ति द्वारा खरीदारी निहित है। व्यापारी की विक्री के मूल्य पर लगाया गया तथा उससे बगूल किया गया कर विक्री कर कहलाता है। दूसरी ओर, क्रय व्यापारी की खरीदारी पर लगाया जा सकता है, जिसे क्रय कर (purchase tax) कहते हैं, जिसमें एक अथवा एक से अधिक अवस्थाओं पर यह कर लग सकता है।

क्रय कर निम्न परिस्थितियों में लगता है—

(1) वस्तु स्पष्ट हो तथा सरलता से पहचानी जा सके जैसे कार, (2) व्यापारी के विक्री के सौदे का लेखा अमलौजजनक हो, अथवा (3) प्रशासनिक सुविधा के कारण भी यह कर लग सकता है। न० 2 में उदाहरण के रूप में यह कह सकते हैं कि एक व्यक्ति काष्ठ आदि छापन का कार्य करता है, जिसको विक्री के लेखों को जखाना बटिन है। उसकी कागज की खरीदारी पर कर लग सकता है। न० 3 में यह उदाहरण हो सकता है कि एक मृगफली का व्यापारी बहुत से किसानों से अपने राज्य में मृगफली खरीदता है तथा दूसरे राज्य के व्यापारी को बेचता है।

इस स्थिति में राज्य सरकार भूगर्भाले बेचने वाले किसानों की विक्री पर सरलता से कर नहीं लगा सकती। किन्तु वह व्यापारी की खरीदारी के मूल्य का सरलता से पता लगा सकती है। विक्री का पता लगाना बठिन है क्योंकि यह राज्य के बाहर होती है। ऐसी दशा में श्रय कर लगाया जाता है।

सामान्य विक्री कर तथा चयनात्मक विक्री कर (GENERAL SALES TAX AND SELECTIVE SALES TAX)

चयनात्मक विक्री कर कुछ चुनी हुई वस्तुओं की विक्री पर लगता है जैसे रेडियो सेट। दूसरी ओर, सामान्य विक्री कर सभी वस्तुओं के मूल्य पर लगता है। केवल उन वस्तुओं की विक्री पर नहीं लगता जिन पर वैधानिक छूट रहती है।

एकल बिन्दु तथा बहुल बिन्दु विक्री कर (SINGLE POINT AND MULTI-POINT SALES TAX)

एकल-बिन्दु प्रणाली के अन्तर्गत कर विक्री पर एक ही बिन्दु पर लगता है। जब उत्पादक थोक विक्रेता को वस्तु बेचता है तब कर लगता है अथवा जब फुटकर विक्रेता उपभोक्ता को वस्तु बेचता है तब कर लगता है। प्रशासनिक असुविधा के कारण थोक विक्रेताओं द्वारा विक्री पर एकल बिन्दु विक्री कर नहीं लगाया जाता। सामान्यतया एकल बिन्दु विक्री कर आयातकों तथा निर्माताओं पर लगता है। वे शामन को विक्री कर देकर अपने ग्राहकों से वसूल कर लेते हैं। जो व्यापारी उनसे खरीदते हैं उन्हें विक्री कर नहीं देना होता तथा वे उसे अपने ग्राहकों से नहीं वसूल कर सकते। वे विक्री की कीमत बढ़ा सकते हैं जिससे उन्हें पर्याप्त लाभ मिल सके जिससे जो कर उन्होंने निर्माता को दिया हो वह कर कीमत में आ जाये।

बहुल बिन्दु कर वस्तु की विक्री के प्रत्येक बिन्दु पर लगता है। जब उत्पादक थोक व्यापारी को माल बेचता है यह कर तब लगता है। थोक व्यापारी जब फुटकर व्यापारी को माल बेचता है तब यह कर लगता है तथा फुटकर व्यापारी उपभोक्ता को माल बेचता है तब भी यह कर लगता है। बहुल बिन्दु कर की दर एकल बिन्दु कर की तुलना में कम होती है। बहुल बिन्दु कर बहुत से व्यापारियों पर तथा बहुत सी वस्तुओं पर लगता है। इस प्रणाली में छूट एकल बिन्दु कर प्रणाली की तुलना में कम होती है। व्यापारी को बहुत विस्तृत हिसाब नहीं रखना होता जैसा एकल बिन्दु कर प्रणाली में रखना होता है।

छूट—विक्री कर से कई कारणों से छूट मिलती है। प्रथम, छोटे व्यापारियों को प्रशासनिक आधार पर माफी मिलती है, क्योंकि उनके लिए हिसाब रखना सरल नहीं होता। दूसरे, जन साधारण के उपभोग की वस्तुओं, जैसे हाथ के बुने माल पर भी माफी रहती है, लेकिन सदा ऐसा नहीं होता। तीसरे, कच्चे माल तथा कुटीर श्रमिकों तथा किसानों के उपकरणों पर भी माफी दी जाती है। अन्तिम, जो वस्तुएँ एक राज्य से दूसरे में बिकती हैं अथवा जिनकी निर्यात होती है उन पर भी अन्तर

राज्य तथा निर्यात व्यापार को प्रोत्साहन देने के लिए बिक्री कर से माफी दी जाती है।

कुछ माल पर छूट अंतरहित होती है तथा कुछ माल पर जैसे उत्तर प्रदेश में अब को बिक्री पर, छूट सशर्त होती है। सशर्त छूट में व्यापारी को उपयुक्त अधिकारी से निश्चित छूट देने पर माफी का प्रमाण पत्र मिल जाता है। व्यापारियों को प्रमाण पत्र के अन्तर्गत बिक्री की वस्तुओं का अलग हिमाव रखना होता है। छूट के लिए उन्हें एक निश्चित तिथि तक प्रार्थना पत्र देना होता है तथा उन्हें पूर्व वर्ष की बिक्री के आधार पर छूट मिल जाती है।

व्यापारियों की रजिस्ट्री—व्यापारी अपनी रजिस्ट्री राज्य विधान के केन्द्रीय विनियम, 1956 के अन्तर्गत करा सकते हैं। व्यापारी बिक्री कर का भुगतान मुनाफे से करते हैं अथवा वे कर अपने ग्राहकों से वसूल करने पर शासन को देते हैं। इस दूसरी परिस्थिति में यह आवश्यक है कि कर लगाने वाली माल के साथ उनकी रजिस्ट्री होनी चाहिए। व्यापारी की रजिस्ट्री वार्षिक शुल्क भुगतान करने पर होती है। अपने ग्राहकों से केवल वही व्यापारी कर वसूल कर सकता है जो पंजीकृत है। रजिस्ट्रेशन सर्टीफिकेट हर वर्ष लेना आवश्यक है। रजिस्टर्ड व्यापारी को कुछ नियमों का पालन करना होता है। उत्तर प्रदेश में प्रत्येक ऐसे व्यापारी को हिस्से में लिखा एक चोड़ अपने व्यापार भवन पर लगाना आवश्यक है। उसे अपने ग्राहकों को नकद पत्र देने होते हैं जिनमें वस्तु का मूल्य तथा बिक्री कर अलग-अलग होने चाहिए। प्रत्येक नकद बीसी या प्रतिपण उनके पास होना चाहिए तथा बिक्री कर की राशि प्रतिदिन नकद वही में लिखी जानी चाहिए।

बिक्री कर प्रशासन—अधिकांश राज्यों में बिक्री कर का प्रशासन बिक्री कर विभाग करता है। कभी कभी यह विभाग कृषि आय कर जैसे अन्य करों का भी कार्य करता है। विभागाध्यक्ष कमिशनर होता है तथा उसके नीचे उप अथवा सहायक आयुक्त तथा बिक्री कर आफिसर होते हैं। कर निर्धारण गजेटेड कर्मचारी करते हैं। कुछ राज्यों में निर्धारक तथा अपील अधिकारी अलग होते हैं तथा वही वे दोनों कार्य सम्मिलित होते हैं। महाराष्ट्र तथा गुजरात में व्यापार तथा उद्योग के प्रति-निधियों की एक सलाहकार समिति प्रशासन तथा कर दाताओं में एक सम्पर्क स्थापन कार्य करती है। उत्तर प्रदेश में 4 क्षेत्र हैं तथा प्रत्येक क्षेत्र एक सहायक कमिशनर के धार में होता है। वार्षिक निर्धारण बिक्री कर तथा सहायक बिक्री कर कर्मचारी करते हैं। एक क्षेत्र में एक अथवा अधिक जिले होते हैं जिन्हें मरकिल कहते हैं। बिक्री कर आफिसर सरकिल या अधक्ष होता है। एक सरकिल में दो आफिसर भी होते हैं।

निर्धारण वर्ष—प्रत्येक व्यापारी को निर्धारण वर्ष की बिक्री के आधार पर बिक्री कर देना होता है। यह वित्तीय वर्ष भी हो सकता है जो 1 अप्रैल से आगामी

31 मार्च तक होता है। व्यापारी पूर्व वार की बिक्री पर भी चाहे तो कर दे सकता है। वित्तीय वर्ष जब निर्धारण वर्ष होता है तो व्यापारी को प्रति चार महीने में विवरण देना होता है तथा विवरण देने से पूर्व कर जमा करना होता है। पूर्व वर्ष के सम्बन्ध में व्यापारी को एक बार ही विवरण देना होता है।

सम्पात (Incidence)—इस कर का सम्पात क्रेता पर होता है, यद्यपि नियमों के पालन की जिम्मेदारी व्यापारी की है। विधायक की इच्छा यह है कि व्यापारी कर सम्पात क्रेता पर डाल सकता है। सम्पात जिन वस्तुओं पर कर लगते हैं उनकी आपूर्ति तथा माँग की लोच पर निर्भर होता है। आपूर्ति जितनी अधिक लचीली होगी उतनी ही अधिक सम्भावना इस बात की है कि कर क्रेता को बरदाश्त करना होगा तथा माँग लोचदार होने पर कर बिक्रेता को बरदाश्त करना होगा। जब एक राज्य में बिक्री कर की दरें दूसरे राज्य से अधिक हैं तथा कर लगने वाली वस्तुएँ एक राज्य से दूसरे में बिक्री हैं तब सम्पात व्यापारी बरदाश्त कर सकते हैं। तब उन्हें यह भय जाता रहेगा कि उनके ग्राहक अन्य व्यापारियों से माल खरीद लें।

गुण तथा दोष—बिक्री कर से आय बहुत होती है। राज्यों की आय का सबसे बड़ा साधन बिक्री कर है। 1970-71 के वजट वर्ष में राज्यों को चारों प्रकार के बिक्री कर की कुल आय 696.75 करोड़ रुपये थी जब कि उनकी कुल आय 3177.33 करोड़ रुपये थी, अर्थात् इस स्रोत से आय कुल राज्यों की आय का 20% से अधिक थी। उसी वर्ष सामान्य बिक्री कर की आय 497.19 करोड़ थी तथा केन्द्रीय बिक्री कर से राज्यों की आय 137.14 करोड़ थी।¹ भारतीय कराधान जाँच आयोग के अनुसार, बिक्री कर का आय के एक साधन के रूप में यह गुण है कि यह बहुत वस्तुओं तथा व्यापारियों पर फैला रहता है तथा यही कारण है कि दर कम होने पर भी इससे साखान् (substantial) आय प्राप्त करना सम्भव हो जाता है।² इसकी आय बहुत लचीली होती है। दर में थोड़ी वृद्धि से भी आय बहुत बढ़ जाती है। इसका प्रमाण यह है कि 1954-55 में इसकी आय 48 करोड़ रुपये थी, किन्तु 1970-71 में यह आय लगभग 500 करोड़ रुपये तक बढ़ गई। इसका सम्पात बहुत व्यक्तियों पर पड़ता है। यह कीमत के साथ वसूल हो जाता है। इसलिए इसका सम्पात महसूस नहीं होता, क्योंकि यह न्यूनतम आय के व्यक्तियों पर भी लगता है।

इसका मुख्य दोष यह है कि यह प्रतिगामी (regressive) है। यह उन वस्तुओं पर भी लगता है जिन्हें बहुत गरीब व्यक्ति भी खरीदते हैं। वह विलासिता

1 R. B. I. Bulletin, August 1970, p. 1301.

2 Report of the Taxation Enquiry Commission 1954, Vol. III, P. 447

की वस्तुओं पर भी लगता है। तब इसका सम्पात अमीर व्यक्तियों पर पड़ता है, किन्तु आर्थिक आय इससे तभी होती है जब यह जन साधारण के उपभोग की वस्तुओं पर भी लगता है। इसकी दर उपभोक्ता की कर-देय क्षमता से सम्बन्धित नहीं रहती। अमीर तथा गरीब के लिए एक ही दर होती है, क्योंकि यह वस्तु पर लगता है तथा जो भी उसे खरीदेगा वही इस कर को देगा। इसका प्रतिगामी-पन (regressiveness) दो तरीकों में नियन्त्रित हो सकता है। प्रथम, यह चयनात्मक आधार पर लगाया जाय तथा विलामिताओं पर ही लगे, किन्तु ऐसी स्थिति में इसकी आय थोड़ी होगी। दूसरे, जिन वस्तुओं का उपभोग मुख्यतया गरीब आदमी ही करते हैं उन पर यह न लगे। इस बात का प्रयास तो किया जाता है।

इसका दूसरा दोष यह है कि व्यापारियों को बहुत हिसाब रखना होता है तथा निरीक्षण तथा जाँच के कारण व्यापारियों को बहुत परेशानी होती है। कर्मचारियों तथा व्यापारियों में कपट द्वारा इसका बचन (evasion) भी हो सकता है, किन्तु यह तो सभी करों के साथ हो सकता है। इसके अतिरिक्त इससे अन्तर-देशीय व्यापार को बाधा पहुँचती है। राज्यों में उन्हीं वस्तुओं पर भिन्न दरें हैं जिससे व्यापार में बाधा होती है। इस कठिनाई को केन्द्रीय बिक्री कर 1956 के द्वारा हटाने का प्रयास किया गया है, जिससे दरों में एक समानता लाने का प्रयास किया गया है।

भारत में बिक्री कर का प्रसार—बिक्री कर सर्वप्रथम 1938 में मध्यप्रदेश में घयनात्मक आधार पर लगाया गया तथा मोटर स्प्रिट तथा चिकनाई की वस्तुओं को छूटकर बिक्री पर लगाया गया था। सर्वप्रथम इसे पेट्रोल कर कहा गया था। सर्वप्रथम सामान्य बिक्री कर 1939 में मद्रास में बहुल-बिन्दु आधार पर लगा था। इसके पश्चात् 1941 में एकल-बिन्दु आधार पर बंगाल में तथा बहुल-बिन्दु आधार पर पंजाब में लगा। बिहार में 1944 में एकल बिन्दु आधार पर तथा 1946 तथा 1948 के बीच असम, बम्बई, मध्य प्रदेश, तथा उड़ीसा में एकल बिन्दु आधार पर लगाया गया। 1948 में उत्तर प्रदेश में कुछ वस्तुओं पर यह बहुल-बिन्दु आधार पर लगाया गया। अब यह कर भारत के सभी राज्यों में है। छूट की सीमाएँ, वे वस्तुएँ जिन पर यह कर लगता है तथा कर की दरें राज्यों में एक-सी नहीं हैं।

इस कर के चार रूप हैं : (i) सामान्य बिक्री कर, (ii) केन्द्रीय बिक्री कर, (iii) मोटर स्प्रिट पर बिक्री कर, तथा (iv) गले के क्रय पर कर। निम्न तालिका में इन चारों प्रकार के बिक्री करों से राज्यों की आय दी गई है।—³

(करोड़ रुपये में)

बिक्री कर का प्रकार	1968-69	1969-70	2970-71
(i) सामान्य बिक्री कर	437.09	457.84	497.19
(ii) केन्द्रीय बिक्री कर	100.07	129.11	137.14
(iii) मोटर स्पिडि पर कर	35.29	46.26	51.68
(iv) गन्ने पर क्रय कर	8.31	9.45	10.74
कुल आय	530.76	642.66	696.75

वैधानिक स्थिति—1935 के भारत सरकार के अधिनियम के अन्तर्गत वस्तुओं की बिक्री पर कर आय प्रान्तों को दी गई। 1950 के शासन विधान के अन्तर्गत राज्यों को समाचार पत्रों को छोड़ कर अन्य वस्तुओं के विक्रय अथवा क्रय पर कर लगाने तथा वसूल करने का अधिकार राज्यों को है। विधान की धारा 286 में राज्यों में तीन प्रकार की रुकावटें हैं —

(i) राज्य भारत के बाहर व्यापार के सम्बन्ध में वस्तुओं के क्रय अथवा विक्रय पर कर नहीं लगा सकते,

(ii) उन वस्तुओं पर राज्य कर नहीं लगा सकता जब वस्तुओं की बिक्री की सुपुर्तगी दूसरे राज्य में उपभोग के लिए होती हो, तथा

(iii) उन वस्तुओं की बिक्री पर कर नहीं लगा सकता जब वस्तुएँ एक राज्य से दूसरे में व्यापार के लिए हो।

मई 1956 में अन्तरराज्य बिक्री तथा क्रय का कराधान संघीय सूची में आ गया। जिन वस्तुओं को पार्लमेण्ट समाज के लिए आवश्यक घोषित करे, उन पर राज्यों को कर लगाने के लिए राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति प्राप्त करनी होती है। मार्च 1951 के अन्त तक राष्ट्रपति को बिक्री कर से अन्तरराज्य व्यापार पर छूट देने की तिथि को स्थगित करने का अधिकार था। यह अधिकार इसलिए था जिससे राज्य अपने बिक्री कर को समजित कर सकें।

इन रुकावटों के कारण कुछ राज्यों की बिक्री कर से आय घट गयी। निर्यात की वस्तुओं पर बिक्री कर समाप्त कर दिया गया। अतः असम, बिहार तथा बम्बई को आय की प्रत्यक्ष हानि हुई। दूसरे अप्रत्यक्ष हानि इस कारण भी हुई कि कर से बचने की गुंजायश बढ गयी। एक राज्य के व्यापारी बिना रजिस्टर हुए व्यापारियों तथा उपभोक्ताओं को दूसरे राज्य में वस्तुएँ बेचने लगे। इसी प्रकार बहुमूल्य वस्तुओं के उपभोक्ताओं ने प्रत्यक्ष रूप में दूसरे राज्यों के व्यापारियों से अपने राज्य के व्यापारियों के बजाय वस्तुएँ खरीदना शुरू कर दिया।

निर्यातक राज्य को अन्तरराज्य व्यापार के सौदों पर बिक्री कर लगाने में रोक दिया गया और यदि इन सौदों के फलस्वरूप यह प्रमाणित हो गया कि सुपुर्तगी का माल व्यक्तिगत उपभोक्ताओं अथवा बिना रजिस्ट्री कराये व्यापारियों को प्राप्त

हुआ तो ऐसी दशा में आयातक राज्य उन वस्तुओं पर कर नहीं लगा सकता था। इस प्रकार बहुत से सौदे बिक्री कर से मुक्त रह गये।

राज्यों ने इस हानि को कई प्रकार से पूरा करने की कोशिश की। उन्होंने करों की दरें बढ़ा दी तथा द्वि-बिन्दु तथा बहुम-बिन्दु कर लगाये अथवा कच्चे माल की बिक्री पर जिस पर कर नहीं लगते थे लगाने प्रारम्भ कर दिये।

बम्बई सरकार की प्रार्थना पर सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि वह राज्य जिसमें उपभोग के लिए माल की सुपुर्दगी हुई है अन्तरराज्य के व्यापार के माल पर क्रय अथवा विक्रय कर लगा सकता है। इस निर्णय के फलस्वरूप कई राज्यों के व्यापारियों को कर भुगतान के नोटिस जारी किये। राज्यों ने यह भी माँग की कि निर्यातक अन्तर्गमक व्यापारियों को उन राज्यों के बिक्री कर अधिनियमों के अन्तर्गत अपनी रजिस्ट्री करा कर अपने सौदों से सम्बन्धित विवरण उमी प्रकार भरने चाहिए जैसे रजिस्टर्ड व्यापारी अपने राज्यों में प्रस्तुत करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि निर्यातक व्यापारी को उन सब राज्यों में जहाँ उसका माल निर्यात होता है अपनी रजिस्ट्री कराकर कर की जिम्मेदारी लेनी चाहिए।

1956 में अन्तरराज्य के माल पर बिक्री कर में एकरूपता लाने के लिए केन्द्रीय बिक्री कर अधिनियम पारित हुआ। इसका उद्देश्य अन्तरराज्य के व्यापार में माल के क्रय विक्रय सम्बन्धी सिद्धान्तों को तय करना था। इसका उद्देश्य उस माल पर भी जिसकी भारत से निर्यात होती है अथवा जिसकी भारत में निर्यात होती है माल पर लगे कर का राज्यों में वितरण करना था तथा उसका यह भी उद्देश्य था कि कुछ वस्तुओं को जो एक राज्य से दूसरे में भेजी जाती हैं विशेष महत्व की घोषित कर दी जायें तथा उन पर ऐसी बाधाएँ तथा शर्तें लगाई जायें जो राज्यों को अपने अधिनियमों के अन्तर्गत कर लगाने में मान्य हो।

इस प्रकार अधिनियम के तीन मुख्य उद्देश्य हैं :

प्रथम, यह अधिनियम उन सिद्धान्तों को तय करता है जिनके अनुसार अन्तरराज्य के व्यापार अथवा राज्य के बाहर अथवा भारत के आयात निर्यात से सम्बन्धित माल का क्रय विक्रय कब होता है।

दूसरे, ऐसे माल पर कर का लगाना, उसकी वसूली तथा उस पर लगे करों का वितरण कैसे होना चाहिए।

तीसरे, कुछ वस्तुएँ अन्तरराज्य के व्यापार में विशेष महत्व की घोषित की जायें तथा उन पर कर लगाने समय मान्यता देनी आवश्यक हो।

कराधान जाँच आयोग की सिफारिशें—इस आयोग ने बिक्री कर के केन्द्रीय-करण के विरुद्ध सिफारिश की, क्योंकि राज्यों की अपनी अलग प्रशासनिक कठिनाइयाँ हैं तथा केन्द्रीय सरकार के लिए उन्हें तत्काल तथा प्रभावी रूप में हटा देना सम्भव नहीं होगा। दूसरे बिक्री कर की आय लचकदार है तथा राज्यों की वित्तीय आवश्यकताएँ बराबर बढ़ रही हैं।

इस आयोग ने यह सिफारिश की कि मंघ को एक राज्य से दूसरे राज्य को आने जाने वाली वस्तुओं से ही सम्बन्ध रखना चाहिए। केन्द्र को कच्चे माल की बिक्री पर जो विभिन्न राज्यों के लिए महत्वपूर्ण है, कराधान पर नियन्त्रण रखना चाहिए। इसने अधिकांश वस्तुओं पर बहुल-बिन्दु कर प्रणाली की कम दर पर तथा कुछ वस्तुओं पर एकल-बिन्दु कर प्रणाली की सिफारिश की। इसने 5,000 रु० वार्षिक बिक्री से ऊपर के व्यापारियों पर, बहुल-बिन्दु कर $\frac{1}{2}\%$ दर तक लगाने की सिफारिश की। 30,000 रु० वार्षिक बिक्री से अधिक के सौदागरों पर एकल बिन्दु बिक्री कर प्रणाली की सिफारिश की। गरीब व्यक्तियों के उपभोग की वस्तुओं पर एकल-बिन्दु कर से माफी की सिफारिश की। इस आयोग की सिफारिशों के सिद्धान्त 1956 के साधारण बिक्री कर बनाते समय दृष्टि में रखे गये।

1957 में मिलो में बुने सूते कपड़े, चीनी तथा तम्बाकू पर बिक्री कर इन वस्तुओं पर अतिरिक्त उत्पादन कर लगाकर हटा लिया गया। राज्यों में यह अतिरिक्त कर कैसे बटाना चाहिए इस सम्बन्ध में वित्त आयोग सिफारिश करते हैं। कितने घन वा राज्यों को इन वस्तुओं पर बिक्री कर से होने वाली आय का आश्वासन मिलना चाहिए यह भी वित्त आयोग ही तय करते हैं।⁴

निम्न तालिका में विभिन्न बिक्री करों से प्राप्त आय के 1970-71 के अंक दिये गये हैं ⁵

(अक करोड रुपये में)

राज्य	सामान्य बिक्री कर	केन्द्रीय बिक्री कर	मोटर स्प्रिट पर बिक्री कर	गन्ने पर तय कर	योग
आन्ध्र प्रदेश	43.25	3.00	46.25
असम	7.93	0.62	5.17	..	13.72
बिहार	23.76	13.14	3.37	1.53	41.80
गुजरात	39.71	10.95	3.10	..	53.76
हरियाणा	8.38	4.88	0.66	...	13.92
जम्मू तथा काश्मीर	1.70	..	0.40	...	2.10
केरल	29.51	2.94	1.30	...	33.75
मध्य प्रदेश	25.30	9.90	2.28	0.02	37.50
महाराष्ट्र	95.60	31.60	8.50	4.19	139.89

4 See the recommendations of the Third, Fourth and Fifth Finance Commissions, Chapters 28 and 29

5 Statement 5, R. B. I Bulletin, August 1970,

मैसूर	32.31	7.10	3.29	...	42 70
नागालैण्ड	00.02	0.02	00 04
उड़ीसा	9.10	4 93	1 12	...	15.15
पंजाब	21 58	6 82	1.90	...	30 30
राजस्थान	25.00	3 00	28.00
तमिलनाडू	51 82	12.08	8 69	...	72 59
उत्तर प्रदेश	54.87	41.32	3 65	4 90	54 87
पश्चिम बंगाल	40.90	22.50	7.00	...	70.40
योग	497 19	137 14	15 68	10.74	696 75

उपर्युक्त तालिका से ज्ञात होता है कि बिक्री कर से राज्यों को बहुत आय होती है। व्यापार तथा उद्योगों की वृद्धि में यह आय बराबर बढ़ेगी।

जुलाई 1957 में भारतीय वाणिज्य तथा उद्योगों के चेम्बर्स के फेडरेशन के बम्बई के बिक्री कर सम्मेलन ने बिक्री कर नीति तथा कार्य विधि में एकरूपता लाने के लिए निम्न सिफारिशों की थी —

प्रथम, राज्यों की ओर से बिक्री कर केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाया जाय तथा उससे प्राप्त आय का वितरण राज्यों में वस्तुओं के उपभोग के अनुपात में हो। इस सिफारिश की स्वीकृति 1954 के कराधान जाँच कमीशन ने नहीं की थी। यह सुझाव आयोग के समक्ष प्रस्तुत हुआ था, किन्तु अस्वीकार हो गया।

दूसरे, बिक्री कर के स्थान पर अधिक से अधिक वस्तुओं पर उत्पादन कर लगाये जायें। इन से कच्चा मान मुक्त रहे। यह उन वस्तुओं पर लगाये जायें जिन पर केन्द्रीय उत्पादन कर अबका सीमा शुल्क लगते हैं। इन से प्राप्त आय वित्त आयोगों की सिफारिशों के अनुसार राज्यों में बाँट दी जाय। यह आवंटन उसी आधार पर हो जिस पर चीनी, तम्बाकू तथा सूती कपड़े पर अतिरिक्त उत्पादन कर बढ़ता है।

तीसरे, केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों के लिए माँडटा बिक्री कर अधिनियम तैयार करे। राज्यों को अपने अधिनियम अपनी परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं के अनुसार इसी आधार पर रखने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

एक ही राज्य का व्यापार—इस सम्बन्ध में बिक्री कर की दूरी, उसके लगाने के तरीकों में, प्रशासन में तथा विवरणों में एकरूपता होनी चाहिए जिससे कर प्रणाली उचित आधार पर व्यवस्थित हो।

अन्तरदेशी व्यापार—राज्य सरकारों को राज्य के बाहर माल भेजने में कर नहीं लगाना चाहिए। पुनरनिर्यात (re-export) पर कर नहीं लगाना चाहिए। यह बिक्री कर उसी बिन्दु पर होना चाहिए जब एक राज्य का सौदागर दूसरे राज्य में सौदागर की माल बेचता है।

विदेशी व्यापार—प्रारम्भ में विधान में आयात निर्यात माल विक्री कर से मुक्त था। सर्वोच्च न्यायालय ने इस धारा का यह स्पष्टीकरण दिया कि वे ही सौदे विक्री कर से मुक्त रहेंगे जो आयात अथवा निर्यात से सम्बन्धित हैं। केन्द्रीय विक्री कर अधिनियम के अन्तर्गत केवल अन्तिम सौदा कर से मुक्त है जिसका फल यह है कि निर्यात के परिमाण पर विक्री का तत्त्व रहेगा। वैधानिक रोक का उद्देश्य आयात निर्यात सम्बन्धी सौदों को विक्री कर से मुक्त करना था। इसलिए केन्द्रीय विक्री कर में संशोधन द्वारा निर्यात सौदे वे ही माने जाने चाहिए जहाँ माल निर्यात किया जाय। निर्यातक निर्यात के लिए वस्तुएँ खरीदता है उन पर विक्री कर नहीं लगना चाहिए। या जैसी अन्य देशों में प्रथा है निर्यात सौदों के अन्तिम चरण पर इस प्रमाण पर कि माल का निर्यात किया गया लगा कर दायिम हो जाना चाहिए।

इसी प्रकार आयात व्यापार में प्रथम सौदे पर विक्री कर तब न लगे जब विक्री उस समय हो जाय जब मान उस सीमा से बाहर न आया हो जहाँ शुल्क लगता है, चाहे आयात लाइसेन्स विक्रेता के नाम हो।

विक्री कर राज्यों की आय का एक महत्वपूर्ण साधन है। इसका सम्पादन राज्यों में अलग-अलग होगा। यह राज्य के आर्थिक विभाग, वर दाताओं की क्षमता तथा अन्य कारों के भार पर निर्भर होगा। राज्यों में परिस्थितियाँ भिन्न हैं। विक्री कर की प्रत्येक प्रणाली के गुण तथा दोष हैं जो प्रत्येक राज्य की आर्थिक स्थिति पर निर्भर हैं। इसलिए एकरूपता के सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए भी प्रत्येक राज्य को अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार उपयुक्त कर प्रणाली तथा उपयुक्त कर की दर का चयन करना आवश्यक है।

बयालीसवाँ अध्याय
भू-राजस्व
(LAND REVENUE)

निम्न तालिका में राज्यों के भू-राजस्व आय सम्बन्धी अंक दिये हुए हैं —¹
(करोड़ रुपये में)

राज्य	1968-69	1969-70	1970-71
आन्ध्र प्रदेश	20.16	16.78	21.21
असम	2.85	4.62	3.98
बिहार	12.26	10.28	9.19
गुजरात	6.17	5.34	5.71
हरियाणा	1.15	1.36	1.30
जम्मू तथा कश्मीर	0.69	0.74	0.76
केरल	1.61	2.07	2.04
मध्य प्रदेश	7.87	7.03	7.20
महाराष्ट्र	8.75	7.26	15.17
मैसूर	7.09	5.95	7.30
नागालैण्ड	0.01	0.01	0.01
उड़ीसा	1.32	1.43	1.08
पंजाब	1.87	1.92	2.40
राजस्थान	6.82	6.04	8.88
तमिलनाडू	3.29	3.05	4.17
उत्तर प्रदेश	24.31	22.86	16.11
पश्चिम बंगाल	4.52	4.64	3.45
योग	110.74	101.38	109.96

¹ Prepared from Statement 5, R. B. 1 Bulletin, August 1970

राज्यो की कुल आय	2670.00	2983.04	3177.33
भू-राजस्व राज्यो की सकल आय का प्रतिशत	4.2%	3.4%	3.4%

उपर्युक्त तालिका से ज्ञात होता है कि राज्यों की भू-राजस्व आय सकल आय के प्रतिशत के रूप में घट रही है, किन्तु फिर भी यह आय लगभग 110 करोड़ रुपये प्रति वर्ष है।

वास्तव में भारत में स्मरणातीत काल (time immemorial) से भू-राजस्व राज्य की आय का एक महत्वपूर्ण साधन रहा है। मुसलमानों के राज्य काल में शेरशाह तथा सम्राट अकबर के राज्य में इस मुद्धार हुए। मुगल राज्य के पतन के साथ स्थानीय कर्मचारी केन्द्रीय सरकार को एक निश्चित धन राशि देकर शेष अपने पास रखते थे। 1793 में भू-स्वामियों के साथ स्थायी बन्दोबस्त हो गया, जिसके अन्तर्गत भू-स्वामियों की लगान से आय का 10/11 भाग भू-राजस्व के रूप में केन्द्र को मिल जाता था तथा भू-राजस्व की माँग स्थायी घोषित कर दी गई। यह ईस्ट इण्डिया कम्पनी के लिए स्थिर आय प्राप्त करने के लिए किया गया। इसका यह उद्देश्य था कि जमीन्दार सामन के प्रति वफादार रहेगे तथा वे समाज का नेतृत्व भी करेंगे। इससे भूमि की उत्पादकता बढ़ने की आशा भी की गई थी। यह प्रणाली असम, बिहार, उत्तर प्रदेश के कुछ भागों तथा मद्रास (वर्तमान तमिलनाडु) में स्थापित की गई।

कुछ समय पश्चात् भारत के शेष भागों में अस्थायी बन्दोबस्त प्रणाली की स्थापना हुई, जिसके अन्तर्गत लगभग प्रति 30 अथवा 40 वर्ष पश्चात् भू-राजस्व का निर्धारण होता था। विभिन्न राज्यों में भू-राजस्व निर्धारण के भिन्न भिन्न तरीके अपनाये जाते थे। कुछ राज्यों में नेट परिमम्पत्ति (net assets) भू-राजस्व माँग का आधार मानी गई। नेट परिमम्पत्ति की परिभाषा कृषि के साधारण व्यय को घटा कर वार्षिक शेष बचन अनुमानित धन राशि रखी गई। सकल उत्पादन का अनुमान लगाया जाता है तथा उसमें से भू-स्वामी की उत्पादन लागत घटा दी जाती है। कुछ राज्यों में भू-स्वामी के वास्तविक लगान की वसूली का पता लगा कर उसमें से लागत घटा कर शेष का कुछ भाग राज्य को भू-राजस्व से रूप में मिलता है।

कुछ राज्यों में भूमि से नेट उत्पादन अथवा वार्षिक मूल्य आधार मान लिया जाता है। फसल के परीक्षणों के तथा खेत पर जाँच के आधार पर विभिन्न प्रकार की मिट्टी में बोई गई प्रधान फसलों का प्रति एकड़ औसत उत्पादन निश्चित किया जाता है। पिछले बिना अकाल के 20 वर्षों की मुख्य फसलों की कीमत के आधार पर सकल मूल्य निकाला जाता है। इस में कृषि व्यय घटाया जाता है तथा कुछ

तैत्तलीसवां अध्याय

अन्य कर

(MISCELLANEOUS TAXES)

कृषि आय कर—विधान में कृषि आय कर से आय राज्यों को दी गई है। यह कर सर्वप्रथम बिहार में 1938 में लगाया गया। उससे पहले कृषि आय पर 1860-65 तथा 1879-73 के वर्षों को छोड़ आय कर से कृषि आय मुक्त थी। 1925 के कराधान जाँच आयोग ने कृषि आय को आय कर से मुक्त करना उचित नहीं समझा। इसके अनुसार आय कर की दर तय करने में कृषि आय को ध्यान में रखना चाहिए, यदि वह प्रशासनिक तथा व्यवहारिक दृष्टि से सुविधाजनक हो। अब आन्ध्र प्रदेश, गुजरात, हरियाणा, मध्य प्रदेश, नागालैण्ड तथा पंजाब को छोड़ सभी राज्य यह कर लगाते हैं। कृषि के लिए उपयोग में लाई गई भूमि से जिस पर स्थायी दर लगती है, प्राप्त लगान अथवा आय कृषि आय है। कृषक द्वारा ऐसी प्रक्रिया के अनुपालन से जिससे उत्पादन बिना योग्य होता है जो आय प्राप्त होता है वह भी कृषि आय है। कृषक की निजी भूमि पर उसके कच्चे में भवन से प्राप्त आय भी कृषि आय में शामिल है। यह कृषि आय में तभी शामिल होता है जब भवन भूमि के बिल्कुल निकट हो तथा उसकी भूमि के सम्बन्ध में आवश्यकता हो।

उत्तर प्रदेश में कृषि आय कर कानून के स्थान पर 1957 का वृद्ध भूमि जोत कानून (U. P. Large Holdings Act) लागू हो गया। इस कानून के अन्तर्गत वही व्यक्ति कर देना है जिसके पास 30 एकड़ से अधिक भूमि है जिसकी प्रत्येक कृषि वर्ष में 3,600 रु० आय है। भूमि जोन के अन्तर्गत वह सब भूमि शामिल है जो प्रतिवर्ष 1 जुलाई को कृषक अथवा उसके किसी परिवार के व्यक्ति के नाम में है।

किसी भूमि का वार्षिक मूल्य उसके लगान के $12\frac{1}{2}$ गुने अथवा उसका ऐसा गुण्य होगा जो प्रदिष्ट अधिकारी द्वारा नियत किया गया है। सब डिबीजनल ऑफीसर निर्धारित अधिकारी है।

प्रत्येक राज्य में कर व्यक्ति के पूर्व वर्ष की कुल कृपि आय पर प्रत्येक वित्तीय वर्ष में लगाया जाता है। कुछ राज्यों में कर दरें कानून में दी गई हैं तथा अन्य राज्यों में ये प्रति वर्ष वित्तीय अधिनियम के अन्तर्गत तय होती हैं। प्रशासनिक सुविधा अथवा साम्या के आधार पर एक न्यूनतम आय कर मुक्त है। छूट सीमाएँ तथा कर दरें अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग हैं।

उत्तर प्रदेश में 1957 के लार्ज नैण्ड होल्डिंग्स एक्ट के अन्तर्गत प्रथम 1800 रु० के वार्षिक मूल्यांकन पर कोई कर नहीं है। आगामी 3,200 के मूल्यांकन पर कर दर 5% है तथा 1,20,000 रु० से ऊपर की आय पर अधिकतम दर 60% है।

राज्यों में आय के अतिरिक्त अन्य कारणों से भी कर से छूट मिलती है। छूट के अन्य निम्न कारण हैं

(i) उस भवन से आय पर जो व्यक्ति के निजी उपयोग में तथा कब्जे में है कर नहीं लगता।

(ii) उस सम्पत्ति की आय पर जो ट्रस्ट अथवा अन्य किसी कानूनी दायित्व से धार्मिक अथवा परोपकारी उद्देश्यों के लिए है कर नहीं लगता। यदि सम्पत्ति का उपभोग आंशिक रूप में ऐसे उद्देश्यों के लिए है तब आंशिक छूट मिलती है।

(iii) वह आय जो एक व्यक्ति किसी कम्पनी में हिस्सेदार के रूप में प्राप्त करता है तथा कम्पनी ने यह प्रमाणित कर दिया है कि वह अपनी कृपि आय पर कर दे चुकी है या दे देगी कर से मुक्त है।

(iv) ऐसी आय जो किसी व्यक्ति को किसी फर्म की कृपि आय के हिस्से के रूप में प्राप्त होती है यदि ऐसी फर्म की कृपि आय पर कर लगता है वह भी कर से मुक्त है।

निम्न तालिका में कृपि आय के कुछ वर्गों पर कृपि आय कर का प्रभाव दिखाया गया है ¹

राज्य	आय वर्ग				
	रु० 5,000	रु० 10,000	रु० 25,000	रु० 50,000	रु० 1,00,000
	कर भार				
असम	164	555	3,836	10,086	22,586
बिहार	164	633	3,914	12,352	34,695
उड़ीसा	163	373	2,717	13,186	43,811
उत्तर प्रदेश	219	688	3,031	10,469	32,968
पश्चिमी बंगाल	164	555	3,367	9,617	22,117

¹ See Table 2, Page 202, Vol. III, Report of the Taxation Enquiry Commission 1953-54.

निम्न तालिका में विभिन्न राज्यों की गत तीन वर्षों की कृषि आय दी गई है :²

(आय करोड़ रुपये में)

राज्य	1968-69	1969-70 (संशोधित बजट)	1970-71 (बजट अंक)
आन्ध्र प्रदेश
असम	0.95	2.90	3.05
बिहार	0.14	0.21	0.23
गुजरात
हरियाणा
जम्मू तथा काश्मीर
केरल	3.24	3.40	3.41
मध्य प्रदेश
महाराष्ट्र	0.03	1.05	1.16
मैसूर	1.65	1.47	1.57
नागालैण्ड
उड़ीसा	0.07	0.08	0.08
पंजाब
राजस्थान	0.01	0.01	0.01
तमिलनाडु	1.88	1.91	1.92
उत्तर प्रदेश	0.23	0.22	0.27
पश्चिम बंगाल	1.73	1.23	1.22
योग	9.93	12.48	12.92

उपर्युक्त तालिका से ज्ञात होता है कि प्रत्येक राज्य में इस स्रोत से कर आय बहुत कम है जिसका अर्थ है कि कृषि की दशा बहुत ही अविकसित है। अतः कृषि की उन्नति से कर आय की वृद्धि की आशा की जा सकती है। ऐसा तभी हो सकता है जब कि हरी क्रांति (green revolution) को पर्याप्त सफलता मिले।

स्टाम्प तथा रजिस्ट्रेशन से आय

स्टाम्प बहुत से दस्तावेजों पर लगते हैं। इनसे आय प्राप्त करना सुविधाजनक है, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि यह आय कर देय क्षमता के अनुसार है

2 Prepared from Statement 5, R. B. 1. Bulletin. August 1970.

जोकि अच्छी कर प्रणाली का एक महत्वपूर्ण लक्षण है। इनके सम्पात का भी पता लगना कठिन है क्योंकि एक ही प्रकार के मीशो में एक में शुल्क एक पक्ष देता है तथा ऐसे ही दूसरे दस्तावेज में दूसरा पक्ष शुल्क देना है। उदाहरण के लिए भूमि की वित्री पर एक दस्तावेज में शुल्क विक्रेता दे सकता है तथा दूसरे में क्रेता दे सकता है। यह बात अलग-अलग पक्षों की भूमि के क्रय-विक्रय के आवश्यकता की तीव्रता पर निर्भर है।

कुछ दस्तावेजों पर मूल्यानुसार शुल्क होते हैं तथा कुछो पर स्थिर शुल्क लगते हैं।

स्टाम्प शुल्क विषय 1922 में प्रान्तों को दिया गया तथा इन शुल्कों में समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं। अगाऊ नोटों (forward transactions) पर भी स्टाम्प शुल्क लगते हैं।

निम्न तालिका में स्टाम्प तथा रजिस्ट्रेशन शुल्क से गत तीन वर्षों की विभिन्न राज्यों की आय दी गई है ³

(आय करोड रुपये में)

राज्य	1968-69	1969-70 (संशोधित बजट)	1970-71 (बजट अंक)
आन्ध्र प्रदेश	13.02	13.36	13.83
असम	1.29	1.36	1.39
बिहार	7.51	7.95	8.51
गुजरात	5.31	5.78	6.27
हरियाणा	4.75	4.48	5.05
जम्मू तथा काश्मीर	0.46	0.48	0.50
केरल	5.24	5.90	6.08
मध्य प्रदेश	4.84	5.02	5.33
मैसूर	5.65	6.70	7.09
नागालैण्ड
उड़ीसा	2.13	2.21	2.30
पंजाब	6.83	7.57	7.76
राजस्थान	2.67	2.76	2.91
तमिलनाडू	13.51	13.95	14.77
उत्तर प्रदेश	10.93	11.74	12.23
पश्चिमी बंगाल	9.14	9.37	9.40
योग	111.58	118.64	124.68

राज्यों की यह आय सकल आय है। इसका कुछ भाग स्थानीय संस्थाओं को भी दिया जाता है।

अन्य कर भी राज्यों में लगते हैं जैसे मनोरंजन कर, विद्युत कर, यात्रियों तथा माल पर कर, इनाम प्रतियोगिता पर कर, पटसन पर कर आदि। 1919 तथा 1935 के कानूनों के अन्तर्गत मनोरंजन कर ऐसे ही मनोरंजनों पर लगाया जाता था जो नगरपालिकाओं की सीमा में व्यवस्थित होते थे। सिनेमा के प्रसार से कर राज्यों में सभी क्षेत्रों में लगने लगा। कुछ राज्यों में इस कर को लगाने का अधिकार स्थानीय संस्थाओं को दिया गया है तथा कुछ राज्यों में राज्य सरकार इस कर को लगाती है तथा इसकी आय का वितरण स्थानीय संस्थाओं में होता है। ऐसे भी राज्य हैं जहाँ शासन इस कर को लगाता है और आय भी उसी के पास रह जाती है। आन्ध्र प्रदेश तथा तमिलनाडु में यह कर प्रत्येक तमांगे पर लगता है। कुछ राज्यों में तमांगे पर कर स्थानीय संस्थाएँ लगाती हैं। मनोरंजन शब्द के अन्तर्गत सिनेमा, तमांगा, प्रदर्शनो, खेल तथा अन्य ऐसी ही बातें शामिल हैं। आय का अधिक भाग सिनेमा से प्राप्त होता है। कर निर्धारण की प्रक्रिया अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग है। माघारणतया कर टिकटों की दिकों पर लगता है। मनोरंजन कर के निम्न दोष हैं

(1) इसकी दरें ऊँची हैं। यह विक्री करों की तथा शर्त के करों की दरों से भी अधिक हैं।

(2) इस कर की दर अलग-अलग राज्यों में भिन्न हैं।

(3) हमारे देश में इस कर का भार देशी उद्योगों पर पड़ता है, किन्तु अन्य देशों में यह आयातित फिल्मों पर पड़ता है।

इसकी आय के शिक्षा सम्बन्धी तथा परोपकारी उद्देश्यों के प्रयोग के लिए होने पर कर में छूट मिलती है।

निम्न तालिका में इस कर से विभिन्न राज्यों की गत तीन वर्षों की आय दी गई है।⁴

राज्य	1968-69	(आय करोड़ रुपये में)	
		1969-70 (संशोधित बजट)	1970-71 (बजट अंक)
आन्ध्र प्रदेश	3 58	3 94	4 26
बसम	0 67	0 70	0 72
बिहार	1 91	1 83	2 10
गुजरात	2 70	2 85	3 00

हरियाणा	0.77	0.71	0.72
जम्मू तथा काश्मीर	0.13	0.27	0.29
केरल	0.46	0.49	0.55
मध्य प्रदेश	1.98	2.15	2.25
महाराष्ट्र	8.98	10.20	11.25
मैसूर	2.20	2.68	2.79
नागालैण्ड	0.03	0.03	0.03
उड़ीसा	0.39	0.40	0.42
पंजाब	1.48	1.60	1.63
राजस्थान	1.01	1.16	1.27
तमिलनाडू	7.11	8.04	9.00
उत्तर प्रदेश	5.44	5.61	6.01
पश्चिमी बंगाल	3.61	4.20	4.40
योग	42.45	46.86	50.69

विद्युत शुल्क

यह शुल्क सर्वप्रथम विद्युत के उपभोग अथवा इसकी विक्री पर 1932 में लगा। इसके पश्चात् यह बंगाल, बिहार, मध्य प्रदेश, मैसूर, तमिलनाडू तथा उत्तर प्रदेश में लगा। अब सभी राज्यों में यह शुल्क लगता है। यह कर घरों में प्रयोग में आने वाले पखो अथवा प्रकाश के उपयोग पर लगता है, तथा उद्योगों के उपयोग पर भी यह कर लगता है। इस कर की दरें, आधार तथा छूट अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग हैं। भारत विधान के अन्तर्गत भारतीय सरकार के बिजली के उपभोग पर कर नहीं लगता।

विद्युत शुल्क के पक्ष में तर्क

(1) बिजली शक्ति के अन्य स्रोतों की अपेक्षा जिन पर कर लगता है अधिक सस्ती है।

(2) इस स्रोत से आय के बढ़ने की बहुत सम्भावना है तथा इससे उपभोक्ताओं को बहुत कठिनाई भी नहीं होगी।

(3) इस कर के वसूल करने में खर्चा बहुत नहीं होता। यह प्रतिगामी भी नहीं है क्योंकि इनसे छोटे-छोटे उपभोक्ताओं को छूट दी जा सकती है।

आलोचना

इसका एक यह दोष है कि इससे उत्पादन लागत बढ़ती है तथा उद्योगों के विश्वास में रूकावट होती है। कराधान जाँच आयोग इस मन से महमत नहीं है कि इसकी दर कम होने पर भी इससे कठिनाई होगी। कर को मिला कर विद्युत शक्ति की कुल लागत निर्माण की कुल लागत के 2 प्रतिशत से अधिक नहीं होती। इसलिए

इस आयोग ने यह सिफारिश की कि प्रवास तथा पंखों पर इस कर की दर बहुत कम होनी चाहिए तथा उद्योगों के उपभोग पर बहुत ही कम होनी चाहिए।

इस कर की गत तीन वर्षों की विभिन्न राज्यों की आय निम्न तालिका में दी गई है :⁵

राज्य	1968-69	(आय करोड़ रुपये में)	
		1969-70 (संशोधित बजट)	1970-71 (बजट अंक)
आन्ध्र प्रदेश	0.02	0.03	0.03
असम	0.17	0.20	0.21
बिहार	3.52	4.38	4.68
गुजरात	4.61	5.00	6.20
हरियाणा	1.25	1.09	1.15
जम्मू तथा काश्मीर	0.10	0.19	0.27
केरल	1.34	1.55	1.75
मध्य प्रदेश	2.62	2.85	3.12
महाराष्ट्र	14.21	16.20	17.42
मैसूर	3.71	3.18	3.61
नागालैण्ड
उड़ीसा	2.08	1.90	1.90
पंजाब	2.44	2.46	2.53
राजस्थान	0.66	0.68	0.75
तमिलनाडु	7.66	8.24	8.70
उत्तर प्रदेश	1.25	1.20	1.21
पश्चिमी बंगाल	9.23	9.70	9.80
योग	54.87	58.85	63.33

अन्य करो तथा शुल्कों के अन्तर्गत गन्ना कर, यात्रियों तथा माल पर कर, तम्बाकू पर कर, इनाम, प्रतियोगिताएँ तथा शर्तों पर तथा पटसन आदि पर कर आते हैं। गन्ने पर कर पहले पहल उत्तर प्रदेश में 1939 में तथा 1948 में यह कर बम्बई में लगाया गया।

फैक्टरी में इस्तेमाल अथवा बिक्री के लिए लाये गये गन्ने पर कर लगना है। यह कर सभी गन्ने पर लगता है जो फैक्टरी में आता है। यज्ञा चाहे फैक्टरी में खरीदा हो अथवा उसकी निजी भूमि पर लगा हो।

⁵ See *ibid.*

अन्य करों तथा शुल्कों की गत तीन वर्षों की आय निम्न तालिका में दी गई है -⁶

राज्य	(आय करोड़ रुपये में)		
	1968-69	1969-70 (संशोधित बजट)	1970-71 (बजट अंक)
आन्ध्र प्रदेश	0.10	0.22	0.25
असम
बिहार
गुजरात	0.88	0.93	0.72
हरियाणा	...	0.08	0.08
जम्मू तथा काश्मीर	0.05	0.02	0.03
केरल	0.02	0.03	0.03
मध्य प्रदेश
महाराष्ट्र	6.26	6.28	6.38
मैसूर	0.88	1.07	1.09
नागालैण्ड
उड़ीसा
पंजाब	0.06	0.05	0.06
राजस्थान	0.50
तमिल नाडु	1.91	1.41	1.63
उत्तर प्रदेश	0.01	0.02	0.01
पश्चिमी बंगाल	4.23	4.27	5.22
योग	14.40	14.38	16.00

आर्थिक नियोजन के परिणामस्वरूप यह आशा की जा सकती है कि कुछ समय परचात अन्य करो तथा शुल्कों से आय बढ़ती चाहिए। जन साधारण की श्रम शक्ति के बढ़ने से तथा विभिन्न राज्यों में विकास योजनाओं के फलस्वरूप आर्थिक प्रगति होनी चाहिए। अतः इन करो से राज्यों की आय बढ़नी चाहिए।

चवालीसवाँ अध्याय

राज्यों को केन्द्र से आर्थिक सहायता (CENTRAL ASSISTANCE OF THE STATES)

इस विषय पर वित्त आयोगों ने बहुत प्रकाश डाला है। 1969 में प्रकाशित पाँचवें वित्त आयोग की रिपोर्ट में विधान की धारा 275 के अन्तर्गत केन्द्र से राज्यों के लिए आर्थिक सहायता के सम्बन्ध में छठे अध्याय में विस्तारपूर्वक सुझाव दिये गये हैं।

सब शासनो में इकाईयों को केन्द्र से आर्थिक सहायता मिलती है। मशुक्त राष्ट्र अमेरीका में अन्तरशासकीय सम्बन्धी आयोग ने यह सुझाव दिया था कि आर्थिक सहायता राज्यों को ऐसे राष्ट्रीय उद्देश्यों के लिए दी जानी चाहिए जिनका जन साधारण की समृद्धि अथवा लोक चिन्तना से सम्बन्ध हो। यह सहायता उच्चतम विनिष्ट योजनाओं के लिए नहीं दी जानी चाहिए। आस्ट्रेलिया में प्रति वर्ष पार्लमेण्ट एक कानून पारित करती है जिसके अन्तर्गत आर्थिक सहायता की मात्रा राज्यों के लिए तय की जाती है। सभी सब शासनो में सब से राज्यों के लिए आर्थिक सहायता की मात्रा बराबर बढ़ती रही है। हमारे देश में भी यह होता रहा है।

पाँचवें वित्त आयोग को इस सम्बन्ध में पञ्चवर्षीय योजनाओं के अलावा धारा 275 के अन्तर्गत ऐसे राज्यों को आर्थिक सहायता देने की सिकारियों के सुझाव के लिए कहा गया था जिनके अन्तर्गत निम्न तीन बातें ध्यान में रखनी थी।

(1) 1968-69 के वित्त वर्ष के कराधान के स्तर पर 5 वर्षों के लिए उन राज्यों के आय के साधनों को ध्यान में रखना।

(2) इन राज्यों की आयगत आय की प्रशासन सम्बन्धी, ऋण सम्बन्धी व्याज तथा ऐसी योजना के अन्तर्गत योजनाओं के लिए व्यय प्रदान करना जो 1968-69 के अन्त तक पूरी हो जाने की थी। इस सम्बन्ध में उनके अन्य ऐसे व्यय को भी ध्यान में रखना था जिसके लिए इन राज्यों पर उत्तरदायित्व सौंपा गया था।

(3) इन बात को भी ध्यान में रखना था कि राज्यों के राजकोषीय प्रबन्ध के सुधार की क्या सम्भावना है तथा वे अपने व्यय में कहीं तक मितव्यता ला सकते हैं।

अतः आयोग ने इन तीन बातों को ध्यान में रखकर राज्यों को धारा 275 के अन्तर्गत पंचवर्षीय योजनाओं के अलावा अन्य उद्देश्यों के लिए आर्थिक सहायता देने की सिफारिश की।

पहले वित्त आयोग इस बात से सहमत थे कि राज्यों के लिए आर्थिक सहायता तय करने में उनकी बजट सम्बन्धी आवश्यकताएँ महत्वपूर्ण हैं, किन्तु धारा 275 के अन्तर्गत आर्थिक सहायता तय करने के लिए अन्य बातों को भी ध्यान में रखना है। उनके बजट अनुमानों को एक ऐसा मानक रूप देना है जो तुलनात्मक हो। यह भी बात देखना आवश्यक है कि राज्यों ने साधन प्राप्त करने के लिए उपयुक्त प्रयास करे हैं तथा उनके व्यय में मितव्ययता की सम्भावना को भी दृष्टि में रखना है। साथ-साथ यह भी देखना है कि आधारभूत सामाजिक सेवाओं के मान दण्डों में असमानता नहीं रहनी चाहिए तथा राष्ट्रीय हित में उनके ऊपर विशेष वित्तीय भार को भी ध्यान में रखना चाहिए। यह सिद्धान्त सभी आयोगों ने स्वीकार किये हैं। मुख्य अन्तर इस बात में रहा है कि योजना सम्बन्धी उद्देश्यों के लिए तथा शिक्षा जैसे विस्तृत राष्ट्रीय उद्देश्यों के लिए निर्धारित उद्देश्यों के लिए निर्धारित आर्थिक सहायता के सम्बन्ध में उपागम क्या हो।

पाँचवें वित्त आयोग ने यह स्पष्ट उल्लेख किया कि पंचवर्षीय योजना की आवश्यकताओं को उन्होंने ध्यान में नहीं रखा। वित्त आयोग राज्यों की आर्थिक सहायता की आवश्यकता के तय करने के सिद्धान्तों पर तो सहमत रहे हैं, किन्तु उनमें मतभेद इस बात पर रहा है कि इन सिद्धान्तों का अनुपालन किस हद तक किया जाये। कर प्रयास के मूल्यांकन के सम्बन्ध में द्वितीय वित्त आयोग ने निम्न उल्लेख किया "कर प्रयास के मूल्यांकन में हमने यह मान लिया है कि यदि किसी राज्य ने इतनी अतिरिक्त आय प्राप्त कर ली जितना योजना के लिए उसने बचन दिया था तब उसने अपना कार्य पूरा कर लिया।"¹

तीसरे वित्त आयोग ने कर प्रयास को ध्यान में नहीं रखा। इसका कारण यह था कि उनके कर प्रयास के तुलनात्मक दृष्टि से तय करने में उनकी कर सम्भावना को भी देखना चाहिए। इसके लिए विशेष अध्ययन की आवश्यकता समझी गयी। चौथा वित्त आयोग इस सिद्धान्त में सहमत था कि आर्थिक सहायता तय करने के लिए राज्यों के कर प्रयास तथा उनकी भावी कर देय क्षमता में सम्बन्ध रहना चाहिए, किन्तु राज्यों की आवश्यकताओं के निर्धारण में इन्होंने योजना के आयगन व्यय को तथा तत्कालीन प्रचलित करो के आधार पर अनुमानित आय को ही ध्यान में रखा। इन्होंने इस बात का परीक्षण नहीं किया कि राज्यों के योजनागत व्यय के लिए वित्त प्राप्त करने के लिए अतिरिक्त कर प्रयास कितना होना चाहिए।

पाँचवें वित्त आयोग ने यह सुझाव दिया कि वजेट सम्बन्धी आवश्यकताओं पर बल न देकर विस्तृत राजकोषीय आवश्यकताओं पर बल देना चाहिए। यही सुझाव दूसरे वित्त आयोग ने दिया था।

इन नव घातों को ध्यान में रखते हुए धारा 275 के अन्तर्गत कमीशन ने निम्न दस राज्यों के लिए आर्थिक सहायता देने की सिफारिश की।

(अंक करोड़ रुपये में)

राज्य	पाँच वर्षों में दी जाने वाली सहायता	निम्न वर्षों में आर्थिक सहायता				
		1960-70	70-71	71-72	72-73	73-74
1	2	3	4	5	6	7
आन्ध्र प्रदेश	65.01	15.54	14.27	13.00	11.73	10.47
असम	101.97	90.80	20.60	20.39	20.19	19.99
जम्मू तथा काश्मीर	73.68	16.81	15.77	14.74	13.70	12.66
केरल	49.65	9.93	9.93	9.93	9.93	9.93
मैसूर	17.99	6.48	5.04	3.60	2.16	0.71
नागालैण्ड	77.95	77.40	16.49	15.59	14.69	13.78
उड़ीसा	104.67	54.51	22.72	20.94	19.14	17.36
राजस्थान	51.49	12.36	11.33	10.30	9.27	8.23
तमिलनाडू	22.82	6.61	5.59	4.56	3.54	2.52
पश्चिमी बंगाल	72.62	2.29	18.41	14.52	10.64	6.76
योग	637.85	152.73	140.15	127.57	114.99	102.41

इन धन राशियों में राज्यों का वह घाटा शामिल है जिसका कमीशन ने अनुमान किया है और जिसको 5 वर्षों में फैलाया गया है। इसमें वह पूरक धन भी शामिल है जो राज्यों की अन्तरिम सहायता के रूप में विभागीय व्यापारिक योजनाओं तथा उनमें निवेश पर हानियों के सम्बन्ध में उनके लिए दिया गया है। इनमें व्याज तथा ऋण की प्राप्ति, कम कर प्रदात तथा व्यय के उच्च स्तर को भी ध्यान में रखा गया है जिसके सम्बन्ध में घाटे के निर्धारण में कमीशन ने सम्मजन किये थे।

निम्न तालिका में राज्यों के लिए गत तीन वर्षों के लिए दी गई आधिक्य सहायता के अंक दिये हुए हैं :²

राज्य	1968-69	(आय करोड़ रुपये में)	
		1969-70 (संशोधित बजट)	1970-71 (बजट अंक)
आन्ध्र प्रदेश	46.97	47.53	35.34
असम	38.17	52.43	50.30
बिहार	21.50	31.61	34.44
गुजरात	20.16	26.95	24.83
हरियाणा	6.59	8.37	8.17
जम्मू तथा काश्मीर	23.02	30.20	30.90
केरल	38.47	22.78	23.87
मध्य प्रदेश	23.41	30.66	31.96
महाराष्ट्र	31.57	25.47	26.85
मैसूर	39.52	19.89	19.10
नागालैण्ड	13.72	26.18	26.57
उड़ीसा	39.22	42.15	39.03
पंजाब	9.23	10.48	12.20
राजस्थान	21.30	56.54	44.62
तमिलनाडु	41.42	35.02	23.15
उत्तर प्रदेश	47.92	54.81	50.60
पश्चिमी बंगाल	21.46	46.35	43.07
योग	493.65	567.42	534.00

2 See *Ibid*, Statement 5.

स्थानीय संस्थाओं का वित्त (LOCAL BODIES FINANCES)

स्थानीय संस्थाओं में ग्राम पंचायत, जिला परिषद, महानगरपालिकाएँ (Corporations) तथा नगरपालिकाएँ (Municipalities) सम्मिलित हैं। ग्राम पंचायत गाँव की संस्था होती है, जिसके बहुत से कार्य होते हैं। पंचायत दो प्रकार की हैं—एक में गाँव के 21 वर्ष की आयु से ऊपर के सब व्यक्ति मभा के सदस्य होते हैं। इसका दैनिक कार्य कार्यकारिणी द्वारा किया जाता है। दूसरे प्रकार की पंचायत में वयस्क पंचायत के सदस्यों का चुनने हैं, इसमें पंचायत की स्वीकृति से प्रधान आवश्यक कार्य करता है। पंचायत का क्षेत्र एक ग्राम तक सीमित रहता है, किन्तु कभी-कभी छोटे-छोटे ग्राम मिलकर एक पंचायत बनाते हैं। कभी-कभी ग्राम पंचायत में एक न्यूनतम जन संख्या रहती है। यह संख्या पंजाब में 500 से महाराष्ट्र तथा गुजरात में 2000 तक है। कुछ राज्यों में पंचायतों के आय तथा जन संख्या के आधार पर वर्ग बनते हैं तथा ऊँचे वर्गों में पंचायतों के कराधान के अधिक अधिकार होते हैं। इनके विस्तृत कार्य होते हैं जिनमें न्यायिक, पुलिस सम्बन्धी, नागरिक तथा आर्थिक मामले आते हैं। कुछ राज्यों के छोटे-छोटे भगड़े पंचायत द्वारा तय होते हैं। कहीं कहीं यह सड़को, प्रारम्भिक पाठशालाओं, ग्राम विद्यालयों आदि का अनुरक्षण करते हैं। पानी की व्यवस्था तथा कृषि विपणन आदि आर्थिक क्रियाएँ भी इनके सुपुर्द रहती हैं।

इनके आय के साधनों में कर, शुल्क, जुर्माने तथा अनुदान सम्मिलित हैं। इनकी आय का सर्वप्रमुख साधन कर आय है। इन्हें सामान्य सम्पत्ति कर लगाने का अधिकार है। कुछ राज्यों में ये भू राजस्व पर कर लगाते हैं। बहुत से राज्यों में ये पशुओं, गाड़ियों, व्यापार तथा व्यवसाय पर कर लगा सकते हैं। इनके कर अधिकार विस्तृत हैं। कर लगाने के लिए उनकी दूरी में परिवर्तन करने के लिए तथा वर्तमान करों को हटाने के लिए इन्हें राजकीय शासन की स्वीकृति प्राप्त करनी होती है। पंचायत कानूनों में अधिकतम कर की दरें दी रहती हैं।

ग्राम पंचायतों के आयोग के अनुसार कराधान पंचायतों की कुल आय का एक प्रमुख साधन है जो निम्न तालिका में दिया है

राज्य	पंचायतों की कुल आय का अनुपात
पश्चिमी बंगाल	73.9%
महाराष्ट्र	63.1%
मैसूर	63.0%
मद्रास	55.2%

कराधान जाँच आयोग के अनुसार ग्राम पंचायतें आय के विभिन्न साधनों का उपयोग कर सकती हैं। मंडक के पेड़ों को बेच सकती हैं तथा कुछ क्षेत्रों में जहाँ भूमि प्रधान उनके अधिकारों में है, वे तालाबों तथा भीलों के पदार्थों को बेचकर राज्य प्राप्त कर सकती हैं। वे दुकानें बनाकर विरायें की आय प्राप्त कर सकती हैं।

आर्थिक सहायता

कराधान जाँच आयोग ने सिफारिश की कि स्थानीय संस्थाओं के पर्याप्त मात्रा में निजी साधनों के उपयोग के प्रयास तथा विशेष अनुदानों में सहसम्बन्ध होना चाहिए। शासन इस शर्त पर विकासशील कार्यों के लिए सहायता दे जब कि पंचायत कुल लागत में कुछ हाथ बटाये।

पंचायतों को उनकी स्थापना के पश्चात् तुरन्त ही कर लगाने के अधिकार नहीं मिलने चाहिए। शासन दो-तीन साल तक पंचायत के लिए, वित्त प्रदान करे और उसको जड़ मजबूत हो जाने पर उसको कर लगाने के अधिकार दिए जायें। प्रारम्भ में राज्य पंचायतों को स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही सहायता दे जैसे प्रारम्भिक पाठशाला, चिकित्सालय तथा पीने के लिए पानी की सुविधाएँ आदि बहुत आवश्यक हैं जिनके लिए सहायता दी जा सकती है। आर्थिक सहायता विशेष तथा सामान्य अनुदान के रूप में हो सकती है।

नगरपालिकाएँ

इन संस्थाओं की स्थापना नगरों में सफाई, लोक आरोग्यता तथा मंडक निर्माण आदि कार्यों के लिए होती है। इनके अनिवार्य तथा वैकल्पिक कार्य होते हैं। अनिवार्य कार्यों के लिए धन प्राप्त करना आवश्यक है, किन्तु वैकल्पिक कार्य पर्याप्त धन उपलब्ध होने पर ही किये जा सकते हैं। विभिन्न राज्यों में नगरपालिकाओं का गठन तथा संगठन लगभग एक-सा ही है, किन्तु अन्तर-इस बात पर है कि शासन उन पर कितना नियन्त्रण करता है। इनका प्रबन्ध एक समिति अथवा मण्डल द्वारा होता है जिनका निर्वाचन मतदाता करते हैं। समिति अपने अध्यक्ष का निर्वाचन करती है। इनमें एक कार्यकारी कर्मचारी भी होता है, जिसकी कहीं-कहीं नियुक्ति शासन द्वारा होती है। इनके आय के साधन कराधान, आर्थिक सहायता आदि होते हैं। अधिकतर कराधान से ही इनकी आय प्राप्त होती है। कानून द्वारा इनके कर

अधिकार तय होते हैं। तथा इनकी न्यूनतम तथा अधिकतम दरें भी परिनियमावली द्वारा तय होती हैं।

निम्न तालिका में विभिन्न राज्यों के लिए नगरपालिकाओं की आय की हुई है :¹ (अंक लाख रुपयों में)

राज्य	वर्ष	कर आय	अनुदान	अनुदान के अतिरिक्त अन्य कर निपेक्ष आय	कुल आय
असम	1950-51	15.24	2.37	9.88	27.46
बिहार	1949-50	51.96	23.22	26.15	101.33
बम्बई	1952-53	458.46	111.44	96.44	666.00
मध्य प्रदेश	1951-52	156.50	19.99	53.88	230.37
मद्रास	1951-52	397.17	88.73	22.99	688.89
उड़ीसा	1951-52	11.74	5.48	4.63	21.85
पंजाब	1951-52	140.64	10.21	96.35	247.20
उत्तर प्रदेश	1951-52	430.67	108.57	176.08	715.32
पश्चिमी बंगाल	1948-49	103.31	27.34	21.46	152.11

इस तालिका के अनुसार उत्तर प्रदेश में नगरपालिकाओं की कुल आय सब से अधिक थी तथा कराधान इनकी आय का सबसे महत्वपूर्ण साधन है। नगरपालिकाएँ निम्न कर लगाती हैं

(1) सांपत्ति पर कर, भवनों तथा भूमि पर शुल्क, सामान्य शुल्क तथा सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर कर।

(2) वस्तुओं पर कर, खुशी तथा सीमान्त कर।

(3) व्यक्तिगत कर, व्यवसायो, व्यापार, रोजगार तथा व्यक्ति की हँसियत पर कर।

(4) गाड़ियों तथा पशुओं पर कर, तथा

(5) धियेटर तथा प्रदर्शन कर।

आम्र, तमिलनाडु तथा मैसूर राज्यों में नगरपालिकाओं की मनोरंजन कर आय का भाग भी मिलता है जो उनकी आय का एक प्रमुख साधन है। नगरपालिकाओं को आर्थिक सहायता निम्न कार्यों के लिए मिलती है :

(1) पानी की आपूर्ति तथा लाजियाँ बनवाने की लागत के लिए।

(2) प्रारम्भिक पाठशालाओं के अनुरक्षण के लिए।

(3) कर्मचारियों के महंगाई भत्ते के लिए।

1. See *Public Finance*, p. 472, 1969 Edition by the author

(4) माध्यमिक पाठशालाओं, चित्रिस्तालयों, वृद्धा कल्याण सम्बन्धी केन्द्रों की लागन के लिए ।

(5) इजीनियरो तथा हैल्थ आफिसरों के वेतन की लागन के लिए, तथा

(6) इनके वजट में सतुलन लाने के लिए ।

अनुदान की मात्रा इनकी आवश्यकताओं तथा इनके साधनों पर निर्भर नहीं रहती तथा कुछ ऐसे निश्चित मिद्दान नहीं हैं जिनके अनुसार आर्थिक सहायता दी जाती है । ऐसे अवसर प्रायः आते हैं कि जिनकी सहायता के लिए कहा जाता है उनकी मितवी नहीं । आर्थिक सहायता नामन के साधनों पर निर्भर रहती है ।

वराधान जाँच आयोग ने नगरपालिकाओं को अनुदान के लिए निम्न आधार की सिफारिश की थी

(1) प्रत्येक स्थानीय सस्था के लिए, जिनमें बड़ी नगरपालिकाएँ तथा महानगरपालिकाएँ शामिल नहीं हैं, एक मूल सामान्य उद्देश्यीय सहायता होनी चाहिए ।

(2) स्थानीय सस्थाओं का वर्गीकरण जन सस्था, क्षेत्रफल तथा उनके साधनों के आधार पर होना चाहिए । आर्थिक सहायता का सम्बन्ध सस्था के बजट से होना चाहिए ।

(3) मूल सहायता ऐसी हो कि सस्थाओं के साधनों की दृष्टि में रखते हुए उनके अनिवार्य कार्यों के लिए पर्याप्त धन होना चाहिए ।

(4) मूल सहायता कुछ वर्षों के लिए तय हो जानी चाहिए जिससे उसमें प्रति वर्ष उस काल में परिवर्तन न हो ।

(5) विशेष मदों तथा सेवाओं के लिए विशेष अनुदान मिलने चाहिए । इनके लिए शर्तें ये होनी चाहिए कि सस्थाएँ सेवाओं के अनुरक्षण के लिए एक निश्चित योग्यता का मानदण्ड कायम रख सकें तथा शासनों के निर्देशों के अनुरूप अपने साधनों का भी विकास कर सकें ।

इनके साधनों की वृद्धि के लिए आयोग ने निम्न करों के सुभाव दिये हैं —

(1) भूमि तथा भवनों पर कर ।

(2) उपभोग अथवा बिजली के लिए इनमें लाये गये भाल पर कर ।

(3) गाड़ियों पर कर ।

(4) पशुओं तथा नागरिकों पर कर ।

(5) व्यवसायी, व्यापार तथा रोजगार पर कर ।

(6) सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर कर ।

इनके कर प्रशासन में उन्नति होनी चाहिए । राज्य में स्थानीय सस्थाओं की सम्पत्ति का मूल्य निर्धारण करने के लिए एक मूल्य निर्धारण विभाग होना चाहिए । महानगरपालिकाएँ

महानगरपालिका एक विशेष स्थानीय सस्था होती है । जिसकी स्थापना राज्य में एक विशेष कानून द्वारा होनी है । हमारे देश में इसकी सस्था इस अध्याय

मे पृष्ठ संख्या 432 पर दी हुई है। कुछ वर्ष पहले तक केवल बम्बई, कलकत्ता तथा मद्रास नगरों में ही महानगरपालिकाएँ थी। किन्तु अब इनकी संख्या बढ़ रही है। उत्तर प्रदेश में कानपुर, इलाहाबाद, बाराणसी, आगरा तथा लखनऊ में महानगरपालिकाएँ हैं।

कार्य तथा अधिकार

इनके कार्य तथा अधिकार नगरपालिकाओं से अधिक विस्तृत होते हैं। बजट बनाने में इन्हें अधिक स्वतन्त्रता होती है तथा इनके कराधान के अधिकार नगरपालिकाओं से अधिक होते हैं। इनकी सरकार तथा व्यवस्था लगभग सभी राज्यों में एकसी ही है। साधारण सभा में निर्वाचित सदस्य होते हैं तथा सदन का कुछ स्थायी समितियाँ होती हैं तथा कार्यकारी अफसर (executive officer) की नियुक्ति राज्य सरकार द्वारा होती है। सामान्य सदन नीति निर्धारण करता है तथा बैठकों की अध्यक्षता करने के लिए नगर प्रमुख का निर्वाचन करता है। परिनियमावलियों में स्थायी समितियों के अधिकार दिये होते हैं।

महानगरपालिकाओं को कर लगाने के अधिकार होते हैं। ये सम्पत्ति कर, सेदा सम्बन्धी कर, गाड़ियों तथा पशुओं पर कर, थियेटर कर आदि लगाते हैं। वहीं-वही शिक्षा के लिए भी कर लगता है। मद्रास की महानगरपालिका में रोजगार पर तथा कम्पनियों पर भी कर लगता है।

अब तालिका (पृष्ठ 432) में 1952-53 के लिए महानगरपालिकाओं की करों द्वारा आय दी गई है।

इनके व्यय का स्तर तथा सेवाओं के मानक नगरपालिकाओं से अच्छे होते हैं। द्वितीय महामर के पश्चात् इनकी संख्या में बहुत वृद्धि हुई है। योजनागत काम में इन्होंने अपनी सेवाओं के मानदण्डों की उन्नति के लिए विशेष प्रयास किये हैं। इनके सामने मड़कों, पीने के पानी की, चिकित्सालयों की नई-नई समस्याएँ आई हैं जिनको गुलमाने के लिए बहुत धन की आवश्यकता है। इनकी तथा अन्य स्थानीय संस्थाओं की आय व्यय तथा ऋण आदि के सम्बन्ध में इस अध्याय में आने व्याख्या की गई है।

स्थानीय संस्थाओं की वित्त व्यवस्था—भारत में स्थानीय संस्थाएँ सार्वजनिक क्षेत्र का एक महत्वपूर्ण खण्ड हैं। इनकी संख्या तथा जन संख्या बहुत है। अतः आय सृजन तथा पूँजी निर्माण के सम्बन्ध में इनका विशेष महत्त्व है। इनकी वित्त व्यवस्था के सम्बन्ध में विस्तृत रूप में सामग्री कराधान और आयों की 1954 की रिपोर्ट में प्रकाशित हुई। उससे पहले इनकी वित्त सम्बन्धी सामग्री कुछ अर्थशास्त्रियों ने इनके विशेष खण्डों के सम्बन्ध में प्राप्त की थी। इसके पश्चात् रिजर्व बैंक आफ इण्डिया ने 1957 में तथा इसके पश्चात् भी स्थानीय संस्थाओं के ऋण तथा निवेशों

(अक लाख रुपये में)

महानगरपालिका	कुल आय	कर आय	सम्पत्ति कर	सेवा कर	गाड़ियो पशुओ आदि पर कर	धु गो तथा खवसाय कर	दरमिनल थियेटर कर
बम्बई	958.8	765.55	361.8	280.69	44.31	62.92	8.39
कलकत्ता	542.5	371.15	336.7	...	5.31	28.00	...
भद्रास	231.5	167.13	84.9	33.27	3.35	5.84	1.63
अहमदाबाद	250.8	218.40	102.2	55.37	7.47	...	51.63
पूना	112.8	87.43	29.16	12.19	3.45	...	40.48
बंगलोर	75.5	71.90	9.75	15.35	3.29	1.11	16.77
हैदराबाद	50.7	41.74	21.06	7.24	4.04	2.00	7.00
जबलपुर	30.7	23.89	...	7.09	0.54	...	16.06
नागपुर	125.9	78.59	8.00	25.72	1.58	...	43.25
मिकन्दराबाद	17.8	11.90	3.75	5.10	0.45	0.75	1.16
त्रिवेन्द्रम	9.9	7.05	3.62	1.48	0.01	0.76	...

के सम्बन्ध में सामग्री एकत्रित की तथा उसे मासिक बुलेटिन में प्रकाशित किया।¹ पहले सर्वेक्षण के पश्चात् 6 वार्षिक सर्वेक्षण प्रकाशित हो चुके हैं। 1962-63 से 1964-65 के काल के सर्वेक्षण के परिणाम बुलेटिन में अप्रैल 1967 में प्रकाशित हुए थे। सितम्बर 1970 के सर्वेक्षण में 1965-66 तथा 1966-67 के अंकों का विश्लेषण किया गया है।

अप्रैल 1964 में भारत में कुल 1973 स्थानीय संस्थाएँ थी, जिनमें 7 पोर्ट ट्रस्ट, 26 महानगरपालिकाएँ, 1487 नगरपालिकाएँ तथा 453 अन्य नागरिक स्थानीय संस्थाएँ थी। रिजर्व बैंक के निरीक्षण के अनुसार स्थानीय संस्थाओं की आयगत तथा पूँजीगत आय 1951-52 में 67.9 करोड़ रु० से बढ़कर 1967-68 में 410.5 करोड़ रुपये हो गई। इनके भुगतान में भी ऐसी ही वृद्धि हुई, जिसके अंक 1951-52 में 64.2 करोड़ रु० थे जो 1967-68 में 417.66 करोड़ रुपये तक पहुँच गये। 1951-52 से 1958-59 तक इनकी आय व्यय से अधिक रही, किन्तु बाद के वर्षों में विपरीत गति रही। इनके ऋण भी बढ़ रहे हैं। इसके दो मुख्य कारण हैं: (1) इनके बढ़ते हुए वित्तीय अधिकार, तथा (2) योजनागत आवश्यकताएँ। 1951-52 में इनका वशोचित ऋण 93.8 करोड़ था जो 1967-68 के अन्त में 268.60 करोड़ तक पहुँच गया।² इस काल में इनके निदेश 72.5 करोड़ रु० से बढ़कर मार्च 1966 के अन्त तक 151.55 करोड़ तक पहुँच गये।

संस्थाओं की आयगत आय—इसमें कर तथा अन्य साधनों की आय शामिल है। इनको राज्य कानूनों के अन्तर्गत कर अधिकारों से प्राप्त आय तथा लगान से प्राप्त आय शामिल है। इनके महत्वपूर्ण आय का साधन नगरपालिकाओं की सम्पत्ति पर कर है।

निम्न तालिका में स्थानीय संस्थाओं के तीन वर्षों के आयगत तथा पूँजीगत आय के अंक दिये गये हैं।³

स्थानीय संस्थाओं की तीन वर्षों की आयगत तथा पूँजीगत आय
(अक करोड़ रुपये में)

	1965-66	1966-67	1967-68
(i) आयगत आय	271.6	319.2	333.4
(1) शुल्क तथा कर	103.2	117.1	126.6
आयगत आय का प्रतिशत	38.0	36.7	38.0

2 The first survey covered the period 1951-52 to 1956-57 and the information was published in the April 1958 issue of the Bulletin. Annual surveys were conducted thereafter. The latest survey appeared in September, 1970.

3 Reserve Bank of India Bulletin, September 1970, p. 1478.

4 Prepared from Table 2, p. 1473, R. B. I. Bulletin, September 1970.

(2) लाभकारी उद्यम	19.2	21.7	24.5
आयगत आय का प्रतिशत	7.1	6.8	7.3
(3) अनुदान	10.9	15.5	17.3
आयगत आय का प्रतिशत	4.0	4.8	5.2
(4) अन्य आय	138.3	164.9	165.0
आयगत आय का प्रतिशत	50.9	51.7	49.5
(ii) पूँजीगत आय	49.6	80.6	77.1
(1) ऋण	18.0	39.5	36.8
पूँजीगत आय का प्रतिशत	36.3	49.0	47.7
(2) अन्य आय	31.6	41.1	40.3

पूँजीगत आय का प्रतिशत

अब हम इन की आय के विषय में कुछ व्यौरेवार आंकड़े प्रस्तुत करते हैं। इन मन्थाओं के करो में सम्पत्ति पर नगरपालिकाओं के कर की आय महत्वपूर्ण है। 1965-66 में इन संस्थाओं की कुल आयगत आय 271.6 करोड़ रुपये थी, जिस में कर तथा शुल्कों से आय 38% थी। 1967-68 के बजट में भी यह 38% थी।

पहले योजना काल में स्थानीय संस्थाओं की करों से आय केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों तथा स्थानीय मन्थाओं की सम्मिलित आय का 3.5% थी, दूसरे योजना काल में 4.9%, तथा तीसरे योजना काल में 3.8% थी। 1965-66 में यह अंक 3.5% रहा तथा 1967-68 में 4.0% रहा। पहले पंचवर्षीय योजना काल में स्थानीय मन्थाओं की कर आय राष्ट्रीय आय का 0.3% भाग रही तथा दूसरे तथा तीसरे योजना काल में यह अंक 0.5% था।

स्थानीय मन्थाओं की कर रचना में सम्पत्ति कर का महत्वपूर्ण स्थान है। मन्त्र स्थानीय मन्थाओं ने रिजर्व बैंक की प्रस्तावली का उत्तर नहीं भेजा, किन्तु जो सूचना मिली उसके आधार पर सम्पत्ति कर से आय 24.56 करोड़ रुपये थी जो 1966-67 में स्थानीय संस्थाओं की आय का 58% था।

इन मन्थाओं की कर निषेध आय मुख्यतया लाभकारी उद्यमों से प्राप्त होती है। निवामीय घरों से करो की आय 1965-66 में 22.38 करोड़ रु०, 1966-67 में 25.75 करोड़ रु० तथा 1967-68 में 27.66 करोड़ रु० थी।

इन मन्थाओं की कर निषेध आय लाभकारी उद्यमों, शासकीय अनुदानों, लाइसेन्स शुल्कों, जुर्मानों तथा अन्य शीर्षकों से प्राप्त होती है। यह तीनों वर्गों में इनकी कुल आयगत आय का 62.0% भाग थी। इन घटकों (components) में लाभकारी उद्यमों से आय कर निषेध आय का 11-12% भाग थी, जिसमें महानगरपालिकाओं इस शीर्षक की आय का 97% थी।

शासन से अनुदान का अगला महत्वपूर्ण स्थान है जो 6.5% तथा 8.3% के बीच में है। इनमें इन वर्षों में नगरमहापालिकाओं के अनुदान का अंक 75% था तथा इस शीर्षक की चेप आय नगरमहापालिकाओं की सम्पत्ति की आय कुल आय का लगभग 4% थी, जिसका 50% भाग महानगरपालिकाओं की आय थी तथा शेष पोर्टे ट्रस्टों तथा नगरमहापालिकाओं की आय थी।

इन संस्थाओं की पूँजीगत आय शासन, बाजार आदि से लिए गये ऋणों से होती है। कुछ संस्थाएँ बैंकों से रपया निकालकर तथा साफ पत्र बेचकर भी इस शीर्षक से आय प्राप्त करती है। इन संस्थाओं की ऋणों से आय 1965-66 में 18 करोड़ रु०, 1966-67 में 39.5 करोड़ रु० तथा 1967-68 में 36.8 करोड़ रु० थी जो इनकी कुल आय का क्रमशः 36.2% 72.2% तथा 70% थी।

1965-66 में 18 करोड़ रु० के ऋणों की आय में महानगरपालिकाओं तथा पोर्टे ट्रस्टों की आय लगभग 7 करोड़ रु० अथवा 39% थी तथा नगरपालिकाओं की आय 4 करोड़ रु० अथवा 22% थी। पोर्टे ट्रस्टों तथा नगरपालिकाओं की ऋण आय महानगरपालिकाओं की आय से अधिक थी। इनके क्रमशः प्रतिशत अंक 40.8, 46.8% तथा 29.5% थे।⁵ 1966-67 में पत्तन ट्रस्टों की ऋण सम्बन्धी प्राप्तियाँ 28.7 करोड़ हो गईं। अतः उनका प्राप्तियों में भाग 73% हो गया। महानगरपालिकाओं की ऋण प्राप्तियाँ 7.6 करोड़ हो गईं, किन्तु कुल ऋण प्राप्तियों में उनका प्रतिशत घटकर 19.3% रह गया। नगरमहापालिकाओं की ऋण प्राप्तियाँ घटकर 3.2 करोड़ रह गईं तथा उनका कुल प्राप्तियों में अनुपात घटकर 7% रह गया।

स्थानीय सत्ताओं का उधार धन

विवरण भेजने वाली स्थानीय संस्थाओं का सभी स्रोतों से कुल उधार लिया हुआ धन 1965-66 में 22.28 करोड़ रुपये से बढ़कर 1966-67 में 33.00 करोड़ रुपये तक पहुँच गया। इसमें से 1965-66 में 11.86 करोड़ रु० तथा 1966-67 में 9.31 करोड़ रु० आपसि दिये गये। अतः इन अदायगियों को घटाकर 1965-66 में 10.42 करोड़ रुपये तथा 1966-67 में 23.68 करोड़ रुपये नेट उधार लिए गये। मार्च 1966 के अन्त में कुल बकाया धन 234 करोड़ रुपये से बढ़कर मार्च 1967 के अन्त में 268.50 करोड़ रुपये तक पहुँच गया। इस काल में बकाया धन में 34.60 करोड़ रुपये की वृद्धि के दो कारण थे। पहला कारण यह था कि इस काल में 23.68 करोड़ रुपये का नेट धन उधार लिया गया। दूसरा कारण यह था कि जून 1966 में रुपये का अवमूल्यन होने से विदेशी ऋण में 10.92 करोड़ रुपये की वृद्धि हुई।

भुगतान

(Disbursements)

इन सस्थाओं के आयगत तथा पूँजीगत भुगतान 1965-66 में 312.19 करोड़ रुपये थे जो राष्ट्रीय आय का 1.5% भाग था तथा स्थानीय संस्थाओं, राज्य सरकारों तथा केन्द्रीय सरकार के सम्मिलित भुगतानों का 4.7% भाग था। 1966-67 में स्थानीय संस्थाओं के भुगतान बढ़कर 390.25 करोड़ रुपये हो गये। 1967-68 के बजट में भुगतान का प्रविधान 417.66 करोड़ रुपये था जिसमें 1966-67 के संशोधित बजट अनुमान की तुलना में 7.0% की वृद्धि हुई। इनमें नगरमहापालिकाओं के भुगतान 1965-66 में 219.73 करोड़ रु० थे जो 1966-67 के संशोधित बजट में 264.57 करोड़ तथा 1967-68 के अनुमानित बजट में 282.92 करोड़ रु० तक बढ़ गये। इनमें से प्रत्येक वर्ष में उन संस्थाओं के भुगतानों का जिन्होंने विवरण भेजे लगभग 2/3 भाग रहे। इन कुल भुगतानों में पत्तन ट्रस्टों का भाग 21% तथा 25% रहा तथा नगरपालिकाओं का भाग 7% तथा 8% रहा है।

भुगतानों के प्रतिरूप

(Pattern of Payments)

1965-66 में सामाजिक तथा विकासशील सेवाओं पर अधिक व्यय हुआ। इन सेवाओं में लोक आरोग्यता तथा सुविधा, लोक निर्माण कार्य तथा शिक्षा शामिल हैं। 1965-66 में सामाजिक तथा विकास सेवाओं पर व्यय 70.28 करोड़ रुपये हुआ जो उस वर्ष के कुल व्यय का 22.5% था। इस व्यय का 53.6% लोक आरोग्यता तथा सुविधा पर, 25.8% लोक निर्माण कार्यों पर तथा 20.6% शिक्षा पर हुआ। नगरमहापालिकाओं का सामाजिक तथा विकासशील सेवाओं पर व्यय 50.01 करोड़ रु० अथवा उनके कुल व्यय का 22.8 प्रतिशत था तथा यह सब लोक संस्थाओं के सामाजिक तथा विकासशील सेवाओं पर कुल व्यय का 71.3% था। इसमें 30.01 करोड़ रुपये लोक आरोग्यता तथा सुविधा पर व्यय हुए जो इस शीर्षक पर सब स्थानीय संस्थाओं के व्यय का 79.6% था। नगरमहापालिकाओं का शिक्षा पर 12.19 करोड़ रुपये व्यय था जो इन संस्थाओं के कुल सामाजिक तथा विकासशील व्यय का 24.3% था तथा शिक्षा पर सब संस्थाओं का 84% था।

नगरपालिकाओं का सामाजिक तथा विकासशील सेवाओं पर 11.08 करोड़ रुपये व्यय हुआ जो इस मद पर सब संस्थाओं के व्यय का 15% था। इनका व्यय इस प्रकार था

लोक आरोग्यता तथा सुविधा	6.71 करोड़ रु०
शिक्षा	2.27 करोड़ रु०
लोक निर्माण कार्य	2.10 करोड़ रु०
पत्तन ट्रस्टों का सामाजिक तथा विकासशील सेवाओं पर व्यय	9.19 करोड़

₹० था जो इस मद पर सब स्थानीय संस्थाओं के व्यय का 13.1% था। इसका अधिकांश भाग अथवा 8.22 करोड़ ₹० लोक निर्माण कार्यों पर था।

1966-67 के संशोधित बजट में सामाजिक तथा विकासशील सेवाओं पर व्यय 102.70 करोड़ रुपये था। इसमें पहले वर्ष की तुलना में 32.42 करोड़ ₹० की वृद्धि हुई। यह वृद्धि मुख्यतया लोक निर्माण कार्यों के व्यय में हुई जिसकी मात्रा 20.99 करोड़ ₹० थी। पत्तन ट्रस्टों का लोक निर्माण कार्यों पर व्यय 25.10 करोड़ रुपये था।

1967-68 में सामाजिक तथा विकासशील सेवाओं पर व्यय का अनुमान 113.92 करोड़ ₹० था। नगरमहापालिकाओं के व्यय में 12.69 करोड़ रुपये की वृद्धि हुई, जिसमें 7.69 करोड़ रुपये लोक आरोग्यता तथा सुविधा पर हुए। उनके शिक्षा पर व्यय में 3 करोड़ रुपये की वृद्धि हुई। यह व्यय 1966-67 के व्यय के बराबर अर्थात् 18.25 करोड़ रुपये रहा।

1967-68 में पत्तन ट्रस्टों का सामाजिक तथा विकासशील सेवाओं पर व्यय 1966-67 की तुलना में 3.97 करोड़ रुपये कम रहा, जिसमें लोक निर्माण कार्यों पर प्रविधान में कटौती हुई।

व्यय के अन्य बड़े मदों में ऋण परिशोधन का प्रविधान शामिल है। 1965-66 में यह व्यय 22.54 करोड़ रुपये अथवा स्थानीय संस्थाओं के कुल व्यय का 7.2% रहा। 1966-67 के संशोधित अनुमानों के अनुसार यह व्यय 20.71 करोड़ रुपये अथवा 5.3% तथा 1967-68 में 27.10 करोड़ रुपये अथवा 6.5% था। इस मद पर नगरमहापालिकाओं का व्यय 13.60 करोड़ रुपये तथा 16.45 करोड़ रुपये रहा तथा कुल व्यय का 5.1% तथा 6.5% रहा। इस काल में सब स्थानीय संस्थाओं के ऋण शोधन व्यय का यह 61% तथा 66% के बीच रहा।

1965-66 में सामान्य प्रशासन व्यय 20.02 करोड़ रुपये था जो कुल व्यय का 6.4% था। 1966-67 में यह अंक 23.94 करोड़ तक बढ़ गया तथा 1967-68 के अनुमानित बजट में 6.4% हो गया। इस व्यय का 60% भाग पत्तन ट्रस्टों द्वारा हुआ। इनका प्रशासन सम्बन्धी व्यय 1965-66 में 12.3 करोड़ ने 1966-67 में 14.77 करोड़ रुपये तथा 1967-68 में 15.81 करोड़ रुपये तक बढ़ गया। इनके कुल व्यय के प्रतिशत के रूप में यह 1965-66 में 18.1% से घट कर आगामी दो वर्षों में 15.3% रह गया।

व्यय का एक दूसरा प्रमुख मद अनुरक्षण तथा टूट फूट के प्रविधान से सम्बन्धित है। इस मद पर व्यय तीनों वर्षों में लगभग 14 करोड़ रुपये अथवा कुल व्यय का लगभग 4 प्रतिशत रहा। यह व्यय पत्तन ट्रस्टों तथा महानगरपालिकाओं में बराबर-बराबर हुआ।

स्थानीय संस्थाओं के आय तथा व्यय के मुख्य स्रोत :⁶

निम्न तालिका में बकाया ऋण सम्बन्धी अंक प्रस्तुत हैं :

(करोड़ रुपये में)

	1956	1961	1962	1966	1967
बकाया ऋण	125.4	216.4	223.1	234.0	268.6
जिसमें—					
(क) बाजार से ऋण	77.1	106.2	112.8	105.8	117.3
(ख) शासन से ऋण	48.2	102.5	110.1	106.1	113.8
सकल निवेश ^(१)	99.8	166.0	182.8	204.3	223.7

(१) निवेश में केन्द्रीय शासन, राज्य सरकारों, तथा स्थानीय संस्थाओं के साथ पत्रों में तथा बैंकों में सामयिक धन शामिल हैं ।)

छियालीसवाँ अध्याय स्थानीय संस्थाओं के कर (TAXES OF LOCAL BODIES)

जैसा पिछले अध्याय में बताया जा चुका है स्थानीय संस्थाएँ कई प्रकार के कर लगाती हैं, जिनमें मुख्य सम्पत्ति कर, चुँगी तथा टरमिनल कर हैं। इस अध्याय में हम इन्हीं करों के विषय में व्याख्या करेंगे।

सम्पत्ति कर

स्थानीय कराधान के सम्बन्ध में सम्पत्ति करों की चार श्रेणियाँ हैं। प्रथम, भवनो तथा खाली पड़ी जमीन पर कर लगते हैं। दूसरे, नगर की उन्नति के लिए अनर्जित (unearned) आय पर कर लगते हैं तथा जिस भूमि में उन्नति की गई है उस पर कर लगते हैं, जिन्हे उन्नति (betterment) कर कहते हैं। तीसरे, सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर स्टाम्प शुल्क के रूप में कर लगते हैं। चौथे, भूमि पर ऐसे उप कर होते हैं जो भू-राजस्व पर लगते हैं।

भवनो पर कर नगरपालिकाएँ, महानगरपालिकाएँ तथा ग्राम पंचायतें लगाती हैं, किन्तु महाराष्ट्र, गुजरात तथा पंजाब में राज्य सरकारें इन करों को लगाती हैं। उन्नति कर वे संस्थाएँ लगाती हैं जो उन्नति की योजनाएँ बनाती हैं। तीसरी श्रेणी के कर मुख्यतया राज्य सरकारें लगाती हैं किन्तु स्थानीय संस्थाओं को भी अबल सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर कर लगाने का अधिकार होता है। पंचायतें तथा स्थानीय मण्डल भूमि पर उप कर लगाती हैं।

भूमि तथा भवनो पर कर

ये सामान्य करों तथा सेवा सम्बन्धी करों का रूप लेते हैं तथा ये नगरपालिकाओं तथा महानगरपालिकाओं द्वारा लगाये जाते हैं। सेवा सम्बन्धी कर, पानी, नालियो, प्रकाश, सफाई आदि के लिए लगाये जाते हैं। कुछ राज्यों में सम्पत्ति कर पर उप कर (surcharge) के रूप में शिक्षा कर लगाया जाता है। तमिलनाडु तथा आन्ध्र प्रदेश में शिक्षा कर के अतिरिक्त पुस्तकालय कर भी लगाया जाता है। कुछ राज्यों में सम्पत्ति कर अनिवार्य है, किन्तु अन्य राज्यों में ये एच्छिक (optional) है, किन्तु इसे सभी नगरपालिकाएँ लगाती हैं। मध्य प्रदेश, राजस्थान, पंजाब, उत्तर

प्रदेश आदि में यह सर्वव्यापक नहीं है। उत्तर प्रदेश में यह सब नगरपालिकाओं में नहीं लगाया जाता। कुछ राज्यों में पंचायतों द्वारा यह अनिवार्य रूप में लगाया जाता है।

इस कर का आधार

यह कर अचल सम्पत्ति के वार्षिक अथवा पूँजी मूल्य पर लगाया जाता है। अधिकांश रूप में यह वार्षिक आय पर लगाया जाता है। वार्षिक आय का आधार सम्पत्ति का लगान होता है। अधिकांश नगरपालिकाओं के कानूनों के अनुसार वार्षिक मूल्य वह वार्षिक लगान होता है जो सामान्यतया सम्पत्ति से प्राप्त हो सकता है। वास्तविक लगान को उचित लगान मान लिया जाता है जब तक कि दोनों पक्षों में साठ गाठ (collusion) सिद्ध न हो जाये। कराधान जाँच आयोग ने इसी प्रथा की चलते रहने की सिफारिश की थी।

लगान के अतिरिक्त वार्षिक मूल्य अन्य घटकों के आधार पर भी लगता है। कुछ परिस्थितियों में सम्पत्ति की पूँजी के मूल्य का अनुपात वार्षिक मूल्य मान लिया जाता है। बहुत से राज्यों में वार्षिक मूल्य तीन अथवा पाँच वर्षों में तय होता है, तथा कहीं-कहीं यह प्रति वर्ष तय किया जाता है।

सम्पत्ति का पूँजी मूल्य भी सम्पत्ति कर के निर्धारण का आधार होता है। कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा अमेरिका में स्थानीय करों के लगाने का यही आधार है। नगरों में सम्पत्ति के मूल्यों में वृद्धि होती रहती है, जिससे इस कर द्वारा स्थानीय संस्थाओं की आय बढ़ सकती है। नगरों में रहने के तथा किराये के भवनों पर यह कर लगता है। किराये के मूल्य को तय करना पूँजी मूल्य की तुलना में अधिक आसान है। इसलिए किराये के मूल्य पर कर पूँजी मूल्य पर कर की अपेक्षा अधिक न्यायसंगत अथवा उचित है।

कर की दर

कुछ राज्यों में नगरपालिकाओं तथा महानगरपालिकाओं के लिए सम्पत्ति कर की अधिकतम दर उल्लिखित रहती है। कुछ राज्यों में यह दर बहुत ऊँची है। अगम, बिहार आदि राज्यों में नगरपालिकाएँ चुँगी अथवा टरमिनल कर नहीं लगाती। इसलिए सम्पत्ति कर उनकी आय का मुख्य साधन है। कुछ राज्यों में यह कर कीमती भवनों पर कुछ नीची दर पर लगता है। सम्पत्ति के वर्तमान कराधान (progressive taxation) का मुद्दा दो कारणों से दिया जाता है। प्रथम, यह कर देय क्षमता के अनुसार है तथा दूसरे, इस से स्थानीय संस्थाओं को अधिक आय प्राप्त हो सकती है। स्थानीय संस्थाओं के सम्बन्ध में इसके कुछ दोष भी हैं। प्रथम, सकल देय क्षमता के आधार पर सम्पत्ति कर सम्भव नहीं है, क्योंकि इसमें सभी माधनों की आय शामिल होनी चाहिए, जो आय कर के अन्तर्गत हो आ सकती है। वर्तमान सम्पत्ति कर का भार अचल सम्पत्ति के स्वामियों पर पड़ता है, किन्तु यह निवेश के अन्य रूपों पर नहीं पड़ता। दूसरे, इसमें छूट की ऊँची सीमा होनी चाहिए,

जिमने आय की हानि होगी। इसलिए कराधान जाँच आयोग ने स्थानीय मस्थानों के लिए सम्पत्ति कर के सम्बन्ध में वर्धमान कर की सिफारिश नहीं की है, क्योंकि इस में प्रशासन सम्बन्धी कठिनाइयाँ भी आयेंगी। महानगरपालिकाओं के लिए तो यह सम्भव हो सकता है। निम्न सम्पत्ति इस कर में मुक्त है

(१) मंघीय सरकार की सम्पत्ति।

(२) विशेष उद्देश्यों के लिए निर्दिष्ट सम्पत्ति जैसे धार्मिक अथवा शैक्षिक उद्देश्यों की सम्पत्ति।

(३) ऐसी सम्पत्ति जिनका वार्षिक मूल्य एक निश्चित सीमा से कम है। स्थानीय वित्तीय जाँच समिति ने इस छूट को हटाने की सिफारिश की, क्योंकि वही-वही सम्पत्ति का मूल्य जान बूझ कर कम दिखाया जाता है। एक निश्चित सीमा से कम मूल्य की सम्पत्ति पर कर से मुक्ति के दो कारण हैं (i) इनके स्वामियों की आय बहुत कम होती है, (ii) इसको वसूल करने में प्रशासन का व्यय बहुत अधिक होता है। जिस भवन में स्वामी स्वयं रहता है उसके लिए कुछ छूट मिलती है। उदाहरण के लिए उत्तर प्रदेश में कुछ नगरपालिकाओं में ऐसी सम्पत्ति पर 25 प्रतिशत की छूट मिल जाती है। दो कारणों से ऐसा किया जाता है। प्रथम, इस सम्पत्ति से आय नहीं होती। इसलिए कर दाता की देय क्षमता कम होती है। दूसरे, सामाजिक दृष्टि से भी यह न्यायसंगत है। इसके कारण व्यक्ति गृह निर्माण के लिए धन बचाने के लिए प्रोत्साहित होने हैं। जब सम्पत्ति माली पड़ी रहती है तो उस पर कर से छूट मिल जाती है। कराधान जाँच आयोग ने यह सिफारिश की कि यदि भवन वर्ष में लगातार 90 दिन से कम खाली न रहे तो छूट न दी जाये तथा अधिकतम छूट कर के आधे भाग से अधिक नहीं होनी चाहिए।

सेवा कर

(Service Charges)

ये कर सम्पत्ति के वार्षिक मूल्य पर लगाये जाते हैं तथा इनका उद्देश्य विशेष सेवाओं की लागत के पूरा करने के लिए होता है। कुछो को छोड़ कर सभी नगरपालिकाओं को सेवा कर लगाने का अधिकार है। पानी के लिए, सफाई के लिए, नगरपालिकाओं को कर लगाने के अधिकार हैं। यह कर वही लगते हैं जहाँ ये सेवाएँ उपलब्ध रहती हैं। उदाहरण के लिए सड़कों पर प्रकाश का व्यय सामान्य कर से भी पूरा किया जा सकता है तथा इसके लिए विशेष रूप में भी कर लगाया जा सकता है। इस सम्बन्ध में दो समस्याएँ हैं क्या उन सम्पत्तियों पर जिन पर सामान्य कर नहीं लगता, सेवा कर भी नहीं लगना चाहिए? वास्तव में इन पर सेवा कर लगना चाहिए, क्योंकि सभी को सेवा कर के लिए कुछ न कुछ देना चाहिए। दूसरे, क्या कर की दर ऐसी निश्चित होनी चाहिए कि जिससे इस सेवा की पूरी लागत वसूल हो जाये? इस सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम तय नहीं किया जा सकता किन्तु यह वाछनीय है कि सामान्यतया इसकी आय इससे सम्बन्धित

व्यय के लिए पर्याप्त होनी चाहिए। कराधान आँच आयोग ने यह सिफारिश की कि इनके स्थान पर नगरपालिकाओं की आय भूमि तथा भवनों पर कर से होनी चाहिए। आयोग ने यह सिफारिश की कि सम्पत्ति कर स्थानीय संस्थाओं के उपयोग के लिए ही सुरक्षित रहना चाहिए तथा जहाँ तक हो सके यह कर सभी स्थानीय संस्थाओं को लगाना चाहिए।

नगरपालिकाएँ सम्पत्ति कर लगाने के लिए तथा उसकी दर में पर्याप्त वृद्धि के लिए हिचकती है। इसलिए कुछ राज्यों में यह कार्य भार सरकार में ले लिया। आन्ध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश, तमिलनाडु, पंजाब तथा उत्तर प्रदेश में यह भार राज्य सरकारों ने ले लिया है।

सम्पत्ति कर निर्धारण तथा उसकी वसुली

इसमें कई दोष हैं। इस कर का निर्धारण नगरपालिका के कर्मचारियों करते हैं। कुछ राज्यों में सरकार अपने कर्मचारियों की सेवाएँ नगरपालिकाओं को दे देती है। कर लगाने वाले कर्मचारियों को इस सम्बन्ध में प्रशिक्षण नहीं होता। इस तकनीकी कर्तव्य को निपुणता से करने के लिए कर्मचारियों को पर्याप्त प्रशिक्षण मिलना चाहिए। इस सम्बन्ध में सुधार की आवश्यकता है। जहाँ तक हो सके कर का घन बकाया नहीं रहना चाहिए। इस कर के प्रशासन में सुधार होने से नगरपालिकाओं की आय में बहुत वृद्धि हो सकती है।

उन्नति कर

(Betterment Levy)

नगर में उन्नति की योजनाओं से शहरी सम्पत्ति के मूल्य में वृद्धि होती है। इसलिए शहरी भूमि के मूल्य की वृद्धि पर कर लगता है। इसे उन्नति कर कहते हैं। तमिलनाडु में उन्नतिशील योजनाओं के कारण सम्पत्ति के मूल्य की वृद्धि का 50 प्रतिशत तब उन्नति कर के रूप में वापिस किसानों में प्रसूत किया जाता है। इसके मूल्य की वृद्धि को तप करने का कोई निश्चित मार्ग नहीं है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि मूल्य की वृद्धि शहरी योजना के कारण ही है। गे कीमतों के बढ़ने के कारण भी हो सकता है।

चुंगी तथा टरमिनल कर

यह कर वस्तुओं तथा यात्रियों पर लगते हैं। वस्तुओं पर कर राज्य, स्थानीय संस्थाओं तथा स्थानीय सरकार द्वारा लगाये जाते हैं। जब माल उपभोग के लिए किसी नगर में आता है तो उस पर चुंगी लगती है। टरमिनल कर रेल, समुद्र अथवा यात्रियों पर केन्द्रीय सरकार लगाती है, किन्तु यह आय राज्यों में बँट जाती है। कुछ स्थानीय संस्थाएँ इन करों को शासन विभाग की स्थापना से पहले लगा रही थीं, उनको यह अधिकार अब भी है, किन्तु न तो वे इस सम्बन्ध में मदद को दता सकती हैं न बर बढ़ा सकती हैं। इसलिए नगरपालिकाएँ अब चुंगी की ओर ध्यान दे रही हैं। कराधान आँच आयोग के अनुसार पंजाब में 94 नगरपालिकाओं में से

72 चुंगी लगाती थी तथा 2 टरमिनल कर लगाती थी। तथा उत्तर प्रदेश में 120 में से 47 नगरपालिकाएँ चुंगी लगानी थी तथा 20 टरमिनल कर लगाती थी। इसलिए वैधानिक स्थिति यह है कि माल पर कर राज्य सरकार, स्थानीय सस्थाएँ तथा सघीय सरकार लगाती है। जो माल किसी स्थानीय क्षेत्र में उपभोग के लिए अथवा वहाँ बिक्री के लिए आता है उस पर नगरपालिका कर लगाती है, इसे चुंगी कहते हैं। जब इसे राज्य सरकार लगाती है तब इसे उप कर कहते हैं।

चुंगी तथा टरमिनल कर में अन्तर

विधान में चुंगी शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। राज्य सूची में प्रविष्टि 52 में किसी स्थानीय क्षेत्र में उपभोग, उपयोग अथवा वहाँ बिक्री के लिए वस्तुओं की प्रविष्टि पर करो का उल्लेख है। यह चुंगी है। कुछ नगरपालिकाओं के कानूनों में उपभोग, उपयोग अथवा बिक्री के लिए लाये गये माल पर कर को चुंगी की परिभाषा दी है। चुंगी उसी माल पर लगती है जब वह किसी विशेष क्षेत्र में लाया जाता है, किन्तु टरमिनल कर उस माल पर भी लगता है जो उस क्षेत्र में आता है तथा उस क्षेत्र के बाहर जाता है। इसके अनिवार्य चुंगी केवल माल तक ही सीमित है, किन्तु टरमिनल कर यात्रियों पर भी लगता है। तीसरे, चुंगी उन्ही वस्तुओं पर लगती है जो किसी क्षेत्र में उपभोग, उपयोग अथवा बिक्री के लिए लाई जाती हैं। अतः जो माल उस नगर में होकर किसी अन्य नगर में जाता है तथा वहाँ उसका उपभोग अथवा बिक्री नहीं होती उस पर या तो चुंगी नहीं लगती या वापिस हो जाती है। इसलिए छूट तथा वापिसी वृंगी प्रणाली की मुख्य विशेषताएँ हैं। वापिसी की प्रणाली में छुटपयोग भी हो सकता है और नगरपालिकाओं की आय भूठे विवरणों द्वारा यदि वे बहुत मुक्त रूप से स्वीकार किये जायें, तो कम हो सकती है। किन्तु चुंगी की वापिसी के सम्बन्ध में कटाई बरतने से व्यवसायियों को अमुविधा तथा परेशानी बहुत हो सकती है। इन दोनों ही परिस्थितियों में भ्रष्टाचार की बहुत सम्भावना है।

पञ्जाब सरकार ने विना वापिसी की चुंगी को अपनाया है इसके अनुसार सिद्धान्त रूप में जो माल नगर में उपभोग अथवा बिक्री के लिए नहीं आता उस पर छूट दी जाती है। इसमें व्यवसायियों को सुविधा होती है। इसके लिए यह आवश्यक है कि प्रविष्टि के हर चरण पर प्रभावी प्रशासनिक व्यवस्था होनी चाहिए। ऐसा भी होता है कि माल कुछ समय क्षेत्र में रह कर बाहर जाता है। यह माल वहाँ उपयोग या बिक्री के लिए नहीं रहता। इसके लिए एक निश्चित समय तय किया जा सकता है, जिसके अन्दर माल बाहर चला जाना चाहिए, अन्यथा यह समझ लिया जायेगा कि वह माल उस क्षेत्र में उपभोग अथवा बिक्री के लिए आया है। जहाँ ये माल दूसरे स्थान को जाना है, चुंगी, टरमिनल कर का रूप लेती है। मार्ग में माल पर छूट मिल सकती है तथा कर उसी मान पर लगाया जाये जो क्षेत्र में उपभोग अथवा बिक्री के लिए निर्दिष्ट है। ऐसी स्थिति में विना वापिसी की चुंगी साधारण चुंगी से बहुत है। साधारण चुंगी का अर्थ है सब माल पर चुंगी लेना तथा बाद में

प्राथम्य करने पर वापिस देना। यह प्रणाली उन्हीं नगरपालिकाओं में सफल हो सकती है जिनमें अधिकांश रूप में माल स्थानीय उपभोग के लिए आता है, तथा जहाँ मार्ग में माल की मात्रा उस माल की तुलना में बहुत कम है जो वहाँ स्थानीय उपभोग के लिए आता है।

चुंगी तथा टरमिनल करों के गुण तथा दोष

स्थानीय कर के रूप में चुंगी टरमिनल कर से अधिक उपयुक्त है। चुंगी उसी माल पर देय हो जो स्थानीय क्षेत्र में प्रयोग होता है, उपयोग में आता है अथवा बिकता है, किन्तु टरमिनल कर उस माल पर भी लग सकता है जो उस क्षेत्र के बाहर दूसरे नगर में जाता है। टरमिनल कर उस माल पर भी लगता है जो मार्ग में होता है और जो माल कर लगाने वाले अधिकारी के क्षेत्र में अस्थायी रूप में भी नहीं रहता। इस प्रकार कई अधिकारी मार्ग में माल पर कर लगाते हैं। टरमिनल कर के विरुद्ध कई आपत्तियाँ हैं। रेल द्वारा भेजे गये माल के सम्बन्ध में यह समस्या उत्पन्न नहीं होती क्योंकि स्थानीय संस्थाएँ उस माल पर कर नहीं लगाती जो वहाँ के स्टेशनों से हो कर जाता है।

टरमिनल कर चुंगी की तुलना में प्रशासन की दृष्टि में अधिक सरल है। दोनों के ही सम्बन्ध में सड़क पर चुंगियाँ रखी जाती हैं और छोटे-छोटे कर्मचारियों को विस्तृत अधिकार दिये जाते हैं। स्थानीय संस्थाओं के लिए प्रशासनिक तथा वित्तीय दृष्टि से टरमिनल कर अधिक आकर्षक है। उसकी वापिसी नहीं होती। वापिसी के लिए विशेष व्यवस्था तथा जटिल प्रक्रिया आवश्यक है। दूसरे, इसमें बाय की घन राशि के सम्बन्ध में अनिश्चितता रहती है, क्योंकि यह पता नहीं रहता कि कितनी घन राशि वापिस करनी होगी। तीसरे, वापिसी के मामले में भ्रष्टाचार की अधिक सम्भावना रहती है।

ध्यापारी अथवा कर दाता के दृष्टिकोण से टरमिनल कर भुविच्छाजनक है क्योंकि इसमें अन्तरिम अथवा अस्थायी भुगतान गुरु में करने आवश्यक नहीं हैं, किन्तु यह चुंगी के सम्बन्ध में आवश्यक है और समय-समय पर इस घन की वापिसी आवश्यक है। टरमिनल करों में यह सब प्रक्रिया आवश्यक नहीं है। अन्य बातों में परेशानी एक सी ही है।

उपभोक्ता के दृष्टिकोण से चुंगी तथा टरमिनल करों का एक सा ही भार रहता है। कीमत कर के बराबर बढ़ जाती है। इसके अतिरिक्त चुंगी के वापिस लेने में जो खर्चा आता है उसका भी कीमत पर असर पड़ता है। इस लागत को भी उपभोक्ता ही बरदाश्त करता है। यदि वापिसी का खर्च छूट ले लेती है तब उपभोक्ता की दृष्टि से चुंगी अधिक लाभदायक है।

इस प्रकार कर लगाने वाले अधिकारी तथा कर दाता के दृष्टिकोण से टरमिनल कर के कई लाभ हैं। अतः बहुत सी राज्य सरकारों का यह मत है कि चुंगी के स्थान पर टरमिनल कर हो जाने चाहिए। यह कर केवल रेल के माल

पर ही नहीं लगने चाहिए, यह उम माल पर भी लगने चाहिए, जो सड़क से जाता है। रेल द्वारा ले जाये गये माल पर टरमिनल करों की व्यवस्था निपुणता से की जा सकती है। सड़क द्वारा भेजे गये माल पर सहसम्बन्धी (corresponding) करों की व्यवस्था उपयुक्त होनी चाहिए। ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जब सड़क यातायात प्रणाली सार्वजनिक अधिकार में आ जाये तथा उसका प्रबन्ध अधिक निपुणता से हो जाये।

बराधान जाँच आयोग ने चुंगी को असन्तोषजनक कहा, किन्तु इसके हटाने की सिफारिश नहीं की। इसका कारण यह है कि ऐसी सिफारिश से बहुत सी स्थानीय समस्याओं का हानि होती। कुछ राज्यों में सम्पत्ति करों का विकास हो सकता है, किन्तु इसमें समय लगेगा। इसके अतिरिक्त सम्पत्ति करों से जो भी आय प्राप्त हो सकती है, उसकी तो इन सस्थाओं की अब भी आवश्यकता है। चुंगी में दो सुधार हो सकते हैं। प्रथम, यह टरमिनल कर का रूप ले सकती है जहाँ रेल तथा सड़क यातायात दोनों मिल जायें तथा यह कई नगरपालिकाओं के लिए लगाई जाये। दूसरे, यह बिक्री कर पर उप कर का रूप ले सकती है तथा सुव्यवस्थित तथा सुप्रशासित बिक्री कर प्रणाली में यह सम्भव है।

बराधान जाँच आयोग ने चुंगी के सुधार के निम्न सुझाव दिये -

चुंगी मूल्य के बजाय बोझ के आधार पर लगनी चाहिए। मूल्य पर लगने से इसमें देरी होती है तथा परेशानी भी होती है।

सभी राज्यों में शासन को एक मॉडल शिड्यूल बना देना चाहिए। इस शिड्यूल में छोटे-छोटे व्यापारियों को परेशानी से बचाने के लिए दूध तथा सब्जी जैसी वस्तुओं को हटा देना चाहिए।

चुंगी की वसूली छोटे कर्मचारियों पर नहीं छोड़नी चाहिए। भ्रष्टाचार को रोकने के लिए इसका निरीक्षण कार्यकारी कर्मचारियों द्वारा होना चाहिए।

सामान्यतया राज्य सरकारों को खाने की वस्तुओं पर चुंगी की दरों में वृद्धि की इजाजत नहीं देनी चाहिए। चुंगी में आय घटनी चाहिए। चुंगी की आय का बहुत भाग खाद्य सामग्री पर लगी चुंगी से आता है।

यात्रियों पर टरमिनल कर

यह कर तीर्थ स्थानों पर जाने वाले यात्रियों पर लगता है तथा इसे यात्री कर भी कहते हैं। कहीं-कहीं इसकी आय नगरपालिकाओं की समिति को न जाकर उन समितियों को जाती है जो यात्रियों के ठहरने की व्यवस्था करती हैं। यह कर तीर्थ स्थानों के अतिरिक्त अन्य स्थानों में भी लग सकता है। यात्री कर ऐसे स्थानों में लगने चाहिए जहाँ यात्रियों के लिए कुछ सुविधाएँ दी जाती हों। जो यात्री रेल से सफर करते हैं उन पर यह कर टरमिनल कर कहलाता है। राज्य सरकारें इसके अनुरूप सड़क से जाने वाले यात्रियों पर कर लगाती हैं। बराधान जाँच आयोग ने तम्वे सफर के यात्रियों पर थोड़ी दर पर टरमिनल कर लगाने की सिफारिश की।

इससे नगरपालिकाओं को भी यात्रियों की सुविधाओं की लागत के लिए कुछ आय अंशदान के रूप में मिल सकती है। यह कर यातायात के सभी रूपों पर लग सकता है। कराधान जाँच आयोग ने समन्वित दरमिनस कर पॉन लाज से ऊपर की जन संख्या के नगरों में लगाने की सिफारिश की।

व्यवसायो, व्यापार, रोजगार तथा सम्पत्ति परिस्थिति पर कर

विधान के अन्तर्गत व्यवसाय पर कर इस आधार पर अवैध नहीं होगा कि इसका सम्बन्ध आय कर से है। राज्य सरकार अथवा स्थानीय संस्था के लिए इस कर की अधिकतम राशि 250 रु० प्रति वर्ष है। इसमें ऊपर सीमा पर कर अभी लग सकते हैं जब वे विधान के प्रारम्भ होने से तत्काल पहले लगते थे। अधिकतम सीमा 1939 में लगी जो ऊपर दी गई है। कुछ राज्यों में कुछ संस्थाएँ परिस्थिति तथा सम्पत्ति कर लगाती हैं। इसकी भी अधिकतम सीमा 250 रु० प्रति वर्ष है उसमें इस कर को राज्य सरकार लगाती है। इसकी अधिकतम दर 50 रु० है तथा यह 3500 रु० वार्षिक आय के व्यक्तियों पर ही लगता है।

व्यवसाय कर व्यवसाय आय अथवा दोनों के आधार पर लगता है। पश्चिम बंगाल में वर्गीकरण का आधार व्यवसाय है। व्यवसाय में श्रेणीकरण की अवस्था होती है, जैसे उन व्यक्तियों को ले लिया जाय, जिन पर आय कर लगता है अथवा कोई और श्रेणी ले ली जाय, जैसे आय अर्जित क्षमता। विभिन्न व्यवसायों की अधिकतम सीमाएँ होती हैं। आन्ध्र प्रदेश तथा तमिलनाडू में वर्गीकरण आय के अनुसार होता है तथा आय के अलग-अलग टुकड़ों के लिए अलग-अलग अधिकतम दरें निश्चित की गई हैं।

कराधान जाँच आयोग ने व्यवसाय कर को स्थानीय संस्थाओं के अधिकार में देने की सिफारिश की। आयोग ने विधान में सशोधन की भी सिफारिश की जिससे वे अधिकतम सीमा 250 रु० में बढ़ाकर 500 कर दी जाये। उन्होंने आय को आधार मानने की सिफारिश की तथा कृषि आय को इस कर से मुक्त करने की सिफारिश की।

वाहनों, पशुओं तथा नौकाओं पर कर

सभी राज्यों में वाहन कर अब नगरपालिकाएँ लगाती हैं। महाराष्ट्र में नगरपालिकाओं द्वारा यह कर अब मोटर कारों पर भी लगता है। यह उसके अतिरिक्त है जो राज्य सरकारें लगाती हैं। अन्य राज्यों में मोटर कारों पर राज्य ही कर लगाता है। मैसूर में गाड़ियों पर तथा तमिलनाडू में गाड़ियों तथा बाईसकिलों पर ग्राम पंचायतें कर लगाती हैं। इनकी अधिकतम दरें कानूनों अथवा राज्य सरकारों द्वारा बनाये गये नियमों के अन्तर्गत तय होती हैं। असम, पश्चिमी बंगाल, बिहार, मध्य प्रदेश तथा उड़ीसा में नगरपालिकाएँ अपनी सीमाओं के अन्तर्गत नौकाओं पर शुल्क लगाती हैं।

मोटर कारों पर कर

उड़ीसा को छोड़कर सभी राज्य सरकारें मोटर गाड़ियों के कर के अधिकार के स्थान पर स्थानीय सस्थाओं को मुआवजा देती हैं। यह मुआवजा इस अधिकार के हटाने से पूर्व के तीन वर्षों की औसत आय पर आधारित है। कराधान जाँच आयोग ने यह सिफारिश की कि नगरपालिकाओं तथा जिला बोर्डों को मोटर-गाड़ियों के कर का कुछ भाग मिलना चाहिए। मोटर कारों के अतिरिक्त अन्य वाहनो पर कर स्थानीय सस्थाओं के लिए सुरक्षित रहना चाहिए तथा इस सम्बन्ध में इन सस्थाओं को राज्य सरकार से उपयुक्त अधिकार मिलने चाहिए।

थियेटर कर

कुछ राज्य प्रत्येक प्रदर्शन पर कर लगाते हैं। यह मनोरजन कर के अतिरिक्त होता है। महाराष्ट्र में नगरपालिकाएँ तथा महानगरपालिकाएँ प्रत्येक प्रदर्शन के लिए निश्चित दरों पर थियेटर कर लगाती हैं, किन्तु मनोरजन कर राज्य सरकार द्वारा लगाया जाता है। आन्ध्र प्रदेश तथा तमिलनाडु में राज्य सरकार ही इन दोनों करों को लगाती है, किन्तु मनोरजन कर की आय का 10 प्रतिशत भाग स्थानीय सस्थाओं को दिया जाता है। दरें स्पष्ट तथा सम हैं किन्तु साथ-साथ देय क्षमता के आधार पर कुछ हद तक श्रेणीकरण भी है। उदाहरण के लिए उत्तम श्रेणी के थियेट्रो पर निम्न श्रेणी के थियेट्रो से अधिक कर लगता है। इस कर का सम्पात थियेट्रो के स्वामियों पर अथवा प्रदर्शन के व्यवस्थापकों पर रहता है, किन्तु मनोरजन कर का भार उन पर रहता है जो प्रदर्शनों में उपस्थित रहते हैं। कराधान जाँच आयोग ने यह सिफारिश की कि ये दोनों कर उपर्युक्त दरों पर लगने चाहिए। जो ऊँची नहीं होनी चाहिए। उन्होंने यह सिफारिश की कि सभी राज्यों में थियेटर कर नगरपालिकाओं को लगाना चाहिए। स्थानीय सस्थाओं को प्रत्येक प्रदर्शन पर इस कर को लगाने का अधिकार होना चाहिए, किन्तु महानगरपालिकाओं की दो अथवा तीन श्रेणियाँ होनी चाहिए तथा प्रत्येक वर्ग के थियेटर के लिए भिन्न-भिन्न दरें निश्चित होनी चाहिए।

महसूल

(Toll)

प्रगतिशील देशों में वाहनो तथा पशुओं पर महसूल नहीं लगाया जाता, क्योंकि इससे तीव्रगामी ट्रेफिक को बाधा पहुँचती है। भारत में बहुत से राज्यों में स्थायी महसूल समाप्त कर दिये गये हैं तथा इसके स्थान पर मोटर गाड़ियों के कर की आय से महसूल समाप्त होने के कारण हानि को पूरा करने के लिए कुछ मुआवजा दिया जाता है। कुछ राज्यों में सभी नगरमहापालिकाएँ शुल्क लगाती हैं तथा अन्य राज्यों में कुछ ही नगरपालिकाएँ ऐसा करती हैं।

निम्न तालिका में शुल्को से नगरपालिकाओं की वार्षिक आय दी गयी है :

राज्य	वर्ष	लाख रुपयों में आय
हैदराबाद (महानगरपालिकाएँ इस कर को लगाती हैं)	1952-53	10.69
असम	1949-50	0.06
पंजाब	1951-52	1.58
उत्तर प्रदेश	1949-50	32.43
मध्य प्रदेश	1951-52	3.46

बिहार में पुल बनाने की पूंजीगत लागत की पूर्ति के लिए महसूल लगाये जाते हैं। मैसूर में मोटर गाड़ियों पर राज्य सरकार द्वारा शुल्क लगाये जाते हैं। महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश तथा हैदराबाद में पशुओं तथा वाहनों पर शुल्क लगाने का अधिकार ग्राम पंचायतों को दिया गया है।

स्थानीय संस्थाओं की मुख्य समस्या वित्त सम्बन्धी है। इनकी आय के चार मुख्य स्रोत हैं :

- (1) कराधान से आय,
- (2) राज्य सरकारों द्वारा लगाये गये अथवा वसूल किये गये करों का कुछ भाग का इनको दिया जाता,
- (3) राज्य सरकारों से आर्थिक सहायता, तथा
- (4) स्थानीय व्यवसाय से कर निर्पेक्ष आय।

स्थानीय संस्थाओं की वित्तीय व्यवस्था ठोस होनी चाहिए। आय का मुख्य आधार स्थानीय करों से प्राप्त होना चाहिए, तथा अतिरिक्त आय अन्य साधनों से प्राप्त होनी चाहिए। कुछ प्रारम्भिक वर्षों के लिए पंचायतों के लिए राज्य सरकार को इनके लिए वित्त का साख्तान भाग देना चाहिए। स्थानीय वित्त जाँच समिति ने यह सिफारिश की थी कि सघीय सूची में रेन, समुद्र तथा वायु से जाने वाले माल तथा यात्रियों पर टरमिनल करों की आय स्थानीय संस्थाओं के लिए सुरक्षित रहनी चाहिए। राज्य सूची में निम्न कर स्थानीय संस्थाओं के लिए रखने की सिफारिश की गयी थी :

- (1) भूमि तथा भवनो पर कर,
- (2) खनिज अधिकारों पर कर,
- (3) उपभोग, उपयोग अथवा बिजली के लिए स्थानीय संस्था में आने वाले माल पर कर,
- (4) बिजली की बिक्री अथवा उसके उपभोग पर कर,
- (5) समाचार पत्रों में प्रकाशित प्रचार के अतिरिक्त अन्य प्रचारों पर कर,

(6) सड़क अथवा नदियों आदि से ले जाने वाले माल तथा यात्रियों पर कर,

(7) यन्त्र संचालित वाहनो के अतिरिक्त अन्य वाहनो पर कर ।

(8) पशुओ तथा नौकाओ पर कर,

(9) शुल्क,

(10) व्यवसायो, व्यापार तथा रोजगार पर कर,

(11) मनोरंजन पर कर ।

बहुत से राज्यों में स्थानीय सस्थाओं को भूमि तथा भवनो पर कर लगाने के अधिकार हैं । कराधान जाँच आयोग ने यह सिफारिश की कि सनिज अधिकारों (municipal rights) पर कर लगाने के अधिकार राज्य सरकारो को ही होने चाहिए तथा समाचार पत्रों में प्रकाशित प्रचारो पर कर को छोड़ अन्य प्रचारो पर कर अधिकार स्थानीय सस्थाओ को दिये जाने चाहिए । इस कर से बड़ी नगरपालिकाओ को उपयुक्त आय प्राप्त हो सकती है । सड़क अथवा नदियों में नौकाओ से ले जाये गये माल तथा यात्रियो पर टरमिनल कर से आय बढ़ाई जा सकती है । बिहार, तमिलनाडु तथा पंजाब में यह माल के भाडे तथा यात्रिया के किगये पर उप कर के रूप में लगाया जाता है । उपकर के रूप में इसे राज्य सरकारो के लिए लगाना उपयुक्त होगा, किन्तु कर के रूप में इसे स्थानीय सस्थाओ को ही लगाना चाहिए । कराधान जाँच आयोग ने यह सिफारिश की कि रेल, समुद्र अथवा वायुयान से ले जाये गये माल अथवा यात्रियो पर टरमिनल कर स्थानीय सस्थाओ को दिये जाने चाहिए । आयोग ने विद्युत के उपभोग अथवा बित्री पर तथा प्रति व्यक्ति करो को स्थानीय सस्थाओ के लिए देने की सिफारिश नहीं की ।

कराधान जाँच आयोग ने निम्न करो को स्थानीय सस्थाओ के लिए देने की सिफारिश की । अब इन करो द्वारा स्थानीय सस्थाओ को आय में वृद्धि हो सकती है

(1) भूमि तथा भवनो पर कर,

(2) चुगी अर्थात् किसी स्थानीय संस्था में माल का उपभोग, बित्री अथवा उपयोग के लिए प्रविष्टि पर कर,

(3) यन्त्रों से संचालित वाहनो (mechanically propelled vehicles) के अतिरिक्त अन्य वाहनो पर कर,

(4) व्यवसायो, व्यापार तथा रोजगार पर कर,

(5) समाचार पत्रों में प्रकाशित प्रचारो के अतिरिक्त अन्य प्रचारो पर कर,

(6) थियेटर अथवा प्रदर्शन कर,

(7) सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर कर,

(8) सड़क तथा जल मार्गों द्वारा ले जाये गये माल तथा यात्रियो पर कर,

(9) शुल्क ।

स्थानीय संस्थाओं के लिए करों का हस्तान्तरण दो कसौटियों पर निर्भर रहना चाहिए। प्रथम, कर उपयुक्त होना चाहिए तथा दूसरे स्थानीय संस्था की क्षमता कर लगाने तथा उसके प्रशासन का प्रबन्ध करने की उपयुक्त मात्रा में होनी चाहिए। कहीं-कहीं स्थानीय संस्थाओं की ऐसे करों के अधिकार दे दिये गये हैं जिन के लिए वे उपयुक्त नहीं हैं। उदाहरण के लिए पश्चिमी बंगाल में रोजगार कर का तथा महाराष्ट्र में विन्नी कर लगाने का अधिकार स्थानीय संस्थाओं को दिया गया है, जिसके लिए स्थानीय संस्थाएँ उपयुक्त नहीं हैं। अतः यह आवश्यक है कि स्थानीय संस्थाओं को उपयुक्त करों के लगाने का अधिकार ही देना चाहिए।

स्थानीय संस्थाओं की आय में सुन्नति होनी चाहिए, तभी उनके लिये अपने कार्यों का उपयुक्त रूप में तथा निपुणता से सम्पन्न करना सम्भव होगा। देश में आर्थिक नियोजन की प्रगति के साथ-साथ उनके कार्य क्षेत्रों का प्रसार अवश्य होगा। इसके लिए उनकी आय की वृद्धि भी होनी चाहिए। राष्ट्रीय तथा प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि से शासनों के सभी स्तरों की आय की वृद्धि अवश्य होगी, किन्तु इसके साथ-साथ यह आवश्यक है कि स्थानीय संस्थाओं को आय के अधिक साधन दिये जाने चाहिए, जिससे कि वे अपने बढ़ते हुए कार्यों को सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सकें।

संतालोसर्वा अध्याय योजना वित्त (PLAN FINANCES)

आर्थिक नियोजन की परिभाषा

आर्थिक नियोजन का उद्देश्य देश की अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ़ करना है जिससे साधनों का अधिकतम उपयोग हो सके तथा राष्ट्रीय तथा प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि हो तथा साथ-साथ आय तथा धन की असमानता में कमी हो। आर्थिक नियोजन में भौतिक तथा वित्तीय लक्ष्य निर्दिष्ट किये जाते हैं, किन्तु यह लक्ष्य उपयुक्त होने चाहिए। वरवर्ग वृद्धन के अनुसार आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत आर्थिक वरीयताएँ लोक अधिकारी द्वारा समझ बूझकर तय की जाती हैं।¹ वर्गसंन के अनुसार आर्थिक नियोजन में लक्ष्यों का तय करना आवश्यक है। उदाहरण के लिए उपभोक्ता सम्बन्धी प्रभुसत्ता, वजत तथा निवेश, राष्ट्रीय उपभोग, आय का वितरण आदि बातों के सम्बन्ध में लक्ष्य तय हो जाते हैं। इसी प्रकार राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय के लक्ष्य भी तय हो जाते हैं।

आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत आर्थिक प्रक्रियाओं का उचित रूप में संचालन आवश्यक है। इसका एक उद्देश्य है तथा एक मुख्य कार्य है। इसका मुख्य उद्देश्य है उत्पादन की वृद्धि तथा जन जीवन की उन्नति के लिए आय तथा धन के वितरण की विषमता को घटाना। इसके अन्तर्गत प्रक्रियाओं का चयन भी उचित होना चाहिए जिससे उपलब्ध साधनों का उपयुक्त उपयोग हो सके। उद्देश्य का अनुपालन अर्थ-व्यवस्था की निपुणता पर निर्भर होता है। यदि आर्थिक प्रसार बिना रकावट होता रहेगा तब निपुणता की वृद्धि होगी। उत्पादन में वृद्धि तभी सम्भव होगी जबकि आर्थिक नियोजन उत्पादन की लगातार वृद्धि के उद्देश्य से एक बाह्यनीय दिशा की ओर बढ़ेगा।

नियोजित तथा अनियोजित अर्थ-व्यवस्था में अन्तर

अनियोजित अर्थ-व्यवस्था में प्रत्येक व्यवसायी अपने व्यवसाय का इच्छानुसार निर्देशन करता है। बड़े-बड़े उद्योगपति अपने व्यवसाय की वृद्धि की योजना बनाते हैं

¹ See page 12, *Freedom Under Planning*, 1946

इस प्रकार व्यक्तियों तथा संस्थाओं की अलग-अलग बनी हुई योजनाएँ ऐसी स्थिति पैदा करती हैं जिनमें कोई मुख्यस्थित तथा राष्ट्रीय स्तर पर योजना नहीं बन पाती। इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था को अनियोजित अर्थ-व्यवस्था (non-planned economy) कहते हैं। अनियोजित अर्थ-व्यवस्था की तीन विशेषताएँ हैं। प्रथम, इसमें उपभोक्ता की प्रभुसत्ता रहती है। उपभोक्ता अपने धन को वर्तमान तथा भविष्य की आवश्यकताओं में व्यय करने के लिए स्वतन्त्र है। इस प्रकार उपभोग द्वारा उत्पादन का प्रतिरूप तय होता है। दूसरे, बाजार की प्रक्रिया द्वारा साधनों का एक उद्योग से दूसरे को विकपरिवर्तन (diversion) होता है। किसी वस्तु की माँग की वृद्धि से उसकी कीमतेँ बढ़ती हैं तथा फलस्वरूप उस वस्तु के उत्पादन के लिए साधन आ जाते हैं। तीसरे, एक व्यक्तिगत व्यवसायी का मुख्य उद्देश्य मुनाफा कमाना होता है। व्यवसायी ऐसे उद्योग में धन लगावेगा जिनमें उसे उपयुक्त आय प्राप्त हो सके। इसके विपरीत नियोजित अर्थ-व्यवस्था में आर्थिक विशेषज्ञ नीमित साधनों के उपयोग को तय करते हैं तथा इसमें कुछ हद तक उपभोक्ताओं की प्रभुसत्ता कम होती है। वे पूर्वं निश्चित उद्देश्यों को लेकर लक्ष्य तय करते हैं, जिनका उद्देश्य जन जीवन की उन्नति अथवा सामारिक उत्पादन की वृद्धि भी हो सकता है। इसके अन्तर्गत मूल्य तथा आय की प्रगति द्वारा ही पूर्णतया उत्पादन प्रक्रिया का नियमन नहीं होता। यह लक्ष्य राज्य द्वारा तय किये जाते हैं। अतः आर्थिक नियोजन में साधनों का उपयोग बाह्यनीय उद्योगों में किया जाता है।

आर्थिक नियोजन के दो प्रकार होते हैं — (1) प्रेरणा द्वारा नियोजन (Planning through inducement), तथा (2) निर्देशन द्वारा नियोजन (planning through direction)। पहली श्रेणी के नियोजन में उपभोक्ता की प्रभुसत्ता के लिए पर्याप्त गुंजायश है। इसमें विपणन प्रणाली तथा उद्यमी के मुनाफे के उद्देश्य के लिए गुंजायश रहती है। मुद्रा के अनुसार आर्थिक नियोजन के विवेचन में मुख्य तथ्य यह नहीं है कि नियोजन होना चाहिए अथवा नहीं, बल्कि मुख्य बात यह है कि नियोजन का रूप क्या होगा तथा इसका परिचालन मूल्य प्रक्रिया द्वारा होगा अथवा उसको हटा कर होगा।² इस सम्बन्ध में उपभोक्ताओं के स्वतन्त्र चयन तथा उपभोक्ताओं की प्रभुसत्ता इन दो शब्दों में अन्तर समझना आवश्यक है। उपभोक्ता के स्वतन्त्र चयन का अर्थ यह है कि उपलब्ध वस्तुओं पर जिस तरह से उपभोक्ता चाहे अपना धन व्यय करे। उपभोक्ताओं की इस प्रकार की स्वतन्त्रता में उत्पादन के वर्तमान प्रतिरूप को मानकर चला जाता है, अर्थात् जैसी उत्पादन की प्रणाली है है वैसी ही रहे। जिन वस्तुओं के लिए उपभोक्ताओं की माँग है उनका उत्पादन होगा। इसमें राज्य हस्तक्षेप नहीं करेगा। उपभोक्ताओं की प्रभुसत्ता का अर्थ है कि उपभोक्ता जिस प्रकार अपने धन का प्रयोग करना चाहे, उसके लिए वे स्वतन्त्र

² See page 14, *The Principles of Economic Planning*.

होगे। उपभोक्ता माँग के द्वारा उत्पादन का निर्देशन करते हैं। उपभोक्ताओं का स्वतन्त्र चयन माल के वितरण का एक तकनीकी तरीका है, किन्तु उपभोक्ताओं की प्रभुसत्ता एक मूल मिद्धान्त का प्रश्न है। हायक तथा थीमती बरबरा बूटन लेखकों का मत है कि उपभोक्ताओं की पूर्ण प्रभुसत्ता तथा आर्थिक नियोजन में विरोधाभास है। आर्थिक नियोजन अधिकारी में तथा उपभोक्ताओं में असह्य संघर्ष हो सकते हैं। उपभोक्ताओं की इच्छाएँ भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु वे परस्पर विरोधी नहीं हैं। देश में आर्थिक नियोजन हो अथवा न हो, उपभोक्ताओं का चयन इस बात पर निर्भर होगा कि वे वस्तुओं के लिए उचित मूल्य दे सकते हैं अथवा नहीं।

जो लेखक यह समझते हैं कि उपभोक्ताओं के चयन तथा आर्थिक नियोजन परस्पर विरोधी हैं, वे सामाजिक तथा व्यक्तिगत उपभोग में अन्तर स्पष्ट नहीं करते। वास्तव में आर्थिक नियोजन का मुख्य उद्देश्य सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। इसमें व्यक्तियों के उपभोग पर ध्यान नहीं दिया जाता। अतः आर्थिक नियोजन में सामाजिक आवश्यकताओं पर विशेष बल दिया जाता है। जब जीवन स्तर नीचा होता है तब सामाजिक आवश्यकताओं पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है तथा जब आर्थिक नियोजन द्वारा जीवन स्तर बढ़ जाता है तब कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए राज्य व्यक्तियों को स्वतन्त्र छोड़ देता है। उदाहरण के लिए गृह निर्माण के लिए आर्थिक सहायता के प्रश्न को लीजिए। राज्य उन्हीं वर्ग के व्यक्तियों के लिए गृह निर्माण में सहायता देता है जिनकी आमदनी कम है, किन्तु जिनकी आमदनी बहुत है वे राजकीय आर्थिक सहायता के बिना ही अपने रहने के लिए अच्छे घर बना सकते हैं तथा बनाते हैं। समाज की आवश्यकताओं पर बल दिया जाता है। इसके लिए साधनों के लगाने में प्राथमिकताएँ तय हो जाती हैं।

वास्तव में आर्थिक नियोजन तथा उपभोक्ताओं की प्रभुसत्ता साथ-साथ चल सकते हैं तथा चलते हैं। आर्थिक नियोजन में साधनों का एक उद्देश्य होता है तथा इनका उपयोग आर्थिक नीति के अनुसार होता है। बचत तथा निवेश के लिए प्रेरणा द्वारा इनकी वृद्धि हो सकती है।

प्रेरणा द्वारा आर्थिक नियोजन का अर्थ है कि विपणन जहाँ तक हो सके स्वतन्त्र होना चाहिए अर्थात् व्यवसायियों को मण्डी की स्थिति के अनुसार अपने व्यवसाय का नियमन करना चाहिए। उन्हें वही वस्तुएँ बनानी चाहिए जो विक सकती हैं तथा जिनकी कम लागत होती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यवसाय पर राज्य का कोई नियन्त्रण ही नहीं होगा। राज्य मण्डी पर नियन्त्रण द्वारा निजी तथा लोक क्षेत्र में व्यवसायों तथा उद्यमों को नियन्त्रित कर सकता है।

राज्य उन वस्तुओं का उत्पादन बढ़ा सकता है जो गरीबों के लिए आवश्यक हैं तथा उनका उत्पादन कम कर सकता है जो अफसरो के लिए आवश्यक हैं। राज्य अधिक आय के व्यक्तियों पर कर बढ़ा सकता है तथा गरीबों की आय पर कर घटा सकता है। इसका एक विकल्पी (alternative) मार्ग भी है और वह

यह है कि राज्य गरीबों की आवश्यकता की वस्तुओं के उत्पादन के लिए आर्थिक सहायता दे सकता है तथा अमीरों की आवश्यक वस्तुओं पर कर लगा सकता है। पूँजी निर्माण बढ़ाने के लिए राज्य बहुत से प्रोत्साहन दे सकता है। नए व्यवसायों पर कुछ वर्षों के लिए कर से छूट दे सकता है। पूँजी के मूल्य ह्राम की दर घटा सकता है। कुछ आवश्यक वस्तुओं का राज्य स्वयं उत्पादन कर सकता है। कुछ वस्तुओं के उपभोग को ऊँचे कर लगाकर कम कर सकता है। इसलिए आर्थिक नियोजन, निर्देशन तथा प्रेरणा द्वारा दोनों ही तरह से हो सकता है।

पूँजी निर्माण

पूँजी निर्माण की वृद्धि दो प्रकार से हो सकती है - एक यह तरीका है कि बेकार पड़े हुए साधनों की उपयोग में लाया जाए। दूसरा तरीका यह है कि साधनों को उपभोगताओं की वस्तुओं के उत्पादन में हटाया जाये। भारत जैसे अल्प विकसित देश में मानवी शक्ति बहुत बेकार पड़ी है, जिसका उपयोग उत्पादन के लिए होना चाहिए। इन बेकार पड़े साधनों के उपयोग की भी एक सीमा होती है। उदाहरण के लिए भारत में बेरोजगारी को कम करने के लिए अकुशल श्रम को प्रशिक्षित करना आवश्यक है। इसके लिए बहुत धन तथा तकनीकी ज्ञान आवश्यक है। इसके लिए विदेशी धन भी चाहिए। पर्याप्त मात्रा में उत्पादन बढ़ाने के लिए समय चाहिए। इस बीच में मुद्रा स्फीति हो सकती है अथवा कीमते बढ़ सकती है। इस मुद्रा स्फीति को नियन्त्रण में रखना आवश्यक है।

आर्थिक दृष्टि से विकसित देशों में एक पीढ़ी के अन्दर प्रति व्यक्ति आय को दुगुना करने के लिए राष्ट्रीय आय का 12 से 15 प्रतिशत भाग निवेश में जाने की आवश्यकता हुई। इस सम्बन्ध में भारत में दो बातों पर ध्यान देना है। यहाँ का जमजीवन बहुत नीचे स्तर का है तथा इसके साथ-साथ जन संख्या तीव्र गति से बढ़ रही है। भारत में आवश्यक आर्थिक वृद्धि की दर प्राप्त करने के लिए राष्ट्रीय आय का 20 प्रतिशत भाग निवेश में जाना आवश्यक है।

जो देश आर्थिक वृद्धि अथवा आर्थिक विकास करना चाहते हैं उन्हें पूँजी निर्माण के लिए दो तरीके अपनाने हैं : एक तरीका यह है कि कराधान द्वारा तथा ऋण लेकर बचत बढ़ायी जाये। दूसरा यह तरीका है कि प्रारम्भ में कार्य धीरे-धीरे किया जाय, किन्तु इस विकल्प में आय बढ़ने में समय लगेगा। पहले विकल्प में निकट भविष्य में कठिनाई का सामना करना पड़ेगा, किन्तु दीर्घ काल में लाभ होगा। दूसरे विकल्प में प्रारम्भिक कठिनाई कम होगी, किन्तु आर्थिक वृद्धि की गति धीमी होगी। आर्थिक नियोजन का उद्देश्य उपयुक्त संतुलन प्राप्त करना है।

मिली जुली अर्थ-व्यवस्था

भारत में मिली जुली अर्थ-व्यवस्था को अपनाया गया है। जिसमें मार्बेजनिक्त तथा निजी व्यवसाय दोनों साथ-साथ चलते हैं। अप्रैल 1956 के भारत सरकार द्वारा औद्योगिक नीति पर ध्यान में इन दोनों क्षेत्रों के लिए गुंजायश रखी गई है।

इस बयान के अन्तर्गत राज्य के हस्तक्षेप की दृष्टि से उद्योगों को तीन श्रेणियों में बाँटा गया है : पहली श्रेणी में अस्त्र शस्त्र, अणु शक्ति, लोहे तथा फौलाद आदि 17 उद्योग हैं, जिनके भावी विकास की जिम्मेदारी पूर्णतया राज्य की है। इन उद्योगों में नये कारखाने केवल निजी क्षेत्र के उन वर्तमान कारखानों को छोड़कर जिनकी स्थापना की स्वीकृति राज्य से प्राप्त हो गई है, राज्य के अधीन ही स्थापित किये जायेंगे। वर्तमान निजी कारखानों का प्रसार हो सकता है, जिसके लिए राज्य राष्ट्रीय हित में निजी उद्योग का सहयोग प्राप्त कर सकता है। राज्य यह सहयोग हिस्सों का अधिकांश भाग खरीद कर करेगा। इस प्रकार निजी उद्यम को इस श्रेणी से बाहर नहीं रखा गया है।

दूसरी श्रेणी 12 उद्योगों की है। इनमें बरालव तथा लगातार राज्य का हस्तक्षेप बढ़ता रहेगा। तथा इनमें नये कारखाने खोलने में राज्य ही पहल करेगा। निजी उद्योग राज्य के प्रयास का समर्थन कर सकता है।

तीसरी श्रेणी में उद्योगों के विकास निजी उद्यम के लिए छोड़ दिया गया है। इस श्रेणी में भी राज्य किसी उद्योग को चला सकता है। इस श्रेणी के उद्योगों के लिए राज्य पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत कार्यक्रमों के अनुपालन के लिए अवस्थापना सम्बन्धी सेवाएँ जैसे यातायात, विद्युत शक्ति आदि की व्यवस्था करेगा। राज्य इन उद्योगों के लिए वित्तीय सहायता देने के लिए वित्तीय संस्थानों की स्थापना करेगा तथा उपयुक्त स्थिति में राज्य निजी क्षेत्र को मुख्यतया धार खरीदकर वित्तीय सहायता देगा। राज्य इन उद्योगों के ऋण पत्र भी खरीद सकता है।

निजी क्षेत्र के कारखानों को राज्य की सामाजिक तथा आर्थिक नीति के अनुसार अपना संचालन करना होगा। इनके विकास के लिए राष्ट्रीय प्लान के अन्तर्गत स्वतन्त्रता रहेगी। एक ही उद्योग में जब निजी तथा राजकीय दोनों इकाइयाँ स्थिति हो तब राज्य इन दोनों के साथ उचित तथा भेद भाव रहित व्यवहार करेगा।

इस नीति में आवश्यकतानुसार परिवर्तन होने रहेंगे। इसमें विदेशी पूँजी के लिए विशेष स्थान है तथा विदेशी पूँजी को कुछ सुविधाएँ भी दी गई हैं। बहुत कुछ हद तक विदेशी आर्थिक सहायता भी प्राप्त की गई है। हाल में ही प्रशासनिक सुधार आयोग तथा दत्त सीमित की सिफारिशों के अनुसार लाइसेंस की नीति तय की गई है तथा लघु उद्योगों के लिए कुछ वस्तुओं का उत्पादन सुरक्षित रखा गया है तथा लगभग 170 वस्तुओं की आयात पर देशी उद्योगों के हित में एकावटें लगाई गई हैं।

आर्थिक नियोजन की प्रगति

पहली पंचवर्षीय योजना का मुख्य उद्देश्य वस्तुओं की कमियों को हटाना था तथा ऐसी संस्थाओं की स्थापना करना था जिससे अर्थ-व्यवस्था में बाढ़नीय विकास

हो सके। दूसरी योजना का उद्देश्य इस प्रक्रिया को और आगे ले जाना था, जिससे आर्थिक नियोजन के दीर्घकालीन लक्ष्यों की पूर्ति हो सके। पूँजी निर्माण की दर को अधिकतम करने पर विशेष बल दिया गया था। इसमें राष्ट्रीय आय तथा रोजगार की वृद्धि पर ही बल नहीं दिया गया बल्कि आय तथा धन के वितरण में अधिक समता लाने पर भी बल दिया गया था। तीसरी पंचवर्षीय योजना में इस बात पर बल दिया गया था कि विदेशी आर्थिक सहायता कुल निवेश के अनुपात के रूप में बराबर घटती रहे तथा अर्थ-व्यवस्था की ऐसी प्रगति हो सके कि विदेशी पूँजी की सामान्य प्राप्ति के अतिरिक्त देशी आर्थिक सहायता पर निर्भर न होना पड़े।

पहली योजना को विशेष सफलता मिली, किन्तु दूसरी योजना का अनुपालन असतोषजनक नहीं था। तीसरी योजना का रिकार्ड अच्छा नहीं रहा। इसके पश्चात् तीन वार्षिक योजनाएँ भी आईं तथा 1969-70 में चौथी पंचवर्षीय योजना प्रारम्भ हुई, जो 31 मार्च 1974 तक चलेगी। राष्ट्रीय आय 1960-61 में इस वर्ष की कीमतों पर 14,140 करोड़ रु० थी जो 1965-66 में बढ़कर 15,930 रु० हो गई। इसके साथ-साथ प्रति व्यक्ति आय इस काल में 326 रु० से 1964-65 में 339 रु० तक बढ़ी, किन्तु 1965-66 में यह घटकर 325 रु० ही रह गई।

1969-74 की चौथी पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत वास्तविक आय की दीर्घकालीन वृद्धि तीसरी योजना में निदिष्ट वृद्धि से कम है। दूसरी तथा तीसरी दोनों योजनाओं में लगभग 20 वर्षों में प्रति व्यक्ति वार्षिक आय के दुगुने होने की आशा की गई थी। 1968-69 में सकल वास्तविक आय तीसरी योजना की वृद्धि दर के आधार पर जितनी होनी चाहिए थी उससे भी कम हुई। चौथी योजना में सकल उत्पादन में 5.5 प्रतिशत औसत वार्षिक वृद्धि का लक्ष्य रखा गया है। पाँचवी योजना में उत्पादन की वृद्धि निवेश पर निर्भर होगी तथा चौथी योजना भविष्य में अधिक निवेश के लिए तैयारी के आधार पर निर्भर होगी। पाँचवी योजना में वृद्धि का लक्ष्य 1980-81 तक लगभग 6.2 प्रतिशत रखा गया है।

इस आधार पर 1968-69 की कीमतों पर देश का नेट उत्पादन 1980-81 तक 58 200 करोड़ रु० तक पहुँच जायेगा, अर्थात् 1968-69 के स्तर का दुगुना होगा। चौथी योजना में जन सख्या की वृद्धि लगभग 2.5 प्रतिशत होगी जो आगे घटकर 1980-81 तक 1.7 प्रतिशत प्रति वर्ष रह जायेगी। इसमें जन्म गति 1968 में 39 प्रति सहस्र से घटकर 1980-81 तक 25 प्रति सहस्र या आदेमी तथा मृत्यु दर इस काल में 14 प्रति सहस्र से घटकर 9 प्रति सहस्र रह जायेगी। 1980-81 में आय के स्तर का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए तथा उसके पश्चात् 6.5 प्रतिशत प्रति वर्ष की वृद्धि का लक्ष्य कायम रखने के लिए यह आवश्यक होगा कि नेट राष्ट्रीय आय तथा नेट इनवेस्टमेंट का अनुपात 11.2 प्रतिशत से बढ़कर

1973-74 में 14.5 प्रतिशत तक पहुँच जाये तथा 1980-81 तक 17-18 प्रतिशत तक पहुँच जाये।

निम्न तालिका में 1951 से आगे की वृद्धि दरें दी हुई हैं :

	वृद्धि दर प्रति वर्ष %			तीन योजनाओं का औसत
	पहली योजना	दूसरी योजना	तीसरी योजना	
राष्ट्रीय आय (1960-61 की कीमतों पर)	3.46	3.97	2.49	3.3
प्रति व्यक्ति आय (1960-61 की कीमतों पर)	1.70	1.79	0.09	1.2
औद्योगिक उत्पादन	5.26	7.24	6.91	6.5
कृषि उत्पादन	4.18	4.31	-1.32	2.4

उपरोक्त तालिका से ज्ञात होता है कि योजना काल में तीसरी योजना के अन्त तक राष्ट्रीय आय की वृद्धि 3.3 प्रतिशत प्रति वर्ष, प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि 1.2 प्रतिशत प्रति वर्ष, कृषि उत्पादन की 2.4 प्रतिशत प्रति वर्ष, तथा औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि 6.5 प्रतिशत प्रति वर्ष हुई है।

तीसरी योजना के लक्ष्य कई कारणों से पूरे नहीं हो सके। प्रथम, पाँच में से तीन वर्षों में मौसम की परिस्थिति उपयुक्त नहीं रही। दूसरे, 1962 तथा 1965 में देश को दो बार युद्ध में शामिल होना पड़ा। तीसरे, 1965 में विदेशी ऋण मिलने में कठिनाइयाँ हुईं। अन्तिम, यह कठिनाइयाँ प्रशासनिक नियमों की कड़ाई के कारण भी बढ़ी।

बड़े उद्योगों के विकास के कारण लोक तथा निजी क्षेत्रों में भारी निवेश हुए हैं, जो निम्न तालिका में दिखाये गये हैं

(अक करोड़ रुपये में)

	पहली योजना	दूसरी योजना	तीसरी योजना
लोक क्षेत्र	55	938	1520
निजी क्षेत्र	233	850	1050

निम्न तालिका में तीन योजनाओं में लोक तथा निजी क्षेत्रों की लागत दी गई है :

	पहली योजना	दूसरी योजना	तीसरी योजना	चौथी योजना
लोक क्षेत्र	1960	4600	8630	16000
निजी क्षेत्र	1800	3100	4100	7573

आर्थिक नियोजन का एक प्रभाव यह रहा है कि देश के उत्पादन में राजकीय क्षेत्र का भाग 1950-51 में 15 प्रतिशत से बढ़कर 1965-66 में 35 प्रतिशत हो गया। चौपी पंचवर्षीय योजना में 22,635 करोड़ रु० के निवेश में निजी उद्योग 8,980 करोड़ रु०, तथा लोक क्षेत्रीय निवेश 13,665 करोड़ रु० अनुमानित किया गया है।³

चौथी योजना में राजकीय क्षेत्र में निवेश का भाग लगभग 60 प्रतिशत है तथा निजी क्षेत्र के निवेश का भाग लगभग 40 प्रतिशत है, जिस देश में समाजवादी समाज का न्दय सामने हो वहाँ देश की आर्थिक स्थिति में लोक क्षेत्र का भी बढ़ना आवश्यक है। लोक क्षेत्र में ऐसी महत्त्वपूर्ण योजनाएँ विकसित होनी होनी है, जिनमें निवेश तथा उत्पादन के बीच का समय बहुत लम्बा होता है, किन्तु हमारा देश में लोक क्षेत्रीय उद्योगों का अनुपालन अभी तक बहुत मतोपजनक नहीं है।⁴

नये उद्योगों की स्थापना के लिए तकनीकी ज्ञान तथा उपकरणों के आयात की बहुत आवश्यकता हुई है। निर्यात का मूल्य प्रारम्भ में अमनोपजनक रहा। अतः दूसरे पंचवर्षीय योजना काल में अर्थ-व्यवस्था के संचालन के लिए भारी मात्रा में स्टर्लिंग ढेपों की इस्तेमाल करना पड़ा। उसके पश्चात् भारी मात्रा में अन्तरराष्ट्रीय समस्याओं में तथा विदेशों से ऋण लेने पड़े। आयात के बढ़ने के साथ-साथ बहुत सी वस्तुओं के आयात के बढ़ने के स्थान पर देश में उत्पादन होने लगा। उदाहरण के लिए 1950-51 में मशीनों के उपकरणों की आपूर्ति का 91.6% भाग विदेशों से मंगाया जाता था, किन्तु 1964-65 में यह अंक घट कर 44.6% तक आ गया। कुछ क्षेत्रों में माँग इतनी बढ़ी है कि देशी उत्पादन की वृद्धि के बावजूद आयात भी बढ़ती रही है।

साधनों का संग्रह

उत्पादन तथा उत्पादन क्षमता की वृद्धि के लिए अधिक साधनों की आवश्यकता हुई जो ऐच्छिक बचत द्वारा राजकोपीय नीति द्वारा प्राप्त किये गये। 1950-51 में अर्थ-व्यवस्था में कुल निवेश राष्ट्रीय आय का लगभग 5 $\frac{1}{2}$ % था। यह धन देशी बचत से प्राप्त किया गया। तीसरी योजना के अन्त में निवेश तथा राष्ट्रीय आय का अनुपात 14% तक बढ़ गया तथा देशी बचत तथा राष्ट्रीय आय का अनुपात 1965-66 में 9% तक बढ़ गया। इन कर्मा की विदेशी सहायता तथा विदेशी ऋण द्वारा पूरा किया गया। 1980-81 में आय का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए 6.5% प्रति वर्ष की वृद्धि इस वर्ष के बाद प्राप्त करने के लिए नेट निवेश तथा नेट उत्पादन का अनुपात वर्तमान 11.2 प्रतिशत की दर से 1973-74 से

3 Fourth Five Year Plan, Table I, page 52.

4 See Draft Outline of the Plan, page 12

14.5% तक बढ़ाने का अनुमान किया गया है। 1980-81 तक यह अनुपात 17-18 प्रतिशत हो जाना चाहिए।⁵

पहले योजना काल में देशी निवेश का अधिकांश भाग देशी बचत से प्राप्त हुआ। वास्तव में पहले योजना काल के अन्तिम चार वर्षों में देशी बचत तथा विदेशी ऋण का योग अर्थ-व्यवस्था में कुल निवेश से अधिक था। इसके फलस्वरूप इस काल में विदेशी विनिमय कोष में कुछ वृद्धि हुई। दूसरी योजना के प्रारम्भिक वर्षों में इन कोषों को इस्तेमाल किया गया। तत्पश्चात् निवेश देशी बचत से अधिक हुआ, जिसकी पूर्ति अधिकतर विदेशी ऋणों तथा अनुदानों से करनी पड़ी। तीसरे योजना काल में विदेशी ऋणों की मात्रा और अधिक बढ़ी। सार्वजनिक बचत बढ़ाने के लिए तथा बढ़ते हुए सार्वजनिक व्यय के लिए वित्त प्राप्त करने के लिए सार्वजनिक आय प्राप्त करने के विशेष प्रयास करने पड़े। यह इस बात से स्पष्ट कि 1950-51 में कर तथा राष्ट्रीय आय का अनुपात 5.5% था जो 1960-61 में 9.6 प्रतिशत हो गया तथा 1965-66 में 14 प्रतिशत हो गया। कर प्रणाली में इस काल में विनाय परिवर्तन हुए हैं। चौथी योजना के अन्त तक करो की वर्तमान दरों पर कर की आय राष्ट्रीय आय का 15 प्रतिशत होगी, किन्तु नये करो के लगाने से यह अनुपात 17 प्रतिशत तक आजायेगा।

कर आय की वृद्धि से विकासशील मर्दानों पर व्यय में शीघ्रता से वृद्धि हुई है। पहली योजना में लोक क्षेत्र में योजनागत लागत 1960 करोड़ ₹० थी। दूसरी योजना में यह 4,672 करोड़ ₹० बढ़ गई तथा तीसरी योजना में यह अंक 8,630 करोड़ ₹० तक पहुँच गया। चौथी योजना में यह अंक 15,902 करोड़ ₹० तक पहुँच जायगा। योजना काल में सरकार के दायित्व बढ़ गये हैं। प्रतिरक्षा बजट में बहुत वृद्धि हुई है।

वित्तीय साधन

वित्तीय साधनों की विशेष वृद्धि हुई है। लोक क्षेत्र में पहली योजना में योजनागत लागत 2,069 करोड़ ₹० थी, जिसमें केन्द्रीय सरकार तथा राज्यों की बचत 738 करोड़ ₹० थी। नेप 520 करोड़ ₹० ऋणों, छोटी बचतों तथा जमा कोषों से प्राप्त हुई। 1280 करोड़ ₹० की धन राशि इस प्रकार प्राप्त हुई थी।

चालू आय से बचत	568 करोड़ ₹०
रेलों से बचत	170 करोड़ ₹०
निजी क्षेत्र की बचत	
(क) जनता से ऋण	115 करोड़ ₹०
(ख) छोटी बचतें	270 करोड़ ₹०
(ग) जमा धन	135 करोड़ ₹०
योग	1,258 करोड़ ₹०

उस समय तक 156 करोड़ रु० की विदेशी सहायता का अनुमान लगाया गया था तथा इस प्रकार 655 करोड़ रु० का घाटा था। यह घाटा विदेशी सहायता से, कराधान से, ऋण लेकर अथवा घाटे के बजट से पूरा किया जाना था। घाटे के बजट की सही ऊपरी सीमा 290 करोड़ रु० थी। किन्तु अन्त में योजना के अन्त में 420 करोड़ रु० का घाटा रहा।

निम्न तालिका में योजनागत लागत दी गई है :^a

वर्ष	लागत (करोड़ रुपये में)
1951-52	259
1952-53	273
1953-54	340
1954-55	475
1955-56	600

पहले तीन वर्षों में निवेश सम्बन्धी लागत 872 करोड़ रु० थी, किन्तु अन्तिम दो वर्षों में यह 1,075 करोड़ रु० रही। प्रथम योजना काल में लगभग 420 करोड़ रु० के घाटे में अन्तिम दो वर्षों का घाटा लगभग 260 करोड़ रु० रहा।

भुगतान संतुलन स्थिति

प्रारम्भिक अनुमानों की तुलना में भुगतान संतुलन स्थिति अधिक संतोषजनक रही। 180 करोड़ रु० से 200 करोड़ रु० के प्रति वर्ष औसत घाटे के बजाय 1951-52 में घाटा 160 करोड़ रु० था। आगामी तीन वर्षों में क्रमशः 60 करोड़ रु०, 47 करोड़ रु० तथा 6 करोड़ रु० की बचत रही। इस प्रकार सम्पूर्ण प्रथम योजना काल में 96 करोड़ रु० के शासकीय अंशदानों को मिला कर केवल 30 करोड़ रु० का घाटा रहा। स्टर्लिंग धन 290 करोड़ रु० के पहले अनुमानों की बजाय 138 करोड़ रु० के इस्तेमाल किये गये। पहले पंचवर्षीय योजना काल में इस स्थाई भुगतान शेष स्थिति का कारण यह था कि 1951-52 में अमेरिका से गेहूँ के रूप में ऋण उपलब्ध हुआ। उसके पश्चात् देशी पैदावार बढ़ी। इसलिए मुद्रा स्थिति का दबाव घटा तथा इस काल में मशीन तथा पूँजीगत आय का स्तर कम रहा।

लोक क्षेत्र में लागत के वित्त के साधन

पहली पंचवर्षीय योजना में लोक क्षेत्र में 1960 करोड़ रु० की लागत की वित्त प्राप्ति अग्र तालिका में दी गई है :

^a Report of the Central Board of Directors of the Reserve Bank of India 1956, page 11.

	करोड़ रुपयों में	योग का प्रतिशत
कराधान तथा रेलों की दत्तन	732	38
बाजार में ऋण	205	10
अन्य दत्त तथा अनिवार्य ऋण (unfunded debt)	304	16
अन्य पूँजीगत प्राप्तियाँ	91	5
विदेशी सहायता	188	10
घाटे के बजट से वित्त प्राप्ति	420	21

कर प्रवास

प्रारम्भ में कराधान तथा रेलों की देन को मिला कर चालू आय के अनुदान का अनुमान 740 करोड़ रु० था। जिनमें से 1258 करोड़ रु० कुल साधनों का 58% लोक अधिकारियों की दत्त में प्राप्त होता था। योजना काल में कुल दत्त साधन 690 करोड़ रु० के रहे जब कि प्रारम्भ में यह अनुमान 740 करोड़ रु० का था। इस कमी का कारण रेलों की आय की कमी रही। केन्द्र तथा राज्यों की आय की दत्त आभा के अनुसार रही। केन्द्र की चालू आय से योजनागत लक्ष्यों की तुलना में 145 करोड़ रु० की अधिक आय रही, किन्तु राज्यों की आयों में कमी रही। यह कमी वितीय आयोग के निर्णय के अन्तर्गत 80 करोड़ रु० की प्राप्ति के बावजूद हुई।

1951-52 में केन्द्रीय सरकार ने बढ़ते हुए निवेश सम्बन्धी व्यय के लिए धन प्राप्त करने के लिए तथा मुद्रा स्थिति को कम करने के लिए साख्तन कर लगाये गये। निर्धारित करो की वृद्धि द्वारा धन प्राप्त किया गया। अन्य साधनों में जाय कर पर शुल्क लगाया तथा कारपोरेशन कर में तथा अन्य करो में वृद्धि की गई। 1951-52 में कराधान में 32 करोड़ रु० की वृद्धि की गई। आगामी दो वर्षों में मुद्रा स्थिति का दबाव कम हुआ तथा फलस्वरूप निर्धारित कर घटाये गये। 1954-55 में उत्पादन करो में विशेष वृद्धि की गई। उस समय तक योजनागत व्यय में विशेष वृद्धि हुई। इसलिए योजना के लक्ष्यों के अनुपालन के लिए लागत तेजी से बढ़ी। 1954-55 में करो में अनिश्चित आय 11 करोड़ रु० की हुई। 1955-56 में करो में वृद्धि की गई। यह सब मिला कर पाँच वर्षों में निर्धारित करो को छोड़ कर केन्द्र में अनिश्चित करो की आय लगभग 175 करोड़ रु० हुई। रेलों से विकास कार्यों के लिए 170 करोड़ रु० के स्थान पर 115 करोड़ रु० ही मिले। पाँच वर्षों में यात्रियों तथा मान पर किराये की वृद्धि से 100 करोड़ रु० प्राप्त हुए।

राज्यों ने 410 करोड़ रु० के स्थान पर पाँच वर्षों में 269 करोड़ रु० ही प्राप्त किये। इसके बावजूद कि वित्तीय आयोग ने राज्यों को 80 करोड़ रु० अधिक

दिये, उनमें प्राप्त धन में 34% की कमी रही। राज्यों के सब साधनों की कुल आय 80 करोड़ रु० थी, जिसमें से 50% विची कर से प्राप्त हुई। सिचाई से लगभग 30 करोड़ रु० के अनुमान के स्थान पर योजना काल में केवल 6 करोड़ रु० प्राप्त हुए। भूमि के कराधान में 34 करोड़ की अतिरिक्त आय के स्थान पर योजना काल में केवल 5.4 करोड़ रु० की अतिरिक्त आय प्राप्त हुई। मृत्यु कर से राज्यों के 21 करोड़ के भाग के स्थान पर केवल 2 करोड़ प्राप्त हुए।

राज्यों की आय निम्न तालिका में दी हुई है :

	(करोड़ रुपयों में)
चाय आय	269
लोक ऋण तथा अन्य	
पूँजीगत प्राप्ति	230
केन्द्रीय सहायता	350
कुल घाटा	48

लोक ऋण

योजना के गठन के समय लोक ऋण की आय की विशेष आवश्यकता नहीं थी। वास्तव में रिजर्व बैंक को बाजार का समर्थन करना पड़ा। केन्द्र के लिए ऋणों के लक्ष्य 36 करोड़ रु० तथा राज्यों के लिए 79 करोड़ रु० रखे गये। 1951-52 में नेट ऋण लगभग 23 करोड़ रु० कम रहे, जिसका अर्थ यह हुआ कि ऋणों की अवधि आने पर इस धन का भुगतान किया गया। योजना के पहले तीन वर्षों में ऋणों की अवधि का भुगतान नये ऋणों की प्राप्ति से अधिक रहा।

छोटी बचत

निम्न तालिका में गहली पंचवर्षीय योजना काल के छोटी बचत के अंक दिये गये हैं :

वर्ष	करोड़ रुपयों में
1951-52	38.48
1952-53	40.56
1953-44	37.81
1954-55	55.16
1955-56	66.51
योग	238.42

योजना काल में 225 करोड़ रु० के लक्ष्य के स्थान पर अल्प बचतों से 238 करोड़ रु० प्राप्त हुए तथा नेट प्राप्ति प्रति वर्ष बढ़ती रही। इस धीर्पक से योजना काल में योजना लागत के लिए 12% कम प्राप्त हुआ।

विदेशी सहायता

योजना काल में ऋणों तथा अनुमानों से 296 करोड़ रु० की विदेशी सहायता प्राप्त हुई। इसमें से 188 करोड़ रु० उपयोग में आये तथा 108 करोड़ रु० की राशि अगले योजना काल के लिये रखी गई। इसमें से ऋण 142 करोड़ रु० के थे तथा अनुदान 154 करोड़ रु० के थे। अमरीकी सरकार से ऋण के रूप में मेहँ 90 करोड़ रु०, भारत अमरीकी सहायता कार्यक्रम में 39 करोड़ रु० तथा अन्तरराष्ट्रीय बैंक से 13 करोड़ रु० प्राप्त हुए। इस प्रकार योजना काल में 142 करोड़ रु० के ऋण प्राप्त हुए।

निम्न तालिका में योजना काल की अनुदान सम्बन्धी स्थिति दी हुई है :

स्रोत	करोड़ रुपयों में
भारत अमरीकी सहायता कार्यक्रम	102.5
कोलम्बो योजना—	
कनाडा	32.34
ऑस्ट्रेलिया	11 08
न्यूजीलैण्ड	1.7
यूनाइटेड किंगडम	0.4
फोर्ड फाउण्डेशन	5.6
भारत नार्वे कार्यक्रम	0.66
कुल अनुदान	154.28

इस प्रकार 1960 करोड़ रु० की कुल लागत में विदेशी सहायता से 138 करोड़ रु० प्राप्त हुए जो लागत का 9.5% भाग था। विदेशी सहायता का बहुत कम भाग इस्तेमाल किया गया। इसके कई कारण थे। कार्यक्रमों के बनाने में देर हुई, फौलाद तथा अन्य सामग्री तथा कर्मचारियों की कमी रही।

निम्न तालिका में प्रति वर्ष घाटे के बजट के अंक दिये गये हैं :

वर्ष	करोड़ रुपयों में
1951-52	+10.00
1952-53	—80.90
1953-54	—77.50
1954-55	—92.60
1955-56	—180 00
योग	—421.00

1960 करोड़ रु० की योजनागत लागत को देखते हुए घाटे का वित्त लगभग 21 प्रतिशत आया जिसका 60 प्रतिशत योजना के अन्तिम दो वर्षों में हुआ। घाटे

का बजट उसी समय उपयुक्त तथा लाभदायक है जब अर्थ-व्यवस्था की गति धीमी हो तथा उत्पादन बेकार साधनों को लगाकर बढ़ाया जा सके। किन्तु जब उपलब्ध उत्पादन शक्तियों का पूरा उपयोग हो रहा हो, ऐसी दशा में घाटे के बजट द्वारा निवेश व्यय को बढ़ाकर अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा स्फीति होती है। घाटे के बजट को सार्वजनिक लागत को लगातार बढ़ाने के लिए इस्तेमाल नहीं किया जा सकता। ऐसे निवेश की वृद्धि सामान्य आय से होनी चाहिए।

दूसरी योजना के लिए वित्त

दूसरी योजना के चार मुख्य उद्देश्य थे :

- (1) राष्ट्रीय आय में 25 प्रतिशत वृद्धि करना,
- (2) भारी उद्योगों पर बल देकर औद्योगीकरण की गति तीव्र करना,
- (3) रोजगार के अवसरों की वृद्धि करना, तथा
- (4) आय तथा धन की विषमता को घटाना तथा आर्थिक शक्ति के वितरण को उपयुक्त करना।

इसमें सार्वजनिक क्षेत्रों में 3800 करोड़ रु० की निवेश लागत तथा 1,000 करोड़ रु० की चालू लागत का अनुमान किया गया था। इसका ब्यौरा निम्न तालिका में दिया गया है :

शीर्षक	(करोड़ रुपयों में)
(1) कृषि तथा समाज विकास	568
(2) मिर्चाई तथा शक्ति	913
(3) उद्योग तथा खनिज	890
(4) यातायात तथा संचार	1,385
(5) सामाजिक सेवाएँ	945
(6) विविध	99
योग	4,800

निजी क्षेत्र में निवेश 4,800 करोड़ रु० रहा जिसका वितरण आगे दिया हुआ है।⁷

⁷ Report on Currency and Finance for 1955-56, page 85.

(करोड़ रुपये में)

व्यवस्थित उद्योग तथा खनिज	576
वनस्पति, विद्युत उद्योग तथा रेलों के अतिरिक्त	
अन्य यातायात	124
निर्माण	1,000
कृषि तथा लघु उद्योग	300
स्टाक	400

निम्न तालिका में दूसरी तथा तीसरी योजना कालों के साधनों के अनुमान दिये हुए हैं :⁸

(करोड़ रुपये में)

	दूसरी योजना		तीसरी योजना	
	प्रारम्भिक	अन्तिम	प्रारम्भिक	अन्तिम
चालू आय की बचत	350	—50	550	—419
रेलों से अशदान	150	150	100	62
अन्य उद्यमों की बचत	—	—	450	373
जनता से प्राप्त नेट ऋण	700	780	800	823
अन्य बचत	500	400	600	565
नेट अशोधित ऋण अनिवार्य नेट जमा]	250	230	—	117
स्टील इक्विपमेंट्स फण्ड	—	—	150	34
विविध पूँजीगत नेट आय	—	—	170	238
विदेशी सहायता	800	1,090	2,200	2,423
अतिरिक्त बरादान	450	1,050	1,710	2,892
घाटे का वित्त	1,200	948	550	1,123
योग	4,800	4,600	7,500	8,577

अग्र तालिका में 1966-69 की वार्षिक योजनाओं के लिए वित्त के अंक दिये गये हैं —⁹

8 Prepared from Third Five Year Plan, page 95 and Fourth Five Year Plan 1969-74, Table 1, page 73.

9 Fourth Five Year Plan 1969-74, page 74

(करोड़ रुपये में)

	प्रारम्भिक	अन्तिम
(1) 1965-66 की दरों के अनुसार चालू आय	866	303
(2) लोक उद्योगों की बचत	587	409
(3) रेलों का अशदान	— 64	— 112
(4) अन्य	651	521
(5) अतिरिक्त कराधान	1060	910
(6) अल्प बचत	391	355
(7) अनिवार्य बचत	41	65
(8) विविध पूँजीगत आय	126	586
(9) नेट विदेशी सहायता	2,435	2,426
(10) घाटे का वित्त	335	682
(11) कुल माघन	6,665	6,756

इन तीन वार्षिक योजनाओं में 1965-66 की कर दरों के अनुसार पूर्व अनुमानों की तुलना में 563 करोड़ रु० कम प्राप्त हुए। इसके कई कारण थे। लगातार दो वर्षों तक कृषि उत्पादन कम रहा तथा औद्योगिक उत्पादन की गति कम रही। इसके अतिरिक्त कीमतों के बढ़ने से वार्षिक योजनाओं के लिए उपलब्ध धन कम हो गया। करो से आय अनुमानित स्तरों से कम रही तथा योजनेत्तर व्यय महंगाई भत्तों के बढ़ने के कारण तथा अन्य बातों के कारण बढ़ गये। रेलों का घाटा अनुमानों की तुलना में 48 करोड़ रु० अधिक रहा क्योंकि ट्रैफिक बढ़ने की जितनी आशा थी वह पूरी नहीं हो सकी। अन्य सार्वजनिक उद्यमों में क्षमता का उपयोग नहीं हो सका। अतिरिक्त कराधान से आय भी अनुमानों की तुलना में कम रही। सार्वजनिक ऋणों की आय अनुमानों की तुलना में 148 करोड़ रु० अधिक रही, किन्तु अल्प बचत के अंक 36 करोड़ रु० कम रहे। विदेशी सहायता प्रारम्भिक अनुमानों की तुलना में 341 करोड़ रु० कम रही।

इन तीन वार्षिक योजनाओं में घाटे का वित्त 682 करोड़ रु० रहा, जिसके तीन वर्षों के अंक नीचे दिये हुए हैं

1966-67	189 करोड़ रुपये
1967-68	224 करोड़ रुपये
1968-69	269 करोड़ रुपये

अड़तालीसवाँ अध्याय

चौथी योजना के लिए वित्त

(FINANCES FOR THE FOURTH PLAN)

चौथी योजना का मुख्य उद्देश्य स्थायित्व के साथ आर्थिक विकास की प्रगति करना है। कृषि उत्पादन में उतार चढ़ावों के विरुद्ध संरक्षण प्रदान करने तथा विदेशी आर्थिक सहायता की अनिश्चितता को भी ध्यान में रखा गया है। इसलिए देशी साधनों को इस प्रकार जुटाये जाने का आयोजन किया गया है जिससे वस्तुओं की कीमतें न बढ़ पायें। योजनागत व्यय के प्रस्ताव ऐसे हैं जिससे बिना मुद्रा स्फीति के साधन प्राप्त हो जायें। चौथी योजना में विदेशी सहायता पर निर्भरता कम करने का आयोजन है। 1971 तक फी० एल० 480 के अन्तर्गत साक्षात्त की आयुक्त समाप्त होने का आयोजन किया गया है। विदेशी आर्थिक सहायता चौथी योजना के अन्त तक आधी रह जाने का आयोजन किया गया है। निर्यात में 7 प्रतिशत प्रति वर्ष की वृद्धि का लक्ष्य रखा गया है। इसके अन्तर्गत रोजगार के अवसरों की वृद्धि का भी लक्ष्य रखा गया है। तीसरी योजना में राष्ट्रीय आय 1960-61 को कीमतों पर पहले चार वर्षों में 20 प्रतिशत बढ़ी किन्तु अन्तिम वर्ष में 5.6 प्रतिशत घटी। 1965-66 में प्रति व्यक्ति वास्तविक आय 1960-61 के स्तर पर रही। राष्ट्रीय आय में जो कुछ वृद्धि हुई वह जनसंख्या की 2.5 प्रति वर्ष वृद्धि के कारण निष्प्रभाव (ineffective) हो गई। 1967-68 में राष्ट्रीय आय 9 प्रतिशत बढ़ी। 1968-69 में राष्ट्रीय आय का अनुमानित अर्ध पूर्व वर्ष की तुलना में 1.8 प्रतिशत अधिक रखा गया था। चौथी योजना में कृषि उत्पादन में प्रति वर्ष 5 प्रतिशत की वृद्धि होगी¹ तथा उद्योगों में प्रति वर्ष 8 से 10 प्रतिशत की वृद्धि होगी।² राष्ट्रीय आय में प्रति वर्ष 5.5 प्रतिशत की वृद्धि का लक्ष्य रखा गया है।

भारत में राष्ट्रीय नियोजन का उद्देश्य केवल प्रति व्यक्ति आय बढ़ाने का ही

1 Fourth Five Year Plan 1969-74, page 35.

2 See *Ibid*, page 82,

नहीं है, बल्कि इस बात को देखने का लक्ष्य है कि लाभों का समानता से वितरण हो सके तथा आय तथा जीवन स्तरों में विषमता कम हो जाये। इसके साथ-साथ आर्थिक विकास की प्रक्रिया से सामाजिक तनाव न होने पाये।

पाँचवी योजना में वृद्धि दर 6.2 प्रतिशत प्रति वर्ष होने का लक्ष्य रखा गया है। 1980-81 तक 1968-69 की कीमतों पर नेट देशी उत्पादन 58,200 करोड़ रु० तक पहुँच जायेगा। उस वर्ष प्रति व्यक्ति उत्पादन 1968-69 के 552 रु० के उत्पादन की तुलना में 844 रु० होगा जो 53 प्रतिशत अधिक होगा। चौथी योजना में जन संख्या 2.5 प्रतिशत बढ़ेगी। यह दर 1980-81 तक घट कर 1.7 प्रतिशत रह जायेगी।

चौथी योजना के लिए वित्त

चौथी योजना के लिए वित्त प्रदान करने का आयोजन तीसरी योजना तथा तीन वार्षिक योजनाओं के आयोजनों से बिलकुल भिन्न है। इसमें दो बातों का ध्यान रखा गया है। प्रथम, वृद्धि स्थायित्व के साथ होनी चाहिए। दूसरे, आर्थिक प्रगति के साथ-साथ आत्म निर्भरता भी बढ़नी चाहिए। तीसरी योजना में देशी साधनों का योग कुल साधनों का 59 प्रतिशत था तथा तीन वार्षिक योजनाओं में यह भाग 54 प्रतिशत था। सार्वजनिक क्षेत्र की योजना में यह भाग चौथी योजना में 78 प्रतिशत रहेगा। विदेशी सहायता तीसरी योजना में 28 प्रतिशत से तथा तीन वार्षिक योजनाओं में 36 प्रतिशत से घट कर चौथी योजना में 17 प्रतिशत रह जायेगी। चौथी योजना में विदेशी सहायता ऋण सेवाओं को छोड़ कर नेट निवेश का 8.2 प्रतिशत रहेगी। घाटे का वित्त तीसरी योजना में 13 प्रतिशत की तथा तीन वार्षिक योजनाओं में 10 प्रतिशत की तुलना में चौथी योजना में 5 प्रतिशत रह जायेगा।

चौथी योजना में साधनों का अनुमान निम्न तालिका में दिया गया है :³

(करोड़ रुपयों में)

	केन्द्र	राज्य	योग
(1) जीवन बीमा से ऋण के अतिरिक्त देगी साधन	7,232	1,502	8,734
(2) 1968-69 की दरों पर चालू आय की वृद्धि	1,625	48	1,673
(3) लोक उद्योगों का अगदान	1,534	495	2,029
(4) रेलों का अगदान	265	...	265
(5) डाक तथा तार	225	...	225

3 See *Ibid.*, Table 3, pages 76-77.

(6) अन्य	1,044	495	1,539
(7) रिजर्व बैंक के लाभ	165	37	202
(8) केन्द्र तथा राज्यों के नेट ऋण	900	515	1,415
(9) वित्तीय मस्याओं से ऋण	781	...	781
(10) अल्प बचत	274	495	769
(11) अनिवार्य जमा	104	...	104
(12) प्राविडेण्ड फण्ड	343	317	660
(13) विविध पूंजीगत नेट आय	2,090	—405	1,685
(14) अतिरिक्त साधनों की प्राप्ति	2,100	1,098	3,198
(15) अन्य ऋण	506	...	506
(16) सकल देशी साधन	9,332	3,106	12,438
(17) विदेशी सहायता	2,614	...	2,614
(18) घाटे का वित्त	850	..	850
(19) सकल साधन	12,796	3,106	12,902
(20) योजना के लिए साधन	9,296	6,606	15,902

लोक क्षेत्र लागत के लिए वित्त के प्रतिरूप

(करोड़ रुपये में)

	तीन वार्षिक योजनाओं के अनुमान (1966-69)		चौथी योजना के अनुमान	
	धन	प्रतिशत	धन	प्रतिशत
(1) योजनागत लागत	6,756	100	15,902	100
(2) देशी साधन	3,648	54.0	12,438	78.2
(3) विदेशी सहायता	2,426	35.39	2,614	16.5
(4) घाटे का वित्त	682	10.1	850	5.3

योजना के वित्त के लिए केन्द्रीय सरकार तथा उनके उद्यमों के लिए 12,796 करोड़ रु० आवश्यक होंगे। इस धन में से 3,500 करोड़ केन्द्रीय सहायता के रूप में राज्यों को दिये जायेंगे तथा केन्द्रगत योजनाओं के लिए 9,296 करोड़ रु० दवेंगे। चौथी योजना काल के लिए राज्य सरकारें 3,106 करोड़ रु० प्राप्त करेंगी। 3,500 करोड़ रु० की केन्द्रीय सहायता को मिला कर राज्यों की योजनाओं के लिए उपलब्ध धन राशि 6,606 करोड़ रु० होगी।

चालू आय से बचत

चौथी योजना के लिए 1968-69 की कर दरों के आधार पर चालू आय से केन्द्र से 1,625 करोड़ रु० प्राप्त होने का अनुमान है, किन्तु राज्यों से केन्द्र की

सहायता मिला कर केवल 48 करोड़ रु० का अनुमान है। इनमें से 10 राज्यों का अंशदान 368 करोड़ रु० होगा तथा 7 राज्यों का घाटा 320 करोड़ रु० होगा। यह घाटे इस कारण है कि वित्त आयोग ने इनके वर्तमान परम्पराओं के आधार पर ऋण घटाने के लिए केन्द्र से इन्हें धन देने का आयोजन नहीं किया। रेलों का पहले अंशदान का अनुमान 415 करोड़ रु० का किया गया था किन्तु कुछ कारणों से यह 265 करोड़ रु० का रखा गया। डाक तथा तार में यह अनुमान 225 करोड़ रु० का है।

ऋण

14 बड़े बैंकों को राष्ट्रीयकरण होने से ऐसा अनुमान लगाया गया है कि इनकी जमा धन 7 प्रतिशत प्रति वर्ष की तुलना में 11 प्रतिशत बढ़ेगी। इनकी नये स्थानों में शाखाएँ खुलेंगी। इसलिए इनकी जमा में 3,000 करोड़ रु० की वृद्धि की आशा की गयी है। ये बैंक तथा अन्य विकास बैंक 955 करोड़ रु० राज्य को उधार देंगे।

सब मिलाकर चौथी योजना में केन्द्र तथा राज्य सरकारों के बाजार से ऋण द्वारा 1,415 करोड़ रु० प्राप्त होंगे। अल्प वसूल से 769 करोड़ रु० प्राप्त होंगे।

विदेशी सहायता

राजकीय क्षेत्र के लिए कुल विदेशी सहायता का अनुमान चौथी योजना में 3,838 करोड़ रु० है। इसमें से विदेशी ऋण भुगतान की मात्रा 1,216 करोड़ रु० पटाकर नेट विदेशी आर्थिक सहायता लगभग 2,614 करोड़ रु० होगी।

घाटे का वित्त

घाटे के वित्त से 850 करोड़ रु० का अनुमान किया गया है। आय के बढ़ने से मुद्रा प्रदाय का प्रसार होगा। इसलिए अर्थ-व्यवस्था को क्रियाशील करने के लिए घाटे का वित्त आवश्यक होगा। घाटे के वित्त की वार्षिक धन राशि वार्षिक स्थिति के अनुसार निर्धारित होगी। चौथी पंचवर्षीय योजना के लिए केन्द्रीय सरकार के बजट में घाटे के वित्त के अंक निम्न तालिका में दिये गये हैं —⁴

(करोड़ रुपये में)

वर्ष	घाटा
1969-70	(संशोधित अनुमान) 290.11
1970-71	225.24
1971-72	(अतः कालीन बजट) 240.30
1971-72	(अन्तिम बजट) 220.00

4 Read Interim Budget 1971-72 X-Rayed, Article by author, Southern economist, April 15, 1971. Also *Ibid.* June 15, 1971, p. 7.

अतिरिक्त साधनों का प्राप्त करना

चौथी योजना के लिए अतिरिक्त आय 3,198 करोड़ ₹० अनुमानित की गई है। इसमें से राज्य सरकारें 1,098 करोड़ ₹० प्राप्त करेंगी तथा केन्द्रीय सरकार 2,100 करोड़ ₹० प्राप्त करेगी। चौथी योजना की रिपोर्ट में इन अतिरिक्त साधनों का निम्न व्यौरा दिया गया है :

(1) विद्युत उद्योगों से 11 प्रतिशत प्रति वर्ष आय का अनुमान किया गया है।

(2) निजलिगप्पा कमेटी ने सिचाई के क्षेत्रों से विमानों के लिए अतिरिक्त नेट लाभ के आधार पर सिचाई दरों में 25 से 40 प्रतिशत की सिफारिश की है। इसका समर्थन योजना आयोग ने भी किया है।

(3) लोक उपयोगिताओं के अतिरिक्त अन्य औद्योगिक तथा वाणिज्यिक उद्यमों से उनकी पूँजी पर 15 प्रतिशत की आय होनी चाहिए। यह साधन उनके विकास तथा प्रसार के लिए इस्तेमाल होंगे।

(4) ग्रामीण क्षेत्रों में हरल डिबेन्चर बेच कर अतिरिक्त साधन प्राप्त हो सकते हैं।

(5) मुश्किल विमानों पर अतिरिक्त भार की सिफारिश की गयी है जो कृषि आय कर के द्वारा बढ़ाया जा सकता है। इसके विकल्प में भू-राजस्व पर वर्तमान दरों पर शुल्क लगाये जा सकते हैं।

(6) अमीर व्यक्तियों पर उनके उपयोग की वस्तुओं पर कर लगाये जा सकते हैं।

(7) आय तथा सम्पत्ति करों से अधिक आय प्राप्त की जा सकती है। इससे आय तथा धन की विषमता में कमी होगी।

(8) नगरों में जमीन की कीमतों के बढ़ने से अनर्जित आय की वृद्धि हुई है। इन मूल्यों की वृद्धि पर कर लगा कर नगरों की उन्नति के लिए धन प्राप्त किया जा सकता है।

निजी निवेश के लिए साधन

निजी वचत के ठोस अनुमान उपलब्ध नहीं हैं। मोटे तौर पर चौथी योजना में निजी क्षेत्र में 14,160 करोड़ रुपये की वचत की आशा है जिसमें निजी तथा सहकारी क्षेत्रों का अंशदान 12,210 करोड़ ₹० होगा तथा शेष 1,950 करोड़ ₹० कम्पनियों से होगा। इस वचत में से केन्द्र तथा राज्य सरकारों को लोक क्षेत्रीय योजनाओं के लिए 5,210 करोड़ ₹० प्राप्त होंगे। इस धन को घटाकर निजी निवेश के लिए 8,950 करोड़ ₹० उपलब्ध हो सकेंगे। इसमें विदेशी निवेश जोड़कर निजी निवेश के लिए 8,980 करोड़ ₹० प्राप्त हो सकेंगे। इस योग का व्यौरा बंटवारा अग्र तालिका में दिया गया है।

चौथी योजना में निजी निवेश के लिए उपलब्ध साधन

(1) निजी बचत	14,160
(2) कारपोरेट बचत	1,950
(3) गृहस्थी तथा सहकारी बचत	12,210
(4) इसमें से सरकारों की आय	5,210
(5) निजी निवेश के लिए उपलब्ध निजी बचत (1—4)	8,950
(6) विदेशी ऋण तथा निवेश	300
(7) विदेशी ऋणों का भुगतान	270
(8) नेट विदेशी निवेश (6—7)	30
(9) निजी निवेश के लिए सकल उपलब्ध साधन (5+8)	8 960

उपर्युक्त अनुमानित निजी बचत राष्ट्रीय आय की वृद्धि की दर पर निर्भर होगी। इसलिए आवश्यक है कि अनुमानित राष्ट्रीय आय प्राप्ता होनी चाहिए। इसके साथ-साथ वस्तुओं की कीमतों में स्थिरता होनी चाहिए, क्योंकि कीमतों के खटने से निजी बचत कम हो सकती है। निजी बचत होना ही पर्याप्त नहीं है। आवश्यक यह है कि विभिन्न क्षेत्रों में बचत उपर्युक्त हो तथा ऐसे स्थानों में भेज दी जाये जहाँ निवेश की आवश्यकता हो। इसका कारण यह है कि निवेशी क्षेत्रों में बचत की आपूर्ति तथा माँग समुचित रूप में व्यवस्थित नहीं रहती। उदाहरण के लिए निगम सम्बन्धी शोध भन्ने मुताफे में तथा पूँजीगत मण्डी के उपयोग द्वारा निवेश सम्बन्धी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है। ग्रामीण क्षेत्र की बचत को ग्रामीण जीवन, बीको तथा सहकारी संस्थाओं के द्वारा जमा धन के रूप में एकत्रित करने के प्रयास करने होंगे। इसके लिए उनकी नीतियों में परिवर्तन करने होंगे तथा उनकी प्रक्रियाओं में सुधार करने होंगे।

विदेशी साधन

चौथी योजना में अर्थ-व्यवस्था में आयात का मुख्य लक्ष्य 7,930 करोड़ अनुमानित किया गया है। इसमें से 7,840 करोड़ रु० अनुरक्षण आयात अथवा कच्चे माल की आयात के लिए तथा औद्योगिक तथा कृषि उत्पादन की वृद्धि दर की उन्नति के लिए आवश्यक होंगे। इसमें खाद, कीटाणु नाशक वस्तुएँ, रासायनिक पदार्थ तथा फील्ड की बिस्म तथा मशीनों के पुर्जों की आयात शामिल है। लगभग 1,300 करोड़ रु० प्रोजेक्ट आयातों के लिए अथवा अतिरिक्त क्षमता के सृजन के लिए आवश्यक होंगे, जिनकी आपूर्ति देशी साधनों से सम्भव नहीं हो सकेगी। दोष 590 करोड़ खाद्यान्न की आयात की लागत के लिए होगी। प्रोजेक्टों की आयात का

अनुमान इस आधार पर किया गया है कि सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्रों से पूँजीगत माल की आवश्यकता औद्योगिक प्रसार से सम्भव हो सकेगी जिससे देशी उत्पादन बढ़ेगा। आयात केवल ऐसी परिष्कृत अथवा जटिल प्रकार की मशीनों की होगी जिनका अभी देश में उत्पादन सम्भव नहीं है। देश में इंजीनियरिंग क्षमता की वृद्धि से इस उद्देश्य की पूर्ति कठिन नहीं लगती। अर्थ-व्यवस्था की उन्नति के साथ-साथ अनुरक्षण आयात (maintenance import) की वृद्धि अवश्य होगी। इसके लिए यह आवश्यक होगा कि अन्य आयात न्यूनतम मात्रा में की जायें। अनुरक्षण आयात भी उपलब्ध विदेशी विनिमय की सीमा के अन्तर्गत ही हो सकेगी। ऋण सेवा सम्बन्धी भुगतानों का अनुमान 2,280 करोड़ रु० का किया गया है। इसके अतिरिक्त चौथी योजना में 280 करोड़ रु० अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के लिए वापिस करने होंगे।

ऋण सेवाओं को छोड़कर चौथी योजना काल में विदेशी विनिमय की कुल आवश्यकता 10,150 करोड़ रु० की होगी। इसकी पूर्ति विदेशी सहायता तथा निर्यात की आय से हो सकेगी। जहाँ तक विदेशी सहायता का प्रश्न है इसकी मात्रा चौथी योजना के अन्त तक वर्तमान स्तर की आधी रह जायेगी तथा इसके पश्चात् जितना जल्दी सम्भव हो सके यह सहायता समाप्त हो जायेगी। तीसरी योजना में नेट विदेशी सहायता लगभग 3,500 करोड़ रु० के मूल्य की रही। 1966 से 1969 की तीन वार्षिक योजनाओं का वार्षिक औसत लगभग तीसरी योजना के वार्षिक औसत के बराबर ही रहा। ऋण सेवाओं की अदायगी को घटाकर चौथी योजना में कुल विदेशी सहायता का 1,850 करोड़ रु० का अनुमान है। ऐसा तभी हो सकेगा जब अर्थ-व्यवस्था में सकल सहायता का उपयोग पी० एल० 480 के अन्तर्गत 380 करोड़ रु० की सहायता को तथा प्रोजेक्ट के बाहर की 3,750 करोड़ रु० की सहायता को मिलाकर 4,130 करोड़ रु० होगा। निर्यात आय से 8,300 करोड़ रु० की प्राप्ति की आशा की गई है। इसके लिए 1968-69 में 1,360 करोड़ रु० की निर्यात के स्तर से 1973-74 में 1,900 करोड़ रु० के मूल्य की निर्यात का लक्ष्य रखा गया है, जिसका अर्थ यह है कि निर्यात की वृद्धि 7 प्रतिशत प्रति वर्ष होनी चाहिए। इसके लिए निर्यात नीति में परिवर्तन करने होंगे तथा निर्यात को बढ़ाने के लिए संस्थागत व्यवस्था करनी होगी।

वचत तथा निवेश

चौथी योजना में 20,000 करोड़ रु० की वचत की आशा की गई है। इसमें 14,160 करोड़ रु० की निजी वचत तथा 5,830 करोड़ रु० की सार्वजनिक वचत का अनुमान किया गया है। इस वचत के लिए अर्थ-व्यवस्था में वचत की औसत दर 1968-69 में 8.8 प्रतिशत के स्तर से चौथी योजना के अन्त तक 13.2 प्रतिशत तक बढ़ जानी चाहिए। यह तभी सम्भव होगा जब योजना काल में सीमान्त वचत की औसत दर 1960-61 में 8 प्रतिशत से बढ़कर 1965-66 में 10.5 प्रतिशत

हो गई। 1967-68 में यह घटकर 8 प्रतिशत रह गई, किन्तु उसके पश्चात् बढ़ती रही है। राजकीय ऋणों से प्राप्ति वजट के अनुमानों से अधिक रही है तथा अल्प वचत में भी वृद्धि हुई है। बैंकों की जमा भी तीव्र गति से बढ़ती रही है। कुल विदेशी आर्थिक सहायता को 2,644 करोड़ रु० के स्तर पर मानकर जिसमें ऋण भुगतान शामिल नहीं है, चौथी योजना में निवेशों लागत 22,635 करोड़ रु० होगी। इसमें सार्वजनिक क्षेत्र में 13,655 करोड़ रु० तथा निजी क्षेत्र में 8,980 करोड़ रु० होंगे। निवेश के इस स्तर का अर्थ यह है कि 1968-69 में निवेश की औसत दर 11.3 प्रतिशत के स्तर से बढ़कर चौथी योजना के अन्तिम वर्ष में 14.5 प्रतिशत हो जायेगी। इसकी तुलना में तीसरी योजना में निवेश की औसत दर 11 प्रतिशत से 13 प्रतिशत हो गई। इस निवेश से विकास की प्रगति होती रहेगी तथा अर्थ-व्यवस्था में वृद्धि हो सकेगी।

चौथी योजना में आवश्यकता के अनुसार मूल परिवर्तन भी होने चाहिए जिसमें राष्ट्रीय आय की वृद्धि हो तथा आय तथा सम्पत्ति की असमानता में कमी हो। ऐसा तभी हो सकेगा जब राजकोपीय तथा औद्योगिक नीति में मूल परिवर्तन हो। हाल ही में प्रशासनिक सुधार आयोग की सिफारिशों के आधार पर तथा दत्त कमेटी की सिफारिशों के आधार पर औद्योगिक नीति में परिवर्तन हुए हैं। इसके साथ-साथ आयान नीति में भी परिवर्तन हुए हैं। लगभग 170 वस्तुओं की आयात पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं क्योंकि इन वस्तुओं का उत्पादन देश में बढ़ा है। लार्ड-सेन्निंग नीति में भी परिवर्तन हुए हैं। अतः अर्थ-व्यवस्था की उन्नति के लिए विदेशी साधनों की उन्नति होनी चाहिए। ऐसा तभी हो सकता है जब कर नीति को ऐसा नया मोड़ दिया जाये जिससे उत्पादन लागत तो न बढ़े किन्तु करो की आय में वृद्धि हो तथा उत्पादन के लिए विशेषतया लघु उद्योगों में उत्पादन की वृद्धि के लिए प्रेरणा दी जाये। तभी बेरोजगारी घट सकेगी। विदेशी आर्थिक सहायता पर निर्भरता कम की जाय। साथ-साथ आर्थिक वृद्धि स्थायित्व के साथ होनी चाहिए अर्थात् वस्तुओं की कीमतें नहीं बढ़नी चाहिए। मुद्रा की स्थिति के दबाव को रोकने के प्रत्येक सम्भव प्रयास होने चाहिए। निर्यात की वृद्धि के लिए भी विशेष प्रेरणा दी जानी चाहिए जिससे विदेशी धन पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हो सके तथा विदेशी आर्थिक सहायता पर निर्भरता घट सके। साथ-साथ अर्थ-व्यवस्था में केन्द्र तथा राज्यों में घाटे के वजट को कम करना चाहिए अर्थात् मुद्रा स्थिति का दबाव रोकना सरल नहीं होगा।

APPENDIX A

1971-72 का केन्द्रीय वजट

1971-72 का अन्तिम केन्द्रीय वजट 28 मई 1971 को समझ के समझ प्रस्तुत किया गया। इसमें 397 करोड़ रुपये के मकल घाटे को पूरा करने के लिए 220 करोड़ रुपये के नये करो के प्रस्ताव रखे गये। इन करो में से राज्यों का भाग

घटा कर केंद्रों के पास 177 करोड़ रुपये की नई कर आय रह गई जिसके कारण वजट में 220 करोड़ रुपये का घाटा रहा।

अप्रत्यक्ष करों के क्षेत्र में बहुत सी वस्तुओं पर आयात तथा उत्पादन करों में वृद्धि अथवा फेर बदल हुए हैं। निगरेट, सूती कपड़े, पेट्रोल तथा पेट्रोल की बनी हुई वस्तुओं, सीमेंट का सामान, माबुन, सीमेंट, ऊनी सूत, 60 वाट से ऊपर के विजली के घुलव, रोटी आदि वस्तुओं पर करों के प्रस्ताव किये गये हैं :

प्रत्यक्ष करों में निम्न परिवर्तन हुए हैं

(1) व्यक्तियों तथा हिन्दू अविभाजित परिवारों पर उप कर की दर 15 हजार रुपये प्रति वर्ष से ऊपर की कुल आय पर 10% से 15% बढ़ा दी गई है।

(2) पूँजी पर लाभ कर, सम्पत्ति कर तथा कम्पनियों के लाभ पर उप कर बढ़ा दिया गया है।

(3) नौकाओं, ऐसी मशीन तथा प्लान्ट जो 31 मार्च, 1974 के पश्चात् लगाये गये हैं उन पर विकासशील रिबेट हटा दी गई है।

(4) वरीयता (priority) के उद्योगों की सूची जित पर विशेष कर सम्बन्धी छूट दी जाती है घटा दी गई है। सक्षेप में वजट के अंक नीचे दिये गये हैं :

कर आय

(करोड़ रुपयों में)

	1970-71 वजट	1970-71 संशोधित	1971-72 वजट
1—आयगत आय			
सीमा शुल्क	465 00	487.62	480 00 +54.00
मध्यम उत्पादन कर	1812 75	1805.24	1951.17 +131.94
(ii) राज्यों का भाग घटाकर	—34 97	—	—42 57
कारपोरेशन कर	342.00	365.00	395.00 +16.00
कारपोरेशन कर के अतिरिक्त			480.00 +11 00
अन्य आय कर	436 75	460.00	480.00 +11 00
राज्यों का भाग घटाकर	—348.30	—359.09	—420.77
मृत्यु कर	7.50	7.00	7.00
राज्यों का भाग घटाकर	—7.17	—6 30	—6.70
सम्पत्ति कर	18.00	16.00	30.00
व्यय कर	—	—	—
उपहार कर	1 50	2 00	2.00
अन्य शीर्षक	50.62	54.64	57.95 +7.00

केन्द्र की नेट कर आय	2743.69	2832.11	2975.64
केन्द्रीय उत्पादन करों से			+177.37७
राज्यों का भाग घटाकर	353.46	390.04	422.85
केन्द्र की नेट आय	2390.23	2442.07	2552.80
			+177.37७

७ बजट प्रस्तावों के प्रभाव

अ-कर आय

(करोड़ रुपये में)

	1970-71 बजट	1970-71 संग्रोधित	1971-72 बजट
1	2	3	4
(1) व्याज की आय	611.27	630.12	661.78
(2) प्रशासकीय सेवाएँ	10.33	10.52	10.40
(3) सामाजिक तथा विकासीय सेवाएँ	32.94	34.90	40.14
(4) बहुमुखी नदी योजनाएँ	15.48	15.41	16.02
(5) सार्वजनिक कार्य	7.11	7.57	7.54
(6) यातायात तथा संचार	14.18	14.97	16.58
(7) करेन्सी तथा मिन्ट	98.07	99.36	124.23
(8) फुटकर (Miscellaneous)	48.06	78.61	70.99
(9) अन्य व्यवस्था (Other adjustments)	45.91	46.63	50.13
(10) असाधारण आईटम	16.40	11.27	11.70
योग—अ-कर आय	899.75	949.36	1009.51

आयगत खाते का व्यय

(DISBURSEMENTS ON REVENUE ACCOUNT)

(करोड़ रुपयों में)

	1970-71 बजट	1970-71 संगोषित	1971-72 बजट
नागरिक व्यय (Civil Expenditure)			
कर वसूली व्यय	48 55	48 08	50.88
ऋण सेवाएँ	597 48	603.91	648.39
प्रशासनिक सेवाएँ	189.70	200.93	236.61
सामाजिक तथा विकासशील सेवाएँ	319.85	313 72	376.40
बहुमुखी नदी योजनाएँ	14 56	15 17	20.43
लोक कार्य	42 63	39.80	42 71
यातायात तथा संचार	20 80	21 60	22.62
करेन्सी तथा मिन्ट	26.70	26 92	28 35
विविध	221.26	234.30	277 97
अक्षदान तथा विविध समायोजन (Contributions and misce- llaneous adjustments)	10 77	13.07	13.45
असाधारण आईटम	6 64	6.60	6 62
नागरिक व्यय-योग	1498 84	1514.10	1724 43
अतिरिक्त व्यय (नेट)	1017 84	1039 89	1079.23
राज्यो तथा सघीय क्षेत्रों को अधिक सहायता	636 15	629 30	783.20
महायोग	3152 18	3193.29	3586.86

पूँजीगत आय

(करोड़ रुपये में)

	1970-71 बजट	1970-71 संगोधित	1971-72 बजट
विपणी ऋण			
मकल ऋण	455 00	437.59	500.00
भुगतान	293 30	291.30	332 10
नेट उधार	161 70	136 29	167.90
पी० एल० (480) की छोड़ बाह्य सहायता			
मकल ऋण	600 00	550.००	540.00
भुगतान	200 25	195.46	216.23
नेट उधार	399.75	354 54	323.77
पी० एल० (480) के अन्तर्गत सहायता			
डालर उधार	84 00	81 37	114.37
रुपी ऋण	35.00	50.00	12 00
पी० एल० (480) नेट जमा	13 27	-9 59	-13.04
योग	132 27	121.78	113.33
ऋण भुगतान	825 00	930 00	930.00
अन्य आईटम्स नेट			
(i) अल्प वस्तु	140.20	145.30	180 40
(ii) अन्य आय	164 79	416 96	308 14
महायोग	1823.71	2104 87	2023.54

* Excludes Rupees 75 crores of adhoc treasury bills converted into dated securities

पूँजीगत खाते के सम्बन्धित व्यय
(DISBURSEMENTS ON CAPITAL ACCOUNT)

(करोड़ रुपये में)

	1970-71 बजट	1970-71 संशोधित	1971-72 बजट
नागरिक व्यय			
(1) सामाजिक तथा विकासशील सेवाएँ	348.87	322.30	305.57
(2) बहुमुखी नदी योजनाएँ	71.25	59.40	58.20
(3) लोक कार्य	92.64	79.85	100.46
(4) यातायात तथा संचार	28.71	23.32	30.67
(5) करेन्सी तथा मिन्ट	12.03	184.28	9.05
(6) अन्य	-29.15	14.88	-13.43
नागरिक व्यय-योग	524.35	684.03	490.92
शक तथा तार			
रेनो पर पूँजीगत लागत	35.00	15.80	38.60
प्रतिरक्षा सम्बन्धी पूँजीगत लागत	150.00	126.10	151.00
ऋण तथा उधार	133.67	142.94	162.43
राज्य तथा संघीय क्षेत्र	878.25	1039.49	966.30
अन्य	467.19	524.22	586.64
ऋण तथा अग्रिम उधार का योग	1345.44	1563.71	1552.94
पूँजीगत व्यय—महायोग	2188.46	2532.58	2395.89

टिप्पणी

जैसा ऊपर बताया जा चुका है 1971-72 के बजट में 397 करोड़ रुपये के बल घाटे को पूरा करने के लिए 220 करोड़ रुपये के नए कर्जों के प्रस्ताव किये गये हैं। इस धन राशि में से राज्यों का भाग घटा कर केन्द्र को नये कर्जों से 177

करोड़ रुपये प्राप्त होंगे। इसलिए बजट में 220 करोड़ रुपये का घाटा है। 186 करोड़ रुपये सीमा शुल्क तथा उत्पादन करो से प्राप्त होंगे तथा 34 करोड़ रुपये कारपोरेशन तथा अन्य प्रत्यक्ष करो से प्राप्त होंगे।

इन प्रस्तावों के दो मुख्य उद्देश्य बताये गये हैं :

(1) नर रचना को समूल तथा उपयुक्त करना।

(2) सम्पत्ति के केन्द्रीयकरण (concentration) को घटाना तथा आय की विषमता को कम करना।

अप्रत्यक्ष करो की वृद्धि के कारण वस्तुओं की कीमतें बढ़ने की सम्भावना है जिसको रोकने के विरोध उपाय होने चाहिए।

इस बजट के प्रत्यक्ष करो की निम्न मुख्य विशेषताएँ हैं :

(1) व्यक्तियों तथा हिन्दू अविभाजित परिवारों पर आय कर सरचार्ज में 15,000 रुपये से ऊपर की वार्षिक आयों पर उप कर की दर 10 % से 15% कर दी गई है।

(2) कम्पनियों पर पूँजीगत लाभ कर में वृद्धि की गई है। नान-कारपोरेट कर दाताओं के लिए भूमि तथा भवनों पर लाभ कर की छूट की सीमा 45 से 35 प्रतिशत घटा दी गई है। अन्य पूँजीगत सात के लिए यह सीमा 65 से घटाकर 50 प्रतिशत कर दी गई है।

(3) 15 लाख रुपये से ऊपर के मूल्य की नेट सम्पत्ति पर सम्पत्ति कर 8 प्रतिशत कर दिया गया है। व्यक्तियों की पहले एक लाख रुपये की सम्पत्ति तथा हिन्दू अविभाजित परिवारों की दो लाख रुपये की सम्पत्ति नेट सम्पत्ति में शामिल की गई है।

(4) घर में जवाहरात तथा उन हिस्सों पर जो पूँजीगत इशूज का भाग हैं सम्पत्ति कर छूट हटा दी गई है।

(5) व्यक्ति की प्रत्यक्ष सम्पत्ति को हिन्दू अविभाजित परिवार की सम्पत्ति में परिवर्तित करने पर उद्धार कर लगाने का प्रस्ताव किया गया है।

(6) चार्जडिल लाभ के 15 प्रतिशत में अधिक होने पर कम्पनियों के लाभ कर पर उप कर 25 प्रतिशत से 30 प्रतिशत कर दिया गया है।

(7) 1974 के अद्यतन विभाजनित रिपोर्ट प्राप्त होने पर इसका उद्देश्य है कि 1974 से पूर्व ही विनियोग का भाग सम्पन्न हो जाय।

(8) बरीयता के उद्योगों पर कर की छूट सीमा 8 प्रतिशत से घटाकर 5 प्रतिशत कर दी गई है।

(9) बरीयता के उद्योगों में विदेशी कम्पनियों के लाभांश पर 24.5 प्रतिशत लाभांश कर लगाया गया है।

निम्न तालिका में व्यक्तियों की आयों पर कुछ चुने हुए स्तरों पर कर सम्पात दिखाया गया है।

Income	Tax (including surcharge)	
	at the rates applicable during the financial year 1970-71	at the rates in the Bill for computation of advance tax and deduction of tax at source from 'salaries' during 1971-72
Rs.	Rs.	Rs.
6,000	110	110
7,500	275	275
10,000	550	550
12,500	1,018	1,018
15,000	1,485	1,485
20,000	2,750	2,875
25,000	4,400	4,600
40,000	12,100	12,650
50,000	18,700	19,550
60,000	25,300	26,450
70,000	33,000	34,500
80,000	40,700	42,550
90,000	48,950	51,175
1,00,000	57,200	59,800
1,50,000	1,01,200	1,05,800
2,00,000	1,45,200	1,51,800
2,50,000	1,91,950	2,00,675
3,00,000	2,38,700	2,49,550
5,00,000	4,25,700	4,45,050
10,00,000	8,93,200	9,33,800

रोजगार बढ़ाने के लिए अन्तरिम बजट में 50 करोड़ रुपये का प्रविधान किया गया था जिस पर अन्तिम बजट में 25 करोड़ रुपये का अधिक प्रविधान किया गया है।

पूर्वी पाकिस्तान के विस्थापितों के लिए 60 करोड़ रुपये की व्यवस्था का प्रस्ताव किया गया है।

रोजगार के लिए प्रोत्साहन सभी हो सकता है जब अधिक प्रविष्टि की प्रगति में सभी ओर वृद्धि हो। इसलिए योजनागत सागत में गत वर्ष की तुलना में 300 करोड़ रुपये की वृद्धि का आयोजन किया गया है। योजना के प्रभावी अनुपालन द्वारा ही आर्थिक विवर्तन का मार्ग सरल हो सकेगा। अनुपालन में कमी होने से सागत बढ़ जाती है तथा पहले निवेशों (former investments) पर आय की प्राप्ति में देरी होती है तथा पूँजीगत सम्पत्ति की क्षमता का अनुकूलतम इस्तेमाल नहीं हो पाता।

यह कहना कठिन है कि जो राजकीय प्रस्ताव वित्त मन्त्री ने किये हैं उनसे रोजगार की वृद्धि में विशेष सहायता मिलेगी। यह तो सम्भव है कि इनसे सम्पत्ति का केन्द्रीकरण कम होगा तथा इसके अन्य गुण हो सकते हैं। यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वस्तुओं की कीमतों में संपेक्षित स्थिरता बनी रहेगी, क्योंकि केन्द्र के बजट में 220 करोड़ रुपये के घाटे के वित्त के अलावा राज्यों के बजटों में भी घाटे रहे हैं जिनके फलस्वरूप घाटे के वित्त के अनुमार्जन के कारण वस्तुओं की कीमतें बढ़ने की सम्भावना है।

लोक उद्योगों में बढ़त की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए, जिससे अधिक धन निवेश के लिए प्राप्त हो सकता है। इसके अतिरिक्त यह अवश्य है कि कृषि आय पर राज्यों को कर लगाने चाहिए। नई योजनाओं के लिए मशीनों तथा ऐसे कच्चे माल की आयात पर जिनकी कमी है आयात कर लगाने से उत्पादन प्रविष्टि को हानि हो सकती है। नटन तथा बोर्स्टन जैसी बहुत सी वस्तुओं की आयात पर कर लगाने से उत्पादन सागत के बढ़ने की सम्भावना हो सकती है।

उप करो के बढ़ाने में तथा करो की छूट के घटाने से जो गन वर्पों में कार-पोरेट करायान में स्थायित्व आया था उसमें गड़बड़ होने की सम्भावना है।

यह कहना कि बहुत से उत्पादन करो के प्रस्ताव से जन जीवन पर प्रभाव नहीं पड़ेगा उपयुक्त नहीं है। लिपिस्टिक तथा ताशो जैसे विलासिताओं की वस्तुओं पर कर लगाना उचित है, किन्तु बहुत सी ऐसी वस्तुएँ हैं जिन पर कर लगाने से जीवन निर्वाह का व्यय बढ़ेगा। खादुन तथा बिजली के बल्ब जन साधारण के उपयोग में आते हैं। मोटर स्विच तथा पेट्रोलियम की वस्तुओं पर कर लगाने से मध्य वर्ग के व्यय में वृद्धि होगी।

वस्तुओं की कीमतों को स्थिर रखने, रोजगार बढ़ाने तथा अधिक निवेश के लिए वातावरण तैयार करने के लिए यह आवश्यक है कि अर्थ-व्यवस्था में स्थितियों को उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रोत्साहन मिलने चाहिए। बजट के प्रस्तावों के उद्देश्य, आर्थिक वृद्धि, सामाजिक न्याय तथा कीमतों में स्थिरता रखना निदिष्ट किये गये हैं। विलासिता की वस्तुओं के उपभोग में कमी करना भी बजट का एक उद्देश्य है। योजनागत व्यय में वृद्धि आवश्यक है, किन्तु इसका प्रभाव बहुत कुछ हद तक प्रोजेक्ट्स के अनुपालन पर निर्भर होगा।